प्रेमचन्द - व्यक्ति और साहित्यकार

या उससे भी पहले की ग्रीक तथा स्कैंडीनेवियायी दंतकथाओं को आधुनिक उपन्यासों का पूर्वज माना जा सकता है। आधुनिक उपन्यासों में और प्राचीन आख्यानों तथा आख्यायिकाओं में कुछ आधारभूत अंतर है। यहाँ तक कि जिन आधुनिक उपन्यासों में तिलस्मी घटनाओं का उल्लेख मिलता है वे भी धार्मिक साहित्य में होनेवाली अलौकिक घटनाओं से इस अर्थ में भिन्न हैं कि आधुनिक तिलस्मी उपन्यासों में व्यक्ति के महत्त्व को बढ़ाने के लिए ही अलौकिक घटनाओं की कल्पना की गयी है, जबकि प्राचीन कथाओं में अलौकिक घटनाएँ मनुष्य की अकिंचनता सिद्ध करने के लिए लायी गयी हैं।

कुछ अप्रासंगिक होते हुए भी यह एक मजेदार प्रश्न है कि जब धर्मों का प्रभाव घट जायेगा (आधी दुनिया में तो धर्मों का प्रभाव बिलकुल खतम हो गया है) तब हमारे रामायण, महाभारत, जातकों आदि में एकत्रित कथाओं का क्या हश्र होगा। इस पर हम इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि प्राचीन समय के इतिहास, रीति-रिवाज आदि के संबंध में खोज करने के लिए उनका पढ़ना-पढ़ाना तो जरूरी रहेगा ही, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हमारी जाति के अवचेतन में कौन से प्रभाव काम कर रहे हैं, उनका अध्ययन करने के लिए भी इन ग्रंथों का पठन-पाठन जरूरी रहेगा, पर विशुद्ध कहानियों के रूप में भी उनका प्रचार और प्रसार और कुछ नहीं तो हमारे बालक-बालिकाओं में रहेगा ही। वर्तमान युग में कोई कितने भी सुंदर बाल-साहित्य का सृजन करे, पर रामायण, महाभारत, कथासरित्सागर तथा जातक इत्यादि में उत्कृष्ट बाल-साहित्य का जो ढेर है, हम उसके मुकाबले में न तो दूसरे देशों के प्राचीन साहित्य में इतनी ऐश्वर्यशाली सामग्री प्राप्त कर सकते हैं और न अन्य कहीं। इसलिए रामायण, महाभारत आदि बाल-साहित्य के रूप में प्रचारित रहेंगे।

बौद्ध कथाओं की विशेषता

हमारे प्राचीन कथा-साहित्य में भी कई तरह की सामग्रियाँ हैं। डाक्टर श्रीकुमार वंद्योपाध्याय के अनुसार बौद्ध जातकों में वास्तविकता की रेखा स्पष्टतर और गंभीरतर है। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि 'संस्कृत साहित्य की तुलना में समग्र बौद्ध-साहित्य में वास्तविकता का स्वर अधिकतर तीव्र और निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट है।' शायद इसका एक कारण यह हो कि बौद्ध धर्म गण-

भावना के द्वारा अधिक प्रभावित है। इसमें हिंदू धर्म की सनातन श्रेणियों को तोड़ताड़ कर मनुष्य को एक नये ऐक्य और साम्य की तरफ ले जाने की चेष्टा की गयी है और गतानुगतिक राजन्य और अभिजात वर्ग के दायरे से हट कर मध्यम श्रेणी के लोगों के वास्तविक जीवन को चित्रित करने का बीड़ा उठाया गया है।

बौद्ध जातकों में बुद्ध की महिमा का प्रचार किया गया है, इस महिमा-प्रचार के कार्य में बुद्ध को अलौकिक शक्तियों से सुसज्जित करके दिखलाया गया है। इनमें पशु-पक्षियों को नायक और नायिका के रूप में दिखाया गया है, इसलिए पशु-पक्षियों के चरित्र के साथ-साथ मनुष्य का चरित्र भी इसका विषय है। इस दृष्टि से यह निस्संदेह वर्तमान उपन्यास-साहित्य के अधिक निकट है। सच तो यह है कि पशु-पक्षी भी बहुत कुछ मनुष्यीभूत हैं। फिर भी इन कथाओं का उद्देश्य अक्सर किसी प्रकार की नीति का प्रचार करना है।

जैन साहित्य

इस संबंध में जैनी भी पीछे नहीं रहे हैं। बहुत से जैनी रूपक मिलते हैं, जिनमें कथा-साहित्य का आनंद है। इनके अतिरिक्त जैनियों की धर्मकथाओं में प्रेमाख्यानों का रूप बौद्धों की अवदात कहानियों से अधिक निखरा है। 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा), 'जसहर चरिउ' आदि चरित-काव्य धर्मकथा होते हुए भी प्रेमाख्यानों की कोटि में आ जाते हैं। (भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, डाक्टर हरिकांत श्रीवास्तव, पृष्ठ १३)।

जब हम बौद्ध और जैन साहित्य पर इस दृष्टि से देखते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि उसमें कहानी तथा उपन्यास के (यहाँ आधुनिक अर्थ में ही इनका प्रयोग किया जा रहा है) कई प्रधान तत्त्व किसी न किसी रूप में मौजूद थे, पर वास्तविकता संबंधी धारणा से अपने को बलात् दूर रखने के कारण यह कहानियाँ मध्ययुगीन ही रह गयीं। डा० श्रीकुमार वंद्योपाध्याय ने इस पर कहा है — 'इनमें औपन्यासिक उपादानों की प्रचुरता देख कर सचमुच ही ऐसा लगता है कि यदि बाद को चल कर कहानी की यह धारा अक्षुण्ण और अव्याहत रहती, वास्तविकता के साथ निविड़ स्पर्श के मार्ग में बाधा न होती तो शायद हमीं को सबसे पहले उपन्यास के आविष्कार का गौरव प्राप्त होता और तब शायद उपन्यास को अँगरेजी

साहित्य के अनुकरण पर विदेशी भावापन्न हो कर हमारे साहित्य में पीछे के दरवाजे से प्रवेश न करना पड़ता। जातकों में उपन्यासोचित गुण यथेष्ट हैं। उनमें न केवल वास्तविक उपादान पर्याप्त परिमाण में मौजूद हैं, बल्कि उनमें एक हद तक वस्तुवादी मनोवृत्ति भी चित्रित है। इन दोनों विषयों में वे उपन्यास-साहित्य के पथप्रदर्शक और अग्रदूत होने का दावा कर सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।'

अपभ्रंश कथा-साहित्य

संस्कृत, पाली, प्राकृत के अलावा अपभ्रंश भाषा में भी तरह-तरह की कहानियाँ मिलती हैं। स्मरण रहे कि अपभ्रंश भाषा सातवीं से ले कर सोलहवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। पर विशेष कर दसवीं से बारहवीं तक अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि रही। मुख्यतः अपभ्रंश साहित्य में तंत्र-मंत्र, भैरवी चक्र, भूत-प्रेत, जादू यानी संक्षेप में वाम मार्ग का साहित्य लिखा गया, पर अपभ्रंश में साहित्यिक रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें वीर और शृंगार रस की कथाएँ हैं। उदाहरण के लिए 'स्तुति संलाप' में छोटे-छोटे आख्यान पाये जाते हैं। 'नल-कथा' में द्यूत-क्रीड़ा के अवगुण दिखाये गये हैं, 'प्रद्योत कथा' में व्यभिचार के संबंध में सीख दी गयी है। 'तारा' और 'रुक्मिणी' कथाओं में विश्वासपात्रता और सच्चाई के उदाहरण रखे गये हैं। अपभ्रंश के चरित ग्रंथों और पुराणों में बहुत सी कथाएँ आती हैं। अवश्य प्रत्येक कथा में धर्मोपदेश देने की चेष्टा की गयी है। पर जैसा कि डाक्टर हरिकांत श्रीवास्तव ने लिखा है यदि इन प्रसंगों को निकाल दिया जाय, तो वे शुद्ध प्रेमाख्यान ही रह जाते हैं।

ग्रीक, यहूदी और मुस्लिम कथाएँ

जब हम इस प्रकार भारतीय धर्मग्रंथों से हट कर अन्य देशों की ओर जाते हैं तो हमें यह दिखायी पड़ता है कि ग्रीकों का उपाख्यान-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। यदि विचित्रता और साथ ही कलात्मक सौंदर्य में किसी देश का पुराण भारतीय पुराणों का मुकाबला कर सकता है, तो वह ग्रीकों का पुराण है। होमर के इलियड में न जाने कितनी कहानियाँ हैं, यद्यपि आम तौर से यह समझा जाता है कि इलियड होमर द्वारा रचित है, पर यह शायद एक कवि की

रचना नहीं है, हमारे महाभारत और रामायण की तरह उसमें बहुत से कवियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। हमारे यहाँ जैसे यह पता नहीं लगता कि व्यास एक थे या कई उसी तरह इलियड के रचयिताओं की भी हालत है। ग्रीक देवी, देवता, वीर तथा वीरांगनाएँ हमें उसी प्रकार मुग्ध करती हैं, जैसे भारत के प्राचीन देवी, देवता, वीर और वीरांगनाएँ।

इसके साथ हम जब यहूदियों के प्राचीन साहित्य की तुलना करते हैं तो उसमें न तो उस प्रकार की रोचक कथाएँ ही मिलती हैं जैसी भारत या ग्रीस में मिलती हैं, न उस प्रकार के वीर तथा वीरांगनाएँ देखने में आती हैं। इसका कारण शायद यह है कि यहूदी जाति का पुराण इतिहास अधिक है और उसमें 'माइथोलाजी' के तत्त्व कम हैं। ईसाइयों ने यहूदियों के पुराण को ही एक हद तक अपनाया और मुसलमानों ने भी ऐसा ही किया। इस कारण मुस्लिम पुराण भी दिलचस्प कहानियों के तत्त्वों से वंचित हैं। कुरान में भी कथाएँ मौजूद हैं और मुस्लिम धर्म तत्त्वज्ञों के अनुसार युसुफ़ और जुलेखा की कहानी कुरान की सबसे दिलचस्प कहानी है। कहा जाता है कि एक मोमिन ने अल हजरत से यह शिकायत की कि प्रत्येक जाति की धर्म पुस्तक में कोई न कोई दिलचस्प कहानी है, किन्तु हमारी धर्म पुस्तक में कोई दिलचस्प बात नहीं है, इस पर कहते हैं कुरान का वह हिस्सा उतरा, जिसमें युसुफ़ और जुलेखा की कहानी है। इसमें संदेह नहीं कि कहानी कह लेने को ही कथा साहित्य माना जाय, तो हमें इन पौराणिक पुस्तकों को कथा-साहित्य के अंतर्गत मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से, जैसा कि हम पहले ही बता चुके, वेदों के ख़ास-ख़ास हिस्से को भी कथा-साहित्य के अंतर्गत मानेंगे। वेदों में प्रेम, युद्ध तथा जुआ आदि की कितनी ही कहानियाँ हैं। ग्रीक और भारतीय पुराण तो सर्वश्रेष्ठ हैं ही, इससे कुछ उतर कर स्कैंडेनेविया के पुराण हैं, बाइबिल तथा मुसलमानों के पुराणों का दर्जा इस संबंध में सबसे घटिया है। जिस प्रकार महाभारत और रामायण बच्चों के लिए दिलचस्प हैं, बाइबिल या कुरान में बच्चों को वैसी कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। अवश्य इस कमी की पूर्ति बाद को संतों, असहाब, फकीरों आदि की अर्द्धकल्पित जीवन कहानियों से कर ली गयी है। मिश्र देश के ३,००० वर्ष पुराने लेखों से दो भाइयों की कहानी का पता मिलता है। यह कहानी फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समा-

विष्ट हो गयी है। यहाँ तक कि बाइबिल में भी उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है। (कुछ विचार—प्रेमचंद)।

आदिम हिंदी और रासो-साहित्य

जब हम हिंदी की तरफ आते हैं (इस समय तक स्वतंत्र रूप से हिंदी की स्थापना हो चुकी है) तब हमारा ध्यान रासो ग्रंथों की ओर जाता है। इन ग्रंथों में प्रेमाख्यान के साथ-साथ शौर्य-वीर्य की कथाएँ वर्णित हैं। डाक्टर हरिकांत श्रीवास्तव ने इस संबंध में बताया है कि—'रासो-परम्परा में सब से विपुल ग्रंथ पृथ्वीराज-रासो है। इसमें अपभ्रंश के चरित, कथा, पुराण आदि अनेक प्रकार के प्रबंध-काव्यों की शैली का मिश्रण भी प्राप्त होता है, जिसके कारण यह वृहद्कथा-पद्धति का काव्य हो गया है।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि रासो ग्रंथों को ही हम हिंदी के आख्यान मूलक साहित्य का पूर्व पुरुष मान सकते हैं। इस संबंध में एक बहुत ही ध्यान देने योग्य बात है कि हिंदी में जिस प्रारंभिक आख्यान-साहित्य का सृजन हुआ, वह धार्मिक नहीं था, बल्कि शुद्ध साहित्य था। कैसे बाद को चल कर हिंदी का सारा आख्यान-साहित्य राम और कृष्ण के इर्द-गिर्द घूमने लगा और विशुद्ध प्रेमकथा या वीरगाथा के बजाय उसका रंग धार्मिक हो गया, इसकी खोज के लिए शायद हमें हिंदी-साहित्य के बाहर समसामयिक धार्मिक आन्दोलनों की ओर जाना पड़े।

जो कुछ भी हो, यह एक तथ्य है कि हिंदी का प्राचीनतम आख्यान साहित्य ऐहिक था। इस अर्थ में वह तुलसी और सूर रचित साहित्य की तुलना में आधुनिक साहित्य के अधिक निकट था। इस संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि स्वयं रासो शब्द की जो उत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं, वे भी ऐहिक ढंग की हैं। फ्रेंच विद्वान तासी ने राजसूय यज्ञ से इसकी उत्पत्ति मानी है। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसकी उत्पत्ति रासक शब्द से मानते हैं। एक अन्य लेखक ने इसकी व्युत्पति आभीर जाति के सामूहिक नृत्य से मानी है। इस पर यह बताया गया है कि रास में जिस प्रकार के प्रेमाख्यान, विरह-निवेदन आदि सरस रचनाएँ हैं, उनका संबंध राजस्थान में भ्रमण करनेवाली आभीर गोप जाति से होना संभव है।

यह भी एक ध्यानयोग्य बात है कि बाद को चल कर आख्यानक काव्यों के रचयिताओं में कई अग्रणी मुसलमान हुए। इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि मुल्ला दाऊद कृत चंदायन ('बरस सात सै होइ इक्यासी', यानी ७८१ हिज़री) में 'नूरकचंदा' की कहानी, शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी या रज्जन की 'पेम बन जाबे निरंजन', कुतुबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती' (१५४५ ई०) आदि कई प्रमुख रचनाएँ हैं। जायसी ने मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है।

जायसी का पद्मावत

यहाँ जायसी के पद्मावत का विशेष उल्लेख वांछनीय है। यह एक प्रेम-काव्य है। इसकी रचना संवत् १५९७ या सन् १५४० ई० में हुई थी। श्री गुलाबराय ने इस पुस्तक का वर्णन इन शब्दों में लिखा है—'पद्मावत में राजा रत्नसिंह और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इन दोनों का मिलन हीरामन तोता ने कराया था..............इस कला में प्रेम-साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखलाया गया है। यह कथा अधिकांश ऐतिहासिक है। कवि कल्पना के अनुसार इसमें हेर फेर अवश्य किया गया है। पूर्वार्द्ध कल्पित है, किन्तु उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार है। भौतिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम को भी झलक दिखलायी गयी है। इतने ही वर्णन से ज्ञात होगा कि इस कथा में बाद के युग के अर्थात् आधुनिक प्रेममूलक उपन्यास के उपादान मौजूद हैं। इन पर पहले की कथाओं का बहुत जबर्दस्त प्रभाव रहा।[१]

जायसी ने पद्मावत की रचना की। इसके अलावा उस्मान कवि, शेख नबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद, आलम, गुलाम मुहम्मद आदि कई प्रमुख मुसलमान कवि एक के बाद एक उत्पन्न हुए। क्या यह कोई आकस्मिक बात है कि जब तक आख्यान-साहित्य बहुत कुछ ऐहिक बना रहा और उस पर हिंदू धर्म का साम्प्रदायिक रंग पूरा-पूरा नहीं चढ़ा, तब तक मुसलमानों के लिए हिंदी में बहुत अधिक गुंजाइश रही। यदि उस युग में पारलौकिक प्रेम से संबंधित सूफी रंग की कहानियों का प्रचलन था, तो उसका भी रूप यह था कि उनकी पारलौकिकता साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ कर चलती थी। इस दृष्टि से देखने पर बाद को चल कर जिस संत-साहित्य की सृष्टि हुई और जिसके

लिए बड़ा गर्व किया जाता है, वह अंतर्निहित हिंदू रंग के कारण हिंदी की एकता में बाधक ही सिद्ध हुआ, जिसका अंतिम परिणाम हिंदी का हिंदी और उर्दू दो भागों में बँट जाना रहा। हिंदी के इस युग पर अधिक विस्तार में जाना इस प्रसंग में उचित न होगा क्योंकि आधुनिक उपन्यास-साहित्य विशेष कर प्रेमचंद को उस युग के साहित्य से किसी प्रकार प्रभावित प्रमाणित करना संभव नहीं है।

फिर भी इतना तो हमने दिखा ही दिया कि यदि संसार के प्राचीनतर साहित्यों में विशुद्ध कहानी कहने की परम्परा थी, तो हिंदी का अलग अस्तित्व स्थापित होने के साथ ही हम आख्यान काव्यों में उस प्रवृत्ति को फलते-फूलते देखते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि उस युग में साहित्य जनता से सम्बद्ध नहीं था, बल्कि बड़े लोगों के मनोविनोद का साधन था और यह स्वाभाविक है कि वे लोग जिस प्रकार के थे, उनका मनोविनोद भी उसी प्रकार की कथाओं से होता था।

हिंदी कथा-साहित्य में गद्य का प्रारम्भ

अब तक हमने जिन हिंदी रचनाओं का उल्लेख किया है, वे पद्य रचनाएँ हैं। संस्कृत चम्पू काव्यों के अतिरिक्त हमें कुछ ऐसे आख्यान-साहित्य का पता मिलता है, जिसमें गद्य का भी प्रयोग हुआ है। कवि विद्यापति का जन्म १३६० ई० के लगभग हुआ। 'कीर्तिलता' उनकी एक मुख्य रचना है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार उन्होंने इस काव्य को 'कथा' नहीं कहा था बल्कि 'काहाणी' कहा है। यहाँ यह 'काहाणी' शब्द द्रष्टव्य है। उन दिनों कहानियों में गद्य का भी प्रयोग होता था। विद्यापति की कीर्तिलता में भी गद्य का यत्र-तत्र प्रयोग है। 'यद्यपि लीलावती नामक प्राकृत कथा में भी कहीं-कहीं गद्य थोड़ा-बहुत आ गया है, पर वह नाममात्र को है। अपभ्रंश के चरित काव्यों में तो गद्य का लोप ही हो गया था, इस प्रकार विद्यापति की कीर्तिलता इस बात में अपभ्रंश के चरित-काव्यों से विशिष्ट है। रुद्रट के सामने जो संस्कृतेतर भाषाओं की कथाएँ थीं, उनमें भी कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग होता था। जान पड़ता है कि विद्यापति के पूर्ववर्ती काल में जो कथाएँ लिखी गयीं, उनमें गद्य का प्रयोग होने लगा था। फिर कथा-काव्यों में राज्य-लाभ तथा कन्याहरण और गन्धर्व विवाहों का प्राधान्य होता था, जो कीर्तिलता में केवल राज्य-लाभ तक ही सीमित रह गया है। इस प्रकार विद्यापति की कीर्तिलता

कथा-काव्य के कुछ लक्षणों से युक्त नहीं है। इसलिए वह ठीक-ठीक कथा नाम नहीं पा सकती। जान पड़ता है कि विद्यापति ने अपने काव्य को कथा से भिन्न श्रेणी की रचना समझ कर उसे 'काहाणी' कहा था। इसमें कथा के मुख्य-मुख्य लक्षण आ जाते हैं और एकाध लक्षण छूट जाते हैं। यह भी हो सकता है कि विद्यापति के पूर्व में इस कहानी नाम की अन्य रचनाएँ भी रही हों, जिनकी सूचना दामोदर भट्ट की पुस्तक में मिल जाती है। यहाँ उल्लेख योग्य है कि विद्यापति की एक अन्य पुस्तक 'कीर्तिपताका' है, जिसमें प्रेमकथा वर्णित है। सम्भवतः विद्यापति ने कथा के दोनों उद्देश्यों — युद्ध और प्रेम — के लिए अलग-अलग पुस्तक लिखी थी।' (हिंदी साहित्य, डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७६)।

आधुनिक कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह गद्य में लिखा जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस संबंध में भी हर्षवर्धन के राजकवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' को ही अग्रणी मानना पड़ेगा, वह गद्यबद्ध भी है, और उसकी विषयवस्तु कहानी भी है। फिर भी हम बाणभट्ट की कादम्बरी को आधुनिक अर्थ में उपन्यास नहीं कहेंगे, क्योंकि उसमें जिस प्रकार की आलंकारिक तथा वागाडम्बरपूर्ण भाषा का उपयोग हुआ है, उससे कोई भी उसे उस प्रकार पढ़ कर सहज आनंद नहीं प्राप्त कर सकता, जिस प्रकार आज ट्राम में या रेल में आधा घंटा बैठ कर लोग एक कहानी को पढ़ कर आनंद प्राप्त करते हैं। आधुनिक अर्थ में उपन्यास सहज निर्मल कलामय आनंद देने के लिए लिखा और पढ़ा जाता है, अवश्य इसके साथ ही लेखक और भी बहुत से उद्देश्य सिद्ध कर सकता है, करता है, और शायद उसे करना भी चाहिए, — यहाँ हम इन तर्कों में नहीं पड़ेंगे, किन्तु चाहे जिस प्रकार का उपन्यास हो उसकी सफलता इसी में है कि पढ़नेवाले को आनंद प्राप्त हो और उसे उपन्यास को समझने के लिए प्रत्येक पंक्ति में न तो कोष उठा कर देखना पड़े और न उसे बार-बार अलंकार या समास-विशेषज्ञ की सहायता लेनी पड़े। इतना बता देने पर भी जिस अर्थ में धार्मिक पुराणों को तथा अन्य लोक कथाओं को पद्यबद्ध होते हुए भी आधुनिक उपन्यास का आदिपुरुष माना जा सकता है, उससे निकटतर अर्थ में बाणभट्ट की कादम्वरी को आधुनिक उन्यास का पूर्वपुरुष मानना पड़ेगा। 'अलिफ़-लैला' की कहानी भी इसी प्रकार आधुनिक उपन्यास के पूर्वपुरुषों में है, किन्तु उसमें अलौकिक घटनाओं की भरमार है। धार्मिक साहित्य की अलौकिकता और

इसकी अलौकिकता में फर्क यह है कि इसकी अलौकिकता में धर्म का पुट नहीं है। इसी प्रकार फारसी की एक पुस्तक 'तिलस्म होशरुबा' का पता मिलता है। यह बीस हजार पृष्ठों की पुस्तक है। यह भी अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। इस पुस्तक के रचयिता के संबंध में कहा जाता है कि अकबर के दरबारी फैज़ी इसके लेखक थे, किन्तु इसमें संदेह है। जो कुछ भी हो, पाश्चात्य तथा पूर्वीय देशों में हम आज जिसे उपन्यास कहते हैं, उसके कई तत्त्वों से युक्त अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों की रचना हुई।

ब्रजरत्नदास का मत हम उद्धृत कर चुके हैं। आधुनिक उपन्यास की केवल यही विशेषता नहीं है कि वह गद्यबद्ध है, और उसकी भाषा सरल होती है, बल्कि उसमें और भी विशेषताएँ हैं। अवश्य यदि हम क्रमबद्ध तरीके से पुराणों से ले कर अति आधुनिक उपन्यासों के विकास तक का अनुसरण करें तो हमें उसमें कई सोपानों के दर्शन होंगे। आधुनिक वस्तुवादी उपन्यास (वस्तुवादी उपन्यास से यहाँ केवल इतना ही मतलब है कि उसमें अलौकिक घटनाएँ न घटित हुई हों) और पौराणिक गाथाओं के बीच में जो सोपान हुआ है, उसे हम रोमांटिक कथा का युग कह सकते हैं। रोमांटिक उपन्यासों में धार्मिक कथाओं के बनिस्बत अलौकिक घटनाएँ कम हुईं, किंतु उनका रूप भर बदल गया, उनको हम बदले हुए रूप में देख सकते हैं। रोमांटिक साहित्यों में ही अब हम व्यक्ति की प्रधानता देखना शुरू करते हैं। उदीयमान पूँजीवादीवर्ग अपने को सामंतवादी समाज की बेड़ियों से मुक्त करने के लिए छटपटा रहा था। वह अपने व्यक्तित्व को सामन्तवादी वृहत्तर व्यक्तित्व में बराबर ग्रस्त पा रहा था, किंतु अब वह धीरे-धीरे सिर उठा रहा था। रोमांटिक साहित्य में व्यक्ति ही प्रधान है, वह असाध्य साधन कर रहा है। रोमांटिक धारा ने ऐतिहासिक उपन्यास को विशेष कर अपना वाहन बनाया है, बात यह है कि पीछे के एक युग में व्यक्ति को एक बड़ी हद तक बंधनहीन करके दिखलाया जा सकता था। इस प्रकार उदीयमान वर्ग ने व्यावहारिक क्षेत्र में अपनी मुक्ति प्राप्त करने के पहले काल्पनिक रूप से साहित्य क्षेत्र में मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की। अवश्य यह कोई मुक्ति नहीं थी, मुक्ति की छायामात्र थी, किंतु यह चेष्टा साहित्य में अपना एक चिह्न छोड़ गयी।

पहले पहल पाश्चात्य जगत् में उपन्यास की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके

संबंध में राल्फफॉक्स ने लिखा है—'ज्यों-ज्यों मध्ययुग का अवसान होने लगा त्यों-त्यों इटली और इँगलैंड के व्यापारी वर्ग ने पहले-पहल आधुनिक ढंग पर कहानी कहनेवालों को उत्पन्न किया। इन कहानियों में जो नायक और नायिकाएँ थीं, उन्होंने जो कुछ किया उसको महत्त्व दिये जाने के साथ ही साथ अब उतने ही परिमाण में उनके चरित्रों को महत्त्व दिया गया। चॉसर और बोक्कासियो ने पहले-पहल, उपन्यास लेखक की सबसे बड़ी विशेषता पुरुषों और स्त्रियों के संबंध के विषय में कौतूहल प्रकट किया। कुछ हद तक हम इस बात को मालोरी में देख सकते हैं, किन्तु वे चॉसर के काफी बाद को लेखक के रूप में आये हैं, और यद्यपि उनका माध्यम गद्य था, फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि वे कवियों के ही ढर्रे पर चले। यह बात सच है कि वे एक ऐसे समाज के मध्य में बैठ कर लिख रहे थे जो ह्रास के पूर्व होनेवाली अराजकता के बीच से गुजर रहा था, किंतु फिर भी आपको पास्टन के पत्रों में मालोरी के बनिस्बत अधिक वस्तुवादी अँगरेज पुरुष और स्त्रियाँ और कभी-कभी सुंदरतर गद्य मिलेगा।' (The Novel and the People, पृष्ठ ३५)।

इस प्रकार आधुनिक उपन्यास की अर्थात् पूँजीवादी युग के उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यक्ति को महत्त्व दे कर शुरू होता है। पूँजीवाद व्यक्तिवाद को ले कर ही आगे आया है। ह्रासशील सामंतवाद के विरुद्ध उसने न केवल अपने वर्ग को बल्कि अन्य सब वर्गों को व्यक्तिवाद का नारा दे कर सामंतवाद के विरुद्ध संगठित किया है। यह द्रष्टव्य है कि शुरू-शुरू के कुछ उपन्यासों में आत्मकथा मूलक ढंग जोरों के साथ अपनाया गया था। राबिन्सन क्रूसो (१७१६), गुलीवर की यात्राएँ (१७२७), Mauom lescant (१७३२), Marianne (१७३५) और आम तौर पर मारीवो (Marivoux) और आवे प्रेवोस्त (Prevost) की सब रचनाएँ आत्मकथामूलक थीं। इन उपन्यासों में वर्णन यों किया जाता था कि मैंने यह देखा और मैंने यह किया। (Honore de Balazac, पृष्ठ १८) इसी प्रकार पत्रों के जरिये से जो उपन्यास का तरीका चला उसे भी हम आत्मकथामूलक कह सकते हैं, अवश्य पत्रोपन्यास में केवल एक मैं न होकर दो मैं के होने की गुंजाइश हुई। वृन्तीयर ने १७४८ में लिखित Clarisse Harlowe तथा १७६२ में लिखित la Nouvelle Heloise को मुख्य उदाहरण के रूप में पेश किया है। एक मैं से दो मैं और फिर बहुत से दृष्टि-कोणों से एक चीज को देखने की परिपाटी का सूत्रपात हुआ। इस तरह से हम

बिल्कुल आधुनिक उपन्यास में पहुँच जाते हैं। अति-आधुनिक कथित मनोविज्ञान प्रधान उपन्यास में यह जो कोशिश की जाती है कि मनुष्य के मनोविज्ञान से ही सारी घटनाएँ प्राप्त की जाएँ, यह इसी रुख की चरम सीमा है। अवश्य ही मनुष्य का मन एक बहुत बड़ा घटक है, उपन्यास-लेखक को या कवि को अवश्य उसका ध्यान रखना पड़ेगा, किन्तु यह कुचेष्टा करना कि आसपास का समाज हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता या कम प्रभाव डालता है, यह गलत है। सच बात तो यह है कि मनुष्य का मन तथा उसकी मनोवृत्तियाँ ही ऐतिहासिक भौतिक कारणों से उत्पन्न हुई हैं और बराबर समाज की अग्रगति अथवा अवनति के साथ-साथ बदलती चली जा रही हैं, इसलिए मनोवृत्तियों को ही सब कुछ समझना सही नहीं हो सकता। अतिआधुनिक उपन्यासों पर लिखते समय हम यथासमय इस प्रवृत्ति की आलोचना करेंगे।

पहले-पहल जब आधुनिक उपन्यासों की उत्पत्ति हुई, तो उनकी रचना एक बड़ी हद तक बैठे ठाले लोगों के मनोरंजन के लिए हुई, अर्थात् ऊपर से इनके रचयिता स्वतंत्र और निस्पृह दिखायी पड़ने पर भी उपन्यासों की रचना बिक्री के लिए या आर्थिक लाभ के लिए की गयी। स्वाभाविक रूप से धन तथा उपन्यास पढ़ कर आनंद उठाने लायक शिक्षा पूँजीवादीवर्ग में ही थी, अतएव घुमाव-फिराव के साथ उपन्यासों की रचना पूँजीवादीवर्ग तथा उनके साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले नये मध्य-वित्तवर्ग के लिए हुई। इसलिए उपन्यास के संबंध में यह जो कहा गया है कि वह निठल्ले लोगों के मनोरंजन की कला है, यह ठीक उतरती है, किन्तु यहाँ यह स्मरण रहे कि सब परोपजीवीवर्गों द्वारा शासित समाजों में कमोबेश कला का यह स्वरूप होना अनिवार्य था। सामंतवादी युग में काव्य, साहित्य की रचना, सामंतवादी प्रभुओं, राजाओं, महाराजाओं, नवाबों का कृपाकटाक्ष प्राप्त करने के लिए होती थी, और जो कवि इनका कृपाकटाक्ष प्राप्त कर लेता था वह धन्य समझा जाता था। उस युग में स्वाभाविक रूप में कवियों तथा कलाकारों को इस बात की परवाह नहीं थी कि जनता उनकी कला या काव्य की कद्र करती है या नहीं। यदि लगे हाथों जनता के कुछ लोगों ने उनकी कद्र की तो अच्छी बात है, नहीं तो वे इसके लिए कोई चेष्टा नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त जनता में इतनी शिक्षा, संस्कृति या अवकाश नहीं था कि वह इन रचनाओं की कद्र करती। इस प्रकार सामंतवादी युग में

कला तथा साहित्य का रूप वर्गकला या वर्गसाहित्य ही रहा। उस युग में भी साहित्य या कला निठल्लों का मनोरंजन करती थी।

अवश्य कुछ जनता के कवि तथा कलाकार उन युगों में भी हुए हैं, जो राजदरबार की ओर नहीं, बल्कि जनता की ओर ही देखते थे, पर उनकी आँखों पर भी धर्म आदि का चश्मा चढ़ा हुआ था, जिसके कारण वे जनता तक पहुँचने की चेष्टा तो करते थे, पर ऐसा जनता के लिए न करके कुछ काल्पनिक आदर्शों के लिए करते थे। हम इसके ब्यौरे में जाने का साहस नहीं करते, केवल इतना बता कर आगे बढ़ जायेंगे कि कबीर, नानक, तुलसी आदि कवि इसी श्रेणी के हो गये हैं, किन्तु साथ ही हम यह भी बता दें कि उनकी कविता या कला दरबारी न थी और वे दरबार की ओर नहीं ताकते थे फिर भी उनकी कविता की अंतर्गत वस्तु अपने को एक हद तक ही सामंतवादी अंतर्गत वस्तु से अलग कर पायी।

पूँजीवादी वर्ग की प्रथम महान् राजनैतिक क्रांति अर्थात् १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रांति के पहले ही उपन्यासों की बहुत उन्नति हो चुकी थी। फिलीबर आदेब्राँ ने इस सम्बन्ध में एक बहुत ही मजेदार तथ्य दिया है कि 'जिस दिन बास्तिल जेल पर (जहाँ क्रांतिकारी बंद थे) क्रांतिकारियों का कब्जा हो गया उसी दिन से कुछ काल के लिए उपन्यास की उन्नति रुक गयी। इसके बाद तो सड़कों पर नाटकों का दौरदौरा रहा। प्लासदला रिवल्युसियों में खूनी दृश्यों को नाटकों के जरिये से दिखाया जाता था, और कई क्षेत्रों में तो नाटक मानों बन्दूक कन्धे पर लेकर और हाथ में तलवार लेकर सरहद पार कर दिग्विजय के लिए रवाना हो गया। ऐसे समय में प्रेम की कहानी बिल्कुल एक ऐसी बात होती, जो उस समय की पवित्रता को क्षुण्ण करती, और सारे परिप्रेक्षित के साथ असामंजस्यपूर्ण होती। यह परिस्थिति करीब दस साल तक रही। तथ्य तो यह है कि १८ वें ब्रूमेयेर या मारंगों के युद्ध के बाद ही उपन्यास का पुनरुज्जीवन हुआ। इस प्रकार उपन्यास फिर से कब्र के अंदर से निकला तो उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। उसकी चारों तरफ की सब बातें, रंग-ढंग, पोशाक, बातचीत का तरीका, यहाँ तक कि भूगोल बदल चुका था। इस दृश्य को देख कर उसने अपने पाठक वर्ग को हिलाया, टटोला और उसे यह मालूम न पड़ा कि कैसे फिर से जनता पर कब्जा किया जाय। धीरे-धीरे वह

तगड़ा पड़ता गया, और नयी दुनियाँ के साथ कदम ब कदम चलने लगा ।'
(Romanciers et Viveus, पृष्ठ ३)। इसके बाद तो उपन्यासों की धूम हो गयी, यहाँ तक कि चार्ल्स सारोलिया को यह कहने की हिम्मत हो गयी कि 'कहानी कहने की कला अनिवार्य रूप से एक फ्रेंच कला है।' (Letters de Mon Monlin, पृष्ठ ३)।

आदेन्नाँ ने जो यह दिखलाया है कि वर्षों तक उपन्यास फ्रांस में बंद रहा, यह ऐतिहासिक रूप से सत्य होते हुए भी जरूरी नहीं था कि हर हालत में ऐसा होता ही। ऐसा इसलिए हुआ कि उस समय के उपन्यासकार उपन्यास की कल्पना प्रेमकहानी या निठल्लों की मनोरंजन सामग्री के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं कर सकते थे। उपन्यास इसके अतिरिक्त अन्य उद्देश्य भी सिद्ध कर सकता है, तथा एक क्रांतिकारी तथा अनिश्चित वातावरण के साथ कदम मिला कर चल सकता है, इसका ज्ञान उस समय के उपन्यासकारों को नहीं था। इस प्रकार उपन्यास के संबंध में जो पूँजीवादी धारणा थी कि वह केवल निठल्लों के मनोरंजन के लिए है, दूसरे शब्दों में कला कला के लिए है—इसने ही उनको ऐसे समय में पंगु बना दिया और उपन्यास-कला उनके युद्ध तथा दिग्विजय में सहायक सिद्ध न हो सकी। दूसरे महायुद्ध में हम देख चुके हैं कि इलियाएरेन-वर्ग तथा वांद्रा वासिलियावास्का आदि लेखकों के उपन्यासों ने लड़ाई को जीतने में उतनी ही सहायता दी, जितना नवीन से नवीन हवाई जहाज तथा टैंक दे सकता है, बल्कि उनसे भी कहीं अधिक क्योंकि लड़ाई के जीतने में जो सबसे बड़ा उपादान है, वह मनुष्य है, और इन लेखकों की रचनाओं ने ऐसे मनुष्यों को उत्पन्न किया या यों कहना चाहिए कि मनुष्यों को ऐसे मानसिक ढाँचे में ला कर रख दिया, जिससे लड़ाई जीती जा सकती है। कला की सम्भावनाओं के संबंध में एक संकुचित दृष्टिकोण रखने के कारण या यों कहिए कि उसकी विस्तृत सम्भावनाओं को समझ पाने में असमर्थ रहने के कारण स्वयं बुर्जुआ समाज अपने एक बहुत सम्भावना-युक्त अस्त्र से वंचित रहा। जो कुछ भी हो, इसके बाद बुर्जुआ वर्ग सारी बातों को जान गया और उसने बहुत सुंदरता और सूक्ष्मता के साथ कला तथा साहित्य का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग किया है।

चार्ल्स सारोलिया ने यह जो कहा है कि कहानी कहने की कला अनिवार्य

रूप से एक फ्रेंच कला है, यह केवल एक देशभक्त का आस्फालन मात्र नहीं था, सचमुच ही फ्रेंच उपन्यास सारे बुर्जुआ जगत के उपन्यासों के शीर्ष स्थान पर रहा है। यदि हम इस बात को याद रखें कि सबसे पहले खुल कर फ्रांस के बुर्जुआवर्ग के हाथों में ही राष्ट्रशक्ति आयी, तो हमें इस परिणाम को समझने में दिक्कत न होगी। इँगलैंड में उस प्रकार से समारोहपूर्ण ढंग से कोई बुर्जुआ क्रांति नहीं हुई, किन्तु वहाँ फ्रांस से पहले बुर्जुआवर्ग शक्ति-आरूढ़ हो गया, इसलिए अँगरेजी उपन्यासकार भी रचना की दौड़ में फ्रांसीसियों से होड़ करते रहे। बाद को तो चल कर सभी यूरोपीय देशों में उपन्यासों की उन्नति हुई।

इस स्थान पर हमसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि हम पाश्चात्य उपन्यास-कला के विकास का कोई क्रमबद्ध इतिहास पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करें। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही दिखा देना है कि एक तो उपन्यास आधुनिक पूँजीवादी समाज की विशेष ही नहीं, बल्कि उसकी सबसे बड़ी उपज है, दूसरा यह कि भले ही इसका भ्रूण-रूप में पहले अस्तित्व रहा हो, किन्तु इसे गर्भ से निकालने का श्रेय पूँजीवादी समाज-पद्धति को ही है। राल्फफाक्स ने यह बहुत ठीक कहा है कि उपन्यास हमारे आधुनिक बुर्जुआ समाज का एपिक कलागत स्वरूप है, इस समाज के यौवन काल में यह कला अपनी पूर्णता तक पहुँची, और इस समाज के ह्रास के साथ-साथ इसमें भी कुछ बट्टा लगता हुआ नज़र आता है। यद्यपि अभी भारतवर्ष में यह प्रश्न नहीं उठता कि क्या वर्तमान समाज-पद्धति अर्थात् बुर्जुआ समाज-पद्धति के ह्रास तथा अंत के साथ उपन्यास का भी अंत हो जायेगा। राल्फफाक्स ने इस प्रश्न पर विवेचना करते हुए यह दिखलाया है कि एपिक या महाकाव्य सामंतवादी युग की सबसे बड़ी साहित्यिक उपज थी, किन्तु बाद को इसका Chanson de geste में पुनरुज्जीवन हुआ, और जब इस रचना-प्रणाली का भी अंत हो गया, तब उपन्यास ही एपिक रूप में लिखे जाने लगे। इस प्रकार एपिक अपने मौलिक रूप में न सही, एक दूसरे रूप में पुनरुज्जीवित हुआ। इसी प्रकार उपन्यास अपने व्यक्तिप्रधान स्वरूप में न रह कर एक बदले हुए स्वरूप में पूँजीवादी समाज के आगे के समाज में रह सकता है, रहेगा और जैसा कि हम रूस के उदाहरण से जानते हैं, वह है, और सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति कर रहा है। सच बात तो यह है कि स्वयं बुर्जुआ लेखकों ने ही व्यक्तिप्रधान उपन्यासों को खतम करने की ओर प्रवृत्ति दिखलायी है।

भारतवर्ष में अभी उपन्यास-कला कल की उपज है। जैसा कि हम दिखा चुके, उपन्यास-साहित्य की उत्पत्ति के लिए यहाँ दो बातों की जरूरत थी, एक तो उसके उपयुक्त भाषा के विकास की, और दूसरी उपन्यासों की अधिक से अधिक प्रतियों के प्रचार के लिए छापेखानों की। अँगरेजों के भारतवर्ष में आने के पहले ये दोनों बातें यहाँ नहीं थीं। बँगला में भी अँगरेजों से पहले कोई कहने लायक गद्य नहीं था। राजा राममोहन राय ही बँगला के प्रथम गद्य-लेखक माने जाते हैं, यद्यपि यह स्मरण रहे कि बँगला की जो प्रथम गद्य पुस्तक मानी जाती है, वह राममोहन की लिखी हुई नहीं, बल्कि रामबसु का लिखा हुआ 'प्रतापादित्य चरित्र' था। 'प्रतापादित्य चरित्र' १८०१ में प्रकाशित हुआ था। राजा राममोहन ने इस पुस्तक की पांडुलिपि को शुद्ध किया था, किन्तु उनकी कोई निजी रचना १८१५ के पहले प्रकाशित नहीं हो सकी। राममोहन ने कोई उपन्यास नहीं लिखा, किन्तु बँगला गद्य को सभ्य समाज में प्रचलित कर उपन्यास के लिए आधार उत्पन्न किया। इसके बाद तो ईश्वरचंद्र विद्यासागर और एक के बाद एक लेखक आते गये, और बँगला गद्य का और साथ ही उपन्यास का जन्म हुआ। यह तो बताने की आवश्यकता ही नहीं है कि छापेखाने के जरिये से ही इस गद्य का प्रचार हुआ। बंकिमचंद्र जिस समय बँगला साहित्य में आये हैं, उसके पहले ही कुछ उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। इनमें समय की दृष्टि से 'नवबाबू विलास' १८२३ में प्रकाशित होने के कारण पुरानी रचना मानी जा सकती है। इन लोगों ने गद्य को कुछ दूर तक उपन्यासोपयोगी बनाया, किन्तु फिर भी बंकिमबाबू को उपन्यास रचना के साथ ही साथ गद्य की सृष्टि भी करनी पड़ी। उनको कुआँ खोदना और पानी पीना बल्कि पिलाना साथ ही साथ करना पड़ा।

जो काम बँगला में रामबसु, राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया, हिंदी में वही प्रक्रिया दूसरे तरीके से होती रही। बँगला का प्राचीन साहित्य हिंदी के मुकाबले में दो दृष्टियों से भिन्न था, एक तो ब्रज बोली की ओर कुछ थोड़ी-सी प्रवृत्ति के अतिरिक्त बँगला में जो पद्य की भाषा रही, वही बाद को गद्य की भाषा बनी। दूसरा, बँगला का प्राचीन साहित्य हिंदी के प्राचीन साहित्य की तरह ऐश्वर्यशाली न होने के कारण अग्रगति में बाधक न हो सका। हिंदी के कवियों ने मुख्यतः ब्रजभाषा और अवधी को ही माध्यम बना कर काव्य रचना की थी। इस बीच में भाषा में परिवर्तन हो चुका था, और

सार्वजनप भाषा के रूप में खड़ी बोली का विकास हुआ था। खड़ी बोली का अस्तित्व खु और कबीर के पहले से था, ऐसा दिखलाया जा सकता है। गंग आदि ने इसका प्रयोग गद्य में भी किया, तथापि वह जनता की भाषा ही रही, साहित्यिक भाषा न हो सकी क्योंकि साहित्यकार पद्य की ओर झुके हुए थे, जिसमें व्रजभाषा और अवधी का प्रचलन था।

ऐसा मालूम होता है कि फोर्ट विलियम में खड़ी बोली की चर्चा के पहले मुलसमानों के राज्यकाल में ही खड़ी बोली कुछ-कुछ प्रचलित हो चुकी थी। डाक्टर कोतमिरे के अनुसार खड़ी बोली शिष्ट समाज की भाषा थी और उसका उपयोग साधारण व्यवहार के लिए होता था। चिट्ठीपत्री लिखने के लिए भी इसका उपयोग होता था। सभ्य तथा शिष्ट समाज में प्रचलित होने के कारण इसमें कुछ पुस्तकें भी लिखी जा चुकी थीं।

भाषा योगवाशिष्ठ : पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी ने १९ वीं शताब्दी के आरम्भ से पहले ही भाषा योगवाशिष्ठ लिखी। कोतमिरे लिखते हैं—'भाषा योगवाशिष्ठ की भाषा बिलकुल ही साफ-सुथरी खड़ी बोली है और इस प्रकार की शृंखलाबद्ध साधु तथा व्यवस्थित भाषा अठारहवीं शताब्दी के मध्य काल तक किसी दूसरे उपलब्ध ग्रन्थ में नहीं मिलती। हिंदी गद्य के इस परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप को देख कर तत्कालीन प्रौढ़ गद्य लेखकों में इस ग्रंथ के रचयिता को प्रथम स्थान दिया जा सकता है।' योगवाशिष्ठ में गद्य का नमूना इस प्रकार मिलता है—

'हे मुनीश्वर ! यह मैंने विचार कर देखा है, इसमें सुख कछू नहीं अरु संतोष रूपी मेघ का नाश करनहारा यह शरत्काल है अरु इस मनुष्य में शुभ गुण तब लग दृष्टि आवे जब लग लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं भई। जब लक्ष्मी की प्राप्ति भई, तब गुण नाश पाते हैं।' कोतमिरे ने जो कुछ लिखा है, वह रामचंद्र शुक्ल के ही अनुसार है।

जैन पद्म पुराण : कोतमिरे आगे लिखते हैं—'दूसरा अनूदित ग्रंथ पं० दौलतराम कृत 'जैन पद्म पुराण' का भाषानुवाद है। इस ग्रंथ में 'योगवाशिष्ठ' की भाषा के समान शक्ति नहीं है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १७६१ ई० है, परंतु गद्य के विकास की दृष्टि से 'योगवाशिष्ठ' के अनुसार इसमें परिमार्जित गद्य की परम्परा नहीं मिलती। 'पद्म पुराण' की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

'यह सुन सुकला की सखियाँ उससे बोलीं कि हे महाभाग्यवाली जिसके वसुदेवा व सुदेवा दो नाम हैं उसमें कौन से आचार देखे थे हमसे विस्तार से कहो क्योंकि तुमने अभी कहा है कि इस विषय में सुदेवा का चरित कहना है।'

'खड़ी बोली के तत्कालीन गद्य-साहित्य के विकास में मुसलमानों का योग अवश्य लक्षित होता है, परंतु 'योगवाशिष्ठ' तथा 'पद्म पुराण' की भाषा को देख कर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनकी भाषा, शैली और भावानुभूति पर मुसलमानों का कोई प्रभाव नहीं है। 'योगवाशिष्ठ' में जिस भाषा शैली का आदर्श मिलता है उसकी परम्परा को विकसित करने का कार्य मुंशी सदासुखलाल (१७४६-१८२४) ने किया। उनकी भाषा-शैली अवश्य ही 'योगवाशिष्ठ' से प्रभावित दिखायी पड़ती है।'

अब इस खड़ी बोली को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए बड़ी भारी लड़ाई लड़नी पड़ी। हिंदी साहित्य के विकास में यह लड़ाई बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दुख है कि अच्छे से अच्छे समीक्षकों ने इस लड़ाई को वह महत्त्व नहीं दिया है, जो इसका न्यायसंगत प्राप्य है। खड़ी बोली और व्रजभाषा के बीच हिंदी साहित्य के सिंहासन के लिए जो लड़ाई हुई है, उसमें यदि व्रज-भाषा की जीत होती तो जैसे आज हिंदी एक विराट भूखंड की साहित्यिक भाषा के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है, ऐसा न होता। उस हालत में आज जहाँ पर हिंदी है, वहाँ हमें सम्भव है कई साहित्यिक भाषाएँ दृष्टिगोचर होतीं। अवश्य यह कहना मुश्किल है कि खड़ी बोली की विजय तथा उसके साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण अब हमेशा के लिए पृथक्-पृथक् जानपदिक भाषाओं की उत्पत्ति का मार्ग रुक गया।

जो कुछ भी हो, वर्तमान रूप में हिंदी उपन्यास-कला के उदय में खड़ी बोली का सर्वमान्य हो जाना एक बहुत बड़ी बात है। इस क्षेत्र में जो विजय हुई वह अभी कल की बात है, सच बात तो यह है कि व्रजभाषा और खड़ी बोली की लड़ाई में जो विराट संग्राम हुआ था, उसके तोपों की गड़गड़ाहट अभी तक सुनायी पड़ सकती है। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में इस युद्ध में खड़ी बोलीवालों की विजय हुई।

जहाँ तक छापेखानों की स्थापना का संबंध है, कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज से ही कुछ हिंदी पुस्तकें पहले प्रकाशित हो चुकी थीं, किंतु

जैसा कि डॉक्टर लाल ने लिखा है : 'उनकी संख्या बहुत कम थी, और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं था। आधुनिक काल का प्रारम्भ सन् १८३७ से होता है, जब दिल्ली में एक लिथोग्रेफिक प्रेस की स्थापना हुई, तभी से हिंदी पुस्तकों का प्रकाशन अबाध गति से चलता रहा है।' (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० १५)।

जिन भू-भागों में आज हिंदी बोली जाती है, उन भू-भागों में वे ही लोक-कथाएँ तथा कहानियाँ प्रचलित थीं जो भारतवर्ष के अन्य स्थानों में प्रचलित थीं। डॉक्टर लाल ने यह लिखा है कि 'हिंदी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल तोता-मैना और सारंगा-सदावृज जैसी कहानियों में खोजना पड़ेगा, जिनका उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है। इन कथाओं का उल्लेख हमें कालिदास के समय से ही मिलता है।' दूसरे शब्दों में डॉक्टर लाल के वक्तव्य का यह अर्थ हुआ कि हिंदी उपन्यासों अथवा कहानियों के आदि-पुरुष की खोज में हमें उस युग में जाना पड़ेगा जब हिंदी थी ही नहीं, इसलिए उन युगों की कहानियाँ न केवल हिंदी कहानियों की बल्कि समस्त भारत की कहानियों की जननी थीं। डॉक्टर लाल ने जिस प्रकार आसानी से यह कह दिया कि तोता-मैना और सारंगा-सदावृज आदि कहानियों का उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है, आधुनिकतम खोजें ऐसे अनुमानों की पुष्टि नहीं करतीं। सच बात तो यह है कि कहानियों के विकास की खुद एक बहुत बड़ी कहानी है। हितोपदेश में जिन कहानियों को हम बचपन में पढ़ते हैं, वे न मालूम किस-किस रूप में कहाँ-कहाँ मौजूद हैं। केवल कोई अज्ञ व्यक्ति ही यह कहने का साहस कर सकता है कि अमुक कहानी निश्चित रूप से अमुक स्थान से ली गयी। जो कुछ भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी, बँगला आदि भारतीय भाषाओं को उत्तराधिकार सूत्र में कहानियों की जो थाती मिली थी, वह किसी भी हालत में यूरोपीय भाषाओं को उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त थाती से कम नहीं थी। फिर भी यहाँ यूरोप की तरह आधुनिक कथा-साहित्य की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकी, यह इस बात से समझ में आ जायगी कि यहाँ उस वर्ग का विकास ही नहीं हुआ जिसके तत्त्वावधान में, जिसकी देखरेख में तथा जिसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आधुनिक कथा-साहित्य की सृष्टि हुई। तभी हम देखते हैं कि ईसा के पहले ही भारतवर्ष का प्राचीन कथा-साहित्य बहुत समुन्नत होने पर भी, यूरोप में तो

चौदहवीं शताब्दी में बुक्कासियो, डकामरन (१३५३) तथा 'कन्टरबरी टेल्स' की रचना होती है, किन्तु भारतवर्ष में आधुनिक उपन्यास तथा कहानी-साहित्य का प्रारम्भ १९ वीं सदी के पहले नहीं हो पाता।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' : ऊपर जो लेखक गिनाये गये उनके बाद मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' बहुत महत्त्वपूर्ण लेखक हुए। उनको आधुनिक गद्य का प्रणेता कहा गया है। लाला भगवानदीन और रामदास गौड़ ने 'हिन्दी भाषा सार' नामक पुस्तक में 'सुरासुर निर्णय' नाम से मुंशी सदासुखलाल का एक निबंध उद्धृत किया है, जिसका रचनाकाल लगभग १७८२-८३ ई० है।

सुरासुर निर्णय : ऐसा मालूम होता है कि 'सुरासुर निर्णय' के लेखक उस युग के विचारों से बँधे थे, फिर भी उनकी रुचि स्वतंत्र चिंतन की ओर थी। इस संबंध में दो उद्धरण यथेष्ट होंगे—

'ब्रह्मा के यहाँ से किसी को चिट्ठी-पत्री नहीं लिखी है कि वह ब्राह्मण है और वह चांडाल है।'

'विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य उसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उसके निजस्वरूप में लय हुजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहते लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और असत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धन-द्रव्य एक ठौरा कीजिये और मन जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है उसे निर्मल न कीजिये।'

'सुरासुर निर्णय' को विवेचनात्मक निबंध माना गया है। हमें यहाँ इस संबंध में कुछ नहीं कहना है, पर हमने यह उद्धरण इसलिए दिया कि यह मालूम हो कि उस समय भाषा किस प्रकार खड़ी बोली की ओर जा रही थी।

इनके बाद एक गद्य लेखक रामचरण दास का पता मिलता है, जिनकी प्राप्त रचनाओं का काल १७८७ ई० के लगभग है। ऐसा मालूम होता है कि सदासुखलाल और रामचरण दास टिमटिमा कर रह गये और इसके बाद फोर्ट विलियम के युग तक किसी उल्लेख योग्य साहित्यिक रचना का पता नहीं मिलता। इसलिए इसे हिंदी गद्य युग का अंधकार युग भी कहा गया है।

इंशाअल्ला खाँ : इंशाअल्ला खाँ रचित 'उदयभानु चरित' या 'रानी

केतकी की कहानी' से हिंदी उपन्यास-साहित्य का आरम्भ होता है। (आधुनिक कथा साहित्य, पृष्ठ २४)।

सैयद इंशाअल्ला खाँ के विषय में यह विशेष द्रष्टव्य है कि उनके पूर्वज समरकंद से भारतवर्ष में भाग्य की तलाश में आये थे। वे पहले मुगल दरबार के आश्रित हो कर रहे, किंतु उनके समय में मुगल साम्राज्य का रहा-सहा नाम भी जाता रहा, तब उनके पिता मुर्शिदाबाद जा कर बस गये। इंशा का जन्म यहीं हुआ। उन्हें अवध के नवाब आसफुद्दौला के दरबार में पहुँच कर ख्याति प्राप्त हुई। वे आसफुद्दौला और उसके बाद सआदतअली खाँ के मुँहलगे थे, पर अंत में किसी अवसर पर बात-बात में झगड़ा हो गया, जिसके फलस्वरूप वे कष्ट में समय काटते हुए मर गये।

इस प्रकार उनको जीवन के संबंध में बहुत विलक्षण तजर्बे हुए थे। विदेशी होते हुए भी उन्होंने उर्दू पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। हिंदी गद्य के तो खैर वे प्रवर्त्तकों में गिने जा सकते हैं। भाषा के संबंध में इनके क्या आदर्श थे, यह इन्हीं के शब्दों में सुना जाए—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये जिसमें हिंदी छुट और किसी बोली का पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ इसके बीच में न हो..... एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डांग, बूढ़े, घाग यह खटराग लाये.....और लगे कहने, यह बात होती दिखायी नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले, और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे, और छाँव किसी की न पड़े, यह नहीं होने का।' (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ६४१)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रवृत्ति बोलचाल की भाषा को अपनाने की ओर है, अवश्य बोलचाल की भाषा से मतलब अच्छे से अच्छों की अर्थात् उच्चवर्ग की बोलचाल से है। अभी तो हमारे साहित्य में दूसरे लोगों की बोलचाल का प्रश्न बीसियों वर्ष तक उठने का नहीं है, फिर भी उस युग में जिस पंडिताऊ तथा मौलवियाना शैली की ओर लोगों का झुकाव था उसको देखते हुए, इस प्रवृत्ति को प्रगतिशील मानना पड़ेगा। श्री गुलाबराय ने इस संबंध में सही रूप से लिखा है—'भाखापन से मुसलमानों का अभिप्राय संस्कृत मिश्रित हिंदी से था।

.....इंशाअल्ला की भाषा में शुद्ध हिंदी रूप दिखायी पड़ता है, किन्तु उसमें फारसी का प्रभाव लक्षित होता है।' इंशाअल्ला के सामने भाषा का निर्माण कर तब उसमें लिखने का सवाल था, इस प्रकार उनका कार्य दोहरा कठिन था।

रानी केतकी की कहानी : इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' में प्राचीन कथाओं की परम्परा का अनुसरण किया। इस कथा के दो नाम थे— 'उदयभानु चरित' या 'रानी केतकी की कहानी।' इससे यह कहा गया है कि चरित और कहानी-शैली का इसमें एक साथ निर्वाह करने की कोशिश की गयी है। इसमें पहले पूर्वानुराग, प्रेम में बाधा, विरह और अंततोगत्वा मिलन दिखाया गया है। यत्र-तत्र योगी और सिद्ध अपनी करामात भी दिखाते हैं। डॉ० कोतमिरे लिखते हैं, 'इसमें कथा-साहित्य के तत्त्व मिलते हैं और यह पात्र-परिचय, वातावरण और कथोपकथन की दृष्टि से खड़ी बोली की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।'

लल्लूलाल जी और सदल मिश्र : 'रानी केतकी की कहानी' के साथ-साथ सदल मिश्र (लगभग १७७३-१८४६) रचित 'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' का भी इस अवसर पर उल्लेख किया जा सकता है। यह पुस्तक फोर्ट विलियम कालेज में लिखी गयी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने कर्मचारियों का देशी भाषाओं से परिचय कराने के लिए एक कालेज खोला था, इसमें लल्लूलाल जी और सदल मिश्र हिंदी के अध्यापक नियुक्त हुए।

कई कारणों से लल्लूलाल जी समसामयिक हिंदी लेखकों में अधिक विख्यात हुए। इनका जन्म १८२० सं० में हुआ। इन्होंने हिंदी का अध्ययन किया और बाद को पिता का देहान्त होने पर नौकरी की खोज में मुर्शिदाबाद, नाटोर आदि होते हुए कलकत्ता पहुँचे। वहाँ वे १८०० ई० में अध्यापक नियुक्त हुए। कहते हैं वहाँ वे २४ वर्ष तक कार्य करते रहे। बाद को वे आगरा चले गये। इनकी तीन कहानी पुस्तकों का पता मिला है, जो ब्रजभाषा से खड़ी बोली में अनूदित हैं। इन पुस्तकों के नाम 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी' तथा 'माधवानल' हैं। बाद को चल कर इन्होंने 'राजनीति' नाम से हितोपदेश का भी अनुवाद किया। उन्होंने 'लतायफ हिंदी' नाम की एक पुस्तक की रचना की जो कई भाषाओं से संकलित है।

लल्लूलाल जी की भाषा : भाषा के क्षेत्र में लल्लूलाल जी ने बहुत बड़ा कार्य

इसलिए किया कि उन्हे गिलक्रिष्ट ने प्रामाणिक हिंदी की रचना का भार दिया। यह एक द्रष्टव्य बात है कि उन्होने व्रजभाषा की पुस्तको का अनुवाद खडी बोली मे किया। इससे भी स्पष्ट है कि हवा किस ओर बह रही थी। फिर भी वे स्वय आगरा के रहनेवाले थे, इसलिए उनकी भाषा मे व्रजभाषा का पुट मिलता हे। इसके अलावा अभी तक व्रजभाषा और खडी बोली की लडाई मे व्रजभाषा की निर्णयात्मक पराजय नही हुई थी। लल्लूलाल जी का कार्य अनुवाद के क्षेत्र मे ही रहा, पर निरे अनुवादक होते हुए भी उन्हे खडी बोली को बनाने का जो मौका मिला, वह बाद के बडे-बडे भारतविख्यात लेखको को भी नसीब नही हुआ। उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

'श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म को अति अनीति देख, नृप पावस प्रचड पशु पक्षी जीव-जतुओं की दशा विचार चारो ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आयी थी सोई शूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बग पाँत ठौर-ठौर ध्वजा सी फहराय रही थीं, दादुर मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी-बड़ी बूँदो की झड़ी बाणों की सी झडी लगी थी।'

इन्होने व्रजभाषा मे भी दो सग्रह ग्रथ तैयार किये जिनका नाम 'माधव विलास' और 'सभा विलास' था। रामचद्र शुक्ल ने इनके द्वारा लिखित 'लाल चद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की एक टीका का भी उल्लेख किया है।

इस कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिष्ट ने सदल मिश्र को भी इस बात का भार सौपा कि वे हिंदी पाठ्य-पुस्तको की रचना करे, जिससे हिंदी सीखने वालो को आसानी हो। उन्होने कई पुस्तके (अनुवाद) लिखी, पर अब केवल चद्रावती या नासिकेतोपाख्यान ही प्राप्य है। इस प्रकार ईस्ट इडिया कम्पनी ने हिंदी के निर्माण मे जो कार्य किया वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, अवश्य उन्होने अपने उद्देश्यो की पूर्ति यानी राज्य-स्थापना और उसे मजबूत बनाने के लिए, ईसाई धर्म प्रचार के लिए ही ऐसा किया था, इसमे सदेह नही। इन लोगो ने खडी बोली को ही अपनाया, किंतु यह कोई आकस्मिक बात नही थी, बल्कि उनका उद्देश्य खडी बोली से ही सिद्ध होता था, इसीलिए उसे अपनाना स्वाभाविक था। फिर भी सदल मिश्र छलॉग मार कर खड़ी बोली को अपना न सके,

बल्कि हरिऔध के अनुसार उनकी भाषा खड़ी बोली और व्रजभाषा के बीच में थी। अभी भाषा में प्रयोग हो रहे थे। हम इसलिए स्वाभाविक रूप से उनकी पुस्तकों में शुद्ध खड़ी बोली का दर्शन नहीं पाते। इनकी भाषा में व्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। वे बहुवचन व्रजभाषा के तरीके से 'न' लगा कर बनाते थे। कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी प्रभाव है, फिर भी भाषा को सरल बनाने की ओर उनका प्रयास स्पष्ट है।

राजा शिवप्रसाद : राजा शिवप्रसाद (१८२३-६३ ई०) ने राजा भोज का सपना लिखा और कई संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया। उन्होंने उर्दू मिश्रित हिंदी लिखी। उनकी भाषा अब भी आधुनिक उपन्यास के उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसमें अनुप्रास की भरमार है, और बहुत से स्थानों पर तुकबंदी पूर्ण रूप से मिलती है। श्री गुलाबराय ने इस पर ठीक ही लिखा है कि 'यद्यपि लोग भाषा में सरलता लाने का उद्योग करते थे, तथापि वे सर्वथा पद्य के प्रभाव से मुक्त न थे।'

राजा शिवप्रसाद ने हिंदी के क्षेत्र में जो कार्य किया; वह सम्पूर्ण रूप से उस युग का द्योतक है जबकि खड़ी बोली की जीत तो लगभग हो चुकी थी, पर अभी आजकल हम जिसे हिंदी कहेंगे यानी उर्दू से अलग हिंदी का अच्छी तरह विकास नहीं हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय भले ही साहित्यिक क्षेत्र में कुछ छिटपुट हिंदी रचना के प्रयत्न हो रहे हों और आज भले ही हम उन्हें महत्त्व दें, पर अभी उस युग के शिष्ट समाज में उर्दू-फ़ारसी का ही बोलबाला था। स्वयं राजा शिवप्रसाद ने उस समय की परिस्थिति का यों वर्णन किया है—

'हिंदू लोग न केवल आपस के बीच फारसी में चिट्ठी-पत्री जारी रखते थे वरन् अपने घर का हिसाब भी फ़ारसी में लिखते थे। उस वक्त हिंदू मुसन्नियों का हाल जो सर हेनरी इलियट साहिब ने अपनी किताब में दर्ज फरमाया है लायक देखने के है। साहब मौसूफ लिखते हैं कि हिंदू मुसन्निफ तसनीफ में कोई बात ऐसी नहीं है, जिससे उसकी कौम और उसका मज़हब जाहिर हो सके।' (भाषा का इतिहास — राजा शिवप्रसाद, हिंदी भाषासार से उद्धृत, पृष्ठ ४४-४५)।

वे स्वयं शिक्षा विभाग में नौकर थे और वहाँ उर्दू फारसीवालों की प्रधानता थी, इसलिए वे खुल कर सामने नहीं आये। ऐसा मालूम होता है कि

इस कारण कुछ लोग उनके विरुद्ध हो गये और उन पर दोष लगाया। राजा साहब ने अपनी सफाई देते हुए लिखा—'ऐसी शुद्ध चाहनेवालों को हम इस बात पर यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ जारी है इस देश में संस्कृत शब्दों के जारी करने की कोशिश बेफायदा होगी।.........जब यह सवाल पैदा हो सकता है तो हम लोगों को क्या-क्या करना चाहिए, किस तरह फिरना चाहिए जिसमें हमको सीधी राह मिले ?'

इससे स्पष्ट है कि वे भाषा के संबंध में किसी नीति पर पहुँच नहीं पा रहे थे। जब लोगों ने उनका अधिक विरोध किया, तो वह खुल कर उर्दू के पक्ष में आ गये। उनकी सेवाएँ भाषा निर्माण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं यद्यपि युग के प्रभाव के अनुसार वे ढुलमुल यकीनी से बच नहीं पाये और दो तरह के कट्टर पंथियों के बीच में पड़ कर उनका अजीब हाल रहा।

राजा लक्ष्मणसिंह : इस प्रसंग में हम हिंदी गद्य का पूरा इतिहास नहीं लिखने जा रहे हैं। हम केवल उन्हीं धाराओं तथा प्रवृत्तियों का उल्लेख भर कर देना चाहते हैं जिनसे प्रेमचंद के भाषा-निर्माण पर प्रभाव पड़ा। राजा शिवप्रसाद के बाद अगला नाम जो उल्लेखनीय है, वह है राजा लक्ष्मणसिंह का। यह ठीक ही लिखा गया है कि राजा शिवप्रसाद ने जो सेवाएँ कीं, वह यह थीं कि उन्होंने हिंदी लिपि में उर्दूवालों में हिंदी को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, जबकि राजा लक्ष्मणसिंह ने भाषा और लिपि दोनों दृष्टियों से हिंदी को उर्दू से अलग करने में बहुत निर्णयात्मक कदम उठाया। आज इस बात पर विचार करना व्यर्थ है कि हिंदी को उर्दू से सम्पूर्ण रूप से अलग करने की प्रक्रिया अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय दृष्टि से यहाँ तक कि हिंदी क्षेत्र की दृष्टि से अच्छी हुई या बुरी हुई। जो कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है ही कि इस पृथक्करण की प्रक्रिया के ही कारण हिंदी क्षेत्र में यह अजीब और लगभग अविश्वास्य परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि एक ही गाँव का मुसलमान अपनी भाषा उर्दू मानने लगा और उसी गाँव का हिंदू अपनी मातृभाषा हिंदी मानने लगा।

राजा लक्ष्मणसिंह के समय यह परिस्थिति नहीं थी, पर यह परिस्थिति पैदा की गयी। स्वयं राजा लक्ष्मणसिंह ने इस संबंध में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही मार्के का है—

'हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिंदी इस देश के

हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी-फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हैं।'

हम देखेंगे कि बाद को चल कर पंजाबी क्षेत्र में इसी तमाशे की पुनरावृत्ति हुई, पर हमें यहाँ उससे कोई संबंध नहीं।

अपने विषय पर लौटते हुए हम देखते हैं कि राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजा हितैषी' नाम से एक पत्र निकाला और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र : भारतेंदु हरिश्चंद्र (१८५०-८४) के नाम से हिंदी में एक युग ही चल गया है। इस समय तक हिंदी में दो धाराएँ चल रही थीं, एक हिंदी को संस्कृत बना डालना चाहती थी, दूसरी उसे उर्दू बना देने के लिए उद्यत थी। भारतेंदु ने इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया। 'वे न तो हिंदी को उर्दू बनाना चाहते थे न संस्कृत। वे हिंदी को उसका निजी रूप देना चाहते थे.... भारतेंदुजी अपनी भाषा में संस्कृत के उन शब्दों को स्थान देते थे, जिनका व्यवहार रोजाना की बोलचाल में होता, और उर्दू के उन्हीं शब्दों का व्यवहार करना उचित समझते थे जिनको जनता ने अपना लिया था।' (हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास)। दूसरी ओर हिंदी भाषा को वर्तमान रूप प्रदान करने में उनका और भी दान है। वे जिस युग में थे उस युग में गद्य में तो खड़ी बोली स्वीकृत हो चुकी थी और उसका रूप बहुत कुछ निखर चुका था, किंतु पद्य में अभी यह झगड़ा चल रहा था कि व्रजभाषा कविता की भाषा रहे अथवा खड़ी बोली ही कविता में अपनायी जाय। भारतेंदु स्वयं व्रजभाषा के विद्वान् थे, और व्रजभाषा में कविता लिखने में उन्हें बहुत सफलता भी मिल चुकी थी, किन्तु उन्होंने युग के ढाल को देख कर खड़ी बोली में कविता लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने खड़ी बोली में कुछ कविताएँ यह देखने के लिए लिखीं कि वे सफल रहती हैं या नहीं, और उन कविताओं को उन्होंने 'भारतमित्र' में प्रकाशित करवाया। पहली सितम्बर १८८१ के 'भारतमित्र' में उन्होंने अपने छंद के साथ यह पत्र भी छपाया था—

'प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा इसमें क्या कसर है, और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्य सौन्दर्य बन सकता है। इस में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायेगा।' (भारतेंदु युग, पृष्ठ १६८)।

खड़ी बोली में कविता लिखने में भारतेंदु को प्रोत्साहन न मिला, इसलिए उन्होंने इस दिशा में आगे परिश्रम नहीं किया। उस युग में व्रजभाषा और खड़ी बोली के तुलनात्मक गुणावगुण पर बहुत तुमुल वादविवाद चल रहा था, जैसा कि डॉक्टर रामविलास ने लिखा है। बाद को व्रजभाषा प्रेमियों ने इस संबंध में भारतेंदु को कविता में सफलता न मिलने की बात को एक तर्क के रूप में इस्तेमाल किया और कहा कि जब भारतेंदु को ही कविता में सफलता न मिली तो और कवि किस गिनती में हैं। इस संबंध में खड़ी बोली की अंतिम विजय के लिए अभी कुछ और समय की आवश्यकता थी।

भाषा को इस प्रकार निखार कर आधुनिक वाहन बनाने में बहुत बड़ा हाथ बटाने के अतिरिक्त भारतेंदु ने लगभग १०० पुस्तकें लिखीं (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ५०६), जिनमें चौदह नाटक और कई प्रहसन भी थे। इस प्रकार हिंदी-साहित्य में उनका दान बहुत भारी है, किंतु इस स्थान पर उनके नाम का उल्लेख इसलिए विशेष रूप से किया जा रहा है कि खड्गविलास प्रेस से 'पूर्णप्रकाश चंद्र प्रभा' नामक एक उपन्यास उनके नाम से प्रकाशित हुआ था। (अवश्य इस उपन्यास के असली रचयिता कौन हैं इस संबंध में मतभेद है। शिवनंदन सहाय के अनुसार यह किसी दूसरे व्यक्ति का अनुवाद किया हुआ है। भारतेंदु ने केवल इसकी पांडुलिपि को शुद्ध कर यत्र-तत्र इसमें परिवर्तन किये थे)। श्री गंगाप्रसाद के अनुसार इस पुस्तक के कथानक में रूढ़िवादी और प्रगतिशील विचारों के सधर्म प्रदर्शन के पश्चात् प्रगति की विजय होती है। इसके अतिरिक्त कविवचनसुधा नामक अपनी पत्रिका में उन्होंने कुछ आपबीती कुछ जगबीती नाम से एक कहानी प्रकाशित करना शुरू किया था, किन्तु उसे पूरा न कर सके।

इस कहानी के संबंध में ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि 'उसका कितना अंश लिखा गया यह ज्ञात नहीं है।' उनकी धारणा है—'अवश्य ही यदि यह पूरा लिखा गया होता तो हिंदी-साहित्य में अद्भुत वस्तु होती।' हम इस अंश को 'हिंदी उपन्यास साहित्य' से उद्धृत करते हैं—

एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का प्राप्त अंश

प्रथम खेल

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या क्या ?
बदलता है रग आसमाँ कैसे कैसे ?

'हम कौन है और किस कुल मे उत्पन्न है आप लोग पीछे जानेंगे। आप को क्या, किसी का रोना हो पढे चलिए, जी बहलाने से काम हे। अभी मै इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनो मे बड़ा पवित्र दिन है। स० १९३० मे मैं जब तेईस बरस का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था। वसत ऋतु, हवा ठडी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश मे एक ओर चद्रमा दूसरी ओर सूर्य, पर दोनो लाल-लाल, अजब समा बँधा हुआ। कसेरू, गडेरी और फूल बेचनेवाले सड़क पर पुकार रहे थे। मै भी जवानी के उमँगो मे चूर, जमाने के ऊँच नीच से बे खबर, अपनी ठिसकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे शिफारशियो से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था मे भी प्रेम को भली भाँति पहचानता था।

'कोई कहता था आपसे सुदर ससार मे नही, कोई कसमे खाता था, आपसा पडित मैने नही देखा, कोई पैगाम देता था चमेली जान आप पर मरती है, आपके देखे बिना तडप रही है। कोई बोला, हाय ! आपका फलाना कवित्त पढ कर रात भर रोते रहे। दूसरे ने कहा, आपकी फलानी गजल लाला रामदास की सैर मे जिस वक्त प्यारी ने गायी सारी मजलिस लोट-पोट हो गयी। तीसरा ठडी साँस भर कर बोला, धन्य हैं, आप भी गनीमत है। बस क्या कहे कोई जी से पूछे। चौथा बोला, आपकी अँगूठी का पन्ना क्या है काँच का टुकड़ा है या कोई ताजी तोडी हुई पत्ती है। एक मीर साहब चिडियावाले ने चोंच खोली, बेपर की उडायी, बोले कि आपके कबूतर किससे कम है। वल्लाह कबूतर नही परीजाद है, खिलौने हैं, तस्वीर है। हुमा पर साया पडे तो शहबाज बना दें। ऐसे ही खूबसूरत जानवरो मे ईसाई लोग खुदा का नूर उतरना मानते है। इनको उडते देख कर किसके होश नही उड़ते, कसम कला-मुल्लाह शरीफ की, मटियाबुर्जवालो ने ऐसे जानवर ख्वाब मे नही देखे। एक दलाल घोडे की तारीफ कर उठा। जौहरी ने खच्चरो की तरफ बाग मोडी। बजाज बाग की स्तुति मे फूल-बूटे कतरने लगा। सिद्धान्त यह कि मैं बेचारा अकेला और वाहवाहे इतनी

कि चारों ओर से मुझे दबाये लेती थीं और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पड़ती थीं।

'यह तो दीवानखाने का हाल हुआ, अब सीढ़ी का तमाशा देखिए। चार-पाँच हिंदू, चार-पाँच मुसलमान सिपाही, एक जमादार, दो-तीन उम्मेदवार और दस बीस उटल्लू के चूल्हे, कोई खड़ा है, कोई बैठा है, हाय रुपया, हाय रुपया सबके जबान पर, पर इसमें सब ऐसे ही नहीं कोई-कोई सच्चा स्वामिभक्त भी है। कोई रंडी के भड़ुए से लड़ता है, रुपये में दो आना न दोगे तो सरकार से ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दर्शन भी दुर्लभ हो जायगा। कोई बजाज से कहता है कि वह काली बनात हमें न ओढ़ाओगे तो बरसों पड़े झूलोगे, रुपये के नाम खाक भी न मिलेगी। कोई दलाल से अलग सट्टा-बट्टा लगा रहा है। कोई इस बात पर चूर है कि मालिक का हमसे बढ़ कर कोई भेदी नहीं। जो रुपया कर्ज आता है हमारी मारफत आता है। दूसरा कहता है बचा, हमारे आगे तुम क्या पूगलचर हो, औरतों का भुगतान सब मैं ही करता हूँ।

'इन सबों में से एक मनुष्य को आप लोग पहचान रखिए, इससे बहुत काम पड़ेगा। यह नाटा, खोटा, अच्छे हाथ-पैर का, साँवले रंग का आदमी है, बड़ी मोंछ, छोटी आँखें, कछाड़ा कसे, लाल पगड़ी बाँधे, हरा दुपट्टा कमर में लपेटे, सफेद दुपट्टा ओढ़े, जात का कुनबी है। इसका नाम होली है। होली आजकल मेरे मुँह बहुत लग रहा है, इसी से जो बात किसी को मुझ तक पहुँचानी होती है, वह लोग उससे कहते हैं। रेवड़ी के वास्ते मस्जिद गिरानी इसी का काम है।'

इस प्रकार उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में वे स्वयं विशेष सफल नहीं रहे, किंतु फिर भी उन्होंने अपनी देख रेख में कई उपन्यासों की रचना करवायी। इन बातों के कारण भारतेंदु का नाम इस अवसर पर भी अवश्य उल्लेखनीय हो जाता है।

बालकृष्ण भट्ट : पंडित बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४) ने 'नूतन ब्रह्मचारी' (प्रथम प्रकाशन १८७७) और 'सौ अजान एक सुजान' पुस्तक लिखी। उनकी भाषा में मुहावरों का खूब प्रयोग है, और वे बोलचाल के शब्दों का खूब प्रयोग करते थे।

हाँ, कहीं-कहीं लम्बे उपदेशों का बाहुल्य है और उनसे पाठक का जी ऊबने लगता है। डॉक्टर रामविलास के अनुसार, 'इन दोषों के होते हुए भी उपन्यास-कला के विकास में इस कृति का विशेष स्थान है। यथार्थ चित्रण की ओर

इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गयी है। नौकर, दासी, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में। पढ़े-लिखे बाबू लोगों की भाषा में अँगरेजी का भी पुट रहता है। 'मैं आप लोगों के प्रयोजन को सेकंड करता हूँ' इत्यादि। कहीं-कहीं पात्र नाटकों की भाँति स्वतः और प्रकाश्य दोनों प्रकार से वातचीत करते हैं। भट्ट जी ने अपने उपन्यास को देश-काल की सीमाओं में मजबूती से बाँधा है। उन्होंने पृष्ठभूमि के चित्रण के लिए अवध का भौगोलिक वर्णन आवश्यक समझा है।.........भट्ट जी कोरे किताबी विद्वान् नहीं थे। स्त्रियों के सूप फटकारने और हाथ नचा कर वाग्बाण बरसाने को उन्होंने उतने ही ध्यान से सुना था जितने ध्यान से मेघदूत पढ़ा था।..... .....चरित्र-चित्रण में भट्ट जी आकृति निदान की ओर विशेष आकृष्ट थे।.............. व्यंग्यपूर्ण चित्रण में वे प्रेमचंद की याद दिलाते हैं जैसे बुद्धदास जैन का चित्र—'पानी चार बार छान कर पीता था, पर दूसरे की थाती समूची निगल जाता था, डकार तक न आती थी।'

'सौ अजान एक सुजान' का कथानक क्या है, इसके संबंध में भी एक वाक्य में बता दिया जाये। सेठ हीराचंद के दोनों लड़के पिता की मृत्यु के बाद कुसंगति में पड़ जाते हैं, और अंत में उनका एक सुजान मित्र संकट से उनकी रक्षा करता है। मालूम होता है कि इस प्रकार का कथानक उस युग में बहुत पसंद किया जाता था, क्योंकि हम देखेंगे कि परीक्षा-गुरु नामक जिस पुस्तक को हिंदी के प्रथम उपन्यास के रूप में गौरव प्राप्त हुआ है, उसका भी कथानक कुछ इसी प्रकार है। इस प्रकार के कथानक में अंतर्निहित उपदेश देने की प्रवृत्ति बहुत ही स्पष्ट है। हम बालकृष्ण भट्ट की इस रचना में ही आगे आनेवाले युग के लेखकों विशेषकर प्रेमचंद के आगमन की सूचना पा सकते हैं। भाग्य की परख नाम से इनकी एक कहानी का भी पता लगता है।

प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के संबंध में श्री रामचंद्र शुक्ल यह कहते हैं कि इन दोनों ने हिंदी-साहित्य में वही काम किया जो अँगरेजी साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया।

नूतन ब्रह्मचारी : बालकृष्ण भट्ट के सौ अजान एक सुजान के संबंध में हम पहले ही कुछ बता चुके हैं। उनके दूसरे उपन्यास नूतन ब्रह्मचारी के संबंध में थोड़ा-सा ब्योरा दिया जाता है। यह एक लघु उपन्यास है। विनायक एक

चरित्रवान और सुशील युवक है। इसके अलावा इस उपन्यास में डाकुओं का सरदार भी एक पात्र आता है। लेखक का उद्देश्य बालकों को नैतिक आदर्श बताना है। लेखक अपने निवेदन में कहते हैं — 'हमारी इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायगा कि हमारे बालकों को पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षा-प्रद है और शिक्षा-विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धिवाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।'

डाक्टर कोतमिरे ने यह ठीक ही कहा है कि 'इसका असली उद्देश्य शिक्षा दान है। डाकुओं का सरदार आदर्श चरित्र विनायक से जो कुछ कहता है उससे कुछ हृदय-परिवर्तन का व्यावहारिक रूप सामने आता है। सरदार कहता है — 'विनायक, तुम्हारे माता-पिता को धन्य है। निस्संदेह तुम्हारा सा सुशील बालक पा कर वे बड़भागी हैं। वे आएँ तो उनसे कहना कि आज तीन डाकू जिन्होंने बड़े-बड़े बहादुरों से हथियार रखवा लिये थे यहाँ लूटने को आये थे। पर तुमने उनके साथ ऐसी अच्छी रीति से बरताव किया कि उनके सरदार का मन फिर गया और उन लोगों की हिम्मत लूटने की न पड़ी। भगवान तुम्हारी कुशल करे और तुम्हारी सब तरह से रक्षा करे। तपोधन पूज्य पिता जी से कह देना कि वे दो दिन बाद फिर तुम्हारा दर्शन करेंगे।' (नूतन ब्रह्मचारी - द्वितीय संस्करण, सन् १९०३, छठवाँ परिच्छेद, पृष्ठ २४)।

श्रीनिवासदास : यों तो श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७) के 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास के पहले कई उपन्यासों की रचना हुई, किंतु इसी ग्रंथ को हिंदी के पहले उपन्यास का गौरव प्राप्त हुआ है। इसके शीर्षक नीति तत्त्वों के समर्थन में उद्धृत अँगरेजी-हिंदी कविता के रूप में हैं, कथोपकथन में भी अँगरेजी पुट है। परंतु कथा अपने ही समय के समाज की है, और उसमें आदर्श नहीं, यथार्थवाद के ही दर्शन होते हैं। परीक्षा-गुरु को हिंदी के प्रथम उपन्यास होने का गौरव इसलिए प्राप्त हुआ, कि इस पर अँगरेजी लेखनशैली का प्रभाव है, तथा इसके कथानक की बनावट में समसामयिक समाज का अच्छा प्रतिफलन हो सकता है। रानी केतकी की कहानी तथा नासिकेतोपाख्यान में यह बात संभव नहीं थी। लाला श्रीनिवासदास ने तीन नाटक भी लिखे। इनके नाटकों में भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनकी 'रणधीर प्रेममोहनी' नामक नाटिका दुखान्त है। यह भी पाश्चात्य प्रभाव के ही कारण है, ऐसा बताया गया है। इनकी भाषा में वह जड़ता जो पहले के लेखकों में बहुत अधिक थी, करीब-

करीब जाती रही है, और अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आधुनिक उपन्यास के लिए उपयुक्त वाहन का विकास कुछ हद तक हो चुका है।

ऐसा मालूम होता है कि श्रीनिवासदास अँगरेजी के अच्छे विद्वान् थे और अँगरेजों से भी उनका मिलना-जुलना था। वे अँगरेजी उपन्यास पढ़ा करते थे। उन्हें वे उपन्यास पसन्द आये, इसीलिए उन्होंने हिंदी में उस शैली की पुस्तक लिखने का उद्देश्य रख कर परीक्षा गुरु की रचना की। उन्होंने अपने उपन्यास के निवेदन में लिखा था—'मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गयी, इसलिए अपनी भाषा में यह नयी चाल की पुस्तक होगी।' इस पुस्तक में उन्होंने भाषा संबंधी क्या नीति रखी, यह भी उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—'संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनायी हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहनेवालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गयी है। अलबत्ता जहाँ कुछ विद्या विषय आ गया हो, वहाँ विबस हो कर कुछ संस्कृत आदि लेने पड़े।'

परीक्षा गुरु पर एक दृष्टि : जहाँ-तहाँ अँगरेजी संस्कृत उद्धरण भी दिये गये हैं। बातचीत में योरोपीय इतिहास के दृष्टांत बार-बार दिये जाते हैं। श्री ब्रजरत्नदास ने इस उपन्यास का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह उद्धृत किया जाता है।

"मदनमोहन नामक एक रईस का इस उपन्यास में चित्रण किया गया है, जो चापलूस तथा स्वार्थी मित्रों से घिरा है। एकाध निःस्वार्थ प्रेमी मित्र भी हैं जो उसे सुमार्ग पर लाने का बराबर प्रयत्न करते रहे हैं। अंत में मदनमोहन अपना धन खो कर ऋणग्रस्त हो जाता है और डिग्रियों के कारण हवालात में बंद होता है। स्वार्थी मित्रगण उसे इसी दशा में छोड़ कर अलग हो जाते हैं। केवल एक वही निःस्वार्थी मित्र ब्रजकिशोर उसकी सहायता करता है। मदनमोहन की स्त्री अपना कुल आभूषण ब्रजकिशोर को दे कर उन्हें हवालात से लौटा लाने को बाध्य करती है। ब्रजकिशोर पर मदनमोहन के पिता का उपकार था और उसकी स्त्री ने उसे भाई माना था। वह वकील भी था, अतः उसने अदालत में पूरी पैरवी कर झूठे ऋणदाताओं को पस्त किया और लहना उतार कर मदनमोहन को ऋणमुक्त करा दिया तथा छुड़ा लाया।

"कथावस्तु विशेष जटिल नहीं है, पर जो है वह सुगठित है। यह विशेष अनुरंजनकारी भी नहीं है। चरित्र चित्रण भी साधारण है, पर ब्रजकिशोर तथा मदन-मोहन की पत्नी का चित्रण स्पष्ट है। कृतघ्न मित्रों के छोटे-छोटे चित्र भी सजीव से हैं।

उपदेश तथा सुसम्मति देने का अधिक प्रयास है और अनेक ग्रंथों से नीति के ऐसे बहुत से उद्धरण संकलित कर इस उपन्यास में दिये गये हैं। इससे लेखक की अध्ययनशीलता मालूम होती है, पर इसकी अधिकता से पाठक कहीं-कहीं ऊब सा जाता है। भाषा विशेष संयत तथा पात्रों के अनुकूल रखी गयी है। एक उदाहरण लीजिए—

'मुझ से इस समय तेरे सामने आँख उठा कर नहीं देखा जाता, एक अक्षर बोला नहीं जाता। मैं अपनी करनी से अत्यंत लज्जित हूँ जिस पर तू अपनी लायकी से मेरे घायल हृदय को क्यों अधिक घायल करती है? मुझको इतना दुख उस कृतघ्न मित्रों की शत्रुता से नहीं होता जितना तेरी लायकी और अधीनता से होता है। तू मुझको दुखी करने के लिए यहाँ क्यों आई? तैने मेरे साथ ऐसी क्यों प्रीति की? मैंने तेरे साथ जैसी क्रूरता की थी वैसी ही तैने मेरे साथ क्यों न की? मैं निस्सन्देह तेरी इस प्रीति के लायक नहीं हूँ फिर तू ऐसी प्रीति करके क्यों मुझे दुखी करती है?' लाला मदनमोहन ने बड़ी कठिनाई से आँसू रोक कर कहा।"

राधाकृष्णदास : इन्हीं के समसामयिक श्री राधाकृष्णदास ने सोलह वर्ष की आयु में भारतेंदु की आज्ञा से 'निःसहाय हिंदू' नामक एक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक के नाम ही से यह ज्ञात हो जाता है कि इस कहानी का संबंध हिंदू समाज से है। डाक्टर रामविलास इस पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखते हैं— 'इस पुस्तक की विशेषता इस बात में है कि लेखक ने सेठ-साहूकारों के लड़कों के बनने-बिगड़ने की कहानी छोड़ कर एक ऐसी समस्या को अपनी कथा-वस्तु बनाया है, जिसका संबंध किसी वर्ग से नहीं, वरन् पूरे समाज से है। हिंदुओं के बारे में लिखते हुए वे मुसलमानों को नहीं भूले और उनमें साम्प्रदायिक और देशभक्त दोनों प्रकार के मुसलमानों का चित्रण किया है। दो मित्र गोवध बंद करने के लिए आन्दोलन करते हैं, उनका साथ एक मुसलमान सज्जन भी देते हैं। अन्य कट्टरपंथी मुसलमान षड्यंत्र करके इन लोगों को मार डालना चाहते हैं, और अंत में दोनों ही ओर के कुछ लोग मारे जाते हैं, यही उसकी कथा है।'

'निःसहाय हिंदू' में जो कथा वर्णित है, उसके कहने में लेखक ने कुछ विशेष कौशल नहीं दिखाया है, आजकल के ढंग के उपन्यास पढ़ने के आदी पाठक शायद उसे अंत तक पढ़ने का कष्ट न उठा सकें। कथानक सुसंगठित नहीं है, पात्रों की संख्या आवश्यकता से कहीं अधिक है, किंतु इस कहानी के

पैर यथार्थ की भूमि पर ही टिके हैं। पात्र केवल कल्पना जगत के नहीं हैं। कुछ जातीयता का भी पुट है। मदन नामक एक नेता को व्याख्यान देते हुए दिखाया जाता है, वे भारतवासियों के आलस्य का वर्णन करते हैं, और उन पर जो अधिक टैक्स लगा हुआ है, उस पर अफसोस प्रकट करते हैं। साथ ही गंदी गलियों और कोठरी के टाटों के वर्णन की ओर उनको जो प्रवृत्ति थी, वह भारतीय उपन्यास-साहित्य में पहला प्रयत्न था, ऐसा बतलाया गया है। यह प्रथम प्रयत्न की बात जहाँ तक हिंदी उपन्यास साहित्य का संबंध है, सही है, किंतु बँगला में इससे पहले ही दीनबंधु मित्र तथा अन्य लेखकों ने गरीबों के जीवन का मार्मिक चित्रण किया था। फिर भी हम डाक्टर रामविलास के इस मंतव्य से सहमत हैं कि 'निस्सन्देह राधाकृष्णदास में एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीज रूप में विद्यमान थी; यदि उसे विकास का अधिक अवसर मिलता तो प्रेमचंद का मार्ग और भी सरल और परिष्कृत हो जाता।'

राधाचरण गोस्वामी : राधाचरण गोस्वामी (१८५८-१९२५) ने बहुत से उपन्यासों का अनुवाद किया, जिनमें 'विरजा' का नाम प्रमुख है। मालूम होता है, इनकी प्रतिभा मुख्यतः अनुवाद संबंधी ही थी, इसलिए यह कहा है कि 'खेद की बात है कि जो प्रतिभा उन्होंने 'यमपुर की यात्रा' में दिखलायी उसे उन्होंने मौलिक उपन्यास रचना में नहीं लगाया।' (भा० प्र० पृ० १३२-१३३)।

राधाचरण गोस्वामी अच्छे नाटककार भी थे। यों तो इस प्रसंग में नाटकों से हमें मतलब नहीं है, किंतु 'बूढ़े मुँह मुहासे' नामक अपने नाटक में इन्होंने 'किसान और जमींदार के संघर्ष को अपनी कथावस्तु बनाया है, और उसमें भी मुसलमान और हिंदू किसानों की एकता दिखा कर गाँवों के वर्ग-युद्ध और हिंदू-मुस्लिम समस्याओं पर प्रकाश डाला है,' इसलिए इस प्रसंग में भी इनके नाटक का उल्लेख करना जरूरी है। इस दृष्टि से देखने पर राधाचरण गोस्वामी ने प्रेमचंद से पहले किसान-जमींदार के वर्गयुद्ध का चित्रण अपने नाटक में किया था। डाक्टर रामविलास ने यह भी दिखलाया है कि उनमें व्यंग्य की बहुत परिमार्जित शक्ति थी, इसका सबसे अच्छा नमूना 'यमपुर की यात्रा' नामक उनका व्यंग्यपूर्ण निबंध है। 'तन मन धन श्री गुसाईं जी के अर्पण' आठ दृश्यों का एक छोटा सा प्रहसन है; इसमें उन्होंने दिखलाया है कि भक्तों के लिए गुसाईं जी को कुछ भी अदेय नहीं है, और गुसाईं जी के लिए भक्तों से कुछ भी अग्राह्य नहीं है।

गुसाईं जी ने भक्तों की सहायता के लिए एक कुटनी को भी तैयार रख छोड़ा है। सुंदर स्त्रियाँ गुसाईं जी की पूजा करने आती हैं; उनकी सेवाओं के लिए एक विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है—'समर्पण'। सेठ रूपचंद एक धनाढ्य व्यक्ति हैं जो धन के बोझ से धर्म-भीरु हो गये हैं। पाप की कमाई पचाने के लिए गुरु का आशीर्वाद आवश्यक है। इस आशीर्वाद के लिए गुसाईं जी सेठ की बहू के समर्पण की माँग करते हैं। सेठ और सेठानी दोनों गुसाईं जी की आज्ञा मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस समाज के वे रत्न हैं, उसमें ऐसी बातों से सम्मान घटने के बदले बढ़ता ही है। गुसाईं जी की मनोकामना पूरी होती, और सेठ रूपचंद को आशीर्वाद भी मिल जाता यदि सेठ जी के पुत्र गोकुल ने बाधा न डाली होती। उसे नयी शिक्षा की हवा लग चुकी है, और यद्यपि माता-पिता उसे सनातन लीक पर ही चलने को बार-बार आदेश देते हैं, फिर भी वह अपने नये विचारों पर दृढ़ रहता है। अंत में सेठ बहू को गुसाईं जी के यहाँ भेज तो देते हैं, लेकिन गोकुल की कुशलता से गुसाईं जी को हवालात की हवा खानी पड़ती है। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी वे बराबर प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देते हैं और उनकी सहानुभूति नवीन शिक्षित वर्ग के साथ है, यह स्पष्ट हो जाता है। वे स्वयं गुसाईं थे, तथा बहुत ही प्रतिक्रिया-वादी वातावरण में पले थे, इसलिए उनकी प्रगतिशीलता और भी स्तुत्य है।

ठाकुर जगमोहन सिंह : भारतेंदु के प्रभाव से जो लोग हिंदी साहित्य का भंडार भरने में प्रवृत्त हुए, उनमें ठाकुर जगमोहन सिंह का नाम भी ले लेना उचित होगा। उनका जन्म लगभग १८५७ में विजयराघवगढ़ में हुआ और उन्होंने काशी में आ कर शिक्षा प्राप्त की।

श्यामा - स्वप्न : 'श्यामा-स्वप्न' नाम से उनका एक उपन्यास प्राप्त है जो बहुत ही काव्यमय बताया गया है। इसका विभाजन चार यामों के स्वप्न के रूप में हुआ है। इस उपन्यास की कहानी आजकल की दृष्टि से देखी जाय तो बहुत साधारण है, पर उसमें काव्य की संभावनाएँ अधिक थीं। पहला स्वप्न यह है कि कमलाकांत श्यामा नामक युवती के प्रेम में फँस कर जेल पहुँच जाता है। वहाँ उसे जेल की दीवार पर मंत्र लिखा हुआ दीख जाता है और वह पिशाच की सहायता से जेल से बाहर पहुँच जाता है। उसके बाद

वह पिशाच की सहायता से यह देखता है कि जिस श्यामा पर वह इतना आसक्त है, वह श्यामसुंदर नामक पुरुष से प्रेम करती है। दूसरे याम के स्वप्न में यह दिखाया जाता है कि श्यामा कमलाकांत को देख कर कुछ घबराती है और उसे अपने ताजे प्रेम की कहानी का पूरा ब्योरा बतलाती है। अगले स्वप्नों में वियोग का वर्णन तथा विरहोन्माद दिखाया गया है। चलते हुए प्राचीन ढंग से स्त्रियों के चरित्र पर तरह-तरह के कटाक्ष किये गये हैं।

श्री ब्रजरत्नदास इस पुस्तक की विशद व्याख्या करते हुऐं लिखते हैं—'श्यामा-स्वप्न ठाकुर साहब की अत्यन्त भावुकतापूर्ण कल्पना है और यह कल्पना औपन्यासिक ढंग पर लिखी एक प्रेम-कहानी है। इसमें ठाकुर साहब ने कुछ आपबीती बातों का पुट दे कर इसे कोरी कल्पना भी नहीं रहने दिया है, जैसा कि इसको तथा इनकी अन्य रचनाओं को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है। रमणीय विंध्याटवी के निवासी और प्रकृति के विभिन्न भावमयी रूप माधुरी के जन्मतः परिवेक्षक होने से इन्हें उसके प्रति सच्चा प्रेम था, अनुभूति थी, प्रेम का संस्कार था और उनके वर्णन करने की असाधारण शक्ति थी। इसलिए प्रकृति का जैसा सरस वर्णन इन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र कम मिलता है। श्यामा-स्वप्न में प्रकृति के ऐसे ही सुंदर वर्णन बहुत हैं और मानव हृदय पर इसका कैसा प्रभाव पड़ता है इसकी अभिव्यक्ति बड़ी सुंदर है।' एक उदाहरण—

'जहाँ की निर्भरिणी — जिनके तीर वानीर से घिरे, मदकलकूजित विहंगमों से शोभित हैं। जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फल-भार से नमित जनाते हैं — शब्दायमान हो कर भरती है।'

गौरीदत्त : गौरीदत्त नामक लेखक का उल्लेख हम यहाँ इसलिए करेंगे कि उनमें आ कर वस्तुवाद बिलकुल आत्मसचेतन होता मालूम होता है। १८७० ई० में उनकी 'देवरानी-जिठानी की कहानी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसकी भूमिका में वे लिखते हैं—'इस पुस्तक में ठीक-ठीक वही लिखा है, जैसा आजकल बनियों के घर में हो रहा है, बाल बराबर भी अंतर नहीं है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका दृष्टिकोण किसी आदर्श या काल्पनिक समाज का चित्र पेश करना नहीं था, बल्कि जिस रूप में समाज

मौजूद है, उसका चित्र पेश करना था।

गौरीदत्त को चारों तरफ के जीवन को बहुत ध्यान से देखने का मौका मिला। इनका जन्म लुधियाना में हुआ। अभी पाँच साल के ही थे कि इनके पिता के संन्यासी हो जाने से अजीब परिस्थिति पैदा हो गयी और इनकी माता को आ कर मेरठ में रहना पड़ा। इन्होंने जितनी भी शिक्षा प्राप्त की, वह बेतरतीब रही। पहले हिंदी और संस्कृत पढ़ते रहे, फिर गणित पढ़ा, फिर वैद्यक और हकीमी पढ़ी। बाद को एक पाठशाला में कुछ नौकरी कर ली, पर जब महा विद्रोह हुआ तो घर लौट आये। पैंतालीस साल की आयु तक कहते हैं इन्होंने इतना पैसा कमा लिया कि ये फिर नागरी-प्रचार में ही लगे रहे। ८ फरवरी, १९०६ को इनकी मृत्यु हुई।

देवरानी-जिठानी की कहानी : 'देवरानी-जिठानी की कहानी' उपन्यास गृहस्थी के जीवन पर सरल भाषा में लिखा हुआ है। 'देवरानी-जिठानी की कहानी' से कुछ उद्धरण दिया जाता है—'पाँचवें वर्ष लड़के को धाय से लेने की सलाह ठहरी। एक दिन मुहूर्त दिखला के उस जाट से कह दिया कि फलाने दिन तुम दोनों चार घड़ी दिन चढ़े लड़के को ले कर चले आओ। पच्चीस रुपये और दोनों जाटनी और जाट को पाँचों कपड़े और एक रुपया भंगन आदि को देके छोटेलाल जी की बहू ने जाटनी की गोद में से लड़के को अपनी गोद में ले लिया। उसकी सास ने कहा — बहन, तेरे लायक तो कुछ है नहीं, तुम्हें जो दें सो थोड़ा, आगे तेरा घर है, भगवान इसकी उमर लगावे, तुझे बहुत कुछ देगा।'

कार्तिक प्रसाद : कार्तिक प्रसाद व्यापारी होने के साथ ही साथ साहित्य-सेवी भी थे। उनका जन्म १८५१ ई० में हुआ था और यह १८७५ में घूमते-घामते काशी पहुँचे। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः कई पत्रों के संपादन और नागरी प्रचार के क्षेत्र में रहा। वे बँगला और अँगरेजी दोनों बहुत अच्छी तरह जानते थे और दोनों भाषाओं से उन्होंने सरल हिंदी में कई पुस्तकों का अनुवाद किया।

प्रतापनारायण मिश्र : प्रतापनारायण मिश्र का जन्म १८५६ में उन्नाव में हुआ। उन्होंने १८८३ में 'ब्राह्मण' पत्र प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त और भी पत्रों से इनका संबंध रहा। उन्होंने बंकिम बाबू के कई

उपन्यासों का अनुवाद किया। वे नाटक के भी प्रेमी थे।

गदाधर सिंह : गदाधर सिंह का जन्म काशी में ही १८४८ में हुआ। ये वंदोबस्त विभाग में नौकर थे, पर इसके पहले ये हरिश्चंद्र स्कूल में नौकरी कर चुके थे। इन्होंने कादंबरी का संक्षिप्त अनुवाद किया, जिसमें कथानक के अलावा बाकी सब वृतांतों को निकाल बाहर किया गया। इन्होंने वंकिमचंद्र और रमेशचंद्र के कुछ उपन्यासों का भी अनुवाद किया।

रामकृष्ण वर्मा : रामकृष्ण वर्मा का जन्म १८५६ में हुआ। यह भी हरिश्चंद्र स्कूल से संबद्ध रहे। प्रकाशन के क्षेत्र में उन्होंने बड़ा कार्य किया, पर उन्होंने कुछ साहित्यिक रचनाएँ भी कीं। ठग वृत्तांत माला (१८८६) नाम से उन्होंने कार्निल मेडोज टेलर की प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद हिंदी में किया। उन दिनों यह पुस्तक बहुत प्रसिद्ध हुई थी। शायद इसी पुस्तक की सफलता से उन्होंने अगले साल पुलिस वृत्तांत माला लिखी। इसके बाद वे अदालत के चोंचलों पर लिखने की ओर झुके। काजी अजीजुद्दीन अहमद ने इस संबंध में उर्दू में एक पुस्तक लिखी थी। उसी को उन्होंने अमला वृतांतमाला नाम से प्रस्तुत किया। इसी प्रकार अकबर पर एक अर्द्ध उपन्यास का भी उन्होंने अनुवाद किया। उन्होंने 'चित्तौर चातकिनी' नाम से एक बँगला उपन्यास का भी अनुवाद किया। उनका सबसे बड़ा और अंतिम प्रयास कथा सरित्सागर का हिंदी अनुवाद बताया गया है, जिसके केवल वे दस भाग ही अनुवाद कर पाये। बाकी अनुवाद बाद को श्री लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी ने पूरा किया। (हिंदी उपन्यास साहित्य, पृष्ठ १४४)।

किशोरीलाल गोस्वामी : किशोरीलाल गोस्वामी (जन्म लगभग १८६५ ई०) ने बाबू देवकीनंदन खत्री से पहले 'कुसुम कुमारी' की रचना की थी, किन्तु घटनाचक्र के कारण इसका प्रकाशन १६०१ के पहले न हो सका, जब कि चन्द्र-कांता का प्रकाशन १८६१ में ही हो चुका था। प्रकाशन की दृष्टि से देवकीनंदन किशोरीलाल से पहले हैं, किंतु रचना की दृष्टि से किशोरीलाल देवकीनंदन से पहले पड़ते हैं। हमने इसी के अनुसार उनको पहले गिनाया है। श्री रामरतन भटनागर ने प्रेमचंद को प्रत्यक्ष रूप से किशोरीलाल की धारा का परिपोषक बतलाया है, इससे उनका कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट हो जाता है। वे लिखते हैं,

'प्रेमचंद से पहले हिंदी उपन्यास में तीन धाराएँ बह रही थीं, जो क्रमशः इस प्रकार आयीं—(१) देवकीनंदन के उपन्यास चंद्रकांता के साथ तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास, (२) किशोरीलाल गोस्वामी के साथ सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक एवं सामाजिक, प्रेम, रोमांच और (३) गोपालराम गहमरी के साथ जासूसी, पुलिस और साहसिक उपन्यास। ये तीनों धाराएँ प्रेमचंद के साथ (१९१६) तक साथ-साथ चलती रहीं, और प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में 'सेवासदन' के साथ पदार्पण किया, तो वे वास्तव में किशोरीलाल गोस्वामी के क्षेत्र में उतर रहे थे।' (प्रेमचंद : एक अध्ययन, पृष्ठ २१८-२१९)।

सभी समालोचकों ने किशोरीलाल गोस्वामी की शतमुख से प्रशंसा की है। अवश्य वे अपने युग की सीमाओं से बँधे हुए थे। श्री झा ने लिखा है कि उनकी रचनाओं में साहित्यिक सौंदर्य का अभाव नहीं है किन्तु वह सौंदर्य कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चटकीला और कुप्रभावोत्पादक हो गया है। उनके रस-संचार की प्रणाली कुछ-कुछ असात्विक भावों और दृश्यों को भी अपने साथ रखती हुई सी दीख पड़ती है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने मौलिकता के नाते हिंदी के इस क्षेत्र में बड़ी मुस्तैदी से काम किया, और उनमें उपन्यासकार होने की सच्ची क्षमता थी। यह दूसरी बात है कि उस क्षमता को वे बहुत अच्छे ढंग से, बहुत अच्छी रुचि के साथ काम में न ला सके।' (प्रे० द्र० क०, पृष्ठ ९)।

किशोरीलाल के प्रथम उपन्यास 'कुसुमकुमारी' की प्रेरणा उन्हें कहाँ से मिली, इस संबंध में डाक्टर लाल ने लिखा है कि 'उन्हें यह प्रेरणा रीति कवियों से मिली, जिन्होंने अपने मुक्तक काव्यों के लिए नायिका भेद एक ऐसा विषय चुना, जिसका संबंध मूलरूप से नाटकों से ही था। किशोरीलाल स्वयं उसी परंपरा के कवि थे। उन्होंने नायिका-भेद तथा अन्य रीति साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। इसलिए जब वे उपन्यास लिखने बैठे तब उन्हें केवल एक सुसंगत प्रेम-कहानी की कल्पना करनी पड़ी, और उसमें उन्होंने प्राचीन कवियों की परंपरा के अनुसार प्रेम-सम्बन्धी विविध प्रसंगों को यथावसर अनेक अध्यायों में गद्यात्मक भाषा में जड़ दिया। उनके 'तारा', 'अंगूठी का नगीना' तथा अन्य उपन्यास हर्ष और राजशेखर के संस्कृत प्रेम-नाटकों का स्मरण दिलाते हैं। परंपरागत प्रेम, अभिसार, मान, परिहास इत्यादि इसमें भरे पड़े हैं।' यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि किशोरीलाल ने प्रेरणा के लिए पीछे की ओर विशेष कर संस्कृत-साहित्य की

ओर दृष्टिपात किया। बात यह है कि भारतवर्ष में साहित्य के नाम से जो कुछ भी था, उसमें संस्कृत-साहित्य का ही स्थान सर्वोपरि था। फिर भी इन लेखकों ने नये युग को भी अपनाया, इसमें संदेह नहीं। उनकी भाषा, शैली तथा कथानक का ताना-बाना इस बात की साक्षी देते हैं।

इस युग के प्रधान उपन्यास-लेखक होने के अतिरिक्त किशोरीलाल को हिंदी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी के रचयिता होने का भी गौरव प्राप्त है। जून १६०० में उनकी 'इंदुमती' नामक कहानी, 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस कहानी के संबंध में यह बताया गया है कि 'इस पर शेक्सपियर के टेम्पेस्ट की स्पष्ट छाप मिलती है, यहाँ तक कि यदि इसे भारतीय वातावरण के अनुकूल उसका रूपांतर भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। इंदुमती भी मिरांडा की भाँति विंध्याचल के सघन वन में अपने पिता के साथ रहती है जहाँ उसने अपने पिता के अतिरिक्त किसी भी मनुष्य को नहीं देखा था। एक दिन वह अचानक पेड़ के नीचे एक सुंदर नवयुवक—अजयगढ़ के राजकुमार चंद्रशेखर को देखती है, जो पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को मार कर भागा हुआ था और जिसका पीछा लोदी का एक सेनापति कर रहा था। इसी दौड़-धूप में उसका घोड़ा मर गया, और वह भूखा-प्यासा पेड़ के नीचे पड़ा था। इंदुमती और चंद्रशेखर प्रथम दर्शन में ही एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। इंदुमती का वृद्ध पिता, जो वास्तव में देवगढ़ का राजा था, और इब्राहीम लोदी द्वारा राज्य छिन जाने पर अपनी एकमात्र कन्या के साथ जंगल में रहता था, टेम्पेस्ट के प्रास्पेरो की भाँति युगल प्रेमी के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए चंद्रशेखर से कठिन परिश्रम कराता है, और स्वयं पहाड़ी के पीछे खड़े हो कर नव-युवक हृदयों का प्रेम-संभाषण सुनता है। अंत में दोनों का विवाह हो जाता है, क्योंकि इंदुमती के पिता ने प्रतिज्ञा की थी कि जो इब्राहीम लोदी को मारेगा, उसी को अपनी कन्या ब्याहेगा। चंद्रशेखर ने अनजाने ही यह प्रतिज्ञा पूरी कर दी थी और इंदुमती के प्रति उसका प्रेम भी सच्चा था, इससे पिता ने दोनों का विवाह कर दिया। इस प्रकार शेक्सपियर के टेम्पेस्ट और उसी प्रकार की एक राजपूत कहानी के सम्मिश्रण से हिंदी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी की रचना हुई।' (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृष्ठ ३२३)।

इस प्रकार किशोरीलाल ने एक ओर संस्कृत-साहित्य से प्रेरणा ली, दूसरी ओर अँगरेजी-साहित्य से भी। दोनों हाथों से जो कुछ भी मिला, उसे

बटोरा। स्वाभाविक रूप से इस युग में इसी प्रकार के साहित्य का उद्भव हो सकता था, जो एक तरफ पाश्चात्य और दूसरी तरफ भारतीय प्राचीन साहित्य से अनुप्रेरणा लेता हो, तथा जिसका संबंध यहाँ के युग तथा समाज से केवल चर्म-गंभीर हो। फिर भी इस युग में अँगरेजी राज्य तथा शिक्षा के कारण एक ऐसे तबके का उदय हो चुका था, जो अपने अवसर के समय इस प्रकार के के उपन्यासों तथा कहानियों को पढ़ना पसंद करता था, इसीलिए इस दिशा में बराबर उन्नति होती गयी।

यद्यपि इंदुमती में जिस प्रकार प्रेमिक-प्रेमिका का प्रथम संदर्शन हुआ वह हमें सामंतवादी युग की याद दिलाता है, किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि अन्य उपन्यासों में विशेष कर अँगूठी का नगीना, कुसुमकुमारी इत्यादि में नायक-नायिका नवीन युग के नये ढंग से एक दूसरे के मार्ग में प्रथम बार आते हैं। 'अब नायक नायिका से रेल में, नाव में अथवा पानी बरसने के कारण भाग कर खड़े हुए किसी घर के बरामदे में मिल जाया करते हैं और प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो जाता है, जो प्रेमपत्र, अभिसार इत्यादि रीतियों से सिंचित हो कर क्रमशः पल्लवित होता है और संयोग और दैव घटनाओं की सहायता से उनका मिलन भी हो जाता है।' (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृष्ठ ३००)। किशोरीलाल फिर भी तिलस्मी और ऐयारी के मोह से अपने को मुक्त नहीं कर पाये। 'लखनऊ की कब्र' में तिलस्म और ऐयारों का चित्रण है, 'शोणित तर्पण' में जिसमें १८५७ के महा-विद्रोह का हाल है, सरदार रामसिंह की जासूसी का विशद वर्णन है, जो नाना साहब और तात्या टोपे के सहायक राबर्ट मैकेयर, अब्दुल्ला तथा उनके लुटेरे साथियों को बंदी बनाता है।

किशोरीलाल गोस्वामी ने ६० से अधिक उपन्यास लिखे हैं। प्रेमचंद के पहले हिंदी जगत में किशोरीलाल गोस्वामी के तथा देवकीनंदन खत्री के उपन्यास सबसे अधिक पढ़े जाते थे। बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी प्राक्-प्रेमचंद युग के सबसे बड़े उपन्यास लेखक थे, इसलिए यह उचित ही था कि उनकी सेवाओं के कारण उनका अभिनंदन किया गया और वे हिंदी साहित्य सम्मेलन के बाइसवें अधिवेशन के सभापति बनाये गये। नाम की दृष्टि से देवकीनंदन का ही अधिक नाम हुआ तथा उनके उपन्यास ही हिंदी जगत में अधिक प्रचलित हुए, किंतु जैसा कि भटनागर ने लिखा है, वे ही

नवीन युग का निर्णय कर रहे थे, न कि देवकीनंदन। देवकीनंदन तो अपने उपन्यासों में एक बीते हुए युग, बल्कि एक मृतप्राय शैली का अनुसरण कर रहे थे। नवीन युग में उसका कोई स्थान नहीं था। अपनी रीतिबद्धता तथा एक हद तक गतानुगतिकता के बावजूद हम देखेंगे कि किशोरीलाल ही हिंदी में प्रेमचंद के प्रत्यक्ष साहित्यिक पूर्वज कहे जा सकते हैं, न कि अन्य कोई लेखक।

ऊपर यह जो कहा गया है कि गोस्वामी जी नये युग के प्रतिनिधि थे, वह इस बात से सूचित होता है कि वे काल्पनिक स्तर से उतर कर उपन्यास को पार्थिव स्तर पर ले आये। इसी से कुछ उत्तेजित हो कर व्रजरत्नदास लिखते हैं—'गोस्वामी जी ने जिस प्रेम का विवरण प्रायः अपने सभी उपन्यासों में दिया है, वह शुद्ध सात्विक प्रेम नहीं है, जो सारी सृष्टि का पोषक तथा सभी उच्च साहित्य तथा कलाओं का प्राण है। इनका प्रेम आसक्ति वासना की निम्नतम कोटि तक पहुँच गया है और इसी का इन्होंने शोख रंगों में चित्रण किया है। इनकी नायिकाओं में से एक भी कुलवधू के उच्च, संयत तथा शुद्ध प्रेम को नहीं पहुँच सकी है, प्रत्युत ऐसा ज्ञात होता है कि वे वास्तविक प्रेम को जानती ही नहीं। उनमें यौवन कालीन अदमनीय उच्छृंखलित वासनामय आसक्ति मात्र है, जो दूसरों को केवल आकर्षित कर सकती है। उनमें स्थायित्व नहीं हो सकता। ऐसे वर्णनों का नवयुवक पाठकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। गोस्वामी जी ने न मालूम किस अशुभ साइत में किस कुविचार से 'चपला' लिखना आरंभ किया था कि वह ऐसी बन पड़ी है कि सभी उसकी ओर संकेत कर उसे अपठनीय बता देते हैं।'

इतना कह-सुन लेने पर भी वे मजबूरी से मानते हैं—'गोस्वामी जी को अपने समय तथा समाज का भला या बुरा, पूरा ज्ञान तथा अनुभव था और वह सभी में सम्मिलित होते थे, इसलिए उन्होंने उसका वर्णन बहुत अच्छा किया है, पर निम्न पक्ष ही का विशेष रूप से। बातचीत, कथोपकथन में स्वयं अत्यंत पटु थे और बनारसी बोली में उनकी बातचीत अत्यंत सरस और वक्रतापूर्ण होती थी। ऐसी अवस्था में इनको अपने उपन्यासों के कथोपकथन में बहुत सफलता मिली है।'

उक्त लेखक यह भी मानते हैं कि 'भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था और वे बड़ी सजीव भाषा में लिखते थे।' फिर और क्या चाहिए? समाज का उनको अच्छा ज्ञान था, चरित्र-चित्रण अच्छा करते थे और भाषा अच्छी थी।

रहा यह कि उन्होंने जिस समाज का चित्रण किया है, उससे उपदेशात्मक तत्त्व नहीं निकलते, केवल मनोरंजन ही होता है, यह दूसरी बात है।

देवकीनन्दन खत्री (ज० १८६१ ई०): हिंदी उपन्यास लेखकों में देवकीनंदन खत्री इसी युग में हिंदी साहित्य के गगन में उदित हुए, और जैसा कि हम बतला चुके हैं, उस युग में उनसे बढ़ कर कोई इस आकाश में चमका ही नहीं। प्रेमचंद जी ने उपन्यास कला पर कुछ बहुत अच्छे लेख लिखे हैं, उनमें वे एक स्थान पर अनुमान करते हैं कि खत्री जी ने 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' का बीजांकुर 'तिलस्मी होशरुआ' से ही लिया होगा। (कुछ विचार — पृष्ठ ८२)। उस युग में उनके उपन्यासों की इतनी धूम रही कि कहा जाता है कि बहुत से उर्दू वालों ने इसीलिए हिंदी पढ़ी कि वे उनकी पुस्तकों को पढ़ कर मजा उठा सकें। उनकी रचनाओं में अलौकिक घटनाओं और रोमांसों की भरमार है। श्री रामरतन भटनागर ने ठीक ही लिखा है कि 'उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण नहीं, भावों का घात-प्रतिघात नहीं, मनोविकारों का विश्लेषण नहीं, पात्रों में व्यक्तित्व नहीं। केवल कथा मात्र है—कुतूहल-प्रधान मनोरंजन की किताब हाथ में ली कि खाना-पीना गया।...खत्री जी की रचना-शक्ति, कल्पना एवम् वर्णन-शक्ति अद्वितीय थी।'

उनके उपन्यासों में राधाचरण गोस्वामी की तरह किसी प्रकार समाज-सुधार या प्रगति की ओर रुझान नहीं है ; इन उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना है, और वह मनोरंजन भी बहुत निम्नकोटि का मनोरंजन है। उच्च कोटि की बौद्धिकतापूर्ण बातचीत, प्रचलित समाज की असंगतियों का उद्‌घाटन, वर्गयुद्ध के चित्रण, विचारों के द्वंद्व आदि से भी मनोरंजन हो सकता है, किंतु हम देवकीनंदन 'रचित चंद्रकांता संतति, कुसुम-कुमारी, काजर की कोठरी, नरेंद्र मोहनी, वीरेंद्र वीर' आदि उपन्यासों में जिस प्रकार के मनोरंजन का प्रयास पाते हैं, वह चमत्कारिक घटनाओं के वर्णन से होनेवाला मनोरंजन है। हाँ, उनकी भाषा चलती हुई और मुहावरेदार होती थी, इस दृष्टि से उनकी भाषा उनके भावों के लिए सर्वथा उपयुक्त वाहन थी। अद्‌भुत कल्पना-शक्ति के अतिरिक्त उनकी भाषा भी उनकी जनप्रियता का कारण-स्वरूप थी, इसमें कोई संदेह नहीं। उनकी भाषा में आ कर हिंदी गद्य अब एक ऐसे सोपान पर पहुँच चुका है जब उसमें प्रेमचंद की तरह कलाकार

का उदय हो सकता है ।

प्रेमचंदजी ने यह अनुमान अवश्य किया है कि देवकीनंदन खत्री ने फारसी से तिलस्मी ढंग ग्रहण किया है, किन्तु देवकीनंदन ने केवल अनुवाद, संकलन या अनुकरण ही किया, ऐसी बात नहीं है, बल्कि जैसा कि डाक्टर लाल ने कहा है उन्होंने, 'अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति और कल्पना के बल से उनमें इतना कौशल और अलौकिकत्व भर दिया कि वे उर्दू और फारसी के तिलस्मों से कहीं अधिक अद्भुत और आकर्षक बन गये । चन्द्रकांता और चंद्रकांता संतति के तिलस्म अद्भुत, कौशलपूर्ण और अपूर्व हैं । खत्री की देखा-देखी अन्य लेखकों ने भी कितने ही नये तिलस्मों की सृष्टि की । धीरे-धीरे तिलस्मों का प्रचार इतना अधिक बढ़ा कि सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मों का प्रयोग किया जाने लगा । ये तिलस्म इतने यथार्थवादी ढंग में वर्णित हुए और इतनी अधिक संख्या में लिखे गये कि तिलस्मी उपन्यासों के पाठक सभी जगह तिलस्म ही तिलस्म देखने लगे, और कुछ पाठकों को तो ऐसी आशंका होने लगी कि कहीं उनके पैरों के नीचे कोई तिलस्म न हो । तिलस्मों के मूल-रूप में अतिप्राकृत भावना का आरोप न था । तिलस्म की सृष्टि में अद्भुत कौशल और अनोखी सूझ की आवश्यकता होती थी । उसकी उलझनें लखनऊ के भूल-भुलैया की तरह चक्कर में डाल देने वाली होती थीं । तिलस्म का रहस्य न जानने वाला मनुष्य चाहे कितना ही चतुर क्यों न हो, तिलस्म में पड़ कर चक्कर में पड़ जाता था । परन्तु पिछले खेवे के लेखकों में इस प्रकार के अद्भुत तिलस्म सृष्टि करने की क्षमता न थी, इस कारण वे क्रमशः अतिप्राकृत सूत्रों से काम लेने लगे थे । स्वयं देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों में भी इस प्रकार अति प्राकृत प्रसंग आने लगे थे, यथा, तिलस्मी खंजर के छुलाने मात्र से मनुष्य के शरीर में बिजली लगने की सी सनसनी पैदा होती थी, और वह बेहोश हो जाता था, और तिलस्मी तलवार कमर के चारों ओर लपेटी जा सकती थी ।'

हम यदि इस प्रकार की अलौकिक-कथाओं से पूर्ण उपन्यासों की रचना के लिए देवकीनंदन खत्री को यह कह कर दोष दें कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया, तथा उन्होंने उससे वह सामाजिक काम नहीं लिया जो उन्हें लेना चाहिए था, तो यह समालोचना केवल ऊपरी आलोचना होगी । इससे किसी बात का स्पष्टीकरण नहीं होगा । फिर इस क्षेत्र में वे अकेले नहीं थे, यद्यपि इस वन में वे ही सबसे बड़े वृक्ष थे । केवल यही नहीं, वे इतने बड़े वृक्ष थे कि

बाकी इस तरह के सभी लेखक उनकी छाया में पनपे। फिर यदि कुछ लेखकों ने ऐसी चीजें लिखीं तो प्रश्न यह उठता है कि हजारों पाठकों ने उन्हें क्यों अपनाया? कोई भी व्यक्ति किसी भी युग में किसी भी विचार को रख सकता है, किंतु वह विचार सामाजिक रूप से तभी स्वीकृत तथा ग्राह्य हो जाता है, जब उस समाज के किसी तबके के साथ उस विचार का रक्तगत संबंध स्थापित हो जाय। इस पहलू से देखने पर एक तो तिलस्मी उपन्यासों की ओर पाठकों की रुचि उर्दू उपन्यासों में इसी तरह की धाराओं के प्रचलन के कारण हुई होगी, किन्तु केवल यही कारण यथेष्ट नहीं है। आखिर कौन ऐसी बात थी जिसके कारण लोग इस समय प्राकृतिक या अतिप्राकृतिक, बल्कि प्राकृतिक छद्मवेश में अतिप्राकृतिक तथा प्राकृतिक की तलाश कर रहे थे?

इसे समझने के लिए हमें उस समय की सामाजिक-राजनैतिक अवस्था पर ध्यान देना पड़ेगा। उस समय तक आम लोगों में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार कम था, किंतु साथ ही एक पाश्चात्य साम्राज्यवादी शक्ति के साथ संस्पर्श में आने के कारण यहाँ रेल-तार से शुरू कर नित्य नये आविष्कार योरोप से दस-बीस साल बाद ही सही, पहुँचते रहते थे। यदि लोगों में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार अधिक होता तो वे इन नये आविष्कारों को समझ पाते अर्थात् यह समझते कि इन आविष्कारों में कोई अलौकिकता नहीं है, किंतु यहाँ के लोगों की उस समय जो मानसिक सतह थी उसमें यह आविष्कार पहुँचते गये, उस परिस्थिति में इनके प्रति एक अलौकिक दृष्टि से देखना तथा उनके संबंध में अलौकिकता के साथ सोचना स्वाभाविक था। इन आविष्कारों तथा उनके प्रयोगों को देख कर स्वाभाविक तथा स्वस्थकर तो यह होता कि हमारी विचारधारा के नेतागण—स्मरण रहे कि कवि, नाटककार तथा उपन्यासकार भी विचारधारा के नेता ही हैं—आविष्कार की यांत्रिकता को अच्छी तरह समझते, और उनमें व्यावहारिक रूप से वृद्धि करने के लिए जुट पड़ते, किंतु इसके विपरीत वे काल्पनिक रूप से उसमें वृद्धि करने लगे।

इन उपन्यासों की ऊलजलूल कल्पनाओं को सफलता तथा स्वीकृति इस कारण प्राप्त हुई कि एक तो धार्मिक पौराणिक वातावरण के कारण लोग यों ही हर तरह के तिलस्म में विश्वास करने के लिए तैयार बैठे थे, दूसरा चाहिए तो यह था कि पाश्चात्य विज्ञान से संपर्क के कारण लोगों में वैज्ञानिक जेहनियत उत्पन्न

होती, किंतु इसके विपरीत विज्ञान के ही कारण लोग और भी सहज विश्वासी हो गये। यों तो इन दोनों कारणों को एक कारण अर्थात् पिछड़ापन कह सकते हैं। यह बात नहीं कि इस युग में पाश्चात्य देशों में तिलस्मों की कमी रही, किंतु उन तिलस्मों की सतह बहुत कुछ वैज्ञानिक थी। कोनान डायल की पुस्तकें इसी प्रकार की तिलस्मों से भरी हैं, किंतु उनको वैज्ञानिकता प्रदान करने की चेष्टा की गयी थी, और कहीं भी वे तिलस्मी खंजर की सतह पर नहीं उतरती थीं। इस युग में यूरोपीय साहित्य से जो जासूसी उपन्यास लिखे गये, वे ऐसी चमत्कारिक घटनाओं में पूर्ण थे, किंतु जैसा कि हम बता चुके वे असंभवता की रेखा को बचा कर चलते थे। यहाँ भी बाद को चल कर गोपालराम गहमरी आदि ने जासूसी उपन्यासों की सृष्टि की, यहाँ तक कि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मों का प्रयोग हुआ, इस दृष्टि से यूरोपीय साहित्य में जो जासूसी उपन्यास लिखे जा रहे थे, तथा बाद को हिंदी में जो जासूसी उपन्यास लिखे गये, वे देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों के प्रथम क्षेत्र में समगोत्रीय तथा द्वितीय क्षेत्र में उनके वंशधर थे, इसमें संदेह नहीं। हम यह दिखा ही चुके कि पिछड़ेपन के कारण एक ही प्रवृत्ति का यूरोपीय समसामयिक साहित्य में तथा यहाँ अलग-अलग परिणाम हुआ।

इसके अतिरिक्त हम यह भी समझते हैं कि उस युग में जो उदीयमान बाबूवर्ग के पाठक इन पुस्तकों को पढ़ते थे, वे समाज-सुधार तथा अन्य बखेड़ों में पड़ना नहीं चाहते थे, वे साधारणतः यह चाहते थे कि कुछ दिलबहलाव हो। हमें मालूम है कि इस प्रकार के लोगों में अब भी खत्री जी की रचनाएँ चाव से पढ़ी जाती हैं। अवश्य यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोवृत्तिवाले पाठकों के लिए जासूसी उपन्यासों के रूप में पठन-सामग्री अब भी मौजूद है। चन्द्रकांता के लेखक और प्रेमचंद में इसीलिए हम किसी प्रकार की समता या समगोत्रता नहीं पाते, यद्यपि यह ज्ञात है कि 'प्रेमचंद ने अपने छुटपन में उन सब तिलस्मी और अय्यारी उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया था जो हिंदी के उपन्यासों के उत्तेजक थे।' (प्रेमचंद, एक अध्ययन : पृ० २१८)। अवश्य जैसा कि हम देखेंगे, ध्यान से देखने पर उनके कई उपन्यासों में तिलस्मी और अय्यारी रुझान स्पष्ट दिखाई पड़ेगी।

एक समालोचक ने हिंदी उपन्यासकारों की जबानी हिंदी उपन्यासों की

कहानी लिखी है ; यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है, फिर भी उसमें सत्य का पुट चमत्कारिक ढंग से आ गया है। इस काल्पनिक संवाद में देवकीनंदन खत्री प्रेम-चंद जी को संबोधित करते हुए कहते हैं —

'भाई ! आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है — तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे — इसके अतिरिक्त उसका और कोई स्वरूप हो सकता है, यह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने देश-विदेश की विभिन्न कथाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं, और उनको पढ़ कर मुझे यह प्रेरणा हुई कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानकों की सृष्टि से जनता का मनोरंजन कर यश लाभ करूँ, इसीलिए मैंने चंद्रकांता संतति लिख डाली। अद्भुत के प्रति निर्बाध आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित हो कर उस चित्रलोक की सृष्टि कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना अवकाश था, और जीवन की गति इतनी मंद थी कि उन्हें कुछ चाहिए था जो उसमें उत्तेजना भर सके। निदान वे साहित्य से उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत अनंत रहस्यों का भंडार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इस तिलस्म के दरवाजे से टकरा कर लौट आता है, और उसे यह आकांक्षा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की इन दोनों माँगों को पूरा करते हैं, उसके मंद जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं, और उसकी कौतूहल-वृत्ति को तृप्त करते हैं। इसलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं। असंख्य पाठकों को उनके द्वारा अपना अभीष्ट मिलता है, इससे बढ़ कर मेरी या उनकी सिद्धि और क्या हो सकती है ? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिंता भी नहीं की, परन्तु मनोरंजन अवश्य करते हैं — मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।'

ऊपर देवकीनंदन खत्री के मुँह से जो कुछ कहलाया गया है, वह बहुत ही उपयुक्त है, और यह साफ कर देता है कि खत्री जी की कला का उद्देश्य केवल बेकार लोगों को दिलचस्पी के साथ समय काटने में मदद करना था। इस प्रकार यह कला एक ऐसे वर्ग या तबके के लिए थी, जो यदि पूर्ण रूप से नहीं तो एक हद तक परोपजीवी था, और यदि उसका कोई हिस्सा सचमुच परोप-

जीवी नहीं भी था तो मानसिक रूप से इस समाज के परोपजीवी वर्गों के साथ आत्मीयता का अनुभव करता था, और यह सोचता था कि हो सके तो उसे प्रत्यक्ष रूप से उसी वर्ग में शामिल होना है। इस वर्ग के बाहर भी इस कला का प्रचार हुआ, और जिस वर्ग के लिए इस कला की उत्पत्ति हुई थी, उसी का उद्देश्य इस माने में सिद्ध किया कि शोषितों को अपनी असली समस्याओं से बेखबर कर उन्हें तिलस्मों की भूल-भुलैया में डाल दिया।

इस प्रसंग में अय्यार क्या होते थे इस पर दो-एक शब्द : अय्यारों को हम नाइट एरेंट या साहसिक कार्यों की खोज में घूमनेवाला वीर कह सकते हैं, अवश्य ये वीर अक्सर अपराधी के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। सच बात तो यह है कि वीर और अपराधी के बीच में सीमारेखा के रूप में रेखागणित की एक रेखा रहती है। वीर पूजा के साथ ही साथ अपराधी पूजा चेतनाहीन जनता की विशेषता है। वीर भी साहसिक कार्य करते हैं, असाध्य साधन करते हैं, और अपराधी भी। इन दोनों में साहसिकता कूट-कूट कर भरी होती है, किन्तु उद्देश्यों की भिन्नता के कारण वीर की वीरता और अपराधी की साहसिकता गुणगत रूप से भिन्न वस्तु होती है। वीर भी जान हथेली पर लिये फिरता है, और अपराधी भी। इसी अर्थ में हमने यह जो कहा है कि मध्ययुग की ऐतिहासिक उपन्यासों की वीरतापूर्ण कहानियों के वंशधर आधुनिक युग के जासूसी उपन्यास हैं, इसे समझना चाहिए।

ये अय्यार अर्द्धवीर और अर्द्ध-अपराधी होते थे। डाक्टर लाल ने हिंदी उपन्यासों के इन अय्यारों का अच्छा वर्णन किया है। वे लिखते हैं—'तिलस्मी उपन्यासों में तिलस्मों से भी अधिक अद्भुत, कौशल-पूर्ण और मनोरंजक अय्यारों की अवतारणा थी। अय्यारी झोला लिये हुए, ये अय्यार वास्तव में अद्भुत थे। उनके छोटे से झोले में विविध रासायनिक पदार्थ होते थे जिनकी सहायता से वे अपना रंग, अपनी बोली और अपना मुँह तक बदल डालते थे; उसमें नकली दाँतों की श्रेणियाँ, भेष परिवर्तन के लिए अनेक प्रकार के पहनावे तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ होती थीं। उनके झोले में सबसे अद्भुत वस्तु लखलखा हुआ करती थी, जिसे सुँघाते ही बेहोश आदमी उठ बैठता। वे अद्भुत रासायनिक होते थे। वे ऐसे धुएँ पैदा कर सकते थे कि जिसे सूँघते ही आदमी बेहोश हो जाता था। चंद्रकांता में बद्रीनाथ ने ऐसे गोले बनाये थे कि उनके फूटने से जो धुँआ उड़ता,

उसे सूँघनेवाला बेहोश हो जाता, परन्तु स्वयं उसके पास ऐसी दवा थी कि उस पर धुएँ का कुछ भी प्रभाव न पड़ता। फिर वे कारीगर भी अच्छे होते थे। मोम के ऐसे मनुष्य बनाते थे कि जीवित मनुष्य और उनमें कोई अंतर नहीं रहता था। इतना ही नहीं, बुद्धि में भी वे आधुनिक जासूसों से कहीं अधिक चतुर और बुद्धिमान हुआ करते थे। उनकी तरकीबें और चालें सभी मौलिक हुआ करतीं, और उनके घात-प्रतिघात अत्यंत कौशलपूर्ण और अद्भुत चातुर्ययुक्त होते थे। जासूसों से भी अधिक चतुर और बुद्धिमान होते हुए भी नैतिकता और वीरता की दृष्टि से वे अय्यार महावीर थे। नैतिकता और वीरता का उनका अपना नियम और दृष्टिकोण था, जो बहुत कुछ मध्यकालीन राजपूतों से मिलता-जुलता था। उनकी वीरता पर उनके स्वामियों को अभिमान हुआ करता था, उनकी स्वामी-भक्ति पत्थर की चट्टान की भाँति अचल और अटल थी। कुछ इने-गिने अय्यारों को छोड़ कर वे नैतिक दृष्टि से सर्वदा ही महान् और साधु हुआ करते थे। स्त्रियों के प्रति उनका भाव सर्वथा पवित्र और निर्दोष हुआ करता था। एक अय्यार दूसरे अय्यार की हत्या नहीं करता था, न उससे कोई दुर्व्यवहार ही करता था। वह केवल उसे बंदी बना सकता था, अथवा उसे जीत कर अपने पक्ष में कर सकता था। दूसरों के भेदों और रहस्यों का वे समुचित आदर करते थे और प्राण दे कर भी उनकी रक्षा करते थे। वचन दे कर हटना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था, और युद्ध से वे कभी पीछे न हटते थे। इस प्रकार के वे अय्यार थे जिनका राजपूतों का सा उच्च और महान नैतिक आदर्श था, राजपूतों के समान ही जिनकी वीरता थी, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के समान रासायनिक थे, आधुनिक जासूसों सी जिनकी चतुरता और सतर्कता थी, सेना-नायकों के सामान जिनका रण-कौशल था, और जो आदर्श मित्र के समान स्नेह और प्रेम करते थे। उनकी अपनी एक विशेष भाषा थी जो वे ही समझ पाते थे, जैसे चंद्रकांता में बद्रीनाथ 'टेटी चोटी' और 'तेजमेमचे बद्री' कहता है जिसे तेजसिंह तो समझ जाता है, लेकिन डाकू लोग नहीं समझ पाते। मध्यकालीन राजपूतों के साथ अठारहवीं शताब्दी के ठगों और आधुनिक काल के रासायनिक जासूसों का सम्मेलन कर के अय्यारों की सृष्टि हुई थी। वास्तव में अय्यार हिंदी साहित्य के अद्भुत, अपूर्व आविष्कार हैं। (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० २६४-५)।

डाक्टर लाल ने जो अय्यारों को अद्भुत और अपूर्व बतलाया है, वह केवल इस अर्थ में ही सही है कि यह संपूर्णरूप से एक काल्पनिक टाइप है

जिसका वास्तविक जगत में कहीं पता नहीं है। हमने जो यह बतलाया था कि अय्यार नाइट एरेंट के ही एक विकृत रूप हैं, उसका स्पष्टीकरण करते हुए इस अवसर पर यह बताया जा सकता है कि ये नाइट काल्पनिक टाइप नहीं, बल्कि मध्ययुग के यूरोप में सर्वत्र मौजूद थे। सरवांत (Cervantes) ने डान क्वीक्सोट नामक अमर रचना में इन लोगों का व्यंगपूर्ण चित्र खींचा है; इसी प्रकार सर वाल्टर स्काट, अल्फ्रेड द विन्यि से ले कर एलेक्ज़ेन्डर ड्यूमा तक बीसियों प्रख्यातनामा उपन्यासकारों ने इनको अपने कथानकों का मध्य-बिंदु बनाया है; इन उपन्यासों में हम अवश्य उनका कुछ अतिरंजित चित्र पाते हैं, किंतु फिर भी वह चित्र ही है। इसी प्रकार नवीन युग के जो नाइट जासूस हैं, तथा उनके पूरक अपराधी भी वास्तविक टाइप हैं। देवकीनंदन खत्री आदि तिलस्मी उपन्यासों के लेखकों ने इन दोनों टाइपों को मिला कर एक अजीब खिचड़ी पका दी जो न भूतो न भविष्यति। इस अय्यार टाइप का अस्तित्व केवल उन उपन्यासकारों तथा उनके पाठकों की कल्पनाओं में है। फिर इन दोनों टाइपों के मिलाने के साथ-साथ इन्हें इस प्रकार का रासायनिक-वैज्ञानिक बना कर पेश किया गया है, जो वास्तविक जगत में न तो हैं और न शायद हों। इसी अर्थ में हिंदी साहित्य के ये अय्यार अद्भुत और अपूर्व हैं, किंतु इसी कारण ये हवा में उड़ते हुए नजर आते हैं और यही हाल इस साहित्य का भी है, जो आधार रूप में इन अय्यारों और तिलस्मों को ले कर चलता है। इस साहित्य में समाज का प्रतिफलन है, किंतु वह प्रत्यक्ष नहीं है। इस साहित्य में हम उस समय के समाज का कोई वास्तविक चित्र नहीं पाते जैसा कि हम राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट तथा किशोरीलाल गोस्वामी में एक बड़ी हद तक पाते हैं, किंतु फिर भी इस साहित्य के द्वारा हम भली भाँति उस समय के उच्च तथा मध्य वित्तवर्ग के पाठकों की मानसिक अवस्था या जहनियत से बखूबी परिचित हो सकते हैं। यह स्वाभाविक ही था कि वास्तविकता के दबाव के आगे इस प्रकार का साहित्य ठहर न सका और बाद के हिंदी साहित्य ने दूसरा ही रुख ग्रहण किया, जिसकी हम एक परिपक्व परिणति प्रेमचंद की कृतियों में पाते हैं। हमारे कहने का यह मतलब न लिया जाय, न यह मतलब है कि इस तरह के केवल बेकारों के मनोरंजनार्थ लिखे गये उपन्यासों का आगे के हिंदी साहित्य में बिल्कुल ही कुछ अस्तित्व नहीं रहा — सच बात तो यह है

कि जासूसी उपन्यासों के रूप में तिलस्मी कथानक तथा अय्यार अब भी जीवित हैं। हमारे कहने का केवल इतना ही अर्थ है कि साहित्य में तो ये अवश्य हैं, और परिमाण की दृष्टि से देखा जाय तो देवकीनंदन के युग से आज उनका परिमाण और विस्तार अधिक है, पर वे साहित्य में होते हुए भी साहित्य से बहिष्कृत हैं, अर्थात् उनकी गिनती सत्साहित्य में नहीं है, वे उसी तरह लुकछिप कर जीते हैं, जैसे अश्लील साहित्य या चित्र (पोर्नोग्राफी) साहित्य और कला में जीते हैं। इसके साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सत्साहित्य न समझे जाने पर भी तथा साहित्य के प्रकाश भवन में स्थान न मिलने पर भी वर्तमान युग में इस प्रकार के साहित्य का प्रचार कम नहीं है। यह केवल हिंदी की बात नहीं है, बल्कि सारे विश्व साहित्य की बात है। अँगरेजी साहित्य में बर्नर्डशा या गैल्सवर्दी से कहीं अधिक आय एडगर वालेस को रही, केवल यही नहीं एच० जी० वेल्स और जी० के० चेस्टरटन आदि प्रतिष्ठित लेखकों ने भी जासूसी उपन्यास लिखे हैं।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि आज के शासकवर्ग के लिए सबसे बड़ा खतरा सोचना है। अपने सामने उसे जो खाई दिखायी दे रही है, उसे वह भूल जाना चाहता है, तभी तो उसे हर तरीके के उत्तेजक, मनोरंजक साहित्य और कला की आवश्यकता है। यह केवल शासकवर्ग की ही विशेषता नहीं है, बल्कि प्रत्यक्षरूप से उसके पिछलगुवे वर्गों तथा अप्रत्यक्षरूप से शोषितवर्गों पर भी इस प्रकार के प्रभाव तथा दिलचस्पियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बात यह है, किसी समाज में वे ही साहित्य तथा कला-सम्बन्धी धारणाएँ प्रचारित रहती हैं जो शासकवर्ग के उस संबंधी विचार होते हैं। बड़े प्रयत्नों से शासितवर्ग को इस प्रकार के विचारों से छुटकारा प्राप्त करना पड़ता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय : यद्यपि पहले के मुकाबिले में अब भाषा में बहुत कुछ स्थायित्व आ चुका था, किंतु फिर भी अभी कोई मानदंड स्थिरीकृत नहीं हुआ था। अलग-अलग आचार्य अपनी-अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद उठा रहे थे, कोई आचार्य अभी ऐसा सर्वमान्य नहीं हुआ था, जिसको लोग अपना आदर्श समझते, और जिसकी भाषा टकसाली मानी जाती। डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन साहेब की फरमाइश के अनुसार श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पहले 'ठेठ हिंदी का ठाट' (१८६६) और बाद को 'अधखिला फूल' (१६०७) नामक दो

उपन्यास लिखे। ठेठ हिंदी के ठाट की भाषा का कुछ नमूना देखिए —

'सूरज वैसा ही चमकता है, बयार वैसे ही चलती है। धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही अपने ठौरों पर खड़े हैं, उनकी हरियाली भी वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे-धीरे बहते हैं। चिड़ियाँ वैसी ही बोल रही हैं। रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है, पर देवबाला मर गयी। धरती के लिए देवबाला का मरना-जीना दोनों एक-सा है। धरती क्या, गाँव में चहल-पहल वैसी ही है। हँसना-बोलना, गाना-बजाना, उठना-बैठना, खाना-पीना, आना-जाना, सब वैसा ही है।'

कहते हैं डाक्टर ग्रियर्सन ने इस पुस्तक को बहुत पसंद किया, और इसे सिविल सर्विस के कोर्स में रखा। उन्हीं के अनुरोध पर दूसरी पुस्तक भी लिखी गयी। (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ६९६)। ये पुस्तकें उपन्यास रूप में थीं, किंतु जैसा कि द्विज जी ने लिखा है ये उपन्यास केवल भाषा का नमूना दिखाने के लिए लिखे गये थे, न कि उपन्यास कला की दृष्टि से। (प्रेमचंद की उपन्यास कला, पृ० ९)।

उद्धृत नमूने से यह स्पष्ट है कि श्री अयोध्यासिंह ने जिस दिशा में प्रयत्न किया था, वह बहुत स्तुत्य था; आज हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी को ले कर जो झगड़ा चल रहा है, और जिसका कहीं अंत होते दिखाई नहीं देता, उसके निर्णय में ये दो पुस्तकें अर्थात् इनकी भाषा एक बड़ी हद तक सहायक सिद्ध हो सकती है, ऐसा हमारा विश्वास है। अयोध्यासिंह फिर भी इस भाषा-शैली के संबंध में विशेष सचेत थे, ऐसा तो ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'प्रियप्रवास' 'ठेठ हिंदी के ठाट' से सैकड़ों मील दूर है। इसी प्रकार उनका लिखा हुआ 'वेनिस का बाँका' में संस्कृत प्रधान हिंदी का परिचय दिया गया है। (हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास, पृ० १५२)। 'ठेठ हिंदी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' नामक पुस्तकों में एक प्रशंसनीय शैली का अनुसरण बल्कि उद्भावना करने पर भी उन्होंने जो अपनी अन्य पुस्तकों में दूसरी ही तरह की भाषा को चलाया, इससे वे भाषा में किसी निर्दिष्ट शैली के नेता नहीं हो पाये। उपन्यासों के क्षेत्र में भी उनका अनुकरण इसलिए नहीं हुआ कि उपन्यास रचना-संबंधी कोई प्रतिभा उनमें नहीं थी। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार किया

है कि 'हिंदी संसार इन ग्रंथों (ठेठ हिंदी का ठाट तथा अधखिला फूल) की ओर आकर्षित हो कर भी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं हुआ, और न किसी ने ऐसी भाषा लिखने की चेष्टा की।' इतना होने पर भी यह समझना गलत होगा कि भाषा के सृजन का जो प्रयास चल रहा था, उस पर उनका कोई असर ही नहीं पड़ा।

अयोध्यासिंह उपाध्याय तो "अवध और बनारस के आसपास के गाँववालों की भाषा का अनुकरण कर के 'हसतरी', 'ऊमस', 'अमरित', 'बरखा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। फिर एक ओर देवकीनंदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी सरल उर्दू मिश्रित हिंदी तथा साधारण बोलचाल की हिंदुस्तानी का प्रयोग कर रहे थे, जिसमें बीच-बीच में अंडस, कवाहत, चेहला, टंटा, बखेड़ा, भहराना इत्यादि काशी की बोलचाल के शब्द भी आ जाते थे, दूसरी ओर लज्जाराम मेहता ब्रज की बोलचाल की भाषा मिश्रित सरल हिंदी में उपन्यासों का ढेर लगा रहे थे। काशी के साहित्यिक लेखकगण एक भाषा का उपयोग कर रहे थे, जिसमें शुद्ध संस्कृत तत्समों का आधिक्य था।" (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० १५२—३)। पृथक्-पृथक् क्षेत्र में भाषा-संबंधी पृथक्-पृथक् प्रयोग होने पर भी सभी गद्य में खड़ी बोली को अपना चुके थे। इस संबंध में किसी को अब कोई आपत्ति नहीं थी, किंतु अभी पद्य में ब्रजभाषा और खड़ी बोली संबंधी झगड़ा बहुत दिनों तक जारी रहनेवाला था, पर हमें इस स्थान पर उस झगड़े के इतिहास से मतलब नहीं है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी : महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८७०-१९३७) को ही यह गौरव प्राप्त हुआ कि उन्हीं के नेतृत्व में खड़ी बोली को पद्य और गद्य में विजय प्राप्त हुई। उनके साहित्य-गगन में उदित होने के समय परिस्थिति यह थी कि गद्य में तो खड़ी बोली की अंतिम विजय हो चुकी थी,—यद्यपि उसके रूप में अभी स्थिरता नहीं आयी थी, (यों तो भाषा के संबंध में स्थिरता शब्द केवल तुलनात्मक रूप से ही व्यवहार में लाया जा सकता है), किंतु पद्य में अभी ब्रजभाषा का ही बोलबाला था। ब्रजभाषा के पक्ष में हिन्दी का सारा इतिहास था। सूर, केशव, बिहारी आदि की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही थीं, किंतु एक बहुत ही व्यावहारिक तथ्य उसके विरुद्ध पड़ता था। यह तथ्य क्या था, उसका श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने यों दिग्दर्शन कराया है—'ब्रजभाषा युक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) के सब विभागों में तो किसी प्रकार समझ ली जाती थी, परन्तु बिहार या पंजाब या

मध्य हिन्द में उसका समझना दुस्तर था, क्योंकि वह एक प्रान्तीय भाषा थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उसका विस्तार एक प्रांत ही तक परिमित नहीं था....., फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस समय जैसी सुगमता से खड़ी बोलचाल या गद्य की भाषा को लोग पश्चिमोत्तर प्रांत या अन्य प्रांतों में समझ लेते थे, वैसी ब्रजभाषा को नहीं समझ पाते थे।'

'श्री अयोध्यासिंह ने यह भी दिखलाया है कि इन्हीं कारणों से उर्दू के सामने हिन्दी कमजोर पड़ रही थी। 'जहाँ और कारण थे, वहाँ यह भी कारण उपस्थित था कि हिंदी पुस्तकों की गद्य की भाषा और होती है, और पद्य की और, जिससे हिंदू बालकों को एक प्रकार से कठिनता का सामना करना पड़ता है, और विवश हो कर उन्हें (सुविधा की दृष्टि से) हिंदी के स्थान पर उर्दू लेना पड़ता है।.........हिंदी साहित्यिकों का एक दल कटिबद्ध हो गया कि ब्रजभाषा के स्थान पर वही खड़ी बोलचाल में कविता करे। इस दल के नेता पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी कहे जा सकते है।' (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास पृ० ५२७)।

इस युग-संधि क्षण में द्विवेदी जी ने प्रयाग की 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा हिंदी की बहुत बड़ी सेवा की। उन्होंने न केवल स्वयं खड़ी बोली में विविध रचनाएँ कीं, बल्कि उन्होंने नये लेखकों को हाथ पकड़-पकड़ कर मार्ग बतलाया। डाक्टर लाल ने यह ठीक ही लिखा है कि "उन्होंने नये लेखकों को उनकी व्याकरण-संबंधी अशुद्धियों की ओर ध्यान दिलाया और स्वयं बड़े परिश्रम से 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों की अशुद्धियाँ दूर कीं। अपने संपादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भाषा की स्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया और उसमें स्थिरता लाने की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया।.....उन्होंने 'प्रेम फसफसाया' और 'शौक चर्राया' जैसे अश्लील शब्दों के प्रयोग का भी विरोध किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने १६ वीं शताब्दी में गद्य की भाषा को एक निश्चित साहित्यिक रूप दे कर गद्य साहित्य की परम्परा चलायी थी, परंतु वह अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी, और सर्वसाधारण में हिंदी के प्रचार से वह विश्रृंखल और अव्यवस्थित हो गयी थी। गोष्ठी साहित्य के उपयुक्त इस भाषा का खुली जलवायु में दम घुटने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साधारण जनता में प्रचार के लिए उपयुक्त भाषा को स्थिर और निश्चित रूप दे कर गद्य साहित्य की एक नयी परम्परा चलायी जो आधुनिक काल में निरंतर विकसित होती जा रही है।'

द्विवेदी जी भाषा को और भी जनता के करीब ले आये, इसमें संदेह नहीं। 'यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी को कोई बहुत ही कवित्वपूर्ण और गंभीर बात भी कहनी पड़ती, तो वे उसमें इस प्रकार का घरेलू वातावरण उपस्थित कर देते, इस प्रकार के संकेत और ध्वनि लाते, बात को इस प्रकार घुमा-फिरा कर कहते कि पाठक उसे बड़ी सरलता से समझ जाते, और उसका पूरा आनंद उठा पाते थे।" (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० १७८)। उन्होंने नये लेखकों को विराम चिह्नों के प्रयोग तथा अपने लेख को पैराग्राफों में विभाजित करने के संबंध में उद्बुद्ध किया। आज हम इन बातों को बिल्कुल स्वाभाविक रूप से दैनिक से ले कर सभी तरह के साहित्य में पाते हैं, किंतु उस समय हिंदी में इनको अच्छी तरह प्रचलित कर देना कितनी बड़ी सेवा थी, इस का अनुमान किया जा सकता है।

इस प्रकार हिंदी भाषा को वर्तमान रूप प्रदान करने में द्विवेदी जी की देन बहुत बड़ी होने पर भी, यह कहना गलत होगा कि उनका यश केवल भाषा निर्माण के क्षेत्र में ही या उसी के कारण है। आधुनिक हिंदी भाषा के सर्वश्रेष्ठ निर्माता होने के अतिरिक्त उनकी शैली भी बहुत ही हृदयग्राही तथा विषय के अनुसार अपने को बदल सकने की अद्भुत सामर्थ्य रखनेवाली है। उन्होंने मुख्यतः अनुवाद या संकलन ही किये, किंतु ये अनुवाद तथा संकलन बड़े काम के थे, फिर इन अनुवादों के कारण हिंदी निबंधों की अंतर्गत वस्तु की अभिवृद्धि और उन्नति हुई। द्विवेदी जी को कदाचित् उपन्यासकार कहना उचित न होगा, किंतु अपने बहुत से निबंधों में वे कहानी कहने की अद्भुत सामर्थ्य का प्ररिचय दे जाते हैं। यदि पहले के लेखकों ने हल चला कर खड़ी बोली की जमीन से कंकड़-पत्थर निकाल कर अलग किये, उसे बहुत कुछ समतल किया, तो द्विवेदी जी को यह गौरव प्राप्त है कि उन्होंने अपनी रचनाओं तथा प्रेरणा से जमीन में खाद डाल कर उसे इस लायक बनाया कि उसमें ऐसे बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो सकें, जैसे प्रेमचंद जी तथा उनके अन्य समसामयिक थे।

'सरस्वती' के द्वारा कहानी साहित्य की बहुत उन्नति हुई। लाला पार्वती नंदन और बंगमहिला ने बहुत सी सुंदर कहानियाँ इसमें लिखीं, किंतु ये कहानियाँ बँगला कहानियों के अनुवाद या संकलन मात्र थे। कई बार अनूदित कहानी को स्थानीय रँग देने की चेष्टा इतनी सफल हुई कि वह बिल्कुल नयी

कहानी हो गयी। १६०७ की मई की 'सरस्वती' में बंगमहिला लिखित 'दुलाई वाली' नामक जो कहानी प्रकाशित हुई थी, उसमें स्थानीय रंग तथा यथार्थवादी चित्रण इतनी सफलता के साथ मौजूद था कि वह इस तरह की सर्वप्रथम रचना थी। अब हिंदी के कहानी लेखकों के पैर धीरे-धीरे वास्तविक जमीन पर आ रहे हैं। सरस्वती के अतिरिक्त 'इंदु', 'गृहलक्ष्मी' आदि पत्रिकाओं के द्वारा कहानियों का अच्छा विकास हुआ। १६११ में 'इंदु' पत्रिका में जयशंकर प्रसाद लिखित 'ग्राम' नामक कहानी छपी। इसी प्रकार १६१२ के अप्रैल में उनका 'रसिया बालम' छपा। प्रसाद जी की कहानियों में कहानी की कला के पैरों को जमीन पर जरूर रखा गया था, किंतु उसमें पंख लगे होने के कारण वह थोड़ी देर के लिए जमीन पर रुक कर उड़ान भरने लगती थी, और यह उड़ान प्राचीन युगों की ओर होती थी। फिर भी मौलिक होने के कारण उनकी कहानियों की विशेष मर्यादा प्राप्त है। अन्य लेखकों में जिज्जाजी, राजा राधिकारमणसिंह, पंडित विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक, पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पंडित ज्वाला-दत्त शर्मा तथा श्री चतुर सेन शास्त्री आदि लेखकों का इसी युग में उदय हो रहा था। इन्हीं लेखकों के बीच हिंदी साहित्य के गगन के एक कोने में एक ज्योतिष्क का उदय हो रहा था। उसके प्रथम उदय को किसी ने अभिनंदित नहीं किया। वह अपने लिए मार्ग काट कर अग्रसर हो रहा था, इस ज्योतिष्क का नाम प्रेमचंद था। किंतु इसके पहले कि हम इनके विषय में कुछ लिखें, हम देखेंगे कि प्रत्यक्ष उपन्यास तथा कहानियों के अतिरिक्त किन सूत्रों तथा उत्सों से उपन्यास तथा कहानी कला अनुप्रेरणा प्राप्त कर रही थी।

अनुवाद-साहित्य : हम अब तक जिन मौलिक या अर्द्ध-मौलिक उपन्यासों को गिना चुके हैं, उनके अतिरिक्त बँगला, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं से अनूदित उपन्यास साहित्य का भी हिंदी उपन्यास रचना पर बहुत भारी प्रभाव पड़ा। इन दिनों हिंदी का उपन्यास जगत विशेष कर बँगला के अनुवादों से पट सा गया। अनुवाद को लोग जितनी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, सचमुच अनुवाद उतने खराब नहीं कहे जा सकते। सच बात तो यह है कि पाठकों की दृष्टि से तीसरे दर्जे की मौलिक रचना से अव्वल दर्जे की पुस्तकों का अनुवाद कहीं अधिक रोचक और लाभजनक हो सकता है। साहित्य के क्षेत्र में संकीर्ण जातीयता का दृष्टिकोण एक हद तक ही मार्जनीय है। बंकिम, रमेश,

रवींद्रनाथ, शरत् के उपन्यासों के अनुवादों ने हिंदी की मौलिक उपन्यास रचना कला की अभिवृद्धि तथा विकास में कितना बड़ा हिस्सा अदा किया है, इसे अभी ढंग से कूता नहीं गया है, किन्तु बिना किसी प्रतिवाद के भय के इतना तो कहा ही जा सकता है कि मराठी और बँगला, विशेषकर बँगला के उपन्यासों ने हिंदी के उपन्यास लेखकों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया, जिसने उन्हें बहुत प्रभावित किया।

बँगला में हिंदी से पहले उपन्यास रचना की कला में इतनी वृद्धि हुई, यह कोई आकस्मिक बात नहीं है, न इससे बंगालियों की कोई विशेष प्रतिभा ही सूचित होती है; क्योंकि साफ बात तो यह है कि पहले बंगाल में अँगरेजी राज्य तथा अँगरेजी सभ्यता और साहित्य आया, इसलिए इस खमीर के कारण बंगाल में आधुनिक साहित्य का पहले उदय हुआ। हिंदी के उपन्यासकारों ने उर्दू तथा अँगरेजी से भी सीखा है। श्री शांतिप्रिय जी ने लिखा है कि पहले हम अलिफलैला के देश में थे, बँगला के सम्पर्क से हम अपनी माँ, बहनों, भाई-बंधुओं के समाज में आये। उर्दू और बँगला का प्रभाव केवल प्रारंभिक प्रेरणा न रह कर हमारे कथासाहित्य को कुछ प्रौढ़ विकास भी दे गया है। इस प्रौढ़ विकास के दो यशस्वी कलाकार हुए—प्रेमचंद और प्रसाद। प्रेमचंद की टकसाली भाषा उर्दू की देन है, प्रसाद की भावप्रवण शैली बँगला की देन। इस संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि शांतिप्रिय जी यह भी मानते हैं कि देवकीनंदन खत्री केवल उर्दू से प्रभावित थे, तो किशोरीलाल गोस्वामी बँगला से भी प्रभावित थे। भारतेंदु युग से ही बँगला का प्रभाव पड़ने लगा था, उर्दू का प्रभाव पहले ही से था। विशेषकर प्रारंभिक युग में अँगरेजी साहित्य का हिंदी साहित्य पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा, 'नवीन साहित्यिक रूपों के लिए नमूने और आदर्श उपस्थित हुए, नये विषयों की ओर संकेत मिला, हमारे शब्द भंडार की वृद्धि हुई। समालोचना के लिए नये-नये सिद्धान्त मिले, और कला की भावना को प्रोत्साहन मिला,' किंतु इसके साथ ही बँगला साहित्य का हिंदी पर जो प्रभाव पड़ा, उसका स्वरूप क्या था, इसे डाक्टर लाल ने बहुत अच्छी तरह इन शब्दों में बताया है—

'अँगरेजी साहित्य के अतिरिक्त हिंदी पर बँगला साहित्य का भी विशेष ऋण है। वास्तव में यह ऋण भी अँगरेजी साहित्य का ही है, क्योंकि बँगला साहित्य ही अँगरेजी साहित्य से प्रभावित हुआ। अंतर केवल इतना ही है कि यह ऋण अँगरेजी

सिक्कों में नहीं वरन् भारतीय सिक्कों में था, जिसके कारण हमें विनिमय की झंझटों से छुटकारा मिल गया। विदेशी भावों तथा विचारों के अनुकरण के लिए उन विचारों का पूर्णरूप से मनोनिवेश* (assimilation) और अपने वातावरण में रूपांतरित करना अत्यावश्यक होता है। बँगला साहित्य से हमें पाश्चात्य विचार मनोनिवेशित और रूपांतरित हो कर मिले। द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों में हमें पाश्चात्य नाटकीय विधानों का भारतीय वातावरण के अनुरूप रूपांतर मिला, रवींद्रनाथ ठाकुर के गीति-काव्यों में पाश्चात्य काव्यकला का समावेश था, और बंकिमचंद्र के उपन्यासों में स्काट की कला भारतीय भूषा में मिली। इससे हिंदी के लिए अनुकरण का मार्ग बहुत ही सुगम हो गया, और हमारे लेखक बँगला का अनुकरण और अनुसरण करने लगे।'

हम डाक्टर लाल के मत से जहाँ तक कि उन्होंने साधारण तौर पर बँगला साहित्य के अनुकरण का जिक्र किया है, पूर्णरूप से सहमत हैं, किंतु हम चीजों को इससे भी गहराई तक ले जाना चाहते हैं। बँगला में जो अँगरेजी साहित्य की छाप पड़ी, हम यह नहीं मानते कि वह संपूर्ण रूप से अनुकरण और अनुसरण ही था, विशेषकर जिन बँगला लेखकों का नाम डाक्टर लाल ने गिनाया है, उनके संबंध में यह मानना कठिन है कि उन्होंने केवल अँगरेजी साहित्य का अनुसरण और अनुकरण ही किया। अवश्य जहाँ तक बंकिमचंद और माइकेल मधुसूदन का संबंध है (मधुसूदन का नाम डाक्टर लाल की सूची में नहीं है, किंतु बँगला साहित्य के इतिहास में उनका दान बहुत बड़ा होने के कारण, साथ ही आचार्य द्विवेदी ने उनके काव्य का अनुवाद किया था, इसलिए हम उनको इस आलोचना में घसीट लाये), उन्होंने पाश्चात्य (स्मरण रहे केवल अँगरेजी नहीं, मधुसूदन ने तो अँगरेजी साहित्य के साथ-साथ अन्य यूरोपीय साहित्यों से बहुत प्रेरणा ली, यह सभी विशेषज्ञ जानते हैं) साहित्य का बहुत कुछ अनुकरण और अनुसरण किया, किंतु साथ ही यह मानना पड़ेगा

*डाक्टर लाल ने अपनी बहुतथ्यपूर्ण पुस्तक में कई ऐसे भद्दे शब्दों का निर्माण किया है जो बिल्कुल अँगरेजी के भाव को व्यक्त नहीं करते। मनोनिवेश से बल्कि अच्छा शब्द परिपाक या सदृशीकरण होता। इसी प्रकार 'लोकल कलर' को वे स्थान-चलन लिखते हैं !!!

कि उन्होंने इस सफलता के साथ पाश्चात्य साहित्यिक आदर्शों को अपना लिया, और अपना कर उसे भारतीय जमीन पर पनपाया कि वह स्वयं एक महान् प्रतिभा का द्योतक है। फिर जहाँ तक रवींद्रनाथ और द्विजेंद्रलाल का संबंध है, डाक्टर लाल का यह कहना बिलकुल हास्यास्पद है कि उन्होंने पाश्चात्य साहित्य को एक भारतीय लिबास भर पहना कर पेश किया है। अवांतर होते हुए भी हमें इस विषय पर इसलिए लिखना पड़ा कि बँगला साहित्य के ऋण को कूतते समय हम केवल इतना ही कह दें कि हमें बँगला के जरिये से भारतीय सिक्कों में अँगरेजी साहित्य मिला, तो यह गलत होगा। हमें यह भी मिला, किंतु इससे अधिक भी मिला। बँगला साहित्य के जरिये से हमारा संबंध अँगरेजी साहित्य से तो हुआ ही, किंतु साथ ही नवीन बँगला साहित्य से भी हुआ। नवीन बँगला साहित्य की जड़ें केवल स्काट, बायरन, शेक्सपियर आदि में ही नहीं थीं, उसकी जड़ें विद्यापति, चंडीदास, काशीराम, कृत्तिवास, भारतचंद्र, रामप्रसाद आदि में भी थीं। इस प्रकार नवीन बँगला साहित्य केवल भारतीय जामे में अँगरेजी साहित्य नहीं था बल्कि वह एक संपूर्ण रूप से स्वतंत्र साहित्य था। बँगला का जो लेखक जितना ही प्रतिभाशाली हुआ, वह उसी हद तक बँगाल की जमीन में अधिकतर सुप्रतिष्ठित तथा अँगरेजी साहित्य से उतना ही स्वतंत्र हुआ। रवींद्र और द्विजेंद्र में यह स्वतंत्रता अपनी पूर्णावस्था में पहुँच चुकी थी। कीट्स, शेली, बायरन, शेक्सपियर को छोड़ कर रवींद्रनाथ अकल्पनीय हैं, यह बात सही है, किंतु रवींद्रनाथ इन सबसे उतने ही स्वतंत्र हैं, जितने उदाहरणार्थ लीजिए कीट्स या शेली शेक्सपियर से या कालिदास से स्वतंत्र हैं। इस प्रसंग में इससे अधिक आलोचना करने की गुंजाइश नहीं है।

बँगला कथासाहित्य पर प्रेमचंद : बँगला कथा साहित्य का विशेषकर प्रेमचंद पर क्या प्रभाव पड़ा, यह एक बहुत ही प्रासंगिक प्रश्न है। दोनों भाषाओं के साहित्य के विशेषज्ञों को चाहिए कि इस संबंध में गवेषणा करें। भारतीय साहित्यों में आदान-प्रदान का क्या स्वरूप, सीमा तथा उसका क्या परिमाण है, यह एक विचार्य विषय है। सौभाग्य से हमें यह ज्ञात है कि स्वयं प्रेमचंद जी बँगला साहित्य के संबंध में क्या सोचते थे। जैनेंद्र कुमार ने उनके साथ कुछ वार्तालाप किये थे, जिनका विवरण हमें प्राप्त है। इन वार्तालापों के दौरान में जैनेंद्र जी ने प्रेमचंद जी से पूछा था—बँगला साहित्य हृदय को अधिक छूता है,

इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचंद ने कहा — सहमत तो हूँ, कारण उनमें स्त्री भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।

सुनकर जैनेंद्र ने उनकी ओर देखा, पूछा — स्त्रीत्व है, इसीसे वह हृदय को अधिक छूता है ?

प्रेमचंद बोले — हाँ, तो। वह जगह-जगह reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए दोनों चाहिए।

कहते-कहते उनकी आँखें जैनेंद्र से पार कहीं देखने लगी थीं, उस समय उन आँखों की सुर्खी एक दम गायब हो कर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गयी थी। मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी थी।....बोले — जैनेंद्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेंद्र, मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए।

कह कर प्रेमचंद जैसे कन्या की भाँति लज्जित हो उठे। उनकी मूँछें इतनी घनी थीं कि बेहद.....। बोले — जैनेंद्र, रवींद्र, शरत दोनों महान् हैं। पर हिंदी के लिए क्या वही रास्ता है। शायद नहीं। हिंदी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है। (हंस, प्रेमचंद अंक, मई १९३७, पृ० ७७८)।

इस कथोपकथन से यह तो ज्ञात होता ही है कि स्वयं प्रेमचंद जी बँगला साहित्य से संपूर्णरूप से स्वतंत्रमार्ग में चलना चाहते थे, रहा यह कि कहाँ तक वे इसमें सफल हुए, इसका निर्णय हम यथास्थान करेंगे। इतना तो उन्होंने खुद ही स्वीकार किया है कि रवींद्रनाथ के गल्पों से उन्होंने गल्प लिखने की अनुप्रेरणा ली थी। (जीवन सार)।

निबंध और उपन्यास : हमने इन पृष्ठों में हिंदी उपन्यास साहित्य का जो विकास दिखलाया है, उसमें अपने को उपन्यासों तक ही सीमित रखा है, किंतु हिंदी के उपन्यास साहित्य के विकास के इतिहास को जब हम और गह-राई के साथ देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि निबंध तथा नाटक रचना से

उपन्यास रचना की कला को प्रत्यक्ष रूप से सहायता मिली है। भारतेंदु युग में निबंध रचना की धूम रही। उन दिनों जो नयी-नयी पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही थीं उनमें निबंधों की खूब खपत थी। डाक्टर रामविलास ने तो यहाँ तक लिखा है कि जितनी सफलता भारतेंदु युग के लेखकों को निबंध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। निबंधों के जरिये से लेखक बिल्कुल पाठक के सामने आकर उससे खुल कर सब दुख-सुख की बातें कर सकता था। उस युग में निबंधों में लेखक पाठक के बिल्कुल हृदय के करीब आने की कोशिश करता था, बाद के युग में जैसे निबंध लेखक और पाठक कुछ दूरी रख कर बात करने लगे, वैसा उस युग में नहीं था। उदाहरणार्थ प्रताप नारायण मिश्र (१८५३) का अपने पाठक से कहना — 'ले भला बतलाइये तो आप क्या हैं' निबंध को छोड़ कर साहित्य के और किसी अंग में संभव नहीं था। उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कह कर संतोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का संबंध स्थापित करना चाहते थे, और एक मित्र की भाँति उससे घुल-मिल कर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे। द्विवेदी युग में लेखकों और पाठकों दोनों ही में प्रतिष्ठा की भावना बहुत अधिक आ गयी। लेखक का पाठक से पूछना 'ले भला बतलाइये तो आप क्या हैं'' स्वप्न में भी प्रायः असंभव हो गया।' (भा० प्र०, पृ० ८६)।

इन निबन्धों की एक विशेषता यह भी थी कि एडिसन के स्पेक्टेटर के आदर्श पर ये कहानी से मिलते-जुलते ढंग पर लिखे जाते थे। राजा शिव-प्रसाद लिखित 'राजा भोज का सपना' इसी प्रकार की एक रचना है। इसमें कथाच्छल से अपने वक्तव्य को स्पष्ट किया गया है। राजा भोज यह समझते हैं कि असली धर्म का तत्त्व मंदिर बनाना या प्रदर्शन के लिए दान आदि देना नहीं हैं, कैसे उनको यह समझ आती है, इसी के वर्णन के दौरान में लेखक अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हैं। भारतेंदु ने भी इसी प्रकार 'एक अदभुत अपूर्व स्वप्न' नामक एक निबंध लिखा, इसका भी उद्देश्य समाज-सुधार था। इसमें कहीं तो हास्यरस है, और कहीं गंभीर बातें कही गयीं हैं। पुलिस, कचहरी, शिक्षा-प्रणाली सभी पर फबतियाँ कसी गयी हैं।

भारतेंदु ने 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' नामक एक अत्यंत रोचक निबंध भी लिखा था, जिसमें यह दिखलाया जाता है कि 'स्वामी दयानंद

और केशवचंद्र सेन दोनों ही स्वर्ग जाते हैं, परंतु अनेक स्वर्गवासी सज्जन जो इनके नरक जाने से अधिक प्रसन्न होते, इनके स्वर्ग में प्रवेश पाने से बुरी तरह चिढ़ जाते हैं। कुछ लोग इनके पक्ष में भी हैं जिससे स्वर्ग में कंजरवेटिव और लिबरल दो दल हो जाते हैं। कंजरवेटिव लोगों में वे ऋषि-मुनि हैं, जो यज्ञ कर के या तपस्या में अपना तन सुखा कर स्वर्ग पहुँचे थे। लिबरल दल में वे लोग हैं जिन्होंने अपने आत्मा की उन्नति से या भक्ति से या सामाजिक कार्यों से स्वर्ग लाभ किया था। भारतेंदु की सहानुभूति इन्हीं लिबरल लोगों के साथ है।" (भा० प्र०, पृ० १०६)।

इसमें जो भक्तिवालों को भी लिबरल दल में मान लिया गया है इससे भक्ति मार्गवालों के प्रति भारतेंदु का पक्षपात सूचित होता है, क्योंकि यज्ञ करके या तपस्या में तन सुखा कर स्वर्ग पहुँचने में और भक्ति द्वारा स्वर्ग पहुँचने में कोई विशेष भौतिक अंतर है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। डाक्टर रामविलास का इस बात का स्पष्टीकरण न करने पर भी वे इस पक्षपात से परिचित हैं, इसमें संदेह नहीं क्योंकि वे लिखते हैं—"भारतेंदु कुछ विशेष कारणों से वैष्णव धर्म को उदार और रैडिकल मानते थे। हिंदू धर्म में कबीर, दादू, नानक आदि जो विद्रोही उत्पन्न हुए थे, उनको वह वैष्णवता का ही प्रतिनिधि मानते थे। उनके निबंध 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में इस सुधारक परंपरा का विशेष विवेचन किया गया है। इन संतों का हिंदू समाज पर जो प्रभाव पड़ा है उसी को लक्ष्य कर के उन्होंने लिखा है कि वैष्णव मत भारतवर्ष की हड्डी तक में मिल गया है।" वैष्णवता विलायत यात्रा में बाधक नहीं है। साथ ही वे यह भी साफ कहने से नहीं चूकते कि 'जब पेट भर खाने को ही न मिलेगा, तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा। इससे जीवमात्र को सहज धर्म उदर पूरण पर ध्यान देना चाहिए।' 'वैष्णवता और भारतवर्ष' नामक निबंध प्रत्यक्ष-रूप से कहानी कला से संबद्ध नहीं है, इसलिए इससे अधिक इस पर आलोचना करना उचित न होगा, किंतु विचार सभा वाला निंबध आंशिक रूप से निबंध है, और आंशिक रूप से एक कहानी है।

'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' नामक निबंध का रुख प्रगतिशील है, इसमें संदेह नहीं। इस निबंध में जमींदारवर्ग के प्रति भी विरोध प्रकट किया गया है। यह बताया गया है कि स्वर्ग में कंजरवेटिव दल का जोर इसलिए था कि स्वर्ग के जमींदार इंद्र, गणेश आदि उनके साथ मिले हुए थे, क्योंकि बंगाल के जमींदारों की भाँति उदार लोगों की बढ़ती से बेचारों को

विविध और सर्वोपरि वलि भाग न मिलने का डर था।' इस विचार सभा में भाग लेने के लिए हिंदू, मुसलमानी स्वर्ग तथा ईसाई स्वर्ग के भी प्रतिनिधि आये थे, इस प्रकार इस निबंध में भिन्न-भिन्न स्वर्गों की और इसलिए भिन्न-भिन्न संप्रदायों की हँसी उड़ायी गयी है। इस लेख में विधवा विवाह का समर्थन किया गया है, विवाह-संबंधी कुप्रथाओं की हँसी उड़ायी गयी है, धर्म परिवर्तन को महत्त्व नहीं दिया गया। विचार सभा की रिपोर्ट अंत में परमेश्वर के निकट भेज दी गयी।

केशवप्रसादसिंह ने 'आपत्तियों का पहाड़' नामक एक निबंध इन्हीं सपनों के अनुकरण पर लिखा था : 'लेखक सुकरात की एक उक्ति पर विचार करते हुए सो जाता है, और उसे एक बहुत ही रोचक स्वप्न दिखायी पड़ता है।'

एक स्थान पर सभी लोग अपनी आपत्तियों का बंडल बाँध कर फेंक रहे हैं, और इस प्रकार आपत्तियों का पहाड़ लग जाता है, फिर उस पहाड़ से सब लोग फेंकी हुई आपत्तियों के स्थान पर अपनी इच्छानुसार आपत्ति चुन ले रहे हैं। नयी आपत्तियों का वर्णन करते-करते लेखक की नींद खुल जाती है, और आपत्तियों का पहाड़ तथा अन्य सभी लोगों की भी भीड़ अदृश्य हो जाती है.....। इस निबंध के अनुकरण में वेंकटेश नारायण तिवारी ने 'एक अशरफी की आत्म कहानी' (सरस्वती अक्टूबर १६०६), लक्ष्मीधर बाजपेयी ने 'विद्यारण्य' (सरस्वती अप्रैल १६०७) और लल्लीप्रसाद पांडे ने 'कविता का दरबार' (सरस्वती फरवरी १६०८) लिखा। (आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३५०)।

गोस्वामी लिखित 'यमलोक की यात्रा' में उस युग की घटनाओं, आंदोलनों आदि का उल्लेख है। "पच्चीस वर्ष की अवस्था में ज्वर से स्वप्नद्रष्टा की मृत्यु होने लगती है, और नादिरशाह की सूरत के यमदूत उसे लेने आते हैं। उसे इस बात से विशेष खेद होता है कि विधवा विवाह को प्रचलित होते अभी नहीं देखा, 'न बिलायत जाने की रोक उठी, न जाति-पाँति का झगड़ा मिटा।' इन शब्दों से लेखक का सामाजिक ध्येय स्पष्ट है और 'न हमारे जीते जी प्रेस एक्ट उठा, न लाइसेन्स टैक्स का काला मुँह हुआ। प्रेस एक्ट से राधाचरण गोस्वामी को विशेष अप्रसन्नता थी। उस पर उन्होंने अनेक स्थल पर छींटे कसे हैं। काबुल की लड़ाई का परिणाम देखे बिना ही दुनिया से चल देना पड़ा। जब वैतरणी पहुँचे तब यमराज के प्रधान का सामना करना पड़ा। बाकायदा उनकी कचहरी लगी हुई है। प्रधान जी

के सिर पर मारवाड़ी पगड़ी है। माथे पर रामफटाका तिलक लगाये हैं, और उनके चारों ओर बड़ी-बड़ी बहियाँ खोले उनके गुमाश्ते लोग बैठे हैं। मानों यमराज के प्रधान की कचहरी न हो कर किसी मारवाड़ी सेठ की ही दूकान हो यानी जब इहलोक में मारवाड़ी सेठ की कोठी देखो तो परलोक में यमराज की कचहरी की कल्पना कर लो। वैतरणी पार करने के समय प्रधान ने पूछा—गोदान किया है ? उत्तर दिया—गोदान लिये हैं, किन्तु किया एक नहीं। इस पर प्रधान जी ने उन्हें निकाल देने की आज्ञा दी। तब इन्होंने विनती की—'साहेब प्रथम प्रश्न सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या ? यदि गौ की पूँछ पकड़ कर पार उतर जाते हैं, तो क्या बैल से नहीं उतर सकते ? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की ?' बात यह थी, कि इन्होंने मजिस्ट्रेट साहेब की मेम को कुत्ता भेंट किया था, यह सोच कर कि जब गौ यहाँ आ जाती है, तो क्या कुत्ता नहीं आवेगा, इन्होंने सीटी बजायी और तुरन्त रतन नाम का कुत्ता कचहरी के लोगों को हटाता हुआ इनके पास आ पहुँचा। प्रधान ने इस पर इन्हें वैतरणी में ढकेल देने की आज्ञा दी। 'मैंने जी में सोचा यहाँ अंधेर नगरी और हिंदुस्तानी घिसघिस है, विवेक-विचार कुछ नहीं है।' इसलिए रतन कुत्ते को पुकार कर झम से वैतरणी में कूद पड़े, और उसकी पूँछ पकड़े तैरते हुए नदी पार कर गये।" (आ० हि० सा० वि०, पृ० १०२)।

यह स्पष्ट है कि इस यात्रा के विवरण को आसानी से कथासाहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। अवश्य यह भी साथ ही दृष्टव्य है कि लेखक की यह कहानी उद्देश्यमूलक है, यह कहानी मनोरंजन के लिए नहीं कही गयी है, बल्कि उसका उद्देश्य समाज की विभिन्न प्रथाओं पर ताने कसना है, और सुनिए—'यमपुर का बाजार जयपुर सा, गलियाँ बनारस की सी, इमारतें दिल्ली और आगरे की सी हैं। भूख लगी थी, हलवाई की दुकान में इमरतियों का थाल देख कर लालच लग आया। सोचा फिर तो मर सकते नहीं, क्यों न हाथ साफ किया जाय, इमरतियाँ लेकर भागे। एक साधु बैकुंठ गये थे, परंतु चिलम-तंबाकू न पा कर बहुत निराश हुए। यमपुर में इन सबका प्रबंध है। धर्मराज की कचहरी के बाहर तिलंगे सिपाही भांग-तंबाकू को पूछते हैं, और उन्हीं में से एक बूढ़ा यमपुर का महत्त्व बताते हुए कहता है—

साधु गयल बैकुंठ के, मन ही मन पछताय।
इहाँ रहके का करबो, इहाँ चिलम तम्बाकू नाय॥

गोरे कालों का भेद वहाँ भी था। 'गोरे जीव के आगे मेज, कुर्सी, टेबुल आदि लगी हुई, और चाय, कॉफी, बिस्कुट आदि धरा था। काले के वास्ते टाट और टूटी खाट, और पुराना-धुराना हुक्का और कुंडे में रोटी।' (आ० हि० सा० वि०, पृ० १०२)।

स्पष्ट है कि ऐसे साहित्य का कहानी के साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

नाटक और उपन्यास : नाटक को यदि दृश्यकाव्य माना जाय तो हिंदी नाटकों की उत्पत्ति उतनी ही प्राचीन है जितनी हिंदी भाषा है। सभी देशों में साहित्यिक नाटकों की उत्पत्ति उपन्यासों से पहले हुई। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस युग में जनता में साक्षरता कम थी, और पुस्तकों को छापने तथा वितरण करने की वैसी सुविधा होने की बात तो दूर रही जैसी आज है, जिस युग में जनता में अभिनीत दृश्यकाव्यों को लिखने की भी प्रथा नहीं थी, जिस युग में नाटक (यदि उन्हें नाटक कहा जाय तो) उसी प्रकार से प्रचारित होते थे, जिस प्रकार से किसी युग में वेदों के मंत्र प्रचारित होते थे, उस युग में ये अलिखित नाटक लेखक बल्कि लेखकों और जनता के बीच संस्पर्श के बहुत बड़े साधन होते थे। स्वाभाविक रूप से ऐसे नाटक जितनी बार अभिनीत होते थे, उतनी ही बार उनका रूप बदल जाता था, और स्थानीय कलाकार या कलाकारों की छाप उस पर पड़ती जाती थी। रामलीला, रासलीला आदि के रूप में इस प्रकार के नाटक बहुत प्राचीन काल से चलते आ रहे हैं। इस प्रकार की नाट्य कला धार्मिक रंग में रँगी हुई थी। जब धर्म यहाँ के सारे सार्वजनिक जीवन का केंद्र बिंदु था, तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इन नाटकों के जरिये से लोगों को यदि अपना सही-सही इतिहास नहीं तो धार्मिक इतिहास का बोध होता था, साथ ही उनकी कलात्मक प्रवृत्तियाँ भी चरितार्थ होती थीं। रामलीला को ही लिया जाय, इसमें के नायक नायिका खलनायक तथा अन्य सभी पात्र ऐसे होते थे, जिनसे लोग माँ का दूध पीते-पीते परिचय प्राप्त कर लेते थे। उनकी कथा को भी लोग अच्छी तरह जानते थे। राम से बढ़ कर हिंदू जनता के लिए कौन नायक हो सकता था? इसी प्रकार रावण के रूप में एक ऐसा खलनायक था, जिससे लोग परिचय-मात्र ही से घृणा करने लगते थे।

दुख है कि अभी इस बात पर अच्छी तरह खोज नहीं की गयी कि राम-लीला का इतिहास क्या है, कैसे उसका प्रारंभ हुआ, तथा किन-किन कारणों से उसका विकास हुआ। संस्कृत नाटकों के इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि बहुत पहले ही भारतवर्ष में नाटकों की उत्पत्ति हो चुकी थी। कालिदास से भी पहले भास, सुबंधु, शूद्रक, अश्वघोष तथा अन्य नाटककारों का पता चलता है। इसलिए जब हिंदी भाषा की उत्पत्ति हुई होगी, और लोगों में इसी नवीन भाषा में दृश्यकाव्यों के अभिनय के रिवाज का विकास हुआ होगा; उसमें इन पूर्वरचित संस्कृत तथा प्राकृत नाटकों का कोई भी प्रभाव न रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन संस्कृत प्राकृत नाटकों का हिंदी दृश्यकाव्यों पर प्रभाव पड़ा होगा। जो कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की ऐश्वर्यशाली थाती के अधिकारी होते हुए भी हिंदी भाषा इस संबंध में कोई विशेष उन्नति नहीं कर सकी। ऐसा ज्ञात होता है कि जनता की तृप्ति तो रामलीला, रासलीला आदि धार्मिक रंग में रँगे हुए अभिनयों से होती जाती थी, और साहित्य में इसलिए नाटक लिखने की आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई। पढ़ने के लिए लिखे जानेवाले नाटक उस युग में अकल्पनीय थे। इस प्रकार नाटक का केवल जनतावाला रूप रह गया था, और चूँकि वह रूप भी धर्म के ढाँचे के अंदर घूमता रहा इसलिए उसका विकास असाहित्यिक रूप में ही हुआ। इन युगों के लेखक तथा साहित्यिक अपनी वाणी को कविता के जरिये से ही जनता तक पहुँचाते रहे, अवश्य इस संबंध में यह भी स्मरण रहे कि इस युग के जो प्रतिष्ठित साहित्यिक, लेखक या कवि थे, वे साधारणतः इस बात की कोई जरूरत ही नहीं समझते थे कि जनता तक पहुँचा जाय, या जनता के लिए लिखा जाय। वे तो अपने प्रभुओं के लिए लिखते थे, यदि उनकी चीज जनता तक गयी तो अच्छी बात है, नहीं तो इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती थी।

चूँकि इन युगों में दृश्यकाव्यों का अभिनय जनता के लिए होता था, बड़े आदमियों को उच्च तथा प्रतिष्ठित कवियों को उनसे कोई संबंध नहीं होता था, इसीलिए उनके संबंध में और भी अधिक खोज की जरूरत है, क्योंकि उन दृश्यकाव्यों की धमनियों में जो रक्त प्रवाहित होता था, उनमें हम अत्यंत स्पष्ट रूप से जनता के हृदय की धड़कन को सुन सकते हैं। केवल इतना कह

देने से ही एक इतिहासकार का कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता कि इतने सौ वर्षों तक दृश्यकाव्य रासलीला या रामलीला के दायरे में परिपुष्ट होते रहे, हमें उसके ब्योरे में जा कर यह भी देखना पड़ेगा कि एक ही रासलीला या रामलीला का भिन्न-भिन्न युग में क्या स्वरूप रहा, उन्नततर उत्पादन-पद्धति, अभिव्यक्ति के उन्नततर तरीकों तथा यांत्रिक उन्नति का भिन्न-भिन्न युगों में क्या-क्या प्रभाव पड़ता गया, यह भी हमें जानना पड़ेगा। इस प्रसंग में इससे अधिक लिखना उचित न होगा। सारांश यह है कि यह युग (संभव है यह युग सैकड़ों वर्षों का हो) नाटकों का इतिहास-पूर्व युग है। इस युग में जनता का नाटक से प्रत्येक अर्थ में सीधा संपर्क था।

जब हम रामलीला; रासलीलामूलक जन नाटक की तकनीक की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि—

"साधारणतः रामलीला जनता के सामने केवल संवादों के रूप में आती है। इसमें रंगमंच तथा अन्य नाटकीय उपकरणों का एकांत अभाव है। इसका कथानक इतना विस्तृत है कि नाटकों के सीमित स्थान, समय और कार्य से मेल नहीं खाता। यद्यपि उन संवादों में काव्यत्व के साथ ही साथ चरित्र गांभीर्य भी विशेष मात्रा में है, परंतु जनता वहाँ काव्य और चरित्र की आलोचना करना नहीं जानती। उसके लिए तो जितना आनंद परशुराम और लक्ष्मण तथा रावण और अंगद के संवाद में मिलता है, उतना भरत के राजत्याग के समय लंबे भाषण तथा राम और सीता के सुंदर चरित्र-चित्रण में नहीं मिलता। वास्तव में रामलीला केवल धार्मिक लीला के रूप में ही रह गयी, उसमें नाटकत्व का विकास बिल्कुल नहीं हुआ।" (आ० हि० सा० वि०, पृ० १६६)।

धार्मिक दायरे के अंदर रहते हुए, इस नाटक कला का विकास एक हद तक ही हो सकता था। बात यह है कि पुराणों की कहानियों में लोग विश्वास रखते थे। वे उनके निकट वेद से कम पवित्र नहीं थीं। कितना भी बड़ा कलाकार हो, उसके लिए यह संभव नहीं था कि वह पुराण वर्णित कहानी को अधिक तोड़े-मरोड़े। भवभूति की तरह प्रतिभावान नाटककार के लिए यह संभव नहीं था कि वे रामायण की कथा को अधिक परिवर्तित करें। उन्होंने बहुत किया तो यह किया कि जहाँ पर रामायण की कहानी खतम हो जाती थी, उसे वहाँ खतम होने न दे कर उसके आगे ले गये, और बाद की परिणितियाँ दिख-

लायीं। इस प्रकार जिस धार्मिक संरक्षण में हिंदी का प्रागैतिहासिक नाटक पला था, वह उसके लिए एक बेड़ी के रूप में हो गया। इस बेड़ी को तोड़ कर ही नाटक आगे बढ़ सकता था, और यह बेड़ी तोड़ी गयी।

यह दृष्टव्य है कि हिंदी में जब आधुनिक नाटकों का सूत्रपात हुआ, तो जनता के साथ लेखक के आदान-प्रदान के जरिये के रूप में ही उसका आविर्भाव हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र के संबंध में यह लिखा गया है कि उन्होंने 'नाटक लिखने की परंपरा को जन्म ही नहीं दिया, उन्होंने नाटक खेलने की परिपाटी भी आरंभ की, और स्वयं अभिनय कर के लोगों के सामने एक आदर्श स्थापित किया।' भारतेंदु के नाटक बलिया के मेले में खेले गये थे। हम पहले ही बता चुके कि पढ़े जाने के लिए लिखे जानेवाले नाटकों की कल्पना बहुत ही आधुनिक है, और एक हद तक शायद नाट्य कला का विकृत रूप है, किंतु हरिश्चंद्र के युग तक नाटकों के संबंध में यह धारणा न थी। डाक्टर रामविलास ने यह ठीक ही लिखा है कि 'मेलों-ठेलों में नाटक खेलना आज की सभ्यता को अखरता है, परंतु उस समय नाटक जब प्रधानतः जनता तक अपना संदेश पहुँचाने का एक साधन था, ऐसे स्थान नाटक खेलने के लिए उचित समझे जाते थे, जहाँ काफी भीड़ मिल सके।' अभी-अभी हाल में कुछ राजनैतिक दलों ने जो जननाट्य समिति आदि की स्थापना की है, वह कोई नयी चीज नहीं है, यह तो केवल नाटक को उसके पहले के जनता वाले रूप में प्रतिष्ठित करने का एक प्रयत्न मात्र है।

उपन्यास के प्रसंग में नाटक के संबंध में जितना लिखना चाहिए यह कहा जा सकता है कि हम उससे कुछ अधिक लिख गये, किंतु यह बात नहीं। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद एक नाटककार भी हैं, हम इस बात को नहीं भुला सकते। फिर नाटक तो कथासाहित्य का एक प्रधान अंग है, और उपन्यास के पहले नाटक साहित्य की उत्पत्ति होने के कारण और नाटक कथामूलक होने के कारण उपन्यासों पर नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है। हम जब इस युग के हिंदी उपन्यासकारों को देखते हैं तो साथ ही इस बात को बिना देखे नहीं रह सकते कि जिनको हम उपन्यास साहित्य के दादा, परदादा, लकड़दादा के रूप में पहले गिना चुके हैं, वे नाटककार भी थे। बल्कि कई तो नाटककार पहले थे, और उपन्यासकार बाद को।

हिंदी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' के लेखक श्रीनिवासदास ने पहले 'तप्ता संवरण' नामक एक नाटक लिखा था। यह एक पौराणिक नाटक है और इसमें तप्ता और संवरण नामक दो पौराणिक नायक-नायिकाओं का प्रेम दिखलाया गया है। उनका 'संयोगिता स्वयंवर' नामक नाटक ऐतिहासिक है। फिर भी सर्वसम्मति से इनका सबसे अच्छा नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' है। इसी प्रकार अनन्यतम यशस्वी उपन्यासकार राधाचरण गोस्वामी ने दो प्रहसन लिखे, इसका हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं।

आधुनिक साहित्य की उत्पत्ति के प्रथम युग में नाटकों के ही द्वारा लेखक पाठकों तक आसानी से पहुँच सकता था, इसी कारण प्रथम युग में उन्हीं का बोलबाला रहा। हिंदी साहित्य में आधुनिकता के पिता भारतेंदु हरिश्चंद्र प्रधानतः नाटककार थे, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है, भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी विकास का यही क्रम रहा। पहले पुस्तकें कम उपलब्ध थीं, साक्षरता कम थी, इसलिए नाटक अधिक चले; किंतु ज्यों-ज्यों देश में यत्रतत्र छापेखाने खुलते गये, और लोगों में साक्षरता की वृद्धि होती गयी, एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया, जो किताब खरीद कर पढ़ सकता था, किंतु जिसे नाटक देखने के लिए जिस फ़ुरसत की जरूरत थी, वह नहीं थी, तब उपन्यासों का बोलबाला होने लगा। एक दूकानदार के लिए यह संभव था कि वह अपने ग्राहकों की प्रतीक्षा करे, साथ ही साथ उपन्यास की चुस्की भी लेता जाय, इसी प्रकार कम फ़ुरसत वाले साक्षर लोगों के मनोरंजन के लिए उपन्यास एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में हो गया और साहित्य क्षेत्र की दौड़ में उसने नाटक को पीछे छोड़ दिया। फिर भी ये नाटक उपन्यासों पर अपना प्रभाव छोड़ते गये, सच बात तो यह है कि इस प्रभाव के बगैर उपन्यास को उपन्यास होने में बड़ी दिक्कत होती। डाक्टर राम विलास लिखते हैं— 'नाटकों में यथार्थ चित्रण और सामयिक समस्याओं के विवेचन की प्रधानता थी, इन सब बातों को उपन्यास लेखकों ने सहज ही में अपना लिया।' विशेषकर वार्तालाप के जरिये से कथानक की परिपक्वता प्रदान करने की जो प्रथा उपन्यासों में आयी, उस पर मुख्यतः हम नाटकों का प्रभाव देख सकते हैं।

प्रेमचंद की प्रारंभिक रचनाएँ और उन पर उर्दू का प्रभाव

प्रेमचंद पहले उर्दू के लेखक : यों तो हम प्रेमचंद के पहले हिंदी उपन्यास का किस प्रकार विकास हुआ, तथा किन - किन प्रभावों से होकर वह गुजरा, यह दिखा चुके, किंतु प्रेमचंद की कला को समझने के लिए केवल हिंदी उपन्यास के विकास को समझने से काम न चलेगा। स्मरण रहे कि प्रेमचंद पहले उर्दू के लेखक थे और फिर हिंदी में आये। सच बात तो यह है कि उन्होंने बाद को ही चल कर हिंदी का अध्ययन किया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रेमचंद के संबंध में अपने संस्मरण में लिखा है—'मुझे याद है जब प्रेमचंद जी ने हिंदी लिखना शुरू किया तो वे उर्दू की नकल किया करते थे। जब मैं सरस्वती में काम करता था, उनकी एक कहानी की हस्तलिपि (पांडुलिपि) मैंने देखी थी, जिसमें एक वाक्य था—'यह आपका बड़ा आधिक्य है'; उनका मतलब था—'यह आपकी बड़ी ज़्यादती है' यह पढ़ कर मुझे खूब हँसी आयी थी।' (हंस - प्रेमचंद अंक, मई, १९३७, पृ० ८०२)।

प्रेमचंद जी ने 'मेरी पहली रचना' नामक अपने लेख में जो कुछ लिखा था, वह इस संबंध में बहुत प्रासंगिक है। उनकी यह पहली रचना नाटक के रूप में थी, जिसमें उन्होंने अपने मामू साहेब के चमारी प्रेम की खिल्ली उड़ायी थी। (प्रेमचंद एक अध्ययन, पृ० ३)। वे अपने संबंध में लिखते हैं—

'उस समय मेरी उम्र कोई तेरह साल की रही होगी। हिंदी बिल्कुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पंडित रतननाथ सरशार, मिर्जा, रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी, उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी, और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे, और हाथोंहाथ बिकते थे। मैं भी

उनका आशिक था। स्वर्गीय हजरत रियाज़ ने जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं, जिनका हाल में देहांत हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवध पंच' के संपादक स्वर्गीय मौलाना सज्जाद हुसेन ने जो हास्यरस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा या तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी जमाने में पढ़ीं, और पंडित रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं।.....दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवल किशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद और तिलस्मी ग्रन्थ के १७ भाग पढ़े जो उस समय निकल रहे थे। एक-एक भाग बड़े सुंदर रायल आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा और इन १७ भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर २५ भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।'

यह मार्के की बात है कि प्रेमचंद ने पहले पहल एक नाटक लिखने की चेष्टा की। स्मरण रहे कि यह १८९३ का जमाना था, चंद्रकांता अभी प्रकाशित हुई थी, किंतु प्रेमचंद को उसका पता नहीं था, नहीं तो वे इस प्रसंग में उसका उल्लेख अवश्य करते। बहुत बाद को चल कर उन्होंने हिंदी उपन्यास पढ़े। उस युग में हिंदी और उर्दू दोनों में उपन्यासों की कमी थी, इसलिए नाटककार के रूप में प्रेमचंद का साहित्य क्षेत्र में अवतरित होने का प्रयत्न आश्चर्य की बात नहीं है। हमने इसके पहले नाटक के संबंध में जो मंतव्य किये हैं, और नाटक के साथ उपन्यास का जो संबंध दिखलाया है, वह इस घटना से और भी पुष्ट हो जाता है।

हाँ, तो हम यह कह रहे थे कि प्रेमचंद्र की कला के विकास के लिए हमें उर्दू के उपन्यास साहित्य को ढूँढ़ना पड़ेगा। यदि यह कहा जाय कि प्रेमचंद पहले उर्दू के थे, और बाद को वे विविध कारणों से हिंदी की ओर झुके तो यह अत्युक्ति न होगी। प्रेमचंद के मन में हिंदी उर्दू का पक्षपात बिल्कुल नहीं था। उनके लिए दोनों भाषाओं में कोई भिन्नता नहीं थी। जामिया मिल्लिया के मौलाना मुहम्मद आकिल ने प्रेमचंद के संबंध में लिखा है कि 'प्रेमचंद जी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतकाद नहीं है,

पूजा-पाठ और मंदिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग है। बाज़ लोगों की तबीयत तो मजहबी होती है, बाज लोगों की लामजहबी। मैं मजहबी तबीयत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मजहब की पाबंदी को बिलकुल गँवारा नहीं करती। उन्होंने कहा कि मेरी कल्चर और तर्जे मुआशरत भी मिला-जुला है, बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहजीब का असर हिंदुओं की तहजीब से ज्यादा पड़ा है। मैंने मकतब में मियाँ जी से फ़ारसी, उर्दू पढ़ी। हिंदी से बहुत पहले मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया। हिंदी ज़बान मैंने बाद में सीखी, कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ और उसका हिंदी में अनुवाद करता हूँ और कभी हिंदी में लिखता हूँ और बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करके शाया करता हूँ।' प्रेमचंद जी की सुयोग्य पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने भी लिखा है कि 'वे किसी कहानी का अनुवाद हिंदी में करते, और किसी का उर्दू में।'

केवल नाटककार के रूप में ही नहीं, कहानीकार के रूप में भी वे पहले उर्दू में आये। उन्हीं की जबानी सुनिए—

'मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डाक्टर रवींद्रनाथ की कई गल्पें मैंने अँगरेजी में पढ़ी थीं और अनुवाद पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास को मैंने १९०१ से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला, और दूसरा १९०४ में, लेकिन गल्प १९०७ के पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था 'संसार का सबसे अनमोल रत्न।' वह 'जमाने' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से १९०९ में छपा। उस समय बंगभंग का आंदोलन हो रहा था। काँग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी, इन पाँचों कहानियों में स्वदेश प्रेम की महिमा गायी गयी थी।'

शुरू से ही प्रेमचंद प्रगतिशील : यद्यपि हमने इन उद्धरणों को यह प्रमाणित करने के लिए दिया है कि प्रेमचंद पहले केवल उर्दू के थे, किंतु प्रसंगवश हम इस बात पर भी ध्यान देते चलें कि प्रेमचंद जी का शुरू से ही झुकाव देशप्रेममूलक रचनाओं की ओर था। हम बाद को यह दिखलायेंगे कि 'सोजे वतन' के लेखक होने के कारण उन पर क्या-क्या आफत पड़ी, तथा उसका उन्होंने कैसे सामना किया, किंतु यहाँ इस बात को तो हम देख ही लें कि प्रेमचंद समसामयिक प्रगतिशील विचारधारा के साथ कदम मिला कर

चलने की चेष्टा शुरू से ही करते थे । प्रेमचंद को जिन लोगों ने केवल गाँधीवादी युग के उपन्यासकार कर के दिखाने का प्रयत्न किया है, उन्होंने उनको छोटा ही किया है, क्योंकि जिस युग में गाँधीवाद का कहीं पता नहीं था, उस युग में ही सोजे वतन के लेखक के रूप में प्रेमचंद अपनी देशभक्ति का परिचय दे चुके थे। बाद के युग में चूँकि उन्हें गाँधीवाद इस धारा की मुख्य उपधारा के रूप में ज्ञात हुई, और उसकी लहरों की गर्जन के आगे अन्य सब धाराएँ तुच्छ जान पड़ीं, इसलिए उन्होंने एक हद तक गाँधीवाद को अपने उपन्यासों में चित्रित किया। हम यथासमय इस पहलू पर विस्तृत आलोचना करेंगे, किंतु यहाँ इतना बता दें कि गोदान में वे अपने को संपूर्ण रूप से हृदय परिवर्तन के मोह की बेड़ी से मुक्त कर चुके थे । भारतीय राजनीति जिस समय अभी गाँधीवाद की बेड़ी से मुक्त नहीं हो पायी थी, उस युग में ही उपन्यास के क्षेत्र में उससे मुक्त हो जाना और साथ ही वस्तुवादी कलाकार वाले अपने चरित्र को कायम रख सकना, यह कितने बड़े कृतित्व की बात है, इसकी कल्पना की जा सकती है ।

प्राक्प्रेमचंद उर्दू उपन्यासकार : हमारे लिए यह संभव नहीं है कि उर्दू उपन्यास साहित्य के विकास के ब्योरे में जाएँ। हम अधिक से अधिक केवल इतना ही कर सकते हैं कि प्रेमचंद ने जिन उर्दू लेखकों का अपने ऊपर विशेष प्रभाव बतलाया है, उनका थोड़े में परिचय दे दें जिससे हिंदी पाठक यह अनुमान कर सकें कि उन पर उर्दू लेखकों का प्रभाव किस रूप में कहाँ तक पड़ा होगा । उर्दू में भी उपन्यास साहित्य का सूत्रपात अनुवादों से हुआ।

हैदरी, काजिम अली, निहालचंद, मजहर अली, लल्लूलाल : सैयद हैदरबख्श हैदरी ने अमीर खुशरो की मशनवी के 'किस्सा लैला मजनूं' नाम से अनुवाद किया। इसी प्रकार उन्होंने 'तोता कहानी' नाम से प्राचीन संस्कृत कथा का अनुवाद किया, किंतु यह अनुवाद सीधा संस्कृत से न होकर संस्कृत के फारसी अनुवाद से तैयार किया गया था। इसी के साथ उन्होंने 'आरायशे महफिल' नाम से हातिमताई के किस्से का तर्जुमा किया। इनकी रचना १९वीं सदी के प्रथम चरण में प्रकाशित हुई। पहले वे यों ही लिखा करते थे, किंतु फोर्ट विलियम कालेज की 'इल्मी कदरदानी का हाल सुन कर हैदरी ने एक किताब लिखी और उसको डाक्टर गिलखिष्ट की खिदमत में पेश किया। डाक्टर साहेब ने उस

किताब को बहुत पसंद किया, और हैदरी को फौरन बुला कर मुंशी की जगह दे दी।' (तारीख-इ-अदब उर्दू, पृ० ३२५)।

मिर्जा काजिम अली ने भी फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षकत्व में साहित्य रचना की। कर्नल स्काट ने १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेज के लिए उनको चुना था। इन्होंने यों तो कुरान शरीफ आदि कई पुस्तकों का अनुवाद किया, किंतु यहाँ पर उनका उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि उन्होंने कालिदास की शकुंतला का अनुवाद उर्दू में किया। इसी प्रकार निहाल-चन्द लाहौरी ने फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षकत्व में 'किस्सा गुलबकावली' का फारसी से उर्दू में अनुवाद किया। यह अनुवाद १८१३ में किया गया था। मजहर अली खाँ ने भी इसी कालेज के संरक्षकत्व में बैताल पचीसी का तथा अन्य कई कहानियों का अनुवाद उर्दू में किया। यों तो लल्लूलाल जी आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं में से थे, किन्तु उन्होंने उर्दू में भी 'लताएफे हिन्दी' नाम से एक पुस्तक लिखी। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज ने जिस तरह आधुनिक हिन्दी के उदय में बहुत बड़ा हिस्सा अदा किया, उसी प्रकार उर्दू के लिए भी किया।

मिर्जा रजबअली : मिर्जा रजबअली बेग सरुर भी उर्दू के प्रसिद्ध गद्यकारों में हो गये हैं। वे १८५९ में महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह काशी नरेश के राजकवि हुए, वहाँ पर इन्होंने 'फिसाने अजायब' की रचना की। यह एक प्रेम की कहानी है। 'हर जगह रंगीनी और दिलकश पैदा करने की कोशिश की है। किसी जमाने में यह रंग पसंद आम था, चुनाँचे किताब निहायत पसंददीद नजरों से देखी जाती थी।' सच बात तो यह है कि इसकी भाषा पद्य और गद्य के बीच में एक खिचड़ी-सी है। यों तो पद्य नहीं है, किन्तु फिर भी लेखक ने बराबर अपनी भाषा में चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है, नतीजा यह है कि अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा के मारे गद्य का गला घुट जाता है। हर कदम पर 'काफिया और तश्बीह (उपमा) और इश्तारे (उत्प्रेक्षा) की तलाश रहती है।..........'फिसाने अजायब' के पढ़ने से मालूम होता है कि एक मामूली किस्से को भी एक अच्छा इंशापरवाज (शैलीकार) दिलकश और रंगीन बना सकता है। (तारीख-इ-अदब उर्दू, पृ० ३३६)।

नजीर अहमद : नजीर अहमद (१८३६ - १९१२) उर्दू के प्रथम उपन्यासकार माने जाते हैं। उन्होंने कई उपन्यास लिखे। यह दृष्टव्य है कि उर्दू के यह प्रथम उपन्यासकार भी वस्तुवादी थे, और उन्होंने समाज को जैसा देखा, वैसा चित्र खींच कर रख दिया। एजाज हुसेन साहेब लिखते हैं — 'उन्होंने इस्लामी सोसायटी और खासकर मुसलमानों के खान्दान की अंदरूनी मुआशरत की तस्वीर ऐसी बेलाग खींची है कि आँखों के सामने नक्शा फिर जाता है। रोज-मर्रे के मामूली वाकयात जो सुबह और शाम हमारी आँखों के सामने घरों में अंदर बाहर वाक़ा होते रहते हैं, उनका खूबी से बयान करना मौलाना पर खतम है।' विशेषकर के स्त्रियों के चित्रण में उन्हें सफलता मिली है। उनकी भाषा में वह बनावटीपन नहीं है जो उनके पहले के लेखकों की विशेषता थी। उपमा और उत्प्रेक्षा से वे अधिक काम नहीं लेते। कहीं-कहीं उनकी भाषा में कठिन शब्द आ जाते हैं, किन्तु उनका झुकाव आसान मुहावरों तथा सहज शैली की ओर है।

रतननाथ सरशार : उर्दू उपन्यासकारों में रतननाथ सरशार (जन्म १८४६ या १८४७) का जितना जबर्दस्त प्रभाव प्रेमचंद पर पड़ा, इतना शायद किसी एक अन्य लेखक का नहीं पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि उर्दू उपन्यासकारों में सरशार का बहुत बड़ा स्थान है। प्रेमचंद पर सरशार का कितना जबरदस्त प्रभाव था, यह इसी से ज्ञात हो सकता है कि उन्होंने सर-शार रचित 'फ़िसाना-ए-आजाद' का हिंदी में 'आजाद कथा' नाम से संकलन किया। संकलन शब्द इसलिए प्रयुक्त हो रहा है कि उन्होंने उसका ज्यों का त्यों अनुवाद नहीं किया। केवल सार भाग को हिंदी जगत के सामने पेश किया। प्रेमचंद के प्रशंसक अक्सर इस पुस्तक को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि यह अनुवाद है, किन्तु जिसे टकसाली हिंदुस्तानी का नमूना देखना हो, उसे यह पुस्तक बहुत पसंद आयेगी। अपने युग में सरशार का कितना असर था, यह श्रीरघुपति-सहाय के दिये हुए इन तथ्यों से जाहिर होता है। वे लिखते हैं — आज से (१९३७) प्रायः तीस वर्ष पहले जब पंडित रतननाथ सरशार का देहांत हुआ था, तब मुझे जहाँ तक स्मरण है सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने बहुमूल्य और प्रभावशाली शोकसूचक लेख के आरंभिक वाक्य में (जो हिन्दुस्तान रिव्यु में प्रकाशित हुआ था) साहित्य सेवियों के उस शिरोमणि के संबंध में लिखा था कि सरशार की जादू का-

सा काम करनेवाली कलम अब सदा के लिए मौन हो गयी। वास्तव में यह बात बिल्कुल ठीक थी। 'फ़िसाना-ए-आजाद' नामक विस्तृत कहानी में जो घटनाएँ, कथोपथकन और परिहास आदि का क्रम लगभग चार हजार पृष्ठों पर फैला हुआ है, वह अवश्य ही बहुत प्रशंसनीय है। लेकिन उसमें बहुत-सी अस्वाभाविक तिलस्मी बातें भी जरूर हैं। कहते हैं कि सरशार ने सरवांत (Cervantes) के पात्र डान क्वीक्सोट को अपने साँचे में ढाला है, लेकिन क्वीक्सोट अपने हास्यास्पद अतिरेकों और ज्यादतियों के रहते हुए भी महत्त्व और वीरता की अमर आत्मा का सूचक है। सरशार की रचना यद्यपि यह सूचित करती है कि उसका लेखक लेखनकला का पूर्ण पंडित था, लेकिन फिर भी वह रचना हमारे सामने एक ऐसी बात रखती है जिसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है, बल्कि स्वप्न जगत की एक स्पष्ट फिल्मी चित्रकारी है। फ़िसाना-ए-आजाद में लखनऊ के अवनतिशील और जल्दी मिटने वाले शिया अमीरों और रईसों के जीवन के मनोविनोद की सामग्री का एक आकर्षक चित्र है। सरशार की वैभवशालिनी बुद्धि-मत्ता ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने अपने कलम के बल से इस छाया-तुल्य अवास्तविक जगत को अमर बना दिया है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के रहस्यों के जीवन में एक प्रकार के अवास्तविक तिलस्म का आकर्षण अवश्य होता है। सरशार ने इसी तकल्लुफ और बनावट के जीवन के ऐसे चित्र फ़िसाना-ए-आजाद के चित्रों में अंकित किये हैं जो देखनेवालों को मोहित कर लेते हैं, और चित्र उन्होंने अपनी जादूभरी कलम से कुछ इस प्रकार अंकित किये हैं कि उसका प्रत्येक पृष्ठ स्वप्न जगत् के एक जादू के महल की खिड़की की तरह मालूम होता है, जो स्वप्न की ही अवस्था में खुलती है, और अपने शोभापूर्ण दृश्य दिखलाती है।

'अवध' अखबार के सम्पादक रहते समय सरशार ने फ़िसाना-ए-आजाद की रचना की। पुस्तक रूप में तो यह लेख बाद को प्रकाशित हुआ, पहले इसी अखबार में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। जिस समय यह लेख पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए, उस समय यह हाथोंहाथ बिक गये। सरशार ने फ़िसाना-ए-आजाद के अतिरिक्त अन्य कई पुस्तकों की रचना की, किन्तु सभी मानते हैं कि फ़िसाना-ए-आजाद उनकी सबसे उत्कृष्ट रचना है। एजाज हुसेन भी मानते हैं कि 'इस किताब में लखनऊ की मिटी हुई तहजीब और गिरी हुई हालत को दिखा कर इसलाह (सुधार) की कोशिश की गयी है।' जिसे एजाज हुसेन लखनऊ की तहजीब

बताते हैं, वह भारतीय-मुस्लिम-प्रधान सामंतवादी सभ्यता मात्र है। जो कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं सरशार ने इस पुस्तक में जिस रचना शक्ति का परिचय दिया है, वह बहुत ही अद्भुत है। लोग सरशार से यहाँ तक प्रभावित हुए कि वे फ़िसाना-ए- आजाद को ही उर्दू उपन्यास रचना की 'संगेबुनियाद' मानते हैं, किन्तु जैसा कि हम दिखा चुके हैं नजीर अहमद से ही उर्दू उपन्यास रचना का सूत्रपात होता है, फिर भी जैसा कि एजाज हुसेन ने कहा है, 'इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि सरशार ने लोगों का रुझान देख कर ऐन वक्त पर नावेल नवीसी की ओर ज्यादा फरोग दिया। पुराना तरीका बईद अज़कार (वास्तविकता से हटी हुई) बातों और असख़ास (व्यक्तियों) को छोड़ कर रोजमर्रे के वाकयात और ऐसे असख़ास को लिया जो आये दिन पेशेनजर (सामने) रहते हैं।' (तारीख-इ-अदब उर्दू, पृ० ३७७)।

फ़िसाना-ए-आजाद के अतिरिक्त सरशार ने 'सैरे कोहसार, कामिनी, पी कहाँ' आदि कई अन्य पुस्तकें लिखीं। सरशार की सफलता का सबसे बड़ा परिचय यह है कि उन्होंने सैकड़ों पृष्ठों की पुस्तकें लिखीं, और वे हाथोंहाथ बिक गयीं। प्राक्प्रेमचंद युग के देवकीनंदन खत्री के अतिरिक्त किसी भी हिंदी उपन्यासकार को इतनी सफलता नहीं मिली। सफलता की दृष्टि से देवकीनंदन और सरशार को एक पंक्ति में रखना संभव होने पर भी कलाकार की दृष्टि से सरशार देवकीनंदन से श्रेष्ठ थे क्योंकि उनका पैर जमीन पर था, और यद्यपि वे उड़ते थे, पर वे छलाँग के बाहर नहीं उड़ सकते थे। प्रेमचंद की कला के हक़ में यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने अपनी कला के विकास के युग में सरशार को पढ़ा, और बाद को चल कर देवकीनंदन की रचनाओं को पढ़ा। जिन हिन्दी लेखकों ने प्रेमचंद की कला की पृष्ठभूमि को प्राक्प्रेमचंद हिंदी उपन्यास साहित्य से समझने की चेष्टा की है, वे बहुत कुछ गलत रास्ते पर हैं। केवल कला की ही दृष्टि से ही नहीं भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचंद प्राक्प्रेमचंद उर्दू उपन्यासों के अधिक नजदीक हैं। अवश्य प्रेमचंद ने इन सबसे ले कर और सीख कर भी इन सबसे कहीं श्रेष्ठतर तथा गुणगत रूप से पृथक कला का निर्माण किया, यह दूसरी बात है। ऐसा तो सभी बड़े लेखक करते हैं, फिर भी जब उनकी कला के उत्सस्थल की गंगोत्री को ढूँढ़ा जायेगा, तो यह उचित ही है कि हम आशा करें कि ऐसे खोजनेवाले कम से कम सही दिशा में तो ढूँढ़ें। स्वयं प्रेमचंद ने

अब्दुलहलीम शरर की जीवनी लिखते हुए सरशार के विषय में जो शब्द लिखे, उनका इस प्रसंग में जिक्र कर देना उचित होगा — 'सरशार' ने मस्ताना रंग अख्तियार किया। उनका मतलब यह था कि मेरा उपन्यास आम लोगों में दिलचस्पी से देखा जाय। इसलिए उन्होंने दोस्ताने अमीर हमज़ा का अनुसरण कर के नायक 'आजाद' को वीर, मनमौजी, स्वच्छंद आशिकमिज़ाज, चालाक ठहराया और वदीउज्ज़माँ अफीमची को वख्तक का रूप दिया और उस पर निर्लज्जता का अंत कर दिया। यह रंग ऐसा जमा कि उस समय के समाज ने हाथों-हाथ लिया।'

शरर : उर्दू के एक अन्य प्रधान उपन्यासकार शरर का प्रेमचंद पर बहुत प्रभाव पड़ा, यह हम पहले ही बता चुके हैं। प्रेमचंद ने इनकी रचनाओं का भी प्रारंभिक युग में अध्ययन किया था। सरशार ने अपनी कला के क्षेत्र के लिए अपने सामने के समाज को चुना था, किंतु शरर ने मुख्यतः इस्लामी इतिहास को ही ले कर अपनी कथाओं की रचना की। इनकी कला पर कुछ धार्मिक रंग है। एजाज हुसेन ने लिखा है कि 'इस्लामी इतिहास अरबी और फारसी में होने के कारण मुसलमान उसे भूल रहे थे। शरर ने नये सिरे से अपने उपन्यासों के द्वारा इस भूली हुई कहानी को फिर से दुनिया के सामने ताजा और जीवित करके पेश कर दिया, जिसके कारण ऐतिहासिक व्यक्तियों के कारनामे लोगों की दृष्टि के सामने आ गये। दिलों में एक जोश पैदा हो गया, यही नहीं बल्कि उन्होंने विश्वासीजनोचित उत्साह के साथ विशेष-विशेष इस्लामी स्थान और व्यक्तियों को बहुत ऊँचा कर के चित्रित किया, जिसके कारण उनका नाम उर्दू के और उपन्यासकारों से अधिक बढ़ा-चढ़ा दृष्टिगोचर होता है।' शरर की कला में धार्मिक पुनरुज्जीवन का पुट होने के कारण वह नवशिक्षित मुसलमानों को अधिक पसंद आयी। सरशार की कला के मुकाबिले में इनकी कला निकृष्ट है, फिर भी धार्मिक कारणों से उसका प्रचार यथेष्ट हुआ।

स्वयं प्रेमचंद ने मौलाना शरर की एक छोटी सी जीवनी 'कलम तलवार और त्याग' में लिखी है, जिससे कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं — 'मौलाना ने देखा कि सरशार के रंग के सामने कोई नया रंग जमाना कठिन है। अतः उन्होंने रिंदाना या मस्ताना रंग 'सरशार' के लिए छोड़ दिया और अपने लिए एक नया रास्ता निकाला। इसलाम और अरब की ऐतिहासिक घटनाओं को ले कर मुसल-

मानों की सभ्यता, संस्कृति, साहस, धर्मनिष्ठता, उदारता, साहित्यसेवा, वज़ेदारी आदि को अँगरेजी के ढंग पर लिखना आरंभ किया।

'दिलचस्प को आकर्षक रंग-रूप दिया। मलिकुल अज़ीज-उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि आम और खास, रिंद और मौलवी सबने उसको पढ़ा और गहरी दिलचस्पी से देखा। मैसूर मोहना को लोगों ने आँखों पर जगह दी। दुर्गेशनंदिनी और हसन अजीलना बहुत लोकप्रिय हुए। हिंदुस्तान का कोई शिक्षित मुसलमान ऐसा न था, जिसने मौलाना के उपन्यास न पढ़े हों। यहाँ तक कि कुछ ऐसे आलिम भी, जिन्हें नाविल के नाम से चिढ़ थी, मौलाना की रचनाओं का पढ़ना पुण्यजनक कार्य समझते थे। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा और भाव में इतनी सभ्यता और गंभीरता थी कि सारे हिंदू-मुसलमान समाज में उनकी शैली लोकप्रिय हुई। सब सुसंस्कृत लोगों ने उनकी पुस्तकों को अपने पुस्तकालयों में सादर स्थान दिया और उनके अवतरण पाठ्य पुस्तकों में दिये जाने लगे।'

रुसवा : मुहम्मद हादी रुसवा का भी उर्दू उपन्यासकारों में बहुत बड़ा स्थान है। प्रेमचंद ने अपने प्रारंभिक युग में इनकी रचनाओं के पढ़ने की बात लिखी है। शरर ने उपन्यास को ले कर अरब और न मालूम कहाँ-कहाँ की सैर करायी थी, किंतु रुसवा ने फिर उपन्यास कला को वास्तविक जीवन में उतार लिया, और उनमें उस युग के समाज का प्रतिफलन होने लगा। रुसवा ने अपनी कला के संबंध में लिखते हुए लिखा है, 'हमारे नावेल न ट्रेजडी हैं, न कामेडी; न हमारे हीरो तलवार से कत्ल होते हैं, और न उनमें से किसी ने खुदकशी की है; न हिज्र (विरह) हुआ है, न वस्ल (मिलन)। हमारे नावेलों को मौजूदा जमाने की तवारीख (इतिहास) समझना चाहिए।' इससे बढ़ कर कला के लिए और क्या आदर्श हो सकता है? रहा कहाँ तक वे इस आदर्श को निभा पाये हैं, इसमें संदेह है, किंतु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनकी कला वास्तविकता के साथ कदम मिला कर चलने की चेष्टा करती है। उनके कथानकों का क्षेत्र अक्सर लखनऊ या उसके इर्दगिर्द का स्थान रहा है, तथा वर्णित घटनाएँ भी रोजमर्रे के जीवन की हैं। उनको मनोविज्ञान के संबंध में भी बड़ी दिलचस्पी थी। उनके उपन्यासों में समाज के प्रत्येक स्वर का चित्रण मिलता है। नवाबों से ले कर रंडियों तक के जीवन का सही चित्रण इनके उपन्यासों से प्राप्त होता है। मुशायरों से ले कर मेले-ठेलों का वर्णन भी इन उपन्यासों में आते हैं।

प्राकृतिक दृश्य वर्णन की ओर भी लेखक का रुझान है। कहना न होगा कि इनका प्रभाव किसी लेखक पर अच्छा ही पड़ सकता है। रुसवा के संबंध में यह ठीक लिखा गया है कि उनके पहले मौलाना शरर हकीम मुहम्मद अली के उपन्यास अधिक चलते थे, किंतु उनके सामने वे फीके पड़ गये। (तारीख-इ-अदब उर्दू, पृ० ३६०)।

उर्दू उपन्यास क्यों पीछे रह गये ? : ऊपर गिनाये गये उपन्यासकारों के अतिरिक्त राशिदुलखैरी आदि कई प्रसिद्ध उपन्यासकार उर्दू के प्राक्प्रेमचंद युग में हो गये हैं। उनके संबंध में ब्योरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रसंग में यह प्रश्न उठे बगैर नहीं रहता कि क्या कारण है कि उर्दू का उपन्यास साहित्य १६ वीं सदी के अंत तक बल्कि इस सदी के प्रथम दशक तक हिंदी के उपन्यास साहित्य से श्रेष्ठतर होते हुए भी बाद को हिंदी के मुकाबिले में पिछड़ गया। कहना न होगा कि इस प्रश्न का विशद रूप से समाधान करना हमारे दायरे के बाहर है। हम केवल इसके कारण-रूप में इतना ही कह कर आगे बढ़ जायेंगे कि जब तक उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा नहीं थी, और हिंदुओं में से एक बड़ा तबका उसे अपने भावों के प्रकाश का साधन बनाये हुए था, तब तक इसकी उन्नति होती रही, और खूब उन्नति हुई, किंतु जब से वह कुछ मध्य-वित्तवर्ग के मुसलमानों की भाषा के रूप में हो गयी (ऐसा क्यों हुआ इसके कारण में हमें यहाँ नहीं जाना है), तब से उसकी उन्नति मंथर हो गयी। इस प्रकार दायरे के छोटे हो जाने से उसकी उन्नति में बाधा पहुँचना तो स्वाभाविक था, किंतु इसके अलावा भी मुसलमानों की कट्टरता, दूसरे शब्दों में उनका पिछड़ापन उर्दू की उन्नति में बाधक हुआ। जब तक बिल्कुल आजादी के साथ सोचना स्वाभाविक न हो जाय, तब तक उपन्यास-साहित्य की उन्नति भला कैसे हो सकती थी ? उर्दू ने कविता में बहुत उन्नति की, इसका कारण यह है कि कविता के रूप में उर्दू में कुछ भी कहना यहाँ तक कि निरीश्वरवाद में आस्था प्रगट करना, रसूल और कुरान में संदेह व्यक्त करना जायज था। उर्दू के गद्य में इस प्रकार की आजादी लेखक नहीं ले सकता था। ऐसी हालत में उसमें शरत्, प्रेमचंद आदि का उदय नहीं हो सकता था, और इनका उदय तब तक नहीं होगा जब तक उर्दूवाले अपने को इस प्रकार की कट्टरता से मुक्त न कर लें।

धुर्जटी मुकर्जी ने लिखा है कि 'मुस्लिम पारिवारिक जीवन में हिंदू पारिवारिक जीवन के मुकाबिले में विचित्रता तथा नाटकीय घटनाएँ कम हैं, मुस्लिम पारिवारिक जीवन भयंकर रूप से इकरस होता है, (Modern Indian Culture, पृष्ठ-१७२), इसीलिए मुस्लिम उपन्यासकार कम हुए। मुस्लिम परिवार में नाटकीय घटनाएँ बहुत कम हैं, ऐसा तो नहीं ज्ञात होता, उनमें भी प्रेम-लीलाएँ होती हैं, किंतु वे इस प्रकार की होती हैं जिनसे उपन्यास अपना उपकरण ग्रहण नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ यदि अगम्यागमन या इस तरह की बातें होती हैं, तो वे उपन्यास का विषयीभूत नहीं, अपराधविज्ञान या मनोचिकित्सा विज्ञान के विषय हो सकते हैं। हमारे कहने का मतलब हरगिज यह नहीं है कि मुसलमानों में हिंदुओं से अधिक इस प्रकार की घटनाएँ होती हैं, किंतु हमारे कहने का मतलब यह है कि मुसलमानों में यदि घटनाएँ होती हैं, तो इसी प्रकार की होती हैं। परदे की कड़ाई के कारण चरित्रहीन, गोरा आदि का मुसलमानों में घटित होना संभव नहीं। परदे की कड़ाई के घटने के साथ-साथ इस संबंध में मुसलमानों में उन्नति होगी। स्मरण रहे यहाँ पर हमने ऐसा लिखा है मानों उपन्यास का उपजीव्य केवल प्रेम और आनुसंगिक बातें ही हो सकती हैं, ऐसा हमने इस बात को दृष्टि में रख कर लिखा है कि बुर्जुआ उपन्यास का प्रधान उपजीव्य यही है। उर्दू में उपन्यास की उन्नति नहीं हुई। इससे हमारा मतलब यही था कि जैसे और सब भाषाओं में उपन्यास की उन्नति हुई, वैसे इसमें नहीं हुई। सर्वहारा या समाजवादी उपन्यासों का प्रश्न इस संबंध में नहीं उठता। यह सोचने की बात है कि प्रेमचंद ने जो उर्दू को छोड़ कर मुख्य रूप से हिंदी को अपने साहित्य का वाहन बनाया, इसमें कहाँ तक इस भावना का भी स्थान था कि उर्दू में वे एक हद तक ही स्वतंत्र विचार व्यक्त करते हुए भी जनप्रिय रह सकते थे। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद को जिस प्रकार की देशभक्ति विशेष कर जिस प्रकार के सामाजिक राजनैतिक दर्शन को ले कर चलना था, उर्दू वालों में उसकी कद्र कहाँ तक होती, इसमें भी संदेह था। यद्यपि हमने पहले यह लिखा है कि अधिकतर पारिश्रमिक के ही कारण प्रेमचंद उर्दू छोड़ कर हिंदी की ओर झुके, फिर भी ऊपर जो कारण गिनाये गये, उनका भी इस प्रकार के निर्णय में बहुत बड़ा हाथ होगा, ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा। प्रत्येक लेखक चाहे वह कितना ही निस्पृह हो, वह यह चाहता है

कि जनता में उसकी रचना (प्रत्येक लेखक की जनता उसके विषय तथा दार्शनिक धारणा के अनुसार अलग-अलग होती है) की कद्र हो, अधिक पुरस्कार पाने की प्रवृत्ति से यह प्रवृत्ति अच्छे लेखक में कहीं प्रबलतर होती है।

सबसे लेने पर भी प्रेमचंद स्वतंत्र कलाकार : हमने यह तो पहले ही दिखला दिया कि कहानी लिखने की प्रेरणा प्रेमचंद ने कहाँ से ली। इस प्रकार हम हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के उपन्यास साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए यह दिखा चुके कि प्रेमचंद की कला के विकास पर क्या असर पड़ा होगा। फिर भी यह स्मरण रहे कि कोई भी अच्छा लेखक चाहे अपने पूर्ववर्तियों से कितना भी अधिक ले, वह अपने लिए संपूर्ण रूप से स्वतंत्रमार्ग का निर्माण करता है। शेक्सपियर को ही लिया जाय, उनकी कला के उत्सस्थल के संबंध में बहुत अधिक आलोचनाएँ हुई हैं, उन्होंने अपने कथानक कहाँ से लिये, उनके एक-एक वाक्य में किस पूर्ववर्ती लेखक की रचना की झलक है, आदि बातों के ऊपर पूरी खोज हो चुकी है। फिर भी कोई शेक्सपियर को साहित्यिक चोर नहीं कहता, क्योंकि उन्होंने यदि अपने पूर्ववर्तियों से कुछ लिया भी तो उसे अपनी प्रतिभा की स्पर्शमणि से इस प्रकार परिवर्तित कर दिया कि उसमें पहले के लेखक की कोई छाया ही नहीं रह गयी।

प्रेमचंद ने अवश्य ही उर्दू उपन्यासकारों से बहुत कुछ लिया, उनके प्रारम्भिक युग की रचनाओं पर सरशार का प्रभाव बहुत स्पष्ट है, किंतु वे जल्द ही अपने पूर्ववर्तियों के प्रभाव से मुक्त हो गये और अपनी प्रौढ़ रचनाओं में उन्होंने एक नयी शैली का सूत्रपात किया। इसी प्रकार प्रेमचंद ने बँगला और यूरोपीय साहित्यों से भी बहुत कुछ लिया (जिस प्रकार शेक्सपियर के संबंध में यह खोज की गयी है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से क्या-क्या लिया, उसी प्रकार प्रेमचंद के संबंध में भी हिंदी के विद्वानों को खोज करनी चाहिए), उन्होंने अनातोले फ्राँस की एक तथा गैल्सवर्दी की एक पुस्तक का अनुवाद हिंदी में किया, इस बात को इस संबंध में याद रखने की जरूरत है; फिर भी एक वस्तुवादी लेखक के नाते उन्होंने सबसे अधिक अपने इर्द-गिर्द के समाज से लिया। अंतिम प्रकार से लेने में ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। वे अपने युग के बहुत बड़े प्रतीक तथा मुकुट थे, इसी में उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। प्रकृति से उन्होंने बहुत पैनी दृष्टि पायी थी। इसी पैनी दृष्टि से उन्होंने अपने इर्द-गिर्द के जगत् को, उसके

अंदर की गुत्थियों, द्वंद्वों तथा संघर्षों को देखा। इसी दर्शन को उन्होंने अपने उपन्यासों में एक कला - मय तरीके से पेश कर दिया। इसी बात ने प्रेमचंद को प्रेमचंद बनाया, इसी के कारण वे अपने पूर्ववर्तियों से भाषा, शैली तथा एक हद तक ढाँचा लेते हुए भी उन सबसे स्वतंत्र तथा उनसे महत्तर रहे।

यह जानना बहुत दिलचस्प होगा कि स्वयं प्रेमचंद अपने पहले के उर्दू, हिंदी के लेखकों को किस प्रकार कूतते हैं, तथा उनके मुकाबले में उनका दृष्टिकोण किस प्रकार भिन्न था। वे लिखते हैं, 'हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाना तिलस्म बाँधा करते थे, कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की, और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था, और हमारे अद्भुत रस प्रेम की तृप्ति ; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनों परस्परविरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कविमंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द योजना, नयी उपमा, उत्प्रेक्षा या नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तुस्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना, कफस, वर्क, खिरमन की कल्पनाएँ विरह दशाओं के वर्णन में निराश वेदना की विविध अवस्थाएँ इस खूबी से दिखायी जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे।'

पहले के लेखकों के द्वारा अपनाये हुए व्यक्तिवाद अर्थात् केवल वैयक्तिक अनुभूतिवाद पर अवलंबित साहित्य के संबंध में भी उनके मनोभाव क्या थे, यह भी हम उन्हीं की भाषा में जानते हैं। उनका कहना था, 'शृंगारिक मनोभाव मानव जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता, न उसकी सुरुचि का प्रमाण हो सकता।' मध्य युग में भाव प्रधान साहित्य की क्यों सृष्टि हुई, इस पर वे लिखते हैं—'कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कद्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा कौन कर सकता है। हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित

होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही नहीं गया था। हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिंब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म या वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो, और शृंगारिक भावों का प्रतिबिंब बना हो तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है, और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बंद कर लीं, और उसमें से दुनिया को देखने समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।' (कुछ विचार पृ० ८)।

अच्छे से अच्छा अतिआधुनिक समालोचक भी इससे अच्छा क्या लिख सकता है। इसमें केवल एक शब्द 'जाति' को निकाल कर उस जगह पर 'जिस वर्ग का साहित्य है वह' लिख दिया जाय, तो यह संपूर्ण रूप से मान्य हो जायेगा। रहा प्रेमचंद का मतलब वर्ग से ही है। इसमें संदेह नहीं।

मनुष्य और लेखक प्रेमचंद

परिवार और जन्म : प्रेमचंद का जन्म मध्यवित्त श्रेणी के सबसे गरीब तबके में हुआ था। सच बात तो यह है कि यह उस श्रेणी का वह तबका था, जो नाममात्र के लिए मध्यवित्त है। इस तबके के सदस्य को हर समय यह भय बना रहता है कि न मालूम वह कब देहाती सर्वहारा के अंतर्गत हो जाय। प्रेमचंद के पिता श्री अजायबराय बहुत ही मामूली आदमी थे। उन्होंने बनारस जिले के पांडेपुर मौजे में अपने बड़ों से उत्तराधिकार के रूप में थोड़ी-सी काश्तकारी पायी थी, किंतु इतनी खेती निर्वाह के लिए काफी नहीं थी, काश्तकारी की आमदनी प्रायः नहीं के समान थी, इस कारण वे डाकखाने में नौकरी करते थे। श्री रघुपतिसहाय प्रेमचंद के पुराने परिचितों में थे। जिस वातावरण में प्रेमचंद जी का जन्म हुआ था, उसके संबध में वे लिखते हैं—'उनके घर और खान्दान के संबंध की बातें मध्यश्रेणी के लोगों की उसी तरह की बातों का नक्शा पेश करती हैं जिस तरह की बातों को अँगरेजी लेखक जार्ज गिसिंग ने अपने पृष्ठों में अमर कर दिया है।' (हंस, प्रेमचंद अंक, मई १९३७, पृष्ठ ८८४)। ऐसे वातावरण में पैदा होने के कारण प्रेमचंद गाँव के सब तबकों के जीवन से पूर्ण रूप से परिचित थे। विशेष कर जिस तबके में वे पैदा हुए थे, उसका चित्रण वे बड़ी सफलता के साथ अपनी पुस्तक में करते हैं। किसानवर्ग के प्रति तथा उसके दुखदर्दों के प्रति उनके उपन्यासों में जो स्वच्छ और स्वाभाविक सहानुभूति की धारा बहती है, उसके लिए उन्हें कल्पना का आश्रय नहीं लेना पड़ा था। यह सब तो उनकी आँखों देखी बात थी। प्रेमचंद के पिता कायस्थ दूसरे श्रीवास्तव थे, इस नाते वे उस वर्ग के थे जो शायद अँगरेजी शासन के आगमन के पहले से ही इन जिलों के बुद्धिजीवी वर्ग में शुमार किया जाता था। बार-बार प्रेमचंद अपनी पुस्तकों में इस पढ़े-लिखे वर्ग का वर्णन करते हैं और बड़ी सफलता के साथ करते हैं। 'गबन' नामक उपन्यास में उन्होंने इस वर्ग की कमजोरियों,

उसकी समस्याओं, उसके ढोंगों तथा ढकोसलों को बहुत सुंदर रूप से चित्रित किया है।

बचपन : उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने उनके जन्म के संबंध में लिखा है—'आपका जन्म बनारस से चार मील दूर लमही गाँव में सावन वदी १०, संवत् १९३७ (३१ जुलाई, सन् १८८० ई०) शनिवार को हुआ था। पिता का नाम अजायवराय था। माता का नाम आनंदीदेवी। आपकी तीन वहनें थीं। उनमें दो तो मर गयीं, तीसरी वहुत दिनों तक जीवित रहीं। उस बहिन से आप आठ वर्ष छोटे थे। तीन लड़कियों की पीठ पर होने से आप तेतर कहलाते थे। माता हमेशा की मरीज थीं। आपके दो नाम और थे—पिता का रखा नाम मुंशी धनपतराय, चाचा का रखा हुआ नाम मुंशी नवाबराय। माता-पिता दोनों को संग्रहणी की बीमारी थी। पैदा होने के दो-तीन साल वाद आपको जिला बाँदा जाना पड़ा। आपकी पढ़ाई पाँचवें वर्ष शुरू हुई। पहले मौलवी साहेव से उर्दू पढ़ते थे। उन मौलवी साहेव के दरवाजे पर वे सब लड़कों के साथ पढ़ने जाते थे।' (प्रेमचंद घर में, पृ० १)।

भाषा की दृष्टि से दो पीढ़ियों के बीच उनका लालन-पालन : १८८५ में प्रेमचंद का उर्दू पढ़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उस जमाने में सभी पढ़े-लिखे वर्ग के हिन्दू, विशेष कर कायस्थ उर्दू, फारसी, अरबी आदि पढ़ते थे। सच बात तो यह है कि १९२० तक यहाँ के कायस्थों में शिक्षा का अर्थ ही उर्दू, फारसी आदि में शिक्षा प्राप्त करना था। बहुत मुश्किलों से यह धारा बाद को बदली है। हम केवल एक तथ्य का वर्णन कर रहे हैं, यह अच्छा हुआ या बुरा इससे हमें यहाँ कोई सरोकार नहीं। अब भी कायस्थों में जो पुरानी पीढ़ियों के लोग हैं वे उर्दू-फारसी आदि के अच्छे विद्वान होते हैं। नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में विचारगत रूप से अन्य भेदों के साथ-साथ कायस्थों में यह भी एक बहुत बड़ा भेद हो गया है, पुरानी पीढ़ी वाले नयी पीढ़ी वालों को अशिक्षित और अमार्जितरुचि समझते हैं, और नयी पीढ़ी वाले पुरानी पीढ़ी के उर्दू-फारसी दाँ बुजुर्गों को ओल्ड फूल समझते हैं। प्रेमचंद को हम इन दोनों पीढ़ियों में देख सकते हैं। प्रेमचंद की दूरदर्शिता का यह भी एक प्रमाण है कि संपूर्ण रूप से उर्दू-फ़ारसी की आबोहवा में पले होने पर भी बाद को उन्होंने

उसी वाहन को अपनाया, जो उन्हें अपने विचारों के लिए सबसे अच्छा वाहन ज्ञात हुआ।

गरीबी में पले : श्रीमती शिवरानी देवी ने लिखा है कि प्रेमचंद लड़कपन में पढ़ने में बहुत तेज थे। उनके पिता की आमदनी बहुत थोड़ी थी, इसलिए उनका बचपन बहुत गरीबी में कटा। वे स्वयं अपने विषय में लिखते हैं—"अँधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिन तक पहना है। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा, और न चार आने से ज्यादा गज का कपड़ा कभी मेरे लिए खरीदा गया। मैं सम्मिलित परिवार में था, इसलिए मैं अपने को अलग नहीं समझता था। मैं अपने चचेरे भाइयों को मिला कर पाँच भाई था। जब मुझसे कोई पूछता तो मैं यही बतलाता कि हम पाँच भाई हैं।" इन चचेरे भाइयों के साथ वे भाई की तरह रहते थे। एक बार की घटना है कि उनके "चाचा ने सन बेचा और उसके रुपये ला कर उन्होंने ताक पर रख दिये। आपने अपने चचेरे भाई से सलाह की, जो उम्र में आप से बड़े थे। दोनों ने मिल कर रुपये ले लिये। आप रुपये उठा तो लाये, मगर उन्हें खर्च करना नहीं आता था। चचेरे भाई ने उस रुपये को भुना कर बारह आने मौलवी साहेब की फीस दी, और बाकी चार आनों में से अमरूद और रेवड़ी वगैरह ले कर दोनों भाइयों ने खायी। चाचा साहेब ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे, और बोले—'तुम लोग रुपया चुरा लाये हो?' आपके चचेरे भाई ने कहा—'हाँ, एक रुपया भैया लाये हैं।' चाचा साहेब गरजे—'वह रुपया कहाँ है?'

'मौलवी साहेब को फीस दे दी।'

चाचा साहेब दोनों को ले कर मौलवी साहेब के पास पहुँचे और बोले, इन लड़कों ने आपको पैसे दिये हैं?'

'हाँ, बारह आने दिये हैं।'

'उन्हें मुझे दीजिये।' चाचा साहेब ने उनसे फिर पूछा, 'चार आने कहाँ हैं?'

'उसका अमरूद लिया।'

इस घटना का उल्लेख करते हुए एक दिन प्रेमचंद ने श्रीमती शिवरानी देवी से यों कहा था—'चाचा अपने लड़के को पीटते हुए घर लाये। मेरी शक्ल अजीब हो गयी थी। मैं डरता घर आया। माँ एक लड़के को पिटता देख कर मुझे भी पीटने लगी। चाची ने दौड़ कर मुझे छुड़ाया। मुझे ही क्यों छुड़ाया, अपने

बच्चे को क्यो नही छुडाया, मै नही जान सका। शायद मेरी दुर्बलता पर उन्हे दया आ गयी हो।' (प्रेमचद घर मे, पृ० २)।

जीवन पर आधारित कहानी प्रेमचद ने अपनी एक कहानी मे इस पूरे किस्से को करीब-करीब ज्यो का त्यो दिखलाया है।

मातृ-वियोग, गरीबी आगे की कहानी स्वय प्रेमचद के शब्दो मे ही सुनी जाय—"जब मैं आठ साल का था तभी मेरी माँ बीमार पडी। छेह महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पखा झला करता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बडे थे, दवा के प्रबन्ध मे रहते थे। मेरी बहिन ससुराल मे थी। उनका गौना हो गया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सो जाने पर मै उसे खा लेता था। माँ के मरने के आठ-दस दिन पहले मेरी बहिन आयी। घर से मेरी दादी भी आयीं। जब मेरी माँ मरने लगी, तो मेरा, मेरी बहिन का तथा बडे भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ मे दे कर बोली—ये तीनो बच्चे तुम्हारे है। बहिन, पिता तथा बडे भाई सब रो रहे थे, पर मैं कुछ भी नही समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहिन अपने घर चली गयी। दादी, भैया और पिता जी रह गये। दो-तीन दिन बाद दादी भी बीमार हो कर लमही चली आयी। मैं और भैया रह गये। भैया दूध मे शक्कर डाल कर मुझे खूब पिलाते थे, पर माँ का वह प्यार कहाँ? मैं एकात मे बैठ कर खूब रोता था। पाँच-छह महीनो के बाद मेरे पिता भी बीमार पडे। वे लमही आये। मैं भी आया। मेरा काम मौलवी साहेब के यहाँ पढना, गुल्ली-डडा खेलना, ईख तोड कर चूसना और मटर की फली तोड कर खाना, चलने लगा।"

इसके अतिरिक्त भी उन्होने अपने इस समय के जीवन के ब्योरे लिखे है, किंतु उनमे कोई विशेषता न होने के कारण हम उसे उद्धृत नही करेगे। कैसे जब अजायबराय जी अपनी बेटी के यहाँ जाते तो अपने साथ प्रेमचद को ले जाते, कैसे वे अपनी दादी से कहानियाँ सुनते, कैसे दादी और उनके भैया मे कभी-कभी झगडे हो जाते—ये सब बाते बतायी गयी है। इसके बाद अजायब-राय की बदली जीमनपुर हुई। वहाँ उनके साथ प्रेमचद तथा उनकी दादी गयी। प्रेमचद के भैया इदौर गये। इसके बाद दादी का देहात हुआ। इस समय

वे किस प्रकार के वातावरण मे पल रहे थे, उसका वर्णन उनके ही शब्दो मे यो है—

"पिता जी ने जो मकान ले रखा था, उसका किराया डेढ रुपया था। निहायत गदा मकान था। उसी के दरवाजे पर एक कोठरी थी, वही मुझे सोने के लिए मिली। मैं विनोद के लिए एक तम्बाकू वाले के मकान मे चला जाया करता था। मेरी उम्र उस समय बारह वर्ष की थी।"

भविष्य जीवन की तैयारी इसी युग मे वे अपने भविष्य जीवन की मानो तैयारी कर रहे थे। वे हाई स्कूल मे भर्ती हो चुके थे, किंतु उनकी असली शिक्षा कही और हो रही थी। श्री रघुपतिसहाय इस युग के सस्मरण मे लिखते है—"प्रेमचद जी ने मुझे बतलाया था कि लडकपन मे उनकी दोस्ती अपने दर्जे के ऐसे लडके से हो गयी थी जो एक तम्बाकू बेचनेवाले का बेटा था। नित्य वे अपने अल्पवयस्क मित्र के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे, और वहाँ तम्बाकू के बडे-बडे काले पिडो के पीछे वह और उनके मित्र बैठ कर बराबर हुक्का पीते थे, और 'तिलस्म होशरुवा' पढते थे। यह कभी न समाप्त होनेवाली एक लबी कहानी है, जो अपनी विशालता, विशदता और बहुविध कथानको के विचार से यूरोप के मध्य युग की आध्यात्मिक कहानियाँ को बहुत पीछे छोड देती है। उसकी लबाई का यह हाल है कि यदि वे सब लिखी जायँ तो एन्साइक्लोपिडिया ब्रेटेनिका के बराबर हो जायेगा। खैर, वही प्रेमचद जी अपने अल्पवयस्क मित्रो के साथ बैठकर तिलस्म होशरुवा के किस्से सुनते थे। इसी मे जब सध्या हो जाती थी, तब वह अपने घर चले जाते थे। यह क्रम प्राय एक वर्ष तक चलता रहा। लेकिन इसी बीच मे प्रेमचद जी सदा के लिए कहानियो मे डूब गये। वास्तव मे उन कहानियो को उन्होने जिस तरह मन लगा कर और शौक से सुना था, उससे उनकी वर्णनशक्ति मे धारा प्रवाहिकता और सरसता के गुण आ कर सम्मिलित हो गये थे और उन मनोहर कहानियो की आत्मा उनमे प्रविष्ट हो गयी थी।"

लिखने का प्रारम्भ : इसी युग मे उन्होने लिखने का अभ्यास किया। "वही मुझे लिखने का भी शौक हुआ था। मैं लिखता और फाडता, लिखता और फाडता। कभी-कभी मेरे पिता जी हुक्का पीते-पीते मेरी कोठरी मे भी आ जाते थे। जो कुछ मैं लिख कर रखता, वे देख लेते और पूछते — 'नवाब कुछ लिख रहे हो?'

में शर्म से गड़ जाता। मगर इस विषय में पिता जी को कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि एक तो उन्हें काम के मारे छुट्टी नहीं मिलती थी, दूसरे इस विषय के वे जानकार भी न थे। मैं रात को चाहे जहाँ रहूँ उनसे इससे कोई बहस नहीं। मैं बाहर रहता था, वे अंदर। शायद पहले के लोग इसे अपनी ड्यूटी नहीं समझते थे।"

जनता से घनिष्ठता : उर्दू के रोमांसों के अध्ययन के अतिरिक्त वे अन्य तरीकों से भी आम जनता की दिलचस्पियों से अपने को परिचित करते रहते थे। उनकी रचनाएँ जनता के एक तबके को पसंद हैं, इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि वे स्वयं जनता के ही आदमी थे, जनता की दिलचस्पियों में उन्हें दिलचस्पी थी, जनता की समस्याओं के साथ उनका चाक्षुष परिचय था। एक बड़ी हद तक जनता के साथ उनकी तदात्म्यता थी।

रामलीला में दिलचस्पी : वे अपने इस युग के संस्मरण लिखते हुए कहते हैं—"मेरे पड़ोस में रामलीला होती थी। रामलीला के राम, सीता, लक्ष्मण मुझे बहुत अच्छे लगते थे। मेरे पास उस समय जो भी चीज रहती, मैं राम के लिए ले कर दौड़ता। पैसे भी जो रहते उन्हीं को दे आता। वे अगर मुझसे बात करते तो मैं सातवें आसमान पर पहुँच जाता। बड़ी खुशी होती थी। मैं भी कैसा भोंदू था। आजकल के बच्चे मुझसे ज्यादा चालाक होते हैं।"

रामलीला कहानी में आपबीती : यह द्रष्टव्य है कि 'रामलीला' नामक अपनी कहानी में वे अपने इसी युग के संस्मरण लिख गये हैं। यों तो वह कहानी कोई विशेष महत्त्व की नहीं है, किन्तु उनके जीवन से इस कहानी का जो संबंध स्पष्ट दीख पड़ता है, उसके लिए इस कहानी का महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। कहानी के प्रारंभिक कुछ वाक्य तो संस्मरण मात्र हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं। कहानी यों शुरू होती है—

"इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बंदरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पायजामा और काले रंग का ऊँचा कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हू-हू करते देख कर अब हँसी आती है, मजा नहीं आता। काशी की लीला जगतविख्यात है। सुना है लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक से गया, पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अंतर न दिखायी

दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज-सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बंदरों के चेहरे पीतल के हैं, गदाएँ भी पीतल की हैं। कदाचित् बनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों, लेकिन साज-सामान के सिवा वहाँ भी वही हू-हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती है। लेकिन एक जमाना वह था जब मुझे भी रामलीला में आनंद आता था। आनंद तो बहुत हल्का सा शब्द है। वह आनंद उन्माद से कम न था।

इसके बाद इस कहानी में यह वर्णन किया गया है कि कैसे वे दोपहर से से ही जा कर उस घर में बैठ जाते थे, जहाँ लीला-पात्रों का रूप-रंग भरा जाता था। 'एक ही आदमी पात्रों के शृंगार में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता तो, उस पर रामचंद्र के पीछे बैठ कर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रोमांच होता था, वह अब लाट साहब के दरबार में कुर्सी पर बैठ कर भी नहीं होता..............रामचंद्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। मैं अपने पाठ की चिंता न कर के उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वे फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी यह नीची कक्षा में पढ़ते थे।' इत्यादि। पता नहीं इस कहानी में कितने अन्य उपादान हैं, किंतु ऊपर उद्धृत अंश उनके जीवन का बिल्कुल हूबहू न हो, एक हद तक सही संस्मरण है।

लेखक की रचना से जीवन का संबंध— बंगला के उपन्यासकार शरत् बाबू की रचनाओं के संबंध में इस प्रकार की खोज लेखकों ने की है कि किस हद तक कौन-सा उपन्यास उनकी आपबीती का ही प्रतिफलन है, और उसमें उन्हें बहुत भारी सफलता मिली है। बात यह है, वस्तुवादी लेखक केवल कल्पना को उपजीव्य बना कर नहीं चल सकता, उसे जीवन के साथ अपना संस्पर्श बनाये रखने के लिए अपने इर्दगिर्द की दुनिया से अनुप्रेरणा और कथानक लेना पड़ता है। जब जीवन से ही लेना है तो अपने जीवन से बढ़ कर और कौन सा उत्स हो सकता है, क्योंकि अपने जीवन को जानने का जितना मौका लेखक को है, उसके आंतरिक स्रोतों से उसे जितना परिचय हो सकता है, उतना और वह किसके जीवन को जान सकता है। कहीं हमें गलत न समझा जाय इसलिए हम यह स्पष्ट कर दें कि हम यहाँ पर आपबीती शब्द

का प्रयोग केवल आत्मानुभूति के अर्थ में नहीं कर रहे हैं, बल्कि आपबीती में उन सब घटनाओं, संवेदनों, संघर्षों, संग्रामों तथा घात-प्रतिघातों को लेते हैं जिनको लेखक ने अपनी आँख से दूसरे व्यक्तियों में, वर्गों में तथा समाज में देखा है। दुख है कि इस दृष्टिकोण से हमने जब प्रेमचंद की रचनाओं की जाँच की तो हमें बहुत कम तथ्य ज्ञात हुए। हम उनकी रचनाओं की बहुत थोड़ी बातों को उनके जीवन से संबंधित कर पाये। बात यह है भारतवर्ष में जीवनी लिखने का जो तरीका है, उसमें हमें उस व्यक्ति के जीवन के अंतर्द्वंदों से परिचय नहीं होता, न हम उसके गुप्त जीवन को ही जान पाते हैं, फिर कैसे लेखक के साथ रचना के संबंध का उद्घाटन किया जाय। यहाँ तो जीवनी लिखने में वल्कि लेखक यही कोशिश करता है कि अपने वीर को शुरू से ही आदर्श रूप में दिखलावें। पर श्रीमती शिवरानी देवी ने प्रेमचंद जी के संबंध में जो संस्मरण लिखा है, उनमें स्पष्टवादिता का कोई अभाव नहीं है, और न प्रेमचंद को आदर्श बना कर दिखाने की चेष्टा की गयी है। उन्होंने इस संबंध में बहुत सही दिशा में अपनी लेखनी का प्रयोग किया है, किंतु उनके सामने यह दृष्टिकोण ही नहीं था कि उनकी कहानियों और उपन्यासों को उनके जीवन अर्थात् जीवन और निरीक्षण से संबद्ध किया जाय, नहीं तो कदाचित् वे इस संबंध में हिंदी जगत को और भी बहुमूल्य चीजें दे सकतीं।

बराबर गरीबी : गरीबी ने प्रेमचंद का कभी पीछा नहीं छोड़ा। वे स्वयं लिखते हैं—"पैसे की दिक्कत तो मुझे हमेशा रहती थी। बारह आने महीने में फीस लगती थी। उस बारह आनों में से मैं एकाध आने हर महीने खा जाता था। जिस मुहल्ले में मैं था, उसमें छोटी जाति के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे, इसलिए फीस देने में बड़ी दिक्कत होती थी। घर में माँ तो थी नहीं, चाची से ही माँगता।"

सौतेली माँ : प्रेमचंद के पिता ने अपनी पहली स्त्री की मृत्यु के बाद दूसरी शादी कर ली थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उनके साथ सौतेली माँ का व्यवहार अच्छा नहीं रहा। वे जब घर में आयीं तो उनके साथ उनके भाई विजय बहादुर भी आये। वह आते ही घर की मालकिन बन गयीं। वह विजय बहादुर को अधिक मानती थीं, और प्रेमचंदजी को कम। "पिताजी डाकखाने से जो भी

चीज खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे उन्हें खुद खायें। वे उनकी लायी हुई चीजों को पिता के सामने रखती तो पिता जी बोलते—'मैं ये चीजें बच्चों के लिए लाता हूँ।' जब चाची न मानती तो पिता जी झल्ला कर बाहर चले जाते।

"जब मैं फीस के पैसे चाची से माँगता, तो वे बुरी तरह झल्लातीं। पिता से कहने की हिम्मत न थी। इसलिए अपनी माता की याद मुझे बार-बार सताती थी। सच कहता हूँ, झूठ बोलना भी एक फन है। सच कहने के ही कारण मैं मारा जाता।" इसके अतिरिक्त इस चाची में और भी दुर्गुण थे। वे इस बात का कोई भी ख्याल नहीं रखती कि प्रेमचंद उनकी कोख से उत्पन्न पुत्र नहीं तो पुत्रस्थानीय हैं, इसलिए उनके सामने दूसरों से हँसी-मजाक दायरे के अंदर ही करना चाहिए, किंतु वे इसका कोई ख्याल नहीं रखती थीं। यहाँ पर हम इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे कि कहाँ तक बच्चों के सामने 'निषिद्ध' विषयों में बात-चीत करनी चाहिए। हमने अन्यत्र इस विषय पर बहुत विस्तार के साथ लिखा है। यहाँ तो हम केवल इतना ही देखेंगे कि उनकी चाची जो इस तरह की हँसी-मजाक किया करती थीं, वह किसी मानसिक उदारता के कारण नहीं, बल्कि सुरुचि के अभाव के कारण करती थीं, इसके अतिरिक्त हम यह भी देखेंगे कि शिशु प्रेमचंद इसे किस तरीके से लेते थे। उनके ही शब्दों में सुनिए—
"जिस घर में मैं था वह एक अहीरिन का था। वह विधवा थी। उनमें और मेरी चाची में काफी हँसी-मजाक होता था। मैं भी सुनता। मुझे उनके हँसी-मजाक में मजा आता। मुझे तेरह साल में ही उन बातों का ज्ञान हो गया था, जो कि बच्चों के लिए घातक हैं।" अक्सर ऐसा देखा गया है कि प्रतिभा के वरपुत्रगण Sexually Precocious अर्थात् यौन मामलों में अकाल परिपक्व हो जाते हैं, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि प्रेमचंद जी कम उम्र में ही सेक्स के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। हमें यहाँ दार्शनिक तर्कों में नहीं पड़ना है, किंतु प्रेमचंद ने यह जो लिख दिया कि यह ज्ञान बच्चों के लिए घातक होता है, इससे हम सहमत नहीं हो सकते। स्वयं प्रेमचंद जी का जीवन हमारे सम्मुख है, वे बहुत कम उम्र में इन 'घातक' विषयों में ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, किंतु इसका क्या दुष्परिणाम हुआ? हमारे सामने श्रीमती शिवरानी देवी लिखित उनका अंतरंग जीवन-चरित्र मौजूद है, उनमें हम कोई ऐसी विपरीतता

नहीं पाते जो प्रेमचंद जी जिस वर्ग के सदस्य थे, उस वर्ग के आम सदस्यों से किसी भी अर्थ में घटिया हो।

'सौतेली माँ' कहानी : प्रेमचंद जी की सौतेली माँ उनकी मृत्यु के बाद भी जीवित रहीं। उनके एक सौतेले भाई भी थे, वे भी उनकी मृत्यु के बाद जीवित रहे। सौतेली माँ तथा भाई के संबंध में उनके तजुर्बे बहुत बुरे रहे। प्रेमचंद जी ने अपनी एक कहानी में बहुत ही प्रभावशाली और जहर में ही बुझे हुए नश्तर की तरह शब्दों में अपने जीवन के उन दिनों की ओर संकेत किया है जो उन्होंने अपने पिता और सौतेली माता के साथ बिताये थे।.........उस कहानी का शीर्षक 'सौतेली माँ' है। उसकी बारीकी और महत्त्व में निःशब्द परन्तु कटु भावनाएँ भी हैं, लेकिन फिर भी उससे कहीं बेमजा और ओछी भावनाओं का नाम भी नहीं है, लेकिन फिर भी उसे पढ़ कर आप अपने आँसू नहीं रोक सकेंगे।' (रघुपति सहाय, हंस, प्रेमचंद अंक, पृ० ८८५)। इस प्रकार सौतेली माँ नामक कहानी में हम लेखक के ही संस्मरण का एक परिष्कृत रूप पाते हैं।

कजाकी कौन था ? : श्री अजायबराय का तबादला जमनिया हुआ। प्रेमचंद भी साथ गये। वे लिखते हैं 'वहाँ जो हरकारा था, वह मुझे बहुत प्यार करता था। वह मुझे कंधे पर ले कर दौड़ता। मैं उसके आने की राह देखा करता। वह बाहर से ईख, अमरूद, गाजर मेरे लिए लाता। इसीसे वह मुझे बहुत प्रिय था। एक दफा पिता जी ने उसे निकाल दिया। जब वह दूसरे दिन नहीं आया, तब मैंने चाची से पूछा—आज कजाकी क्यों नहीं आया चाची ?

—मुझे क्या मालूम क्यों नहीं आया ?

खैर मैं खामोश था, अंदर से मेरा जी कुरेद रहा था। जब पिता जी रात को आये, तो डरते-डरते मैंने पूछा—बाबू जी, कजाकी कहाँ गया ?

—पाजी निकाल दिया गया।

मैंने डरते-डरते कहा—बाबू जी, आदमी बड़ा अच्छा है।

पिता—गधा था।

मैं खामोश। रात भर मुझे नींद नहीं आयी। मैं सोचता, बेचारा कितना भला आदमी है। मैं बड़ा होने पर ऐसे आदमी को हमेशा अपने पास रखूँगा। मैं सुबह उसके यहाँ दौड़ा गया, और बुला लाया। चुपके से भंडारे में जा कर आटा,

दाल, चावल निकाल लाया। उस साल मैं आठवीं में पढ़ता था। चाची ने भी उसे रखने के लिए सिफारिश की और मेरे हाथ से सब सामान ले कर थोड़ा-थोड़ा देने को कहा।

'कजाकी' कहानी : प्रेमचंद ने तो इसी कजाकी पर एक कहानी ही लिख डाली, और उस कहानी का नाम भी कजाकी ही रखा। उसमें वे लिखते हैं —

"मेरी बालस्मृतियों में कजाकी एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस वर्ष गुजर गये लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है......... कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिंदादिल। वह रोज शाम को डाक का थैला ले कर आता, रात भर रहता, और सबेरे डाक ले कर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक ले कर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता, ज्यों ही चार बजते, व्याकुल हो कर सड़क पर आ कर खड़ा हो जाता, और, थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रखे उसकी झुनझुनी बजाता, दूर से आता हुआ दिखलायी देता.........मुझे देख कर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुनझुनी और जोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता, और एक क्षण में कजाकी का कंधा मेरा सिंहासन बन जाता, वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था।........ संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता, और जब कजाकी मुझे कंधे पर ले कर दौड़ने लगता तब तो ऐसा मालूम होता मानों मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ। कजाकी डाकखाने में पहुँचता तो पसीने से तर रहता, लेकिन आराम की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को ले कर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गा कर सुनाता, और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं, मैं इन कहानियों को सुन कर विस्मयपूर्ण आनंद में मग्न हो जाता। उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूट कर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे, मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।"

कजाकी के निकाल दिये जाने की बात भी इस कहानी में है। इस कहानी में यह है कि 'कजाकी उसी वक्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफा छीन लिया गया, और उसे डाकखाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया। आह! उस वक्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि

मेरे पास सोने की लंका होती तो कजाकी को दे देता, और बाबू जी को दिखा देता कि आप के निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ।' हम इस कहानी के ब्यौरे में नहीं जायेंगे, यह एक औसत दर्जे की कहानी है। हमारे पास इस बात के लिए कोई मसाला नहीं है कि हम यह निश्चित रूप से बता सकें कि इस कहानी में जो हिरनवाली घटना है, वह कहाँ तक काल्पनिक है, और कहाँ तक सही है, सही है अथवा नहीं। हमारा यह अनुमान है कि जिस प्रकार से कजाकी नामक कहानी उनके जीवन के तथ्यों से ओत-प्रोत है, बल्कि एक तरह से संस्मरणमूलक है, उस तरीके से बहुत-सी कहानियाँ उनके जीवन से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध होंगी।

दाल में घी नहीं : प्रेमचंद के बचपन की कहानी उनके परिवार की गरीबी की कहानी है। आय बहुत थोड़ी थी। स्वाभाविक रूप से शिशु प्रेम-चंद को घी-दूध खाने को नहीं मिलता था। एक रोज उनके पिता के दोस्त बड़े बाबू ने उन्हें बुलाया। वे गये, तो उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—तू दुबला क्यों हो गया है, क्या दूध-घी तुम्हें नहीं मिलता? इत्यादि। बड़े बाबू ने शायद इस बात का जिक्र उनके पिता से कर दिया, पिता ने शायद यह बात प्रेमचंद की सौतेली माँ से कही। दूसरे रोज प्रेमचंद क्या देखते हैं कि उनकी दाल में कच्चा घी डाल दिया गया है। प्रेमचंद ने कहा—मेरी दाल में कच्चा घी क्यों डाल दिया?

—कच्चा नहीं, पक्का है।

प्रेमचंद ने कहा—दाल में घी डाला ही क्यों?

—तुम्हीं तो घर-घर रोते हो कि मुझे कुछ नहीं मिलता।

—मैंने किससे कहा?

—बड़े बाबू से कहा है कि मेरी चाची मुझे घी-दूध नहीं देती। और किससे कहेगा?

—मैंने नहीं कहा।

—तूने नहीं कहा तो वे वैसे ही शिकायत करते थे? खुद खाता नहीं, मुझे बदनाम करता है।

—मैंने कुछ नहीं कहा।

—झूठा, मक्कार।

प्रेमचंद को रोना आ गया।

पाँच रुपये माहवार पर छात्र-जीवन : ऐसा और एक दृश्य लीजिए। एक साल के बाद वे बनारस भेजे गये ; उस समय उनकी उम्र पंद्रह हो चुकी थी। वे नौवीं में पढ़ते थे। जाते समय श्री अजायबराय ने पूछा — धनपत, तुझे कितना खर्च लगेगा ?

प्रेमचंद ने कहा — पाँच रुपया दे दिया जाया करे।

अजायबराय ने समझा सस्ते बला टली। 'और मैं बनारस जब आया तो मालूम हुआ कि दो रुपये तो फीस के ही लग जायेंगे। बाकी बचे तीन रुपये। एक रुपये का दूध। यह सब मिला कर पूरा खर्च नहीं बैठता। मैंने सोचा, प्राइवेट पढ़ूँ। दिन भर शहर में रहता। सुबह चाची गुड़ अपने पास से दे देती थी। दिन भर बनारस में रहता और पढ़ता। घर से किसी तरह की इमदाद मिलने की आशा नहीं थी, क्योंकि गरीबी का घर था। एक कुप्पी के सामने रात को बैठ कर टाट बिछा कर पढ़ता।'

भयंकर गरीबी, शादी के गुड़ खा डाले : 'खैर जब इम्तहान करीब आया तो उसी बीच पिता जी ने पाँच रुपये का गुड़ खरीद कर रखने के लिए मेरे पास भेजा था, क्योंकि मेरी शादी होनेवाली थी। मैंने गुड़ तो खरीद लिया, और हमने — याने मैंने, मेरे चचेरे भाई तथा गाँव के कई मित्रों ने उस गुड़ को बारी-बारी से खाना शुरू किया। रोज ही सेर दो सेर गुड़ निकलने लगा। जब मैंने देखा कि गुड़ की संदूक भी काफी खाली हो चुकी है, तो मैं सोचता अब इसे न छुऊँगा। मगर गुड़ खाने की ऐसी लत पड़ गयी कि इस प्रतिज्ञा को निभा न पाता था। एक रोज मैंने संदूक की चाभी को दरवाजे की दराज में डाल दिया। सोचा कि अब न खाऊँगा। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। फिर भी जब मंडली इकट्ठी हुई तो मैं गुड़ न खाने की प्रतिज्ञा न रख सका। प्रतिज्ञा तोड़नी ही पड़ी, और दराज में से कुंजी निकाली ही गयी, और उसमें से फिर खाना शुरू हुआ। जब वह आधा हो गया तब मैंने उसकी चाभी कुएँ में डाल दी। जब पिता जी घर आये और चाची से गुड़ माँगा तो संदूक का ताला तोड़ना पड़ा। चाची गुड़ देख कर बहुत झल्लायीं।'

गरीबी के चित्रण में सफलता का कारण : इस आत्म-कथा से ज्ञात होता है कि कितनी भयंकर गरीबी थी। शादी के लिए गुड़ खरीदा जाना,

दूसरे उस पर बार-बार टूटना, यहाँ तक कि अंत में चाभी को कुँए में डाल देना — ये सब बातें हमारे सामने गरीबी का एक ऐसा चित्र पेश करती हैं, जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। प्रेमचंद ने सुंदर बैठके में सोफा पर बैठ कर गरीबी की कल्पना नहीं की थी, बल्कि वे वर्षों उसके जुओं के नीचे पिसते रहे, वे गरीबी में ही पले, और गरीबी में ही बड़े हुए। उनके उपन्यासों में गरीबी का चित्रण जो इतना सजीव तथा मर्मस्पर्शी हुआ है, इसका कारण केवल उनकी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति नहीं, बल्कि उनकी आत्मानुभूति है।

शादी के मंडप के लिए खुद बाँस काटे : जब हम आगे चल कर प्रेमचंद के विवाह का वर्णन पढ़ते हैं, तो उसमें यह गरीबी और भी भयंकर रूप में सामने आ जाती है। उन्होंने लिखा है कि जब उनकी शादी हुई तो वह बहुत खुश थे, मंडप छाने के लिए बाँस उन्होंने खुद काटे थे। अपनी शादी के मंडप छाने के लिए बाँस काटने को उन्होंने चाहे जिस आत्मतृप्ति के रंग में रंग कर पेश किया हो, किन्तु उसका करुण पहलू स्पष्ट है। उनका यह प्रथम विवाह था। उन्होंने स्वयं इसका वर्णन किया है।

प्रथम विवाह, दुलहिन को देख कर निराशा : "मेरा विवाह बस्ती जिले के मेहदावल तहसील में रामापुर गाँव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के जमींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया तब सैकड़ों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मजाक का बाजार गरम था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हँसी-मजाक अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मजाक करती थीं, मैं अकेला उनसे परेशान था। खैर, किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की विदाई का समय आया। कई रोज का अरसा हो गया था। ऊँट-गाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँट-गाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उम्र में वे मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया।" यह विवाह कैसे सुखी होता जब इसका पहला दृश्य ही इस प्रकार बिगड़ गया। वह स्त्री बदसूरत होने के साथ ही साथ जबान की भी मीठी नहीं थी। जब उनकी बारात आयी, मुंशी अजायबराय को मालूम हुआ कि पतोहू बहुत बदसूरत है।

बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली थी। इस शादी को उनकी सौतेली माँ के पिता ने ठीक किया था। अजायबराय अपनी स्त्री से बोले—'लाला जी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया, अफसोस! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री। मैं तो उसकी दूसरी शादी करता।' सौतेली माँ ने कहा, देखा जायेगा। यह शादी किसी तरह निभ भी जाती, किन्तु सौतेली माँ के कारण यह शादी बहुत ही दुखद हो गयी। प्रेमचंद के ही शब्दों में सुना जाय—'चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थीं। इसकी शिकायत भी चाची एकान्त में मुझसे किया करती थी। वह भी अपनी किस्मत को रोती थी। बीच में मेरी आफत थी। अगर बीच में चाची न होती तो शायद उनकी मेरी जिंदगी एक साथ बीत भी जाती।' इस प्रकार प्रेमचंद को अनमेल विवाह का भी तजुर्बा प्राप्त हो गया और सामाजिक कुरीतियों का ज्ञान हुआ।

पितृ-वियोग : इस विवाह के साल भर के अंदर ही उनके पिता का देहांत हो गया। उस समय वे नौवीं कक्षा के छात्र थे। 'घर में जो कुछ पूँजी थी वह पिता जी की छह महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में स्वाहा हो चुकी थी।' अब तो सारी गृहस्थी का भार एक तरह से इन पर पड़ा। उधर पढ़ने की भी धुन थी। 'काशी के क्वीन्स कालेज स्कूल में पढ़ते थे, फीस माफ थी। स्कूल से पढ़ कर बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाते और छह बजे छुट्टी पा कर पाँच मील चल कर देहात तक पहुँचते। पहुँचते-पहुँचते आठ बज जाते। प्रातःकाल आठ ही बजे घर से फिर चलना पड़ता था। (प्रेमचंद : एक अध्ययन, पृ० ७)।

गरीबी के कारण कोट बेचा : खाने-पीने की बड़ी आफत रहती थी। सभी काम उधार पर चलता था। एक मौके पर उन्होंने अपने गरम कोट को शहर में दो रुपये में बेच दिया। इस कोट को उन्होंने एक साल पहले बड़ी मुश्किलों से बनवाया था। किसी तरह इंट्रेंस पास किया, किंतु इसके बाद पढ़ने में दिक्कत पड़ी। उन्हीं दिनों हिंदू कालेज खुला था, उन्होंने उसमें पढ़ने का विचार किया, बहुत कोशिश की कि फीस माफ हो जाय, किंतु इसमें वे सफल न हुए। बात यह है कि उन्होंने इंट्रेंस का इम्तहान सेकंड डिवीजन में पास किया था। बहुत से फर्स्ट डिवीजनवाले फीस माफ कराने के उम्मीदवार होंगे, उनके मुकाबिले में स्वाभाविक रूप से उनकी अर्जी

मंजूर नहीं हुई, उस समय कौन जानता था कि आगे चल कर यही नवयुवक हिंदी उपन्यास साहित्य में चार चाँद लगा देगा। जब फ़ीस माफ़ नहीं हुई, तब भी वे निराश नहीं हुए, और पढ़ाई जारी रखी। उनका गणित कमजोर था, इसलिए वे कई बार इंटर में फेल हुए, यहाँ तक कि उन्होंने अंत में इम्तहान देना ही छोड़ दिया। बहुत बाद को चल कर उन्होंने इंटर और बी० ए० किया।

दूसरा विवाह : १९०५ के पहले उन्होंने अपनी पहली स्त्री को त्याग दिया। इसके बाद १९०५ में श्रीमती शिवरानी देवी के साथ उनकी दूसरी शादी हुई। इसके पहले ही उनकी कुछ रचनाएँ छप चुकी थीं। उनके अपने लिखने के अनुसार उपन्यास तो उन्होंने १९०१ से ही लिखना शुरू किया, उनका एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में, किंतु कहानी १९०७ के पहले उन्होंने नहीं लिखी। श्रीमती शिवरानी देवी के अनुसार जिन दिनों वे इधर-उधर रोटी की तलाश में घूम रहे थे, और इलाहाबाद में थे, उन्हीं दिनों उन्होंने कृष्णा नामक एक छोटा-सा उपन्यास लिखा था, और इंडियन प्रेस में छपवाया था। (प्रेमचंद घर में, पृ० १२)।

श्रीमती शिवरानी देवी : १९०५ में प्रेमचंद की दूसरी शादी हुई। इस बार उनकी शादी श्रीमती शिवरानी देवी से हुई। उन्हीं के शब्दों में उनकी कथा यों है—

'मेरी पहली शादी ११ वें साल में हुई थी, वह शादी कब हुई इसकी मुझे खबर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे खबर नहीं। विवाह के तीन-चार महीने बाद ही मैं विधवा हुई! इसलिए मुझे विधवा कहना मेरे साथ अन्याय होगा, क्योंकि जो बात मैं जानती ही नहीं, वह मेरे माथे मढ़ना ठीक नहीं।'

श्रीमती शिवरानी का कुल परिचय यों है—'मेरे पिता का नाम मुंशी देवीप्रसाद था। जिला फतेहपुर, मौजा सलिमपुर, डाकखाना कनवार। मेरे पिता मुझे इस हालत में देख कर खुश न थे। वे अपने को मिटा कर मुझे सुखी देखना चाहते थे। पहले तो उन्होंने पंडित से सलाह ली। उसके बाद उन्होंने इश्तहार निकलवाया। इश्तहार आपने (प्रेमचंद जी ने) भी पढ़ा। उसके बाद कई जगह लड़के तय हुए। मगर मेरे पिता को लड़के पसंद न आते। उसी समय आपने उन्हें खत भेजा—मैं

शादी करना चाहता हूँ। मैंने यहाँ तक पढ़ा है, और मेरी इतनी आमदनी है। मेरे पिता ने लिखा—आप फतेहपुर आइए, मैं वहाँ मिलूँगा। बाबू जी फतेहपुर गये। आप मेरे पिता को पसंद आये। उन्होंने आपको वरच्छा और किराये के रुपये दिये। मुझे यह भी नहीं मालूम कि मेरी शादी कहाँ हो रही है। मेरी शादी में आपकी चाची वगैरह किसी की राय नहीं थी, मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बंधन तोड़ना चाहते थे। यहाँ तक कि आपने अपने घरवालों को भी खबर न दी। मेरी शादी हुई। शादी में ही मैं घर आयी और चौदह रोज रही। मेरी तबीयत लगती न थी क्योंकि मेरी माँ मर चुकी थीं। एक मेरा भाई पाँच वर्ष का था। उसको मैं उसी तरह स्नेह करती थी, जैसे माँ बच्चे को करती है। मेरे जब चौदह साल पूरे हुए थे, तभी माँ मर चुकी थी। मेरा भाई तब तीन वर्ष का था। उसी समय से मुझे अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान हुआ।'

प्रेमचंद का जीवन ही एक उपन्यास : प्रेमचंद हिंदी के श्रेष्ठतम उपन्यासकार हैं, किंतु इस प्रकार उनका जीवन ही एक उपन्यास का कथानक हो गया, और पहली स्त्री की जीवितावस्था में इस प्रकार दूसरी शादी कर लेने के कारण यह कथानक समस्यामूलक हो गया। उन्होंने इस प्रकार दूसरा विवाह कर ठीक किया या नहीं, इस संबंध में दो मत शायद ही हो सकते हैं। श्रीमती शिवरानी देवी ने तो खैर यह लिख दिया कि दूसरी शादी करने में उन्होंने दिलेरी का परिचय दिया था। इसमें संदेह नहीं कि एक विधवा के साथ शादी कर उन्होंने सत्साहस का परिचय दिया, किंतु इस घटना का परिणाम यहीं तक सीमित रहता तब तो हम उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते, किंतु जब हम प्रथम स्त्री के दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो फौरन कुछ संदेह उत्पन्न होता है। असल में मौलिक गलती हिंदू समाज की है, जिसमें तलाक नहीं था। यदि प्रेमचंद गतानुगतिकता के उपासक होते तो उनके सामने सिवा इसके कोई चारा नहीं था कि अपने प्रथम विवाह को जैसे-तैसे निभाते, किंतु उन्होंने ऐसा न कर अपने लिए मुक्ति का मार्ग खोज लिया। रही प्रथम स्त्री की बात, सो उसके लिए वे क्या कर सकते थे ? प्रेमचंद के उपन्यास जिस प्रकार हमारे सम्मुख हमारे समाज की सैकड़ों समस्याओं को मूर्त करके सामने ला कर रख देते हैं, उसी प्रकार उनके जीवन के इस अंश से भी हमें सामाजिक समस्याओं के संबंध

में सचेत हो जाना पड़ता है। प्रेमचंद के लिए यह असम्भव था कि वे तलाक का प्रवर्तन कर इस गड़बड़ी का अंत करते, अपनी तरफ़ से उन्होंने तलाक दे ही दिया, इसलिए उन्होंने ऐसी अवस्था में जो उन्हें एक मात्र वैयक्तिक हल मालूम पड़ा, उसे अपनाया। जैसा कि हम देख चुके प्रेमचंद ने जान-बूझ कर इश्तहार पढ़ कर एक बाल-विधवा से विवाह किया। प्रश्न यह उठता है—यद्यपि इस संबंध में न तो स्वयं प्रेमचंद ने, न अन्य किसी जानकार व्यक्ति ने कुछ लिखा है, कि उन्होंने यह जो जान-बूझ कर एक विधवा की शादी के इश्तहार के जवाब में अपना नाम पेश कर दिया, इसके पीछे यह विचार कहाँ तक था कि नाम मात्र के लिए मेरी एक शादी पहले हो चुकी है, इसलिए मैं ऐसी स्त्री से विवाह करूँ जिसकी मेरी ही तरह नाम मात्र के लिए पहले एक शादी हो चुकी है। यह प्रश्न हमारे मन में इसलिए उठता है कि लोगों के विवेक न मालूम किस-किस तरह से काम करते हैं। वे शायद ऐसा सोचते ही हों कि उनके लिए विधवा विवाह ही उचित है, तो कौन जाने।

इस संबंध में एक बात और स्मरणीय है, वह यह कि सामाजिक गड़बड़ी के कारण वे प्रथम स्त्री को कानूनी रूप से तलाक न दे पाने पर भी, उसके मरने तक बराबर नियमित रूप से उसके पास खर्च के लिए रुपये भेजा करते थे। (प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० ८८६)। इधर तो वे ऐसा करते रहे, उधर उन्होंने अपने ससुरालवालों से यहाँ तक कि अपनी स्त्री से यह बात छिपा रखी कि उनकी पहले की बीबी जीवित है। १९१४ में अर्थात् विवाह के ९ साल बाद श्रीमती शिवरानी देवी को यह ज्ञात हुआ कि उनकी पहली पत्नी जीवित है। प्रेमचंद ने इस प्रकार क्यों किया, इसके पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जो कुछ भी हो, इससे उनके विवाह की जटिलता बढ़ती है। इस प्रकार उन्होंने इस संबंध में सामाजिक नियम को बदलने के अतिरिक्त जिस प्रकार भी जितना कर सकते थे, किया था। अवश्य इतना कर लेने पर भी कोई समालोचक यह कह सकता है कि फिर भी ठीक नहीं हुआ, कुछ न कुछ कमी रह गयी, किन्तु जब तक कोई रचनात्मक विकल्प (constructive alternative) न बताया जाय, ऐसी समालोचना का कोई अर्थ नहीं होता। जहाँ दोष समाज का है, वहाँ खामख्वाह व्यक्ति के माथे दोष मढ़ना सही नहीं हो सकता। जो कुछ भी हो इस संबंध में स्वयं प्रेमचंद का जीवन एक

समस्यामूलक उपन्यास के लिए अच्छा आधार हो सकता है। हाँ, इस संबंध में हम एक बात तो भूले ही जा रहे थे, जिससे जीवन का यह कथानक और भी जटिल तथा समस्यामूलक हो गया है। करीब-करीब मृत्यु-शय्या पर बैठ कर प्रेमचंद ने अपनी स्त्री से यह स्वीकार किया था कि उन्होंने पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी, और श्रीमती शिवरानी के आने पर भी उस स्त्री से उनका संबंध था। जटिलता यहीं खतम नहीं होती, बल्कि यह इस बात से और भी बढ़ जाती है कि श्रीमती शिवरानी देवी को यह बात मालूम थी। (प्रेमचंद घर में, पृ० ३५६)। अब तो यह कथानक इतना जटिल हो गया कि एक परम शक्तिशाली उपन्यासकार ही इन सारी बातों को ले कर कथानक का निर्वाह कर सकता है। हम यहाँ पर प्रेमचंद जी के जीवन पर फैसला देने के लिए नहीं बैठे हैं, हमें केवल इतना ही कहना है कि प्रेमचंद जी के उपन्यासों में जिस मध्यवित्तवर्ग के सुख-दुख, सहजोरी, कमजोरी तथा समस्याओं को हम पाते हैं, उन्हीं को हम उनके जीवन में भी प्रतिफलित पाते हैं। वे इसी वर्ग के हिस्सा व जुज थे। वे मुख्यत: इसी वर्ग के सफल उपन्यास-कार हो सके, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

डिप्टी इन्सपेक्टरी : फागुन में उनकी दूसरी शादी हुई, और चैत्र में वे सब डिप्टी इन्सपेक्टर हो गये। इन दिनों उनकी दिनचर्या यों थी—'सुबह चार बजे उठते थे। हुक्का पी कर पाखाना जाते, हाथ-मुँह धोते, और जो मिल जाता उसीका नाश्ता करते। चुस्ती के साथ बैठ कर लिखते। कलम मजदूरों के फावड़े की तरह तेजी से चलती थी। उसके बाद पाखाना जाना। फिर खाना खाना। दौरे पर भी साहित्य का काम उन्होंने नहीं छोड़ा।' वे सख्ती से मुआइना नहीं करते थे। मालूम होता है श्रीमती शिवरानी देवी से भी आठ साल तक उनकी ढंग से नहो पटी। शिवरानी जी इसके कारण के रूप में यह लिखती हैं कि 'मुझसे उनसे कोई आठ साल तक नहीं पटी, क्योंकि उनके घर में बमचख बहुत था। मैं बमचख की आदी न थी। वे चाहते थे कि मैं अपने लिए खुद स्थान तैयार करूँ। उनकी बीबी के नाते घर की मालकिन बन कर बैठूँ, और मैं चाहती थी कि मैं क्यों यह झंझट बरदाश्त करूँ, मैं भी दुनिया को देखना चाहती थी।'

प्रेमा, सोजे वतन की रचना : जिस साल उनका विवाह हुआ था,

उसी साल उनका दूसरा उपन्यास 'प्रेमा' निकला, जिसका आगे चल कर 'विभव' नाम पड़ा। यही उपन्यास उर्दू में 'हमकुर्मा ,व हमकबाव' नाम से प्रकाशित हुआ था। प्रतिज्ञा नामक उपन्यास इसी का परिवर्द्धित संस्करण है। विवाह के एक वर्ष बाद 'सोजे वतन' नाम से उर्दू में उनका एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। श्रीरघुपतिसहाय के अनुसार यह संग्रह कानपुर के जमाना प्रेस से प्रकाशित हुआ था। 'उन कहानियों में कोई बात आपत्तिजनक नहीं है। वह बहुत निश्चिन्तता-पूर्वक लड़कों और लड़कियों की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित की जा सकती है, लेकिन फिर भी तीस वर्ष पहले की दुनिया ही कुछ और थी।' उन दिनों प्रेमचंद जी सपरिवार महोबा में थे। कलेक्टर ने उनको बुला भेजा। वे दौरे पर ही थे जब कि उनके पास कलेक्टर का संदेश पहुँचा। इस संबंध में श्रीमती शिवरानी देवी का विवरण निम्नलिखित है:

सोजे वतन के कारण आफत: "रातभर बैलगाड़ी पर चलने के बाद आप कुलपहाड़ पहुँचे। आप उसी दिन घर आनेवाले थे। जब दूसरे रोज मेरे पास पहुँचे, तो मैंने पूछा — कल आप कहाँ रह गये?

आपने कहा — रहो, बताता हूँ। बड़ी परेशानी में पड़ गया था। कल सारी रात चलता रहा।

मैं बोली — अरे, बात क्या है?

आप बोले — सोजे वतन के सिलसिले में सरकार ने मुझे बुलाया था।

मैंने पूछा — आखिर बात क्या थी?

आप बोले — कलेक्टर ने उसी सिलसिले में मुझे बुलाया था। मैं गया तो देखा, कलेक्टर की मेज पर सोजे वतन की कापी पड़ी थी।

मैंने पूछा — क्या हुआ तब?

आप बोले — कलेक्टर ने पूछा, यह किताब तुम्हारी लिखी है? मैंने कहा हाँ। उसे पढ़ कर मैंने सुनाया भी। सुनने के बाद वह बोला — अगर अँगरेजी राज में तुम न होते तो आज तुम्हारे दोनों हाथ कटवा लिये गये होते। तुम कहानियों द्वारा विद्रोह फैला रहे हो। तुम्हारे पास जितनी कापियाँ हों, उन्हें मेरे पास भेज दो। आइंदा फिर कभी लिखने का नाम भी न लेना।

मैंने कहा — आप किताबें भेज दीजिएगा?

आप बोले—वाह ! अरे यह कहो कि सस्ते छूटे। मेरा ख्याल था कि कोई बड़ी आफत आयेगी।

मैंने कहा—तो फिर लिखना भी अब बंद ही समझो।

आप बोले—लिखूँगा क्यों नहीं ? उपनाम रखना पड़ेगा। खैर इस वक्त तो बला टली। मगर मैं सोचता हूँ अभी यह और रंग लायेगा।"

सोजे वतन आग को भेंट : कानपुर से जब सोजे वतन का पार्सल आया, उन्होंने एक कापी रख ली, और बाकी मजिस्ट्रेट को भेज दिया गया। इस प्रकार इस पुस्तक की कई सौ कापियाँ अग्नि को अर्पित की गयीं। इस प्रकार सरकार ने उनकी रचना का स्वागत किया। यदि वे इन कापियों को भेजने से इन्कार करते, तो उनके लिए एक ही रास्ता था। वह यह था कि सरकारी नौकरी छोड़ देते। उस समय वे इस कदम के लिए तैयार नहीं थे। सच बात तो यह है कि अभी वे लिखने में प्रयोग भर कर रहे थे। उन्होंने अभी कलाकार के रूप में अपनी अमित शक्ति को पहचाना नहीं था। वे अभी प्रेमचंद ही नहीं हुए थे। अभी वे धनपतराय ही थे।

नौकरी छोड़ दी : इसके बाद भी उन्होंने लिखना जारी रखा। कुछ दिनों में उन्होंने डिप्टी इन्सपेक्टरी को नौकरी पेचिस के कारण छोड़ दी, और फिर बस्ती और बाद में गोरखपुर पहुँचे। वहाँ श्री महावीर प्रसाद पोद्दार से परिचय हुआ।

शिवरानी जी को ज्ञात हुआ उनकी सौत जीवित है : इन्हीं दिनों पहले-पहल श्रीमती शिवरानी देवी को यह ज्ञात हुआ कि प्रेमचंद की पहली पत्नी अभी तक जीवित है। इस पर उन्होंने प्रेमचंद से कहा कि उन्हें यह उम्मीद न थी कि वे उनसे झूठ बोलेंगे। इस पर प्रेमचंद जी बोले—'जिसको इन्सान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, वह मर गया।' इस पर शिवरानी देवी ने इस पर जोर डाला कि वे अपनी पहली स्त्री को ले आवें।

प्रेमचंद—मैं तो लेने नहीं जाऊँगा।

शिवरानी—क्यों नहीं जाइएगा ? शादी हुई थी, तमाशा नहीं था।

—मैंने शादी नहीं की थी, मेरे बाप ने शादी की थी।

शिवरानी—बाप ने तो अपनी जो शादी की थी, उसे आप गले बाँधे फिर रहे हैं। बाप की शादी की जिम्मेदारी तो आपके सिर है, अपनी नहीं? यह जिम्मेदारी का तुक नहीं।

—चाहे हो या न हो, मैं लाऊँगा नहीं।

शिवरानी—क्या बात है? एक स्त्री का जीवन मिट्टी में मिलाने का आपको क्या हक है?

प्रेमचंद—हक वगैरह की कोई बात नहीं।

इस प्रकार तर्क-वितर्क के बाद श्रीमती शिवरानी ने 'प्रिय बहिन' करके प्रेमचंद की पहली पत्नी को एक खत लिखा, जिसमें उन्हें कहा गया था कि वे आ कर यहाँ रहें। चौथे रोज जवाब आया कि जब प्रेमचंद खुद लेने आयेंगे तब वे आयेंगी। न तो प्रेमचंद जी इसके बाद वहाँ जाने पर राजी हुए, और न वह वहाँ आयीं। शिवरानी देवी ने लिखा है कि वे बराबर उन्हें खत लिखा करती थीं, और वहाँ से जो उत्तर आया करते थे, उनको प्रेमचंद जी को दिखला दिया करती थीं।

नौकर के साथ व्यवहार: बस्ती में रहते समय ही प्रेमचंद ने प्राइवेट एफ० ए० पास कर लिया। वे स्कूल में मास्टर थे, किंतु बराबर अवसर पाने पर नियमित समय में कुछ न कुछ लेख, कहानी आदि लिखा करते थे। यों तो गरीबी थी, किंतु अब उतनी गरीबी नहीं थी। अब उनके यहाँ एक नौकर भी था, किंतु उनके मिजाज का अजीब हाल था कि वे अपने भरसक उससे कुछ काम न लेते थे। 'नौकर दरवाजे पर बैठा रहता था, लेकिन वे अंदर आ कर पानी पीते थे। धोती भी खुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर खाली ही रहता।' कभी-कभी शिवरानी जी उनके इस व्यवहार पर बिगड़ जातीं और कहतीं कि नौकर फिर क्यों रखा है, किन्तु प्रेमचंद जी इसके उत्तर में कहते—अपनी जरूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे, फिर मैं पाँच रुपये का नौकर तो खुद था। इस पर शिवरानी जी कहतीं—मैंने तो नहीं देखा। प्रेमचंद इसके उत्तर में कह देते—तुम्हारे न देखने से क्या? मैं तो भुगत चुका हूँ। इसलिए इन्सान को अपनी जरूरत खुद रफा करनी चाहिए।

इन दिनों उनका हाजमा खराब हो गया, इसका इलाज होता रहा,

किन्तु कुछ न कुछ खराबी बनी ही रहती। वे बराबर अपनी आमदनी का एक अच्छा हिस्सा विमाता को भेजते रहे, इसमें वे कभी नहीं चूके। जब इनकी स्वयं ही अवस्था अच्छी नहीं थी, तो ऐसी हालत में इस प्रकार नियम-पूर्वक विमाता को रुपये भेजते रहना उनकी कर्तव्यपरायणता सूचित करता है। इसके बाद वह गोरखपुर गये। बस्ती और गोरखपुर में रहते समय ही उन्होंने 'सेवासदन' (१९१६) लिखा। उनके विचार भी उन दिनों प्रौढ़ता की ओर जा रहे थे।

हिंदू-मुस्लिम प्रश्न पर प्रारंभ से ही उदार विचार : हिंदू-मुस्लिम प्रश्न के विषय में उनके विचार इन दिनों भी बहुत उदार थे, वह इस बात से ज्ञात होता है कि एक बार जब उनकी एक गाय कलेक्टर के बँगले के हाते में पहुँची, तो वहाँ कुछ हिंदू विचारवाले लोग एकत्र हो गये। इसका कारण यह था कि कलेक्टर साहेब ने यह धमकी दी थी कि वे गाय को गोली से मार देंगे। प्रेमचंद शान्ति से लिख रहे थे। जब शिवरानी जी ने उन्हें बताया कि यह किस्सा है, तब वे वहाँ भीड़ के पास पहुँचे। भीड़ में अधिकतर लड़के ही थे, ऐसा ज्ञात होता है। उन्होंने उन्हें समझाया तो लड़के बोले — बगैर गाय लिये हम नहीं जायेंगे।

आप बोले — अगर साहेब ने गोली मार दी ?

लड़के — गोली मार देना आसान नहीं है। यहीं खून की नदी बह जायेगी। एक मुसलमान गोली मार देता है तो खून की नदियाँ बहती हैं।

इस पर प्रेमचंद ने जो कहा, वह बहुत मार्के का है। उन्होंने कहा— फौजवाले तो रोज गाय-बछड़े मार-मार कर खाते हैं, तब तुम लोग कहाँ सोते रहते हो ? यह तो गलती है कि मुसलमानों की एक कुर्बानी पर सैकड़ों हिंदू - मुसलमान मरते-मारते हैं। (प्रेमचंद घर में, पृ० ५६)।

प्रेस की अभिलाषा : एक बार वे १९१३ के लगभग कानपुर के 'प्रताप' कार्यालय में पहुँचे। उन्होंने वहाँ यह देखा कि श्री गणेशशंकर विद्यार्थी छापेखाने का अधिक से अधिक काम अपने हाथों से करते हैं। जब वे वहाँ से लौटे तो शिवरानी जी से आ कर गणेश जी की बहुत तारीफ की। साथ ही उन्होंने यह भी इच्छा जाहिर की कि नौकरी के फंदे से छूट कर कहीं बैठ कर

एकांत में साहित्य-सेवा करें। किन्तु मजबूर थे। गोरखपुर में रहते समय उन्हें यह इच्छा हुई कि एक प्रेस खरीदा जाय। एक मारवाड़ी के साथ यह तय हुआ कि यह प्रेस साझे में लिया जाय। मारवाड़ी ने उन्हें कुछ ऐसा झाँसा दिया जिससे प्रेमचंद नाम मात्र के ही साझेदार होते, और उसकी मिल्कियत मारवाड़ी की होती और आमदनी भी उसी की ही जेब में जाती। शिवरानी जी इस बात को ताड़ गयीं और उन्होंने इस सौदे को होने नहीं दिया।

असहयोग में नौकरी छोड़ दी : अंत में प्रेमचंद जी ने नौकरी छोड़ दी। उन्होंने यह नौकरी असहयोग के सिलसिले में छोड़ी थी। इसी बीच में उन्होंने बी० ए० पास कर लिया था, बँधी हुई आमदनी थी, तरक्की की बहुत अधिक आशा थी, ऐसी अवस्था में नौकरी छोड़ना उनके लिए बड़ा भारी त्याग था, इसमें संदेह नहीं। नौकरी छोड़ने के पहले उन्होंने शिवरानी जी से सलाह की। इस पर शिवरानी जी ने यों लिखा है—'उन दिनों जलियानवाले बाग में जो भीषण नरहत्याकांड हुआ था, उसकी ज्वाला सभी के दिल में होना स्वाभाविक था। वह शायद मेरे भी दिल में रही हो। दूसरे दिन अपने को उन सभी मुसीबतों को सहने के लिए तैयार कर पायी जो नौकरी छोड़ने पर आनेवाली थीं। दूसरे दिन मैंने उनसे कहा—छोड़ दीजिए नौकरी। पचीस वर्ष की नौकरी छोड़ते हुए तकलीफ तो होगी ही। मगर नहीं। यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनके देखते तो यह शायद नहीं के बराबर थी। जब मैंने उनसे कहा कि छोड़ दीजिए नौकरी, क्योंकि इन अत्याचारों को तो अब सब को मिल कर मिटाना होगा, और यह सरकारी नीति अब सहन-शक्ति के बाहर है, तब आप अपनी स्वाभाविक हँसी हँस कर बोले—दूसरे का अंत करने के पहले अपना अंत सोच लो। मैं बोली—मैंने सोच लिया।'

नौकरी छोड़ी जाय या न छोड़ी जाय; इस संबंध में पति-पत्नी में जो बातचीत हुई, उसमें की कुछ बातें बहुत महत्त्वपूर्ण होने के कारण उद्धृत की जाती हैं। बातचीत के दौरान में शिवरानी जी बोलीं कि बिना त्याग, तपस्या या बलिदान के काम नहीं बनने का। प्रेमचंद जी हँस कर बोले—जिसको तुम त्याग, तपस्या, बलिदान समझती हो, वह उनमें से एक भी नहीं है। यह तो हम तुम दोनों का अपने पापों का प्रायश्चित करना मात्र है।

शिवरानी जी बोलीं—तो हम लोगों ने क्या पाप किये हैं ?

प्रेमचंद बोले—तुमने नहीं किये, तो तुम्हारे बुजुर्गों ने किये, क्योंकि आराम के नशे में तो वे ही लोग डूबे थे, अपनी विलासिता के नशे में अंधे हो कर पड़े थे, तभी मुल्क में फूट पैदा हुई। और दोनों फरीकों को हटा कर के तीसरा विजयी हुआ। मुमकिन है कि वह विलासिता में डूबनेवाले हमी तुम हों, और फिर से जन्म मिला हो, यह विकट पहेली कुछ समझ में भी नहीं आती। यह जो आजकल तुम्हारे ऊपर शासन कर रहे हैं, यह क्या विजयी हुए थे। उनके बड़े लोग विजयी हुए थे, (प्रेमचंद घर में, पृ० ६५)।

ये विचार कुछ अजीब होते हुए भी, और उनमें न मालूम कहाँ-कहाँ के रहस्यवाद आदि की मिलावट होते हुए भी इनका रुझान देश-भक्ति की ओर था, और इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि उन्होंने इस प्रकार नौकरी छोड़ कर महान् त्याग का प्रदर्शन किया। गाँधी जी दौरा करते हुए गोरखपुर पहुँचे थे, उनका भाषण सुन कर ही उनके मन में नौकरी छोड़ने की भावना पहले-पहल उत्पन्न हुई थी। उन्होंने नौकरी से इस्तीफा लिख कर जब हेडमास्टर को दिया, तो उन्होंने उन्हें बहुत समझाया कि यह क्या नाहक की सनक है। ११५ रुपये पा रहे हैं, जरा इस पर सोच लीजिए।

चरखा प्रचार : नौकरी से इस्तीफा देने के बाद महावीर प्रसाद पोद्दार उन्हें अपने गाँव में ले गये। वे दरवाजे पर बैठे-बैठे चरखे बनवाते, और लिखते-पढ़ते। 'दो महीना रहने के बाद तय हुआ कि पोद्दार जी के साझे में शहर में चर्खे की दूकान खोली जाय, और एक मकान वहाँ लिया गया। उसी जगह दस करघे लगाये गये। चरखा चलानेवाली कुछ औरतें भी थीं। देहात से बन कर कुछ चर्खे आते थे, वे बेचे भी जाते थे। शाम के वक्त पोद्दार जी और बाबू जी तथा और कुछ मित्रगण बैठ कर गपशप करते।' (प्रेमचंद घर में, पृ० ७३)। यह सिलसिला अधिक दिन न चल सका। वे लमही (बनारस) गये। अब एक मात्र सहारा लेख और कहानियों की आमदनी थी। उन्होंने अपने गाँव में चरखे का भी प्रचार किया। खर्च बढ़ा हुआ था, लेख और कहानियों से जो थोड़ी-बहुत आमदनी होती थी, उससे कोई काम नहीं चलता था। दाल में घी पर भी काट करनी पड़ी। इन्हीं बातों से विवश हो कर जून १९२१ में उन्होंने कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय की हेडमास्टरी कबूल कर ली। उन्हें यह पद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

की सिफारिश से प्राप्त हुआ था।

दयालुता : प्रेमचंद का स्वभाव इतना दयालु था कि वे दया करने में यह नहीं सोच पाते थे कि यह व्यक्ति इस योग्य है भी या नहीं कि उस पर दया की जाय। एक साहब ने आ कर कहा कि उन्हें कुछ रुपया चाहिए तो उन्होंने अपनी तंगी के बावजूद उन्हें १५ रुपये दिलवाये। वादा तो यह था कि वे जल्दी ही उस रुपये को लौटायेंगे, किन्तु पाँच-छह रोज बाद वे महाशय फिर अपने बीवी-बच्चों को ले कर वहाँ पहुँचे, फिर तीन रोज रहे। यह नहीं उस व्यक्ति ने उनसे फिर दुबारा २० रुपये माँगे। डरते-डरते उन्होंने शिवरानी जी से रुपये माँगे। शिवरानी जी ने कहा कि उनके पास रुपये नहीं हैं। इस पर प्रेमचंद जी ने यह कहा कि रुपये नहीं हैं तो इतने आदमियों को खिलाओ, या जवाब दो। अंत में शिवरानी जी को १५ रुपये देने पड़े। उस व्यक्ति ने चार-पाँच दिन में देने का वादा किया था, जब वादे की तारीख खतम हुई तो शिवरानी जी ने पूछा — रुपये आये ? प्रेमचंद बोले — रुपये नहीं आये। (प्रेमचंद घर में, पृ० ७६)। इस प्रकार कई बार लोग मुसीबत का हवाला दे कर उनसे रुपये ले जाते रहे। कई बार तो शिवरानी जी को पता भी नहीं लगता था कि इस प्रकार रुपये दिये गये हैं।

'ढपोरशंख' कहानी का उत्सस्थल : उनकी दयालुता की एक घटना यह है कि ग्वालियर से एक साहब ने उन्हें यह पत्र लिखा कि यदि उसे एक सौ रुपये इस समय मिल जायँ तो एक सौ की जगह मिल जाय। उस व्यक्ति ने पत्र में यह लिखा था कि वह ५० रुपये कर के दो महीने में इस ऋण को अदा कर देगा। शिवरानी ने इस पर अविश्वास किया, किंतु जब प्रेमचंद जी का इस संबंध में अत्यधिक आग्रह देखा तो उन्होंने कहा कि खैर देने-लेने की इच्छा न करो, उसे दे दो, उसका भला हो जाय, उसका जीवन शायद सुधर जाय। बैंक से १०० रु० निकलवा कर उस व्यक्ति को रुपये भिजवा दिये गये। कुछ दिनों बाद वह व्यक्ति स्वयं प्रेमचंद के घर आ कर डट गया। वह टलने का नाम ही नहीं लेता था। दो-तीन दिन के बाद शिवरानी जी ने कहा कि उन्हें किसी होटल में ठहरा दिया जाय। होटल में भी वे महाशय बारह रोज तक रहे। रुपये अभी वापस नहीं

दिये गये थे। फिर कुछ दिनों बाद वे आये, और पंद्रह दिन तक ठहरे। जब वह हजरत जाने लगे तो फिर ५० रु० माँगे। प्रेमचंद ने शिवरानी जी से छिपा कर ये रुपये दे दिये। 'उसके बाद उस व्यक्ति ने पटना में अपनी शादी तय की। उसने प्रेमचंद जी को खबर दी। इस पर आपने उसकी बीवी के लिए हाथ की सोने की चार चूड़ियाँ, गले की जंजीर, कर्णफूल और दो-तीन रेशमी साड़ियाँ खरीद कर उसे दीं और १०० रु० नगद बारात के खर्च के लिए दिये, और खुद पटना तक गये भी। वह अपनी बीवी ब्याह कर लखनऊ (उन दिनों प्रेमचंद लखनऊ में थे) आया। तीन रोज के बाद पुलिस उसे ढूँढ़ती हुई पहुँची। यह फरार आदमी था। तब उससे आप बोले—'तुम यहाँ नहीं रह सकते।' वह अपनी बीबी ले कर चला गया।"

इस प्रकार उस व्यक्ति पर प्रेमचंद जी ने कई सौ रुपये खर्च किये। मजे की बात यह है कि उन्होंने जो गहने तथा कपड़े उस व्यक्ति की शादी के लिए लिये थे, वे सब उधार पर लिये गये थे, और उसके कारण उन पर सोनार और बजाज का तकाजा होने लगा। प्रेमचंद ने उन रुपयों के लिए शिवरानी जी से छिप कर लिख-लिख कर रुपये मँगा कर भरे। कोई डेढ़ साल में वे पूरे रुपये भर पाये। अपनी इस आपबीती को ले कर उन्होंने 'ढपोरशंख' नाम की कहानी की रचना की। इस प्रकार जिस बात को उन्होंने जीवन में अनुभव किया था, उसी को उन्होंने कहानी के रूप में रख दिया।

ऐसी ही और कितनी ही घटनाएँ हैं। उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र मनुष्य-चरित्र का अच्छा से अच्छा विश्लेषण मौजूद है, किंतु व्यावहारिक जीवन में वे स्वयं ठगों के शिकार हो जाते थे, इस बात को सोचने में बहुत आश्चर्य होता है। क्या इस प्रकार ठगों के द्वारा ठगे जाने से उनकी कमजोरी जाहिर होती है? इसके विपरीत ऐसा समझने का कारण है कि वे स्वयं बहुत तरह की दुरवस्थाओं, विशेष कर आर्थिक तंगी के कारण कष्ट भोग चुके थे, इसलिए वे इस प्रकार के लोगों को जहाँ तक हो सके, मदद देना चाहते थे।

ठगे गये : बाद की एक घटना है, जिस समय शिवरानी जी जेल में थीं, उसी समय इसी तरह एक बार एक और दूसरे महाशय आये, और दो सौ रुपये बैंक से निकलवा कर चलते बने। जब शिवरानी जी जेल से छूट कर आयीं, तो एक दिन उन्होंने प्रेमचंद जी से रुपयों का हिसाब पूछा। हिसाब

वता ले गये, किन्तु हिसाब में दो सौ रुपये घटे। इसके बाद की कहानी शिवरानी जी की जबानी—"मैंने पूछा, रुपये कहाँ गये? आप बोले—खर्च हो गये, कहीं।

मैं—झाँसा न दीजिए। बताइए कहाँ गये।

मजबूर हो जाने पर बोले—एक सज्जन आये थे, ले गये। उन्हें सख्त जरूरत थी।

मैं—सभी की जरूरतों का तुमने ठेका ले लिया है।

—क्या करूँ, जानबूझ कर थोड़े ही विपत्ति में फँसता हूँ। नहीं रहा जाता।

मैं—आप तो तभी अच्छे थे, जब आपको टके टके की पड़ी रहती थी। कोई किसी की किस्मत नहीं बना सकता। आप फिर उसी हालत में रहना चाहते हैं। रुपये उतनी आसानी से आप जमा करें तो आपको पता चले। चौबीसों घंटे की किफायत से रुपया जमा होता है।" (प्रेमचंद घर में, पृष्ठ ८३)।

इस अवसर पर प्रेमचंद जी ने यह जो छोटी-सी बात कह दी—नहीं रहा जाता—उससे उनकी सारी मनोवृत्ति का चित्र हमारे सामने आ जाता है।

लिखने की अदम्य स्पृहा : इधर उनका साहित्यिक जीवन बराबर जारी रहा। उन्होंने 'प्रेमाश्रम' का एक बड़ा भाग बीमारी की हालत में लिखा। उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी, किंतु लिखने की धुन इतनी जबरदस्त थी कि बीमारी में ही लिखते जाते थे। शिवरानी जी की सख्त ताकीद थी कि वे बीमारी में न लिखा करें, किंतु जब वे सो जातीं, तो 'रात को धीरे से उठ कर अपनी कापी, कलम, दावात उठा लाते। जाड़े के दिन थे। चारपाई पर रजाई ओढ़े लिखने लगते.....।' प्रेमचंद जी में न केवल उपन्यास लिखने की प्रतिभा थी, वल्कि वे साहित्य क्षेत्र में उस प्रतिभा का एक ऐश्वर्य ले कर उतरे थे। तभी तो वे इतना बड़ा साहित्य तैयार कर गये। एक बार तो इस प्रकार की नौबत आ गयी कि शिवरानी जी ने कलम ही तोड़ कर फेंक दी थी।

अन्य कई नौकरियाँ : मारवाड़ी विद्यालय के अधिकारियों से कुछ झगड़ा हो गया, और उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उन दिनों

काशी से बाबू संपूर्णानंद के संपादकत्व में 'मर्यादा' निकलती थी। "उसी दिन पत्र आया आप आ कर सम्पादन कीजिए, १५० रु० वेतन मिलेंगे। उसके बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया। स्कूल के मास्टर चाहते थे कि इनकी विदाई में एक जलसा किया जाय और इनको एक अभिनंदन-पत्र दिया जाय। काशीनाथ (मालूम होता है यह उस विद्यालय की मैनेजिंग कमेटी का मंत्री आदि रहा होगा) को यह अच्छा न लगा, पर मास्टरों ने न माना। लड़कों की भी यही इच्छा थी। जलसा हुआ। अभिनंदन-पत्र दिया गया। इसी के कारण चार-पाँच मास्टर और निकाले गये। पचीस-तीस लड़के स्वयं हट गये।" इस प्रकार प्रेमचंद जी मारवाड़ी विद्यालय से विदा हुए। उसके बाद वे बनारस गये, और 'मर्यादा' में काम करने लगे। डेढ़ साल तक 'मर्यादा' में काम करते रहे।

काशी विद्यापीठ में अध्यापक : इसके बाद वे काशी विद्यापीठ के विद्यालय विभाग के हेडमास्टर हो गये। वेतन १३५ रु० था। उन दिनों विद्यापीठ की निजी इमारत नहीं थी। भदैनी के एक मकान में विद्यापीठ था। वे रोजाना भदैनी इक्के से जाते। राष्ट्रीय विद्यालय होने पर भी वहाँ का वातावरण उनकी मुक्त प्रतिभा के लिए कुछ विशेष अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। लेखक उन दिनों विद्यापीठ में छात्र था, वह निजी अनुभव से यह बतला सकता है कि विद्यापीठ के अधिकारियों से जहाँ तक हो सके, कम मिलते थे, अपने काम से काम रखते थे। छात्रों में वे बहुत प्रिय थे। विशेष कर उच्च कक्षा के छात्र यह जानते थे कि वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास लेखक प्रेमचंद जी हैं, और इस पर उनको गर्व था। उस समय तक 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' दो ही उपन्यास तथा कुछ कहानी संग्रह प्रकाशित हुए थे, किंतु इन्हीं दो पुस्तकों की बदौलत वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार मान लिये गये थे। अवश्य इस संबंध में कुछ मतभेद भी था, और विरुद्ध आवाजें उठ रही थीं। श्री ज्ञानचंद्र जोशी उन दिनों हिंदी साहित्य में एक समालोचक के रूप में आये, और पहले ही वे प्रेमचंद पर बड़े जोरों के साथ बरस पड़े।

प्रेमाश्रम की कटु समालोचना : उनके उस लेखन से हिंदी जगत में जो तहलका मच गया था, वह अभूतपूर्व था। कहाँ दूसरे समालोचक तो प्रेमचंद

जी को न भूतो न भविष्यति के रूप में रख रहे थे, और कहाँ श्री इलाचंद्र ने यह कह दिया कि वे कुछ भी नहीं हैं।

अपनी स्मृति पर निर्भर न कर हम इलाचंद्र की ज़बानी ही इस कहानी को सुनेंगे। प्रेमचंद की मृत्यु के बाद 'हंस' के प्रेमचंद - स्मृति अंक में लिखते हुए जोशी जी ने १९३७ में लिखा था —"प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उल्टी-सीधी गति से तरंगित हो रही थी। अतएव मेरी ऐसी मानसिक अवस्था में जब प्रेमचंद का 'प्रेमाश्रम' दीर्घ ६०० पृष्ठ-व्यापी विस्तृत तथा विशालकाय रूप में प्रकाशित हो कर सामने आया तो मैं अपने फेवरिट लेखक की इस नयी कृति को अत्यंत उत्सुकता से पढ़ने लगा।" प्रेमचंद जोशी जी के क्यों फेवरिट थे, यह बात तभी समझ में आयेगी, जब हम यह देखें कि 'सेवासदन' के विषय में उनकी क्या राय थी। इसी लेख में उन्होंने 'सेवासदन' के विषय में उद्धृत अंश के पहले ही लिखा था — "हिंदी के उपन्यास साहित्य में वह निर्विवाद रूप में युगांतर-कारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुंदर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आंतरिक संवेदना के साथ अभिव्यक्त की गयी थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नयी अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।"

जोशी जी ने अपने परिवर्तित विचारों के कारण प्रेमाश्रम को पढ़ कर क्या सोचा, यह द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं, "मुझे खेद हुआ जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के अनुरूप नहीं पायी। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराट रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के संबंध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यंत प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना-प्रत्यालोचना का जो लंबा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रांतिकारी बवंडर मचा था, उससे उस युग के पाठक भली भाँति परिचित हैं। आज मैं अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ, पर यदि विचारपूर्वक, उदार दृष्टि से देखा जाय तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रांतिकारी युग में मेरे भीतर कला-संबंधी प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र

सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया - प्रतिक्रिया ने जो तहलका मचा रखा था, उसके फल-स्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।"

जोशी जी ने इसी लेख में यह जो लिखा है कि वे प्रेमचंद की प्रतिभा की विराटता को बराबर मानते थे, यह बात ऐतिहासिक रूप से बिल्कुल गलत है। उन्होंने उन दिनों 'प्रेमाश्रम' की जो समालोचना लिखी थी, उसमें उन्होंने इस प्रकार की कोई भी बात नहीं कही थी। प्रेमचंद ने अपनी ऐश्वर्यशाली रचनाशक्ति के द्वारा जोशी ऐसे समालोचकों से अपनी प्रतिभा की विराटता को बाद को स्वीकार करवा लिया यह दूसरी बात है।

जो कुछ भी हो, जब जोशी जी की ओर से प्रेमचंद पर यह हमला हुआ, तब स्वाभाविक रूप से 'माधुरी' संपादक यह चाहने लगे कि प्रेमचंद जी इसका कोई उत्तर दें, किन्तु उन्होंने स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया। विद्यापीठ की उच्च कक्षा के एक छात्र श्री जनार्दन झा ने इसका उत्तर तैयार किया; इसमें जनार्दन जी ने जो कुछ लिखा था, उसको प्रेमचंद ने ठीक किया; इसके बाद यह लेख 'माधुरी' में छपा। जोशी जी ने यह ठीक ही लिखा है कि उन दिनों इस वाद-विवाद से हिंदी जगत में काफी तहलका मचा था।

उनके अध्यापन का तरीका : उनके अध्यापन के संबंध में भी दो शब्द। वे छात्रों को भूगोल पढ़ाते थे और बहुत योग्यता के साथ पढ़ाते थे। उनकी जबान से भूगोल बहुत ही दिलचस्प हो जाता था। वे जब स्कूल आते थे तो साथ में कोई न कोई अँगरेजी उपन्यास ले आते थे, और यदि कोई घंटा खाली हो जाता था तो वे उसे उस समय पढ़ते थे। कुछ पढ़ते थे, फिर सोचते जाते थे। वे अपने कथानक के स्वप्न में ऐसे डूबे रहते थे कि यदि कोई उन्हें अकस्मात् चुपचाप अकेले में बैठे देख लेता, तो वे उसे एक अफीमची या स्वप्न-द्रष्टा ज्ञात होते। वे अपने अंतर्जगत में ही निवास करते थे। अवश्य जैसा कि हम बता चुके वे अपने चरित्र के इस स्वप्नद्रष्टृत्व को अपने काम के बीच में नहीं आने देते थे। कभी किसी छात्र को यह शिकायत नहीं हुई कि उन्होंने पढ़ाने में कम ध्यान दिया। हेडमास्टर कहने से जिस प्रकार हौए का बोध होता है, उनके व्यवहार से उस प्रकार की कोई बात नहीं टपकती थी। यह शायद उनका सबसे बड़ा सत्गुण था। केवल क्लास के घंटों में ही नहीं, बल्कि इनसे बाहर भी यदि कोई छात्र अपना अधकचरा लेख आदि ले कर उनके पास

पहुँचता था, तो वे बड़े चाव से उसे सुनते थे, और अपने सुझाव पेश करते थे। विद्यापीठ के छात्रों के लिए यह दुर्भाग्य की बात रही कि किसी टेकनिकल मामले को ले कर उनमें और विद्यापीठ के अधिकारियों में मतभेद हो गया, और वे इस्तीफा दे कर वहाँ से अलग हो गये।

ग्राम-जीवन : विद्यापीठ की नौकरी के बाद वे कुछ दिन अपने गाँव में जा कर रहे। प्रेमचंद रचित साहित्य में गाँवों के जीवन का बहुत अच्छा चित्रण है। इसका कारण केवल यही नहीं था कि वे स्वयं गाँवों में पले थे, बल्कि इसका कारण यह भी था कि बराबर वे गाँव में जा कर अपनी उस पुरानी अभिज्ञता को ताजी करते जाते थे। गाँव में किस प्रकार रहते थे, उसका विवरण शिवरानी जी ने इन शब्दों में लिखा है —

"आप गाँव में रहते, तो अपने दरवाजे पर हमेशा झाड़ू लगाते। कभी-कभी मैं उन्हें रोकती। छोटे बच्चों को दरवाजे पर बैठा कर चार बजे शाम को उनके पास मिट्टी इकट्ठा कर देते, पत्तियाँ इकट्ठा कर देते, सिकटे इकट्ठे कर देते, और लड़कों को खेलने का ढंग सिखाते। उसके बाद जब गाँव के काश्तकार इकट्ठा होते तो उनसे बातें करते, झगड़ा निपटाते, बच्चों से खेलते भी जाते। कोई नये कायदे-कानून बनते तो उन काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो वे बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे। उम्र की बड़ाई के लिहाज से जिसका जैसा संबंध होता, सदा वैसा आदर देते। चाहते थे कि गाँव एक किला बन जाय। उपन्यासों के चित्रों की तरह सजीव कर देना चाहते थे। काश्तकारों की कमजोरी देख कर उनको बड़ा दुख होता। काश्तकारों की स्त्रियों से भाभी, चाची, बहिन, बेटी का जैसा संबंध होता, सदा उसी तरह का व्यवहार करते। उनमें बड़ों को वे सलाम करते थे। जो भाभी लगती थीं, अगर वे मजाक कर देतीं तो हँस देते, और बुरा न मानते थे।" (प्रेमचंद घर में, पृ० ६२-६३)।

अलवर राज का निमंत्रण अस्वीकृत : हमने अब तक जो कुछ लिखा है उससे इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि प्रेमचंद अपनी आन तथा सिद्धांत के सामने पद तथा रुपयों को कुछ नहीं समझते थे। किंतु एक घटना से उनकी कलाकार सुलभ निस्पृहता जितनी स्पष्ट हो जाती है, उतना किसी घटना से नहीं होता। हमने यह दिखलाया है कि वे कठिन बीमारी में भी लिखने का

काम नहीं छोड़ते थे, किंतु इस घटना का यह अर्थ बखूबी लगाया जा सकता है कि वे उसी प्रकार लिखते थे जिस प्रकार दूसरे लोग और और धंधे करते हैं—अर्थात् वे रुपयों के लिए लिखते थे। किंतु यह बात नहीं। सन् १६२४ का युग था। "आप लखनऊ में थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से राजा साहेब की चिट्ठी ले कर पाँच-छह सज्जन आये। राजा साहेब उपन्यास कहानियों के शौकीन थे। राजा साहेब ने ४०० रु० प्रति मास नकद, मोटर, बँगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन महाशयों को यह कह कर कि मैं बहुत बागी आदमी हूँ, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी, राजा साहेब को एक खत लिखा—

'मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आप जो पद मुझे दे रहे हैं मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा।

एक साहित्य सेवी,

धनपतराय।"

इस घटना से ज्ञात होता है कि यद्यपि लिखना उनकी जीविका का साधन हो चुका था, फिर भी वे एक आदर्श के लिए लिखते थे। भले ही उस आदर्श से कोई पूर्णरूप से सहमत न हो, उस आदर्श के लिए उन्होंने त्याग स्वीकार किया, इसमें कोई संदेह नहीं। बहुत कम साहित्यिक ऐसे हैं जो इस प्रकार किसी न किसी दाम पर बिकने के लिए तैयार न हों। उस युग तक प्रेमचंद बराबर मुनाफाखोर प्रकाशकों के शिकार थे, उनकी पुस्तकें कागज के दामों पर प्रकाशक खरीद रहे थे, फिर भी इस प्रकार अपने स्वाभिमान को कायम रख कर उन दिनों के ४०० रु० नकद, मोटर और बँगले का लोभ छोड़ देना उनके लिए बहुत बड़े त्याग की बात थी। वे किसी राजा-महाराजा के लिए नहीं लिखते थे, बल्कि पढ़ी-लिखी जनता के लिए लिखते थे, इसीलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे किसी राजा के हाथों बिकना नहीं चाहते थे। भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक फटे-

हाल होते थे, उनके लिए इतना बड़ा प्रलोभन बहुत भारी था। केवल यही नहीं, बहुत बड़े-बड़े देशभक्तों की देशभक्ति इतने दामों पर बिक जाती।

उनके जीवन में पत्नी का अच्छा प्रभाव: उनके जीवन पर श्रीमती शिवरानी देवी का प्रभाव बहुत अच्छा रहा। कोई मामूली स्त्री तो अलवर राज के निमंत्रण को ठुकराने के लिए पति से लड़ बैठती। भला कौन स्त्री यह नहीं चाहती कि उसके पति और पुत्र सुख से रहें, किंतु शिवरानी जी ने उनके द्वारा अलवर राज के प्रस्ताव के प्रत्याख्यान का समर्थन किया, और उनकी इसके लिए तारीफ़ ही की कि उन्होंने इस झगड़े से अपना छुटकारा कर लिया। केवल यही नहीं। शिवरानी देवी ने उनका शराब पीना छुड़ा दिया। स्मरण रहे कि कायस्थों में विशेष कर पुरानी चाल के कायस्थों में शराब पीना कोई ऐसी अनहोनी बात नहीं थी। यह तो आम रिवाज था। ब्याह, शादी तथा अन्य शुभ अवसरों पर बच्चों से बुड्ढों तक सभी शराब पीते थे, और इसे कोई बुरी दृष्टि से नहीं देखते थे। इसी सन् १६२४ की बात है प्रेमचंद जी 'माधुरी' आफिस की कुछ किताबों को बोर्ड द्वारा मंज़ूर कराने के लिए बेदार साहेब के यहाँ प्रयाग में गये। बेदार साहेब शराबी थे। उन्होंने प्रेमचंद जी को शराब पिला दी। पीते-पीते वे इतना पी गये कि नशे में चूर हो गये। वहाँ से लौटे तो भी नशे में ही थे। रात को घर पहुँचे तो सब लोग सो गये थे। बड़ी देर तक किवाड़े खटखटाने के बाद लोग जागे, किंतु भीतर से ही शिवरानी देवी समझ गयीं कि वे नशा पिये हुए हैं। शिवरानी देवी ने दरवाजा नहीं खोला। दूसरे दिन मियाँ-बीबी में शराब पीने पर बहुत खटपट रही। प्रेमचंद सफ़ाई में यह कहते रहे कि बेदार साहब नहीं माने।

शिवरानी—आप बच्चे तो थे नहीं कि बेदार साहेब ने जबरदस्ती आपके मुँह में उड़ेल दिया। आइंदा अगर आप फिर पी कर आयेंगे तो मैं जागती हुई भी दरवाजा न खोलूँगी।

इस प्रकार दोनों में तकरार होती रही। इसके पाँच-छह रोज बाद प्रेमचंद फिर बेदार साहेब के यहाँ गये, और वहाँ शराब पी कर फिर नशे में

चूर हो गये। उस दिन वे सरेशाम ही लौट आये। इसके बाद की कहानी श्रीमती शिवरानी के शब्दों में यों है—रात को दो बार कै हुई। मैं तो उठी नहीं। मेरी भावज ने उठ कर पानी-वानी दिया। रात ही को कै भी साफ की। सुबह जब नशा उतरा तो बोले—रात को मेरी यह हालत थी। तुम कहाँ थीं ?

मैं बोली—मैं इन आदतों के फेर में पड़नेवाली नहीं। मैं उसी दिन आपसे कह चुकी हूँ।

आप बोले—बेचारी दुलहिन न होती तो मुझे पानी देनेवाला कोई नहीं था।

'मैं इसके लिए पहले ही बता चुकी हूँ।'

'तुम्हारा दिल बड़ा कड़ा है।'

'आज आपने समझा ?'

फिर उस दिन से उन्होंने कभी शराब नहीं पी।

जमीन मेरी गद्दी है : जिस युग में वे लखनऊ में 'माधुरी' के संपादक थे उन्हीं दिनों काला काँकर के राजा उनके घर आये। उनको बैठाया गया, और पान-इलायची दी गयी, किंतु वहाँ जो बैठने का प्रबंध था, वह बहुत मामूली था। कुर्सियाँ भी नहीं थीं। इस पर मेहमानों के चले जाने के बाद शिवरानी जी ने कहा कि यह बहुत भद्दी बात है कि बड़े आदमी आपसे मिलने आवें, और आप बैठने के लिए उन्हें कुर्सी तक न दे सकें, इसलिए अच्छा है कि आप कुर्सियाँ मँगा कर रख लें। इस पर प्रेमचंद जी बड़े जोर से हँसते हुए बोले—तो फिर मैं राजा लोगों के लिए थोड़े ही इन्तजाम करता हूँ। मैं तो मजदूर हूँ। जो मोटा-मोटा खाने-पहनने को मिला, खाया-पहना। मेरी गद्दी तो जमीन है। अब उन लोगों को अच्छा न लगे, तो इसके लिए मैं क्या करूँ।

बहुत कह-सुन कर शिवरानी जी ने ५० रुपये का फर्निचर मँगवा कर उससे कमरा सजा दिया, किंतु वे हमेशा जमीन पर बैठते। जमीन पर एक डेस्क रख लेते, और एक डेस्क बच्चे के लिए होती। उस बच्चे को रोज सुबह आप ही पढ़ाते।.....रोजाना उस कमरे की सफाई स्वयं वे करते। मैं अपने दिल में सोचती, मैंने नाहक फर्निचर मँगा कर और उनकी बला बढ़ा दी। झाड़ना-पोंछना उनका वक्त खराब करने लगा।

हिंदुस्तानी पर प्रेमचंद : हमने इस अध्याय में मुख्यतः शिवरानी जी

की पुस्तक की सहायता से ही घटनाओं का वर्णन किया है, यह स्वाभाविक ही है क्योंकि स्त्री से बढ़ कर कौन उनकी छोटी-छोटी बातों को जान सकता है? शिवरानी जी ने प्रेमचंद के संबंध में सभी सत्यों को नग्न रूप में रख दिया है, किंतु उनकी पुस्तक को पढ़ने से यही छाप पड़ती है कि उन्होंने मोटे तौर पर उस महान उपन्यासकार के सम्पूर्ण जीवन का एक सही चित्र पाठकों के सम्मुख पेश करने का प्रयत्न किया है। हमें इस पुस्तक में कई स्थानों पर प्रेमचंद जी के अंतरंग विचारों का परिचय होता है। उदाहरणार्थ इन दिनों हिंदुस्तानी तथा हिंदू-मुस्लिम प्रश्न पर उनके विचार कैसे हो चुके थे, इसका परिचय मिलता है। स्मरण रहे कि ये उनके सार्वजनिक रूप से कहे हुए विचार मात्र नहीं थे, बल्कि स्त्री से कहे हुए विचार थे। प्रेमचंद जी महात्मा जी से बातचीत कर वर्धा से लौटे थे, वे बहुत प्रभावित थे। बोले—महात्मा गांधी हिंदू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिंदी और उर्दू को मिला कर हिंदुस्तानी बनाना चाहता हूँ।

शिवरानी—आप कैसे बनाते हैं हिंदुस्तानी?

आप बोले—जो कुछ मैं लिखता हूँ, वह हिंदुस्तानी में लिखता हूँ।

शिवरानी—तो आप के लिखने से हिंदुस्तानी हो गयी?

आप बोले—जिसको हिंदू मुसलमान दोनों मानें, जिसको आम जनता समझे वह है हिंदुस्तानी, और मेरा ख्याल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी बनेगी तो वह हिंदी-उर्दू को मिला कर।

शिवरानी—यह तो हिंदुस्तान है। यहाँ तो आम भाषा हिंदी होनी चाहिए थी।

आप बोले—यह हिंदुस्तान नाम कैसे पड़ा, तुमको मालूम है? यहाँ जब पहले मुसलमान आ कर आबाद हुए, तभी इसका नाम पड़ा था हिंदुस्तान। नाम तो पड़ गया हिंदुस्तान, किंतु भाषा के लिए अभी झगड़ा मचा हुआ है। यह झगड़ा तभी हटेगा, जब हिंदू और मुसलमान ठंडे दिल से सोच लेंगे कि हम दोनों को साथ ही साथ रहना है।

उन्होंने 'उर्दू, हिंदी और हिंदुस्तानी,' 'राष्ट्रभाषा और उसकी समस्याएँ', 'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार' आदि लेखों में इस संबंध में अपने सुचिंतित विचार पेश किये हैं। इस संबंध में हम ब्यौरे में नहीं जायेंगे। संक्षेप में

उनके विचार ये थे — उर्दू और हिंदी में क्यों इतना सौतियाडाह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को उर्दू नाम प्रिय है, तो उन्हें इसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें हिंदी नाम से प्रेम है, वह हिंदी ही कहें।' (कुछ विचार, भाग एक, पृ० १८६)। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के संबंध में उनके विचार बहुत ही उदार रहे। इस प्रश्न का अभी अंतिम हल नहीं हुआ है, इतने बड़े एक भाषामर्मज्ञ के इस संबंध में क्या विचार हैं, यह जान लेना बहुत ही उचित और हल काढ़ने में सहायक हो सकता है।

हिंदू-मुस्लिम प्रश्न : शिवरानी देवी से उनकी जिस बातचीत का ऊपर उल्लेख किया गया है; उसी के दौरान में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम प्रश्न पर रोशनी डालते हुए यह कहा था — मैं एक इंसान हूँ। मेरे लिए राम, रहीम, बुद्ध, ईसा, सभी श्रद्धा के पात्र हैं, और इन सभी को महापुरुष समझता हूँ। जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूँ, और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ।

इस पर शिवरानी जी ने कहा — कैसे दोनों बराबर हैं? मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं, और उसी कुर्बानी के पीछे हजारों हिंदू-मुसलमानों की जाने जाती हैं।

आप बोले — इसका दोषी एक ही वर्ग नहीं है। अगर मुसलमान कुर्बानी करता है, एक बूढ़ी-बेढ़ी गाय को ले कर जिस पर कि दोनों कौमों में झगड़ा होता हो, तो जब अँगरेजों के यहाँ सैकड़ों गायें और बछड़े मारे जाते हैं तब क्यों नहीं हिंदुओं के खून उबलते?.........कौन-सा ऐसा देवी का मंदिर है जहाँ बकरों की कुर्बानी न होती हो? क्या बकरा जीव नहीं है?.........स्त्रियों पर सबसे ज्यादा ज्यादती हिंदू ही करते हैं। जरा-सी भूल हो गयी, उसको घर से निकाल बाहर किया। हिंदू अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारते हैं, उस पर कहते हैं कि हिंदू को मुसलमान बना लिया गया। औरत को जब घर से निकाल देते हैं तब यह नहीं सोचते कि आखिर वह जायेगी कहाँ? आखिर वह मुसलमान ही होगी, तब उसको क्यों घर में नहीं रहने देते। औरत से जो गलती हो जाती है, उसकी गुनहगार अकेली औरत ही नहीं है, पुरुष भी है। बल्कि मैं तो कहता हूँ कि पुरुष औरत से दूना गुनहगार नहीं तो ड्योढ़ा जरूर है। फिर स्त्री को ही क्यों बाहर निकाला जाता है, पुरुष को क्यों नहीं निकाला जाता? उसका क्यों नहीं बहिष्कार किया जाता.........।

४०००० रु० की आतशबाजी सन् २८ के नवम्बर के लगभग किसी समय लखनऊ मे गवर्नर साहब पधारे। यह मालूम हुआ कि ४०००० रु० आतशबाजी और रोशनी मे खर्च होगा। इस खबर की उनके मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई, यह द्रष्टव्य है। उन्होने अपनी स्त्री से कहा — जो राजे-महराजे हर साल यहाँ आते है, वे कुछ न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते है कि जब-जब वाइसराय और युवराज यहाँ पधारें, तब-तब वह उनके स्वागत मे खर्च हो। और जो कमी पडती है, वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारो से वसूल किया जाता है। उन गरीबो के खून की कमाई घास कूडे की तरह आतशबाजी मे फूँक दी जाती है। जिस मुल्क मे आदमी की कमाई औसतन छह पैसे रोज हो, उस मुल्क मे किसी को क्या हक है कि एक-शहर मे ४०-४० और ५०-५० हजार आतशबाजी मे फूँका जाय? जहाँ पर तन ढकने को कपडा न हो, दोनो जून रूखी रोटियाँ भी न मिलें, उस मुल्क मे इस बेरहमी से पैसा फूँका जाय, और इसलिए कि वाइसराय साहेब खुश होंगे, और इन मोटे आदमियों को खिताब देंगे।

गरीबो से सहानुभूति इस प्रकार वे यहाँ की गरीब जनता के दुख को अनुभव करते थे, जिसका परिचय हम उनके उपन्यासो मे देख सकते है। उनके ये विचार केवल निरी भावुकता के रूप मे ही नही थे बल्कि वे इस सबध मे रचनात्मक तरीके से अपने ढग से सोचते थे कि वर्तमान पद्धति को नष्ट करने पर ही इन समस्याओ का हल होगा। उनको इस बात पर बडा क्रोध आता था कि कैसे मुट्ठी भर लोग करोडो भारतवासियो पर अपना राज्य कायम किये हुए हैं। वे यह समझते थे कि जब लोगो की मरता क्या न करता वाली हालत हो जायेगी, तभी वे सब कुछ करने को तैयार होगे, और तभी इन सारे दुखो का अत होगा। उनका कहना था 'जब तक इसान को थोडा-सा भी सुख मिलता जाता है, तब तक उससे सुख का मोह छोडा नही जाता, लालसा आगे को बनी रहती है। जब इसान समझ लेता है कि इन्सान मरने वाला है, मरने के सिवा कोई चारा नही है, तो मरने के लिए तैयार होता है।'

स्वराज्य का स्वरूप और रूस शिवरानी जी ने इस पर सदेह जाहिर किया कि जब स्वराज्य हो जायगा तो क्या चूसना बद हो जायगा। आपने कहा — 'चूसा तो थोड़ा हर जगह जाता है कि कमजोर को शहजोर चूसे।

हाँ, रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, और अब वहाँ गरीबों को आनंद है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।'

इस प्रकार से रूस के संबंध में सोचना यह भी उनकी प्रगतिशीलता का एक परिचय था। यह पता चलता है कि १९१७ की रूसी क्रांति से वे बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने एक पत्र में बालशेविकों की नीति की प्रशंसा १९२० से पहले की थी। अवश्य वे यह शायद समझ नहीं पाये कि रूस में जो क्रांति हुई है उसका क्या स्वरूप है और कैसे वर्गयुद्ध के द्वारा ही इस प्रकार की क्रांति की जा सकती है, किंतु इतना समझना ही उनके लिए कम श्रेय की बात नहीं थी कि कथित लोकतंत्रों से रूस कहीं आगे बढ़ा हुआ है, तथा वहाँ लोग लोकतंत्रों से कहीं अधिक सुखी हैं क्योंकि शोषण का अन्त हो गया। शिवरानी जी ने जब यह प्रश्न किया कि आप किसका साथ देंगे, तो उन्होंने कहा कि वे मजदूरों और काश्तकारों का साथ देंगे। उन्होंने कहा—'मैं पहले सबसे कह दूँगा कि मैं तो मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर ही हैं।'

इस प्रकार वे अपने को कलम का मजदूर समझते थे। शिवरानी जी ने हँस कर पूछा कि आप के कहने से थोड़े ही आप मजदूर मान लिये जायँगे। वे बोले—'क्या रूस में लेखक नहीं हैं? वहाँ के लेखकों की हालत यहाँ के लेखकों की हालत से अच्छी ही नहीं, कई गुनी अच्छी है। मैं तो उस दिन के लिए मनाता हूँ कि वह दिन जल्दी आवे।

शिवरानी जी बोलीं—तो क्या रूसवाले यहाँ भी आयेंगे?

वे बोले—रूसवाले यहाँ नहीं आवेंगे, बल्कि रूसवालों की शक्ति हम लोगों में आयेगी।

शिवरानी—वे लोग अगर यहाँ आते तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।

वे बोले—वे लोग यहाँ नहीं आवेंगे। हमी लोगों में वह शक्ति आवेगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों, मजदूरों का राज्य होगा। मेरा ख्याल है कि आदमियों की जिंदगी औसतन दूनी हो जायेगी।

शिवरानी बोलीं—यह कैसे होगा?

आप बोले — सुनो, वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करने पर भरपेट आराम से रोटियाँ नहीं मिलतीं। रात-दिन कुछ न कुछ फिक्र हमेशा रहती है।

शिवरानी — फिक्र हम लोग अपने आप ही तो करते हैं। मजदूरों का राज्य होने पर क्या हमको फिक्रों से छुट्टी मिल जायेगी ?

आप बोले — क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारी बीवी, बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होगी, और इसकी जिम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है, तो हमारा क्या सिर फिर गया है कि हम अपनी जान खपा कर दिन-रात मेहनत करें और आमदनी का कुछ न कुछ हिस्सा काट कर अपने पास जमा करने की कोशिश करें ? हमको मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल-बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होने पायेगी, तो ऐसा कौन आदमी है जो आराम से खाना-पीना नहीं चाहेगा ? (प्रेमचंद घर में, पृ० १४९-५०)।

खिताब अस्वीकृत : जब लेखक रूप में प्रेमचंद जी की ख्याति बहुत बढ़ गयी, तो सरकार ने रायसाहबी का खिताब देना चाहा। यह अच्छा मजाक था, क्योंकि 'सोजे वतन' की कापियाँ तो जला दी गयीं और प्रेमचंद जी की प्रतिभा का गला घोंट कर मारने की प्रत्येक चेष्टा की गयी, उनको इन्हीं कारणों से परेशान हो कर नौकरी छोड़नी पड़ी, और अब उन्हें खिताब दिया जाने लगा। उन दिनों सर माल्कम हेली युक्तप्रांत के गवर्नर थे, उन्होंने अपने एक हिंदुस्तानी मित्र के जरिये से प्रेमचंद जी को यह खबर दी कि वे यदि राय-साहेबी का खिताब स्वीकार करें, तो सरकार उन्हें खिताब देने के लिए तैयार है। जिस प्रकार उन्होंने अलवर राज के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था, उसी प्रकार उन्होंने खिताब स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। उन्होंने कहा यदि मैं रायसाहेबी स्वीकार करता हूँ, तो फिर मैं जनता का आदमी न रह एक पिट्ठू रह जाऊँगा — अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है, तब गवर्नमेंट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा।' नतीजा यह है कि उन्होंने सरकार को कहला दिया कि 'मैं जनता का तुच्छ सेवक हूँ, अगर जनता की रायसाहेबी मिलेगी तो सिर आँखों पर, गवर्नमेंट की रायसाहेबी की इच्छा नहीं।' इस प्रकार

वे रायसाहेबी की बला से बचे। रायसाहेबी देने का जो प्रस्ताव आया था, उसमें बात केवल रायसाहेबी देने तक ही नहीं थी, सरकार किसी न किसी और तरीके से भी उन्हें खरीदना चाहती थी, किंतु जब रायसाहेबी के प्रस्ताव को ही उन्होंने ठुकरा दिया, तो आगे किसी बात का प्रश्न नहीं उठा।

शिवरानी जी की जेल-यात्रा : १९३० के आंदोलन के जमाने में वह 'माधुरी' का संपादन कर रहे थे। प्रेमचंद जी स्वयं जेल जाने का इरादा कर रहे थे, किंतु उनका स्वास्थ्य खराब होने के कारण शिवरानी जी यह नहीं चाहती थीं कि वे जेल जायँ, किंतु वे यह समझती थीं कि इस राष्ट्रीय यज्ञ में पति-पत्नी में से किसी न किसी की आहुति होनी आवश्यक है। तदनुसार वे धड़ल्ले से काम करने लगीं। वे विदेशी वस्त्रों की दूकानों पर पिकेटिंग करती हुई गिरफ्तार कर ली गयीं। इन दिनों प्रेमचंद जी क्या सोचते थे, इस संबंध में उन्होंने स्वयं जैनेंद्र जी को जो एक पत्र लिखा था, उससे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं। उन्होंने लिखा था "मेरी पत्नी जी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गयीं हैं, कल फैसला हुआ है। इधर पंद्रह दिन से इसीमें परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था, पर उन्होंने खुद जा कर मेरा रास्ता बंद कर दिया।" (प्रेमचंद : एक अध्ययन, पृ० ७८१)।

उन दिनों प्रेमचंद 'गबन' उपन्यास लिख रहे थे। जैनेंद्र जी ने उल्लिखित पत्र को अपने संस्मरण में प्रकाशित करते हुए यह लिखा है कि 'यह भाग्य ही हुआ कि वे जेल नहीं गये, जेल के बाहर रहना ज्यादा कठिन तपस्या थी।' हम इस संबंध में जब शिवरानी जी के संस्मरण को पढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि अपनी पत्नी के इस प्रकार जेल जाने से उनको बहुत परेशानी हुई, उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया, तथा वे वजन में भी घट गये, किंतु ऐसा तो ज्ञात नहीं होता कि इस अर्थ में जैनेंद्र जी ने कठिन तपस्यावाली बात लिखी हो।

'आज' में, लेख, लेखक का कर्तव्य : प्रेमचंद जी ने 'आज' में एक लेख लिखा जिससे हिंदू जनता जिनमें अधिकतर काँग्रेसी थे, उन पर बहुत नाराज हुई। शिवरानी जी ने लिखा है कि वहाँ उन दिनों हिंदू सभा का जोर था, कांग्रेसी भी हिंदू-सभा का पक्ष लेते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि अधिकांश कांग्रेसी साम्प्रदायिक विचार रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

जानकारो को यह मालूम है कि काग्रेस के दफ्तरो मे बैठ कर लोग हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की बात करते है, किन्तु बाहर आपसी रूप से साम्प्रदायिकता भरी बाते करते हे। शिवरानी जी लिखती हैं कि इस लेख के कारण कई महाशय आये, और बोले—'आपने जो लेख लिखा है, उससे काशी के हिंदू आपसे बहुत नाराज है।' उन आनेवाला मे अधिकतर काग्रेसी थे।

बाबू जी जब अदर आये तो म बोली—ये लोग क्या कह रहे है?

—कुछ नहीं जी, वह लेख बडा सुदर हे।

—मारने की धमकी आखिर क्यों दे रहे है?

—यह सब हिंदू सभा वालो का काम हे।

—ये सब तो काग्रेसी थे।

—आजकल ये लोग भी उसी के पक्षपाती है। (प्रेमचद्र घर मे, पृ० २००)

इस पर शिवरानी जी बोलीं—ऐसा लेख आप क्यों लिखते है कि लोग दुश्मन बने। कभी गवर्नमेंट, कभी पब्लिक, कोई न कोई तुम्हारा दुश्मन रहता ही हे। आप ढाई हड्डी के तो आदमी है।

इस पर प्रेमचद ने जो कुछ कहा, उससे लेखक का जो कर्तव्य है, उस पर रोशनी पडती है। उन्होने कहा—लेखक को पब्लिक और गवर्नमेंट अपना गुलाम समझती हे। आखिर लेखक भी कोई चीज हे। वह सभी की मजा के मुताबिक लिखे, तो लेखक कैसा? लेखक का भी अस्तित्व हे। गवर्नमेंट जेल मे डालती हे, पब्लिक मारने की धमकी देती हे, इससे लेखक डर जाय, और लिखना बद कर दे।

शिवरानी—सब कुछ करें, मगर अपनी जान का दुश्मन तैयार न करें।

आप बोले—लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।

—यह बात तो ठीक है, लेकिन रोज का झगड़ा ठीक नही।

—यह दुनिया ही झगडे की है, यहाँ घबडा कर भागने से काम नही चलता। यहॉ मैदान मे डटे रहना चाहिए। (प्रेमचद घर मे, पृ० २०१)।

लेखक के कर्त्तव्य के सबध मे प्रेमचद ने जो बाते कही हैं वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी बात-चीत मे प्रेमचद ने और भी कहा—लेखक हर आदमी की बात कैसे सोच सकता हे? वह तो जीहुजूरी हुई। लेखक उसमे कहाँ रहा? लेखक किसी की परवाह किये बिना ही अपने विचार देगा, और हृदय से जनता उन विचारो को लेगी भी। और फिर जनता भेड भी तो है। जिसे माना उसीके इशारे पर चलती

रही, यह कोई अच्छी बात नहीं। मेरी राय है जनता स्वयं अपना भला-बुरा निर्णय करे। यहाँ तो लोगों को लीडरी की पड़ी रहती है। तब भला वे कैसे जनता के हित की ही बात सोचें? हिंदू-मुसलमान की लड़ाइयों में तो ये अपनी लीडरी चमकाते हैं।

भले ही ऊपर कही हुई सब बातों से कोई सहमत न हो, किंतु इन बातों में स्वतंत्रता की जो छाप है, उसे एक बहुमूल्य निधि मानना ही पड़ेगा। सरासर यह कहना कि जनता भेड़ है, ठीक नहीं, किंतु जब इसके साथ पिछड़ी हुई शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह मंतव्य सही मालूम होता है। पिछड़ी हुई जनता अवश्य ही भेड़ की तरह होती है, इसका प्रमाण हम सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक कदम पर पा सकते हैं। लेखक लोकशिक्षक भी है, इसलिए वह न तो दमनकारी सरकार और न मूर्ख, अज्ञ, पिछड़ी हुई जनता के ही द्वारा परिचालित हो सकता है। प्रेमचंद का जितना जीवन हम देख चुके हैं, उससे वे न तो कोई देवता ही ज्ञात होते हैं, और न दूध के धुले हुए ही साबित होते हैं, किंतु एक लेखक के रूप में उन्होंने हमेशा अपनी स्वतंत्रता कायम रखी, किसी के हाथों बिकने से अस्वीकार किया, इसमें संदेह नहीं। प्रेमचंद की कला में जो पुरुषत्व और ओज है, जो निर्भीकता है, वह उनके महान चरित्र का ही प्रतिफलन है। 'आज' वाले लेख में उन्होंने क्या लिखा था, यह हमें ज्ञात नहीं है, किंतु अपने मत को उन्होंने लल्लोपत्तो बिना किये रखा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रकाशक के रूप में : यों तो उनका असली काम लिखना ही रहा, किंतु अब वे आगे चल कर अपने प्रकाशक भी हो गये। वे बहुत पहले से ही एक प्रेस लेने की बात सोच रहे थे, यह हम पहले ही बता चुके हैं। एक लेखक के दिमाग में यह इच्छा क्यों उत्पन्न हुई, यह समझना उस हालत में कठिन न होगा जब कि हम इस बात को स्मरण रखें कि उनकी जिन किताबों से प्रकाशकों ने हजारों रुपये कमाये, उन पुस्तकों के लिए उन्हें नाम मात्र के पुरस्कार मिले। स्वाभाविक रूप से ऐसी हालत में एक लेखक के मन में यह इच्छा उठनी स्वाभाविक है कि वह अपनी पुस्तकें स्वयं प्रकाशित करे, जिससे उसे ढंग से रोटी तो मिले। यदि हम यूरोप के लेखकों को देखें, तो देखेंगे कि वहाँ कोई लेखक प्रकाशन के पचड़े में पड़ना पसंद नहीं करता। यह बात नहीं कि वहाँ के पूँजीवादी प्रकाशक लेखकों का शोषण नहीं करते, किंतु यह शोषण हिंदी से कहीं

कम होता है, इसमें संदेह नहीं है। जो कुछ भी हो, इस प्रकार जो प्रेमचंद को प्रेस आदि लेना पड़ा, उससे साहित्य की हानि ही हुई, वह इस अर्थ में कि उन्हें अपने समय का एक भाग प्रेस चलाने के पचड़े में देते रहना पड़ा। जब प्रेस हुआ तो उसकी आनुषंगिक जितनी बातें थी, वे भी हुईं। एक बार इनके प्रेस में हड़ताल हुई। हड़ताल के कारण वे मैनेजर पर नाराज हुए। शिवरानी जी से बोले — 'मैनेजर की ही सब शरारत है। कभी घड़ी को सुस्त कर देता है, कभी तेज कर देता है। मैंने एकांत में बीसों बार समझा दिया कि बाबा, ऐसा मत किया कर, पर माने तब न। फिर प्रेस में तो तरह-तरह के घाटे हैं, क्या इन्हीं मजदूरों के बल पर घाटे पूरे होंगे? हम लोगों को तो ज्यादा रुपये मिलते हैं, फिर भी खर्चे को पूरा नहीं पड़ता। तब गरीबों को कैसे पूरा पड़ेगा।.........इन लोगों की तनख्वाह तब नहीं कटती जब ये हफ्तों गायब रहते हैं, तब क्यों मजदूरों की ही तनख्वाह देर से आवें तो कट जाय? जरा भी गलती कहीं हुई कि चट निकाल कर दूसरे को बुला लिया।' इस प्रकार उनके विचार बहुत उदार थे, किंतु विचार उदार हो कर क्या करते? प्रचलित समाज प्रकृति में उनकी भावुकता तब तक किसी काम की नहीं थी जब तक कि समाजवाद कायम न हो।

'हंस' और 'जागरण' : प्रेस लेने के कारण उनको नाहक की फिक्र हो गयी, और उनके लिखने में बाधा पहुँचने लगी। इन दिनों वे 'हंस' और 'जागरण' भी निकालने लगे थे। बड़ी आशाओं के साथ उन्होंने इन पत्रों को चलाया किंतु उन्हीं के मुँह से उनकी परेशानियों का हाल सुना जाय —

"हंस पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ जमानत भी समाप्त हो जायेगी, पर नया आर्डिनेन्स आ गया, और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गयी। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहेब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी। अब मैंने गवर्नमेंट को एक स्टेटमेंट लिख कर भेजा है। अगर जमानत उठ गयी, तो पत्रिका तुरंत ही निकल जायेगी। छप, कट, सिल कर तैयार रखी है, अगर आज्ञा न दी गयी, तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं न प्रामसरी नोट, न सिक्युरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है। चार-पाँच सौ वी० पी० आ जाते, कुछ रुपये हाथ आते, लेकिन वह नहीं होना है। इस बीच में 'जागरण' को ले लिया है। 'जागरण' के बारह अंक निकले, लेकिन

ग्राहक संख्या दो सौ से आगे नहीं बढ़ी। विज्ञापन तो व्यास जी ने बहुत किया, किन्तु पत्र नहीं चला। उन्हें उस पर लगभग १५०० रु० का घाटा रहा। वह अब बंद करने जा रहे थे। मुझसे बोले यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया है। साप्ताहिक रूप से निकालने का विचार किया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा।.....धन का अभाव है, 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका, कोशिश कर रहा हूँ कि सर्व-साधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या, यहाँ तो जीवन ही एक लंबा घाटा है। यह कुछ चल जायेगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा।" (प्रेमचंद : एक अध्ययन, पृ० ७८२)।

फिल्म कंपनी में : 'हंस' और 'जागरण' से जब अधिक घाटा हुआ, तो इसकी फिक्र होने लगी कि कैसे यह घाटा पूरा किया जाय। इतने में वे बंबई से एक फिल्म कम्पनी की ओर से बुलाये गये। शिवरानी जी ने इसका यह कह कर विरोध किया कि बंबई की आबोहवा अच्छी नहीं है, उनका हाजमा खराब है, इसलिए उन्हें इस प्रस्ताव को न मानना चाहिए, किंतु 'हंस' और 'जागरण' कैसे चलता। उन्होंने उन्हीं दिनों जैनेंद्र जी को यह पत्र लिखा—

'बंबई की एक फिल्म कंपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कंट्रेक्ट की बात है। ८००० रु० साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ, जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ, या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ।......... कंपनीवाले हाजिरी की कोई कैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सीनरियाँ तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कंट्रेक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हजार रुपये मिल जाया करें। उससे 'जागरण', 'हंस' दोनों मजे में चलेंगे, और पैसों का संकट कट जायेगा।'

फिल्म से निराशा : अन्त में वे बंबई गये। कुछ दिनों के बाद तजुर्बे से उन्हें ज्ञात हुआ कि वे फिल्मवालों के साथ कदम रख कर नहीं चल सकते। वहाँ से उन्होने जैनेंद्र जी को लिखा—

'मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर (फिल्म निर्माता) जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity (इतरता) को ये Entertainment value (मनोरंजन मूल्य) समझते हैं। अद्भुत में ही इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नकली लड़ाई, बोसेबाजी, ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फिल्म करते संदेह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं।'

इन्ही दिनों वे 'गोदान' लिख रहे थे। पत्र में लिखा कि 'गोदान' के अंतिम पृष्ठ लिखने को बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। जी चाहता है यहाँ से छुट्टी पा कर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है जीवन नष्ट कर रहा हूँ।' कहाँ वे चलते समय शिवरानी जी से यह कह कर चले थे कि 'वहाँ जाने पर जो खास फायदा होगा, वह यह कि उपन्यास और कहानियाँ लिखने में जो फायदे नहीं हो रहे हैं, उससे कहीं ज्यादा फिल्म दिखला कर हो सकता है। कहानियाँ और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वही तो उनसे लाभ उठा सकेंगे, फिल्म से हर जगह के लोग फायदा उठा सकते हैं'; और कहाँ जैनेन्द्र को लिखे हुए ये उद्गार।

उनके फिल्म : 'मजदूर' नाम से उनका एक फिल्म निकला। उसके संबंध में उन्होंने जैनेंद्र जी को लिखा—

"मजदूर तुम्हें पसन्द न आया, यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता हूँ। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा सा हूँ। 'मजदूर' में भी मैं इतना जरा सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फिल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में लेखक की हुकूमत नहीं चल सकती। उसकी हुकूमत माने तभी लेखक रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि 'आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर जोर से कहता है— 'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ जनता की इस्लाह करने नहीं आये हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना

हमारा गरज है। जो चीज जनता माँगेगी, वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है— 'अच्छा साहेब, सलाम लीजिए, हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अंत में बन्दा काशी में उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नयी कला न सीखने की भी सिफत है। फिल्म में मेरे मन को संतोष न मिला। संतोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झक मार कर पड़े रहते हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है, और कहा जाता है उससे मनोरंजन नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिंदी जानें न उर्दू। अँगरेजी में अनुवाद करके उनको कथा का मर्म समझाना पड़ता है, और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा लिखा।"

इँगलैंड नहीं गये : वे पहले तो बंबई में अकेले गये थे, किंतु कुछ दिनों बाद वहाँ अपने परिवार को भी लेते गये। बंबई में उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा, फिर भी वे बराबर काम करते जाते थे। इसी बीच में स्टुडियोवालों ने उनसे यह कहा—'हमारे साथ आप एक साल के लिए इँगलैंड चलिए।' इस घटना के संबंध में शिवरानी जी लिखती हैं—'आप आ कर मुझसे कहने लगे, मुझसे स्टुडियोवाले कहते हैं कि एक साल के लिए इँगलैंड चलिए, वहाँ फिल्म तैयार करेंगे, और फिर एक साल वहाँ रह कर लौटने के बाद मैं चाहे जहाँ काम करूँ, मुझे दस हजार रुपया साल देते रहेंगे। पाँच फिल्मों के लिए मुझे कहानियाँ तैयार करनी होंगी, एक तरह से ठेका समझ लो।' इस पर शिवरानी जी राजी नहीं हुईं, क्योंकि उन्हें डर था कि उनका स्वास्थ्य शायद विदेश यात्रा बर्दाश्त न कर सके। नतीजा यह हुआ कि वे इँगलैंड नहीं जा सके। प्रेमचंद जी के जीवन में यह मौका बहुत अनोखा था। यह दुर्भाग्य की बात है कि प्रेमचंद इँगलैंड नहीं जा पाये, नहीं तो संभव है कि उनकी लेखनी से कोई नयी तरह का उपन्यास साहित्य-जगत् के सामने आता।

बराबर बीमार : इसके बाद प्रेमचंद जी बराबर कुछ न कुछ बीमार ही रहे। फिर भी आपका जीवन कर्म व्यस्त रहा। भ्रमण कुछ न कुछ करना ही पड़ता था। कहीं इधर से बुलावा आता तो कहीं उधर से, एकाध जगह जाना पड़ता।

आम लोगों का संस्पर्श : १९३५ में वे बंबई से अंतिम बार गाँव में आये। मकान की छतें बुरी तरह टपक रही थीं। यह तय हुआ कि छत की मरम्मत से काम नहीं चलेगा बल्कि पूरी तरह छत बनायी जाय। आप स्वयं बैठे-बैठे छत बनवाते रहे। कोई ऊपर से देखता तो वह यही कहता कि यह मजदूरों पर चौकसी कर रहे हैं, पर वे असल में उन लोगों से बैठे-बैठे बातें किया करते थे। जो व्यक्ति सभ्य समाज के निमंत्रणों से उकता कर भागता था, उसके लिए इस प्रकार अनपढ़ मजदूरों से घंटों बातचीत करना आश्चर्यजनक होने पर भी कतई आश्चर्यजनक नहीं था। इन्हीं लोगों से जो बातचीत होती थी, उसीसे उनको अपने कथानकों को रूप देने तथा सजीव बनाने में मदद मिलती थी। उनके उपन्यासों में आम लोगों के जीवन का जो चित्रण मिलता है उसका उत्सस्थल यहीं पर है। हमें इस संबंध में गोर्की और एक हद तक शरत् बाबू की याद आती है। ये लोग भी कथानक की कल्पना नहीं करते थे, बल्कि लोगों में जा कर कथानक ढूँढ़ते थे क्योंकि तथ्य उपन्यास से भी आश्चर्यजनक होते हैं।

कौंसिल जाने से इनकार—१९३५ में चुनाव होनेवाला था। शिवरानी जी ने कहा कि जब चुनाव हो तो आप खड़े हो जाइये। इस पर उन्होंने कहा कि उनके जीवन का ध्येय कौंसिल में जाने का नहीं है। शिवरानी जी ने पूछा कि फिर जीवन का ध्येय क्या है। इस पर आप हँसते हुए बोले—मेरा काम कौंसिल में काम करनेवालों की समालोचना करना है।

इस पर शिवरानी जी बोलीं—क्या आपने समालोचना करने का ठेका ले लिया है कि घर में बैठे-बैठे सबकी समालोचना करते रहें।

प्रेमचंद जी बोले—जो लेखक का काम है वही काम मैं करूँगा। आखिर वह लोग जो काम करेंगे तो, उनकी समालोचनाएँ कौन करेगा?..........तुम समझती हो कि जो नेता होता है उसमें गुण ही गुण होते हैं, अवगुण उसमें होता ही नहीं है? मैं तो समझता हूँ कि शायद ईश्वर भी निर्दोष न होगा। सच्चा समालोचक सबसे ज्यादा मूल्यवान काम करता है।

इसके बाद आप दिल्ली में और उसके बाद लाहौर में कहानी सम्मेलन में गये।

बीमार, पर फिर भी काम न रुका — १९३६, सोलह जून की बात है कि आप एकाएक घर लौटे, तो यह शिकायत करने लगे कि पेट में दर्द हो रहा है। शिवरानी जी ने उन्हें उल्टी करवायी। फिर उनको पान इलायची दी गयी। वे पान मुँह में डालने ही को थे कि फिर उन्हें कै आ गयी। फिर एक और कै हुई। तिबारा जब कै होने लगी तो शिवरानी जी घबड़ा गयीं। उसी दिन उन्हें खून के दस्त आने लगे। उस दिन से न उन्होंने भर पेट खाना खाया, न नींद भर सोये। पहले होमियोपैथी दवा हुई, फिर ऐलोपैथी हुई। इस पर वे कुछ सँभले। फिर भला उनसे काम कैसे रुकता।

'आज' आफिस में गोर्की की मृत्यु पर सभा होने वाली थी। इसके लिए वे अपना भाषण तैयार करने लगे। जब शिवरानी जी ने इस पर आपत्ति की तो भी वे नहीं माने। बोले — लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है, वही वह सबको दे सकता है। उससे सब लोग लाभ भी उठाते हैं। लेखक तो अपनी तपस्या का कुछ भी अंश अपने लिए नहीं रख छोड़ता। और लोग जो तपस्या करते हैं वह तो अपने लिए। लेखक जो तपस्या करता है उससे जनता का कल्याण होता है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता।

गोर्की पर भाषण — गोर्की के संबंध में उन्होंने इस अवसर पर कहा था कि भारतवर्ष के लोग तो अपनों को भी नहीं जानते, पर जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जायेगा, तो वे भी तुलसी-सूर की तरह चारों ओर पूजे जायेंगे। इससे उनकी उदारहृदयता का पता मिलता है। गोदान-लेखक के लिए गोर्की के प्रति यह प्रेम कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'गोर्की' के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते, तब-तब उनके हृदय में एक प्रकार का दर्द सा उठता दिखाई पड़ता। गोर्की के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा थी। वही उनका अंतिम भाषण था। गोर्की का कोई समकक्ष लेखक उनकी निगाह में नहीं आता था। गोर्की की चर्चा वे अक्सर उन दिनों करते। (प्रेमचन्द घर में, पृ० ३४३)।

इस अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिया था, वही उनका अंतिम भाषण साबित हुआ। उनकी तबीयत खराब रही, यहाँ तक कि खून के कै भी जब कभी हो जाते थे। पर शिवरानी जी ने लिखा है कि एक दिन भी

वे नहीं बैठे। उसीमें उन्होंने 'मंगल-सूत्र' के कितने ही सफे लिख डाले। 'गोदान' के बाद वे इसी उपन्यास को लिख रहे थे कि उसे संपूर्ण न कर पाये और इस संसार से चल बसे। अवश्य ही यह उपन्यास एक बहुत ही ऊँचे दर्जे का उपन्यास होता। तंदुरुस्ती साथ नहीं दे रही थी। उनकी तबीयत गाँव जाने को कर रही थी, पर शिवरानी जी ने जो यह देखा कि गाँव में जाने पर शायद इलाज न हो सके, इसलिए वह राजी न हुईं। फिर भी जब प्रेमचंद जी ने अधिक जोर दिया तो शिवरानी जी हिचकिचाने लगीं। बीमारी अधिक रहने लगी। नया मकान बन रहा था। प्रेस भी उसी में लग रहा था। आप भी उसी में काम करते थे।

अंतिम दिन : उनके अंतिम दिन का वर्णन जितने ब्यौरे के साथ लिखा जाना चाहिए, उतने ब्यौरे में नहीं लिखा गया है। फिर भी शिवरानी जी ने जितना लिखा है उसे मैं उद्धृत करता हूँ—

एक दिन बेहोशी दूर हुई तो बोले—शिवप्रसाद जी गुप्त* ने एक मातृ मंदिर बनवाया है, महात्मा जी उसका उद्‌घाटन करेंगे; उसे देखने के लिए लाखों की भीड़ वहाँ जमा होगी।

मैंने कहा—आप अगर तब तक अच्छे हो जायेंगे तो मैं भी आपके साथ चलूँगी।

आप हँस कर बोले—मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि रानी, तुम्हारी बातें सच निकलें। पर मैं देखता हूँ रानी, तुम्हारी इस जन्म की तपस्या सफल होती नहीं दीखती।

मैंने कहा—आप मन को क्यों छोटा करते हैं। हमने किसी का क्या बिगाड़ा है, भगवान हमारी आशा सफल करेंगे।

आप बोले—रानी, तुम मेरे पास से कहीं भी मत जाया करो। तुम पास बैठी रहती हो तो मेरा धैर्य नहीं टूटता। कल तुमने जो मांस की यखनी खिला दी थी, वह मुझे नहीं पची। तुम ऐसी चीजें क्यों मुझे खिलाती हो?

मैं बोली—डाक्टर की राय से मैंने वह चीज़ आपको खिलायी है। डाक्टर की राय मानूँ कि आपकी?

---

*काशी के प्रसिद्ध देशभक्त और 'आज' के प्रवर्तक।

आप हँस कर बोले—डाक्टर को तो तकलीफ नहीं है, तकलीफ तो मुझे है।

मैंने कहा—उससे, आपको नुकसान क्या हो गया ?

आप बोले—रानी, देखा नहीं तुमने, कितने जोर का दस्त मुझे हुआ था।

मैं बोली—इससे तो फायदा ही है। सब पानी निकल जायगा।

आप चिंता के स्वर में बोले—पानी के साथ सब कुछ निकला जा रहा है रानी ?

मैं उनके शब्द सुन कर रो पड़ी। टप्-टप् कर के मेरे आँसू जमीन पर लुढ़क पड़े। यद्यपि मैं बड़ी कोशिश में रहती थी कि उनके सामने मेरी आँखों से आँसू न निकले। पर इस बार मेरा मन विवश हो गया। मेरे धैर्य का बाँध टूट पड़ा।

दूसरे दिन फिर उनको बेहोशी हुई। बहुत जोर का पाखाना भी हुआ। मैं उसे साफ करने के लिए बढ़ रही थी कि भाई ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा—बहन, वे अब नहीं रहे ! कहाँ जाती हो ?

इस प्रकार सर्व काल का एक महान् कलाकार इस जगत् से चला गया। जिस समय वे गये, उस समय हिंदीवालों ने उन्हें नहीं पहचाना।

प्रेमचंद के उपन्यास

किसी भी लेखक का सबसे बड़ा परिचय उसकी रचना से ही प्राप्त होता है। सच तो यह है कि पाठक रचना के जरिये से ही लेखक को जानता है, इसलिए किसी लेखक का परिचय उसकी रचनाओं से ही मिल सकता है। अवश्य रचनाओं को समझने के लिए कई बार पृष्ठभूमिवाली अन्य बातें सहायक होती हैं, और उससे रचना अधिक समझ में आती है।

हमने इसीलिए प्रत्येक रचना का थोड़ा परिचय दे कर फिर उसके बाद उसके कथानक की अलोचना की है। जो उपन्यास कम महत्त्वपूर्ण हैं, उनका सार संकलन हमने थोड़े ही में किया है पर जो उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं उनका अपेक्षाकृत दीर्घ परिचय दिया गया है। इस प्रकार के परिचय उन लोगों के तो काम के हैं ही, जिन्होंने उन उपन्यासों को नहीं पढ़ा है ; पर जिन्होंने इन उपन्यासों को पढ़ा है, पर अब अच्छी तरह याद नहीं है उनके लिए भी ये परिचय बहुत उपयोगी होंगे। परिचय के बाद जो अलोचना दी गयी है, उसका पूरा आनंद तभी लिया जा सकता है जब कि मूल पुस्तक अभी अभी पढ़ी हुई हो। सब रचनाओं का परिचय देने के बाद हमने प्रेमचंद की कला को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्षित में समझने की चेष्टा की है।

प्रेमचंद ने सब मिला कर कुल दस उपन्यास लिखे हैं। ग्यारहवाँ 'मंगलसूत्र' वे अधूरा छोड़ गये। ऐसा ज्ञात होता है कि 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' सब से पहले लिखे गये, पर इनके लिखने का ठीक समय मालूम नहीं। पर इतना निश्चित है कि वे किसी न किसी रूप में 'सेवासदन' से पहले लिखे गये थे। हम इसमें प्रेमा को नहीं गिन रहे हैं क्योंकि प्रतिज्ञा प्रेमा का ही परिवर्द्धित रूप है। प्रतिज्ञा के संबंध में ऐसा मालूम होता है कि वह पहले उर्दू में 'हमखुर्मा व हमसवाब' नाम से प्रकाशित हुआ था। यह शायद १९०५ के लगभग की बात है।

उनके उपन्यासों का क्रम इस प्रकार ठहरता है—

प्रेमा या प्रतिज्ञा	१६०५
वरदान	इसी के लगभग
सेवासदन	१६१६
प्रेमाश्रम	१६२२
निर्मला	१६२३
रंगभूमि	१६२५
कायाकल्प	१६२८
ग़बन	१६३१
कर्मभूमि	१६३२
गोदान	१६३६
मंगलसूत्र	अधूरा छोड़ गये ।

वरदान

मुंशी शालिग्राम बनारस शहर के पुराने रईसों में से थे । वे इतने दयालु थे कि साधुसंतों की सेवा में तीस हज़ार तक की रकम प्रति वर्ष खर्च कर देते थे। वृद्धावस्था में उनको एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ । उसका नाम प्रताप रखा गया । जब प्रताप की अवस्था छह वर्ष की हुई, तब मुंशी जी अपनी पत्नी सुवामा और पुत्र प्रताप को छोड़ कर प्रयाग में कुम्भ मेला देखने गये । वे फिर वापस नहीं लौटे ।

मुंशी जी के ऊपर काफ़ी कर्ज था। उनके इस प्रकार चले जाने के बाद सारे महाजन अपना लेखा ले कर आने लगे। सुवामा को कुल पुरोहित ने परामर्श दिया कि वे कानूनी दाँवपेंच से महाजनों का रुपया मार दें। पर सुवामा ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। उसने अपने इलाके तथा घर के फालतू सामान को बेच दिया। उससे जो धन प्राप्त हुआ, उससे सारा कर्ज चुका दिया। मकान के भी उसने दो हिस्से कराये। एक हिस्से में मुंशी संजीवनलाल नामक एक संभ्रांत पुरुष आ कर किराये पर रहने लगे। उनकी पत्नी सुशीला और पुत्री वृजरानी से प्रताप का हेलमेल बढ़ा। जल्दी ही वृजरानी और प्रताप की बालसुलभ मित्रता बहुत बढ़ गयी।

सुवामा ने निर्धनता के कारण महाराजिन, कहार आदि को जवाब दे दिया था। कुछ काम एक बुढ़िया कहारिन कर देती थी। और काम सुवामा खुद करती थी। इतना कठिन परिश्रम उसका शरीर बर्दाश्त न कर सका। उसे बुखार आने लगा। एक दिन स्कूल से लौटने पर प्रताप ने अपनी माँ को मूर्छित पाया। उसने विरजन (वृजरानी) को माँ के पास भेजा, और वह खुद जा कर डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर के इलाज से सुवामा की दशा में कुछ सुधार भी हुआ। उधर विरजन बड़ी होने लगी। एक दिन उसने सुवामा से कह दिया कि प्रताप के साथ उसका विवाह हो जाय, तो बड़ा अच्छा हो।

एक मौके पर डिप्टी श्यामा चरण की पत्नी सुशीला से मिलने आयी। उनकी पत्नी प्रेमवती विरजन की सुंदरता तथा गुणों पर मुग्ध हो गयी। उसने सुशीला से यह इच्छा जाहिर की कि वह विरजन को अपनी वधू बनाना चाहती है। फौरन यह प्रस्ताव मंजूर हो गया, और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

सुवामा ने सुशीला और मुंशी जी को इस काम में पूरी पूरी मदद दी। पर प्रताप को कुछ भी अच्छा न लगा। उसने विवाह के किसी भी कार्यक्रम बरात, महफिल आदि किसी में भी कुछ भाग नहीं लिया। वह उदास भाव से मुँह लटकाए चुपचाप बैठा रहा। विरजन भी इस विवाह से खुश नहीं थी।

विरजन का पति कमलाचरण उसी स्कूल में पढ़ता था, जिसमें प्रताप पढ़ता था। स्वभाव से वह आवारा था। उसका अधिकांश समय पतंग उड़ाने, बुलबुल लड़ाने, सिगरेट पोने में व्यतीत होता था। उसके प्रायः सब साथी पक्के बदमाश और गुंडे थे। प्रताप इन लोगों से कुढ़ा तो था ही। उसने सुशीला आदि को जलाने-सुलगाने का एक नया तरीका निकाला। वह प्रतिदिन जब स्कूल से लौटता, तब अपनी माँ को सुशीला की उपस्थिति में कमलाचरण के दुराचार और लज्जा-हीनता की एक न एक कहानी सुनाता। कभी कमलाचरण द्वारा किसी लड़के की घड़ी गायब करने की खबर होती थी, तो कभी कुछ, और साथ ही मास्टर के हाथों कमलाचरण के पिटने की भी खबर होती थी।

समय-समय पर मुंशी संजीवनलाल भी कमलाचरण की इन कहानियों की पुष्टि करते। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कमलाचरण की काली करतूतों को सुनते सुनते सुशीला को क्षय रोग ने पकड़ लिया और अंत में उसकी मृत्यु हो गयी।

पंद्रहवाँ साल लगते न लगते विरजन का गौना हुआ, और वह ससुराल गयी। उसके मन में अभी भी प्रताप के प्रति स्नेह भरा हुआ था। कमलाचरण एक दिन विरजन के कमरे में सेंध लगाते हुए पकड़ा गया। डिप्टी साहब ने यह समझा कि वह विरजन के आभूषणों पर हाथ साफ करना चाहता था। ऐसा सोच कर उन्होंने उसे वोर्डिंग में भिजवा दिया।

बोर्डिंग में भला कमलाचरण का मन कैसे लगता? एक दिन उसने आदमी भेज कर घर से अपनी पतंगों और चर्खियों को मँगवाया। पर आदमी खाली हाथ वापस लौट आया। इस पर कमलाचरण गुस्से में घर गया। वहाँ पहुँच कर उसने कनकौओं, चर्खी आदि को टूटी-फूटी हालत में पाया। वह कहारों आदि की खबर लेने के बाद अपनी माँ पर बहुत बिगड़ा। यह हाल देख कर वृजरानी ने उसके पास एक रुक्का भेजा जिसमें उसने अपना अपराध स्वीकार कर दंड-याचना की थी। इस पर कमलाचरण में न जाने क्या परिवर्तन हुआ, और उसने अपने सारे कनकौओं को फाड़ डाला, कबूतर उड़ा दिये, और चर्खियों को तोड़ डाला। उसी दिन उसने इन सब हरकतों को छोड़ने का प्रण किया।

इधर प्रतापचंद्र विरजन की स्मृति भुलाने के लिए बनारस छोड़ कर प्रयाग चला गया। वहाँ उसने अपने आपको पढ़ने-लिखने में तथा खेल-कूद में लगा दिया।

विरजन भी इस समय प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व में पड़ी थी। कमलाचरण के हरदम साथ रहने से उसके हृदय में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। पर स्वाभाविक हर्ष और संतोष नहीं मिला। परिणाम-स्वरूप वह दिन-प्रतिदिन दुर्बल हो कर रोग-शय्या पर पड़ गयी।

प्रताप उस समय क्रिकेट मैच खेल रहा था, जब उसे तार मिला कि विरजन बहुत बीमार है। वह मैच खेलना भूल कर फौरन बनारस के लिए रवाना हो गया। दोनों प्रेम से मिले, और दोनों ने अपने कर्तव्य को निभाने का निश्चय किया।

विरजन की बीमारी में कमला ने तीमारदारी में दिन और रात एक कर दिया था। प्रत्युत्तर में कमला के प्रति उसका निश्चय और दृढ़ हुआ। दोनों के दिन मजे में कटने लगे।

इसी प्रकार तीन वर्ष बीत गये । कमला को पढ़ते न देख कर विरजन ने उसे प्रयाग पढ़ने भेजा । उसके प्रयाग जाने के बाद डिप्टी साहब अपने मोल लिये हुए गाँव मझगाँव में चले आये । जब कमला प्रयाग पहुँचा, तब प्रताप ने उसका बहुत स्वागत किया । उस समय प्रताप की प्रतिभा सारे प्रयाग में छा रही थी । उसने कमला की पढ़ने-लिखने में मदद की, पर कमला आगे न पढ़ सका । बोर्डिंग से लगी एक वाटिका के माली की एक कुमारी लड़की थी सरयू । कमला ने सरयू पर डोरा डालना शुरू किया । एक दिन शाम को वह सरयू के पास एकांत में पहुँचा। पर उसी समय माली आ गया, और वह बदहवास हो कर वहाँ से दीवार फाँद कर भागा । वह चलती ट्राम पर बैठ गया, और गिरते - गिरते बचा । वह स्टेशन पहुँच कर गाड़ी पर बिना टिकट खरीदे ही सवार हो गया, और टिकट-चेकर के आने पर वह बहुत घबड़ा गया । वह चलती गाड़ी से कूद पड़ा । उसका देहांत हो गया ।

विरजन के विधवा होने के कुछ दिन बाद डिप्टी श्यामाचरण भी डाकुओं द्वारा गोली से मार दिये गये। उसकी सास प्रेमवती पागल हो गयी ! कुछ समय पश्चात् वह भी चल बसी ।

कमला की मृत्यु की बाद प्रताप की दबी हुई आकांक्षाओं ने फिर जोर पकड़ा । एक दिन वह प्रयाग छोड़ कर रात के दो बजे बनारस जा पहुँचा । वह नये पापी की तरह असमंजस में डूबता उतराता डिप्टी साहब के भवन में घुसा । एक कमरे में उसने प्रकाश पाया । दरार में से उसने देखा कि वृजरानी सफेद साड़ी पहने, बाल खोले, हाथ में लेखनी लिये भूमि पर बैठे-बैठे कुछ लिख रही है । सौम्यता की इस प्रतिमा को देख कर उसके हृदय का भाव परिवर्तित हुआ । उसने इस पाप के प्रायश्चित स्वरूप आजीवन देश सेवा करने का व्रत अपनाया ।

विरजन ने इसी बीच में कविता लिखना प्रारम्भ किया । 'कमल' नामक पत्रिका में जब उसकी कविताएँ प्रकाशित हुईं, तो वह कविताएँ बहुत ही लोक प्रिय हुईं । प्रताप साधु हो गया था। उसका नाम बालाजी पड़ा । उसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैलने लगी । वृजरानी ने भी बालाजी के स्वागत में एक कविता लिखी । वे बनारसवालों के आग्रह से वहाँ आये ।

बालाजी की माँ सुवामा उन्हें गृहस्थ रूप में देखना चाहती थीं। वे चाहती थीं कि प्रताप माधवी के साथ विवाह कर अपना जीवन सुख से बितायें। माधवी विरजन की एक सखी थी। विरजन ने माधवी के दिल में प्रताप के प्रति प्रेम भर दिया था। विरजन चाहती थी कि वे माधवी के साथ प्रणय सूत्र में बँध जायें। बेचारी बारह वर्ष से इसकी प्रतीक्षा कर रहीं थी। उसने रात के समय माधवी को बालाजी के शयनागार में भेजा। पहले तो वह दरवाजे पर खड़ी रही। पर भाग्य से बालाजी के कमरे में लालटेन उलटने से आग लग गयी। माधवी ने कमरे में प्रवेश कर आग बुझा दी। बालाजी के जागने पर दोनों में बातचीत हुई। माधवी ने बालाजी के पूछने पर बताया कि उसका विवाह हो गया है। उसके पति को उसकी परवाह नहीं है, और वे देश की सेवा किया करते हैं। उसकी बातों से वे समझ गये कि इशारा उन्हीं की ओर है।

माधवी के त्याग को देख कर बालाजी का हिमालय सदृश हृदय पिघल गया। बोले—तुम जैसी देवियाँ भारत की गौरव हैं। मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ कि तुम्हारे प्रेम जैसी अनमोल वस्तु मेरे हाथ आ रही है। यदि तुमने मेरे लिए योगिनी बनना स्वीकार किया है तो मैं भी तुम्हारे लिए इस सन्यास और वैराग्य को त्याग सकता हूँ। जिसके लिए तुमने अपने को मिटा दिया है, वह तुम्हारे लिए बड़े से बड़े बलिदान करने में भी नहीं हिचकिचायेगा।

पर माधवी ने संन्यास लेने का इरादा किया। दूसरे दिन वहाँ उन्होंने गौशाला का शिलारोपण किया। पंडितों के दो दलों में होनेवाले दंगों को उन्होंने भाषण दे कर शांत किया। इसी समय उन्हें पता लगा कि सदिया नदी के बाँध टूट जाने से धन-जन की अपरिमित हानि हुई है। वे फौरन अपने दल सहित उस ओर चल पड़े। माधवी भी योगिनी हो कर बालाजी की यश-गाथा का गान करने लगी।

वरदान की आलोचना

'वरदान' प्रेमचंद की एक अपरिपक्व रचना है। सच तो यह है कि इसमें हम प्रेमचंद को एक मामूली कथाकार के रूप में देखते हैं। इसकी कथा के साथ श्री शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' की कथा की कुछ

समता है। दोनों में से एक भी लेखक परस्पर से परिचित न होते हुए भी दोनों की कथाओं का सार भाग एक इसलिए हो सका है कि दोनों ने एक ऐसे विषय को लिया है जो बहुत आम है। एक युवक का एक युवती से प्रेम होता है। किसी कारण से, सामाजिक कारण से दोनों का विवाह नहीं हो पाता। लड़की का विवाह दूसरे व्यक्ति से हो जाता है। अब इसके बाद क्या जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं, यही इन दोनों पुस्तकों में दिखलाया गया है।

यदि 'देवदास' के साथ हम 'वरदान' की तुलना करें तो हमें कहना पड़ेगा कि, 'देवदास' एक परिपक्व कलाकृति है, जब कि 'वरदान' बहुत ही अजीब भटकती हुई कहानी है।

'वरदान' का सबसे हलका हिस्सा वह है जिसमें बृजरानी के संबंध में यह दिखलाया गया है कि वह कमलाचरण से प्रेम से मिलती है और प्रेमपत्र लिखती है। यहाँ तो प्रेमचंद ने बृजरानी के चरित्र की बिल्कुल हत्या कर डाली है। यह मैं नहीं कहता कि परिवर्त्तन असंभव है, पर जिस पृष्ठभूमि में यह परिवर्त्तन दिखलाया गया है वह जँचता नहीं है। इस बीच में यह भी दिखला दिया गया है कि बृजरानी प्रताप के प्रेम के कारण बहुत बीमार हो गयी, और प्रताप के आने से ही अच्छी हुई। फिर भी उसी साँस में फौरन ही यह दिखलाया जाता है कि बृजरानी के नयनों में कमला के लिए प्रेमरस भरा हुआ था। यह कैसे हो सकता है। कमला के नाम विरजन के जो पत्र हैं, वे तो बिल्कुल ही विरजन को कमला की प्रेम भिक्षुका के रूप में दिखलाते हैं। विरजन लिखती है—तुम्हारी प्रेम पत्रिका मिली। छाती से लगायी.........कभी-कभी बेसुध हो जाती हूँ.........तुम पाषाण हृदय हो, कट्टर हो, स्नेहहीन हो, निर्दयी हो, अकरुण हो, झूठे हो.........। फिर वह हर पत्र में प्यारे यहाँ तक कि मेरे प्राणाधिक प्रियतम कर के कमला को संबोधित करती है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरजन का चरित्र बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ है। उसमें कोई सिर-पैर है ही नहीं। प्रताप का चरित्र बहुत कुछ निभा है पर अंत में जा कर वह भी बिगड़ जाता है। पाँच मिनट माधवी से बात होते ही प्रताप, इस समय बालाजी यह

कहता है कि यदि तुमने मेरे लिये योगिनी बनना स्वीकार कर लिया है, तो मैं भी तुम्हारे लिये इस संन्यास और वैराग्य को त्याग सकता हूँ। याने दूसरे शब्दों में वह माधवी से शादी करने के लिए तैयार हो गया।

इस पुस्तक में प्रेमचंद अभी अपनी वस्तुवादी आत्मा को पहचान नहीं पाये हैं। वह खुद भटक रहे हैं। उनके पात्र, पात्रियाँ भी भटक रही हैं। लेखक आदर्शों की सृष्टि करना चाहते हैं, पर जैसा कि हम दिखा चुके कि आदर्श परिहास मात्र हो कर रह जाते हैं। वे अभी डर रहे हैं। कमलाचरण के मर जाने पर भी वे विरजन और प्रताप में मिलन नहीं कराते, और प्रताप तैयार होने पर भी माधवी को रोक देते हैं, इस प्रकार हमारे सामने जो उपन्यास आता है, वह वास्तविकता से बहुत दूर है। पर जैसा कि सारे प्रेमचंद साहित्य में हमें मिलता है कि उनके सारे आदर्शवाद में भी छिपे रूप से वस्तुवाद अपना सिक्का जमा देता है। हम इसी बात को इस पुस्तक में भी पाते हैं।

'वरदान' की टेकनिक में कई तरह की गलतियाँ हैं। जिस समय डिप्टी श्यामाचरण की पत्नी प्रेमवती विरजन की शादी तय कर जाती है, उस समय लेखक कहते हैं, 'इस प्रकार संयोग ने आज उस विषैले विष का बीज बोया जिसने तीन ही वर्ष में कुल का सर्वनाश कर दिया।' इस तरह से लेखक ने एक तरह से कथा भाग का अंतिम परिणाम बतला दिया। मैं यह नहीं कहता कि किसी भी हालत में लेखक अंतिम परिणाम की ओर इशारा न करे, पर मेरा वक्तव्य यह है कि ऐसा उसी हालत में मार्जनीय है जब कि अंतिम परिणाम बता देने से कहानी में तीक्ष्णता आ जाती हो।

'वरदान' में जहाँ यह दिखलाया गया है कि प्रताप जिस समय कमला की मृत्यु के बाद विह्वल हो कर रात को विरजन के पास पहुँचा है, उस समय विरजन के तेज को देख कर वह उलटे पाँव चला गया। यह तेज क्या है। यदि इस प्रकार का कोई तेज होता तो दुष्टों की दाल न गलती। लेखक उसे मनोवैज्ञानिक तरीके से दिखला सकते थे।

जिस समय लेखक किसी स्थान का नाम ले रहे हैं, उस समय उन्हें चाहिए कि उस स्थान से संबद्ध बातों को वस्तुवादी तरीकों से दिखलावें। यदि कोई उपन्यासकार कराँची का वर्णन करते समय यह दिखलावे कि

वहाँ गंगा जी बह रही हैं तो यह हास्यास्पद होगा। लेखक ने इसी प्रकार जो इलाहाबाद में ट्राम दिखलाया है यह उचित नहीं कहा जा सकता।

इस पुस्तक में हम प्रेमचंद को एक बार थानेदार का वर्णन करते पाते हैं और वहाँ हम देखते हैं कि थानेदार साहब एक डाके की तहकीकात करने गये और एक ही रस्सी में सारे गाँव को बाँध कर ले गये। इस प्रकार उनकी अन्य पुस्तकों में थानेदारों का जो काला चित्रण है उसकी एक झलक हम इसमें भी पाते हैं। इसके अतिरिक्त हमें इसमें 'गोदान' लेखक प्रेमचंद की कोई बात दिखाई नहीं देती। यह विश्वास करने का जी नहीं चाहता कि जिसने 'गोदान' लिखा उसी ने 'वरदान' लिखा।

प्रतिज्ञा

वकील अमृतराय और प्रोफेसर दाननाथ दोनों मित्र थे। अमृतराय विधुर थे, और दाननाथ अविवाहित। एक दिन दोनों मित्र विधवा-विवाह पर समाज-सुधारक पंडित अमरनाथ का व्याख्यान सुन रहे थे। व्याख्यान के अंत में उन्होंने उन विधुर-युवकों से हाथ उठाने को कहा जो विधवाओं से शादी कर अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए तैयार हैं। सभा में अकेले अमृतराय ने हाथ उठा कर प्रतिज्ञा की।

अमृतराय को अपनी कुमारी साली प्रेमा से प्रेम था। प्रेमा भी उनसे प्रेम करती थी। पर इस प्रतिज्ञा के बाद तो वह रास्ता बंद हो गया। इधर दाननाथ भी प्रेमा के रूप गुण पर रीझे हुए थे। अमृतराय इस बात से परिचित थे। उन्हें अब दाननाथ के रास्ते से हटने का अवसर मिला। दाननाथ इस बात पर खुश तो हुए, पर उनके मन में कुछ हिचकिचाहट रही।

अमृतराय के ससुर बद्रीप्रसाद अमृतराय की यह प्रतिज्ञा सुन कर आगबबूला हो गये। वे निश्चय कर चुके थे कि ऐसे व्यक्ति के साथ प्रेमा का विवाह न करेंगे, जिसके विचारों में म्लेच्छता आ घुसी हो। प्रेमा की माँ ने भी पति के निश्चय का समर्थन ही किया। प्रेमा का हृदय पिता के इस निश्चय से रो उठा। वह तीन वर्षों से मन के अंतःस्थल में अमृतराय की मूर्ति की स्थापना कर उसे अपना प्रेमार्घ्य चढ़ाती आ रही थी, पर विवश थी। उसने पिता की इच्छानुसार आत्मसमर्पण करने का संकल्प कर लिया।

प्रेमा की एक सखी पूर्णा थी। वह प्रेमा के पड़ोस में रहती थी, और अक्सर उसके साथ घंटों बैठा करती थी। होली का दिन था। पूर्णा के पति भंग की तरंग में गंगास्नान को गये। परन्तु वहीं गंगा में तैरते-तैरते थक गये और डूब गये। पूर्णा विधवा हो गयी।

बद्रीप्रसाद ने पूर्णा की असहायता से करुणार्द्र हो कर उसके नाम से किसी अच्छे बैंक में ४००० रु० जमा करने का इरादा किया। उसने अपने पुत्र कमलाप्रसाद से यह बात कही। कमलाप्रसाद बड़ा अजीब आदमी था। उसे अपनी पत्नी सुमित्रा से प्रेम नहीं था। अमृतराय की प्रतिज्ञा की बात सुन कर वह उनका भी मजाक उड़ाने लगा था। अब उसे पूर्णा के नाम से ४००० रु० बैंक में जमा करते देख कर अपने पिता पर बड़ा गुस्सा आया। उसने पूर्णा को मायके जाने की सलाह देने की ठानी। वह उसके घर गया। पर पूर्णा की सरलता, निष्कलंकता और बेबसी ने उसका निश्चय बदल दिया। वह पूर्णा की ओर आकर्षित हो गया। तरह-तरह की बातें बना कर उसे अपने घर ले भी आया।

बद्रीप्रसाद ने दाननाथ के पास प्रेमा के विवाह का संदेश भेजा। दाननाथ ने फौरन इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। वे इस समाचार को ले कर अमृतराय के पास गये। वहाँ अमृतराय ने उन्हें समझा-बुझा कर राजी किया। उन्होंने स्वयं स्वीकृति पत्र लिखा, और दाननाथ के हस्ताक्षर ले कर उसे बद्रीप्रसाद को भेज दिया।

प्रेमा की शादी दाननाथ के साथ हो गयी। अमृतराय ने एक वनिताश्रम खोलने का निश्चय किया। वे इस कार्य के लिए चंदा जमा करने लगे।

उधर पूर्णा के आगमन से कमला प्रसाद और सुमित्रा के बीच की खाई और भी गहरी हो गयी। यों तो कमला प्रसाद में अनेकों दुर्गुण थे, पर सभी की धारणा थी कि वह सदाचारी है। पर पूर्णा पर वह मोहित हो गया। संभव है कि उसे सरल, दीन और आश्रयहीन पा कर कमला प्रसाद के हृदय में कुप्रवृत्तियों का उदय हुआ हो। पूर्णा से तो वह एक प्रकार से निश्चिंत था ही, पर सुमित्रा उसकी कार्य-सिद्धि में दीवार बन कर खड़ी थी। वह कभी भी पूर्णा को अकेला नहीं छोड़ती थी। कमला प्रसाद ने यह देख कर सुमित्रा से कहा कि पूर्णा उसके साथ रहने के उपयुक्त नहीं है। पर उस दिन से पूर्णा के साथ सुमित्रा अधिक से अधिक रहने लगी।

कमला प्रसाद के मन में पूर्णा को पाने की व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। एक दिन वह बाजार से बंगाली मिठाई लाया। उसने सुमित्रा से कहा कि इसमें वह पूर्णा को भी हिस्सा दे। पर सुमित्रा ने ऐसा नहीं किया।

इसी प्रकार एक दिन कमला प्रसाद दो साड़ियाँ लाया। वह एकाएक वहाँ पहुँचा जहाँ दोनों साथ बैठी थीं। उसने सुमित्रा से एक साड़ी पूर्णा को देने के लिए कहा। पर सुमित्रा ने ऐसा नहीं किया। केवल यही नहीं, उसने कमला प्रसाद को भला-बुरा भी कहा। पूर्णा को सुमित्रा का यह व्यवहार पसंद नहीं आया।

पूर्णा को ऐसा प्रतीत हुआ कि पति-पत्नी दोनों अलग-अलग कारणों से नाराज हो गये हैं। वह मौका ढूँढ़ने लगी कि कमला प्रसाद से बात-चीत करके वह अपनी हालत साफ करदे। दस-बारह दिन के बाद आधी रात के समय पूर्णा ने सुमित्रा के कमरे के किवाड़ खुलने की आवाज सुनी। उसने देखा कि सुमित्रा सशंक दृष्टि से चारों ओर ताकती हुई पति के कमरे की तरफ जा रही है। पर कमला प्रसाद की आवाज सुन कर वह उल्टे पैर लौट आयी, और अपने कमरे में सो गयी।

इसी समय पूर्णा को अपने सुखी दाम्पत्य-जीवन की एक घटना याद आ गयी। वह कमला प्रसाद को यह समझाने के लिए कमरे के भीतर घुस आयी थी कि भाभी अर्थात् सुमित्रा को बुखार आ गया है, इसलिए वह उसे देख आये। पूर्णा उसे समझाने लगी। कमला प्रसाद ने उसे हाथ पकड़ कर अंदर खींच लिया, और द्वार बंद कर दिया। वह उसके स्पर्श से काँप उठी। अतएव कमला प्रसाद ने उसे छोड़ दिया। इसके बाद कमला प्रसाद ने अनुनय, विनय के पश्चात् प्रेम-निवेदन किया, पर पूर्णा ने उसे मना कर दिया। उसके उपरांत बहुत कहने-सुनने पर वह कुर्सी पर बैठ गयी, और उसने कमला प्रसाद के बहुत अनुरोध करने पर उसके द्वारा दी गयी साड़ी पहनी। फिर वह अपने कमरे में चली गयी। कमला प्रसाद उसके मुख पर होनेवाले भावपरिवर्तनों पर विचार करता रहा। पहले रोष, फिर हास और फिर विराग।

इधर प्रेमा विवाह के उपरांत अपने पति दाननाथ को प्रसन्न करने का जी-जान से प्रयत्न करने लगी। पर दाननाथ के हृदय में अब भी संदेह था कि प्रेमा अमृतराय को प्रेम करती है। इसी संदेह की वजह से वे अमृतराय से द्वेष करने लगे। वे प्रेमा से अमृतराय की निंदा करने लगे। प्रेमा को यह बुरा लगा। इससे दाननाथ की द्वेषाग्नि और बढ़ी। अमृतराय

सुधारक थे । इसलिए दाननाथ कट्टर सनातनी हो गये । उन्होंने सनातन धर्म की कट्टरता का समर्थन करते हुए एक भाषण दिया । उन्होंने इस बात की भी चेष्टा की कि अमृतराय की वनिताश्रम वाली योजना विफल हो जाय। अमृतराय दाननाथ के भाषण के अगले दिन उनके पास गये भी। परंतु वे तो उनके विरुद्ध हो चुके थे। उनके साथ बद्रीप्रसाद और कमला प्रसाद भी अमृतराय के विरुद्ध थे। कमला प्रसाद तो उनके पीछे हाथ धो कर पड़ा ही था।

एक दिन अमृतराय व्याख्यान देनेवाले थे। कमलाप्रसाद गुंडों द्वारा सभा में उपद्रव कराना चाहता था। प्रेमा को भाई के इस कृत्य की सूचना मिल गयी। प्रेमा भी सभा भवन के अंदर गयी। जब सभा में उपद्रव आरंभ हुआ, तब वह सभामंच पर जा पहुँची। उसने अमृतराय के पक्ष में जोरदार भाषण दिया। लोगों का मन फिर से अमृतराय की ओर झुका, और जब प्रेमा ने वनिताश्रम के लिए चंदे की अपील की, तो गुंडों ने भी दान दिया। अमृतराय ने जब यह देखा कि प्रेमा ने उसके कारण अपने को एक ऐसी अजीब परिस्थिति में डाल लिया तो उन्हें इस बात का पश्चात्ताप हुआ कि वे भाषण देने ही क्यों आये।

उधर कमला प्रसाद और सुमित्रा का वैमनस्य बढ़ता ही गया। एक दिन पूर्णा की उपस्थिति में ही दंपति में कलह हो गई। कमला के जाने के पश्चात् पूर्णा ने सुमित्रा को समझाने की चेष्टा की। पर सुमित्रा उससे भी उलझ बैठी, और उसने उसे जली-कटी सुना दी। लाचार हो कर पूर्णा ने उस घर को छोड़ने का इरादा किया। अपने इरादे के अनुसार वह रात में कमला प्रसाद के पास विदा माँगने गयी। पर कमला था परले सिरे का बदमाश। उसने पूर्णा से कहा—तो पहले मुझे थोड़ा-सा संखिया देती जाओ।

कमला प्रसाद की इस बात पर पूर्णा ने तिरस्कार का भाव प्रदर्शित किया। कमला ने तब उसे खींच लिया, और कमरे का द्वार बंद कर दिया। इसके बाद वह पूर्णा के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करने लगा। उसने पूर्णा के इन्कार करने पर आत्महत्या की धमकी दी। उसने उसे बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, पर पूर्णा ने उसे ठुकरा दिया।

इसके बाद एक दिन सुमित्रा ने पूर्णा से कह दिया कि उस दिन रात

को उसने छिपे-छिपे सब कुछ देख लिया है। उसने पूर्णा से यह भी कहा कि वह कमला से विवाह कर ले। इस पर पूर्णा रोने लगी, और उसने सुमित्रा से क्षमा याचना की।

इसी समय एकाएक कमला प्रसाद हाथ में एक पत्र लेकर आया, और उसने कहा कि प्रेमा ने उसे बुलाया है, फिर आग्रहपूर्वक उसे ताँगे में बिठाला। ताँगा कमला स्वयं चला रहा था। वह उसे अपरिचित मार्गों से नगर के बाहर बगीचे के एक बँगले में ले गया। यहाँ कमला दुष्टता न कर सका। पूर्णा का नारी तेज जागृत हो गया। उसने और कुछ न देख कर कुर्सी उठायी और कमला पर उसी से प्रहार किया। कमला उसके लिए तैयार न था। वह आहत हो कर मूर्छित हो गया। पूर्णा यह देख कर वहाँ से निकल कर गंगा में डूबने को चली। उसने एक वृद्ध से रास्ता पूछा। उस वृद्ध ने सब हाल जान कर उसे अमृतराय के वनिताश्रम में भेज दिया।

कमला प्रसाद ने बात बनाने की बहुत चेष्टा की, पर उसके दुराचरण की खबर बिजली की तरह सारे शहर में फैल गयी। कमला प्रसाद से दाननाथ की गहरी दोस्ती थी। अतएव वह भी लज्जा से गड़ गये। जनता उनसे बहुत नाराज हो गयी और उनके कालेज के विद्यार्थी तक उन्हें शर्मिंदा करने लगे। विवश हो कर उन्होंने तीन महीने की छुट्टी ले ली। वे दिन ब दिन इस निंदा की वजह से घुलने लगे।

उधर कमला प्रसाद अपने किये की सजा पा कर राह पर आ गये। सुमित्रा और कमला प्रसाद में फिर से दांपत्य प्रेम बढ़ गया। बद्रीप्रसाद ने दोनों को देहात भेजने का निश्चय किया।

अमृतराय ने एक लेख प्रकाशित कर स्थिति को साफ किया, और दाननाथ को जनता की दृष्टि में ऊँचा उठा दिया। अमृतराय और दाननाथ में संधि हो गयी।

एक दिन अमृतराय ने दाननाथ को वनिताश्रम की सैर करायी। उसी दिन उन्होंने दाननाथ के आग्रह पर बताया कि वे विवाह कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके हैं। पर विवाह उन्होंने आश्रम के साथ किया है, न कि किसी विधवा के साथ।

पूर्णा कृष्ण-भक्ति में अपना जीवन व्यतीत करने लगी।

प्रतिज्ञा की आलोचना

'वरदान' की तुलना में 'प्रतिज्ञा' एक सुलझा हुआ उपन्यास है, पर यह भी मध्यवित्तवर्ग के प्रेम आदि को लेकर लिखा गया है। यह 'वरदान' जैसे बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ तो नहीं है, पर यह भी शासकवर्ग के उस eternal theme परकीया-प्रेम को लेकर लिखा गया है। यों तो लोग कहने के लिए प्रेम को चिरंतन विषय कहते हैं, पर क्या मध्ययुग क्या इस युग में असली eternal theme तो परकीया-प्रेम है। स्वकीया-प्रेम का तो इनके काव्यों तथा उपन्यासों में कोई स्थान नहीं है।

'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' को साथ पढ़ते हुए एक बहुत मजे की बात सामने आती है। वह यह कि 'वरदान' में यह दिखलाया गया कि जब प्रताप कमला की मृत्यु के बाद विह्वल हो कर रात को विरजन के पास पहुँचता है, उस समय विरजन के चेहरे पर के तेज को देख कर प्रताप वापस चला गया। पर 'प्रतिज्ञा' में ऐसी कोई बात नहीं होती। कमलाप्रसाद बारबार पूर्णा का हाथ पकड़ता है, अंतिमबार तो वह करीब-करीब उस पर बलात्कार कर देता है। वह ऐसा नहीं कर पाता इसका कारण यह नहीं कि वह पूर्णा की नैतिक-शक्ति के सामने परास्त हो जाता है, बल्कि इसका कारण यह है, कि वह उठा कर कुरसी दे मारती है जिससे उसके दाँत टूट जाते हैं और वह बेहोश हो जाता है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि पूर्णा के मन का स्खलन हो चुका था, इस कारण उसके चेहरे पर ज्योति नहीं थी, पर ऐसा कहना तो बात को टालना ही होगा। इस प्रकार प्रेमचंद इस पुस्तक में अधिक वस्तुवादी आधार पर हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'प्रतिज्ञा' न केवल 'वरदान' से बल्कि प्रेमचंद की बहुत-सी पुस्तकों से श्रेष्ठतर है। इसमें मनुष्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों का सुन्दर चित्रण किया गया है। अवश्य आर्थिक मनुष्य नहीं, प्रेमिक मनुष्य। केवल पूर्णा के जीवन में ही हमारे सामने एक आर्थिक समस्या आती है। वह यह समस्या कि जिस समाज में स्त्रियों का उत्पादन में कोई हिस्सा नहीं, और न उपार्जन का कोई जरिया है, उस समाज में विधवाओं की कितनी दुर्दशा होती है। विधवा की समस्या केवल सतीत्व की आध्यात्मिक समस्या नहीं बल्कि रोटी-दाल की

समस्या है। यह 'प्रतिज्ञा' में बहुत अच्छी तरह सामने आ जाती है। यदि पूर्णा के सामने रोटी की समस्या न होती, तो वह कदापि बद्रीप्रसाद के घर में न आती, इस प्रकार कमलाप्रसाद से उसका पाला ही नहीं पड़ता। इस उपन्यास में यह साफ दिखाई पड़ रहा है कि पति पर रोटी के लिए निर्भर होना और अपनी कोई स्वतंत्र जीविका न होना, यह कितना खतरनाक है। इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि स्त्रियों का कुछ उपार्जन होना चाहिए।

अवश्य इस उपन्यास में प्रेमचंदजी जो पूर्णा को ले जाकर वनिता-आश्रम में पटक देते हैं यह न तो वैधव्य का कोई हल है, न पूर्णा की आर्थिक पराधीनता का कोई हल है। पर फिर भी समस्या तो आ ही जाती है। यह कोई कम सफलता नहीं है।

पूर्णा, कमलाप्रसाद और सुमित्रा के चरित्रों का अंतर्द्वंद्व लेखक ने दिखलाया है, वह बहुत ही सुन्दर है। प्रेमचंद का कमजोर बिंदु मनोविज्ञान बताया गया है, पर इसमें वे मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से सफल उतरते हैं।

सेवासदन

यह उपन्यास इस प्रकार शुरू होता है, "पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं ; लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाई पर पछता रहे थे।" कृष्णचंद्र एक ईमानदार दारोगा के रूप में चित्रित हैं। दारोगावर्ग में वे अपवाद-स्वरूप हैं, इस प्रकार पुलिस वालों पर छींटाकशी से इस उपन्यास का सूत्रपात होता है। दारोगा जी अपनी ईमानदारी के कारण कुछ कमा नहीं पाये। पच्चीस वर्ष दारोगागीरी करने के बाद जब उनके सामने अपनी लड़की सुमन के विवाह करने की बात आती है, तब उनको अफसोस होता है कि बेईमानी से धन क्यों न इकट्ठा किया। आमतौर से समालोचकों ने, न तो पुलिसवालों पर न इस भयंकर छींटा-कशी पर ही ध्यान दिया है, और न इस ओर ही उनका ध्यान गया है कि यह जो पच्चीस वर्ष बाद दारोगा जी यह कह रहे हैं कि 'धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख लिया, अब लोगों के खूब गले दबाऊँगा, खूब रिश्वत लूँगा'। — इस कथन में वर्तमान समाज-पद्धति की कितनी बड़ी निंदा छिपी हुई है। समाज पद्धति की असफलता पर इससे तीखे व्यंग की कल्पना नहीं की जा सकती।

जिस समय दारोगा जी घूस लेने के लिए तैयार बैठे थे, उस समय श्री बाँके बिहारी जी के अखाड़े के साधुओं ने चेतू नामक एक व्यक्ति को मारते-मारते इसलिए मार डाला कि उसने, यज्ञ के लिए इलाके के प्रत्येक आसामी से हल पीछे जो पाँच रुपया चंदा उगाहा जा रहा था, उसे देने से इन्कार किया था। इस हत्या की रपट लिखी गयी थी। दारोगा जी ने बहुत सोच-विचार के बाद घूस ले कर इस मामले को दबा दिया, किंतु वे इस कार्य में अभिज्ञ नहीं थे, इसलिए उन्होंने अपने नीचेवालों को इस रकम का हिस्सा नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि इसकी खबर ऊपर तक पहुँच गयी। दारोगा जी गिरफ्तार हुए। उनको पाँच वर्ष की कैद हुई। महंत जी को सात वर्ष का

और उन दो चेलों को जिन्होंने चेतू को मारा था आजन्म काले पानी का दंड मिला।

कृष्णचंद्र को कैद हो जाने के बाद उनकी स्त्री गंगाजली अपनी दो लड़कियों सुमन और शांता को ले कर भाई उमानाथ के यहाँ चली गयी। सुमन बड़ी हो चली थी, किंतु बिना रुपये के कहाँ शादी होती? अंत में उसका विवाह पन्द्रह रुपये के नौकर गजाधरप्रसाद नामक एक दुआह से हो गया। इसी लड़की की शादी कराने के मन्सूबे के कारण घूस ले कर कृष्णचंद्र जेल गये थे, अब उसका यह हाल हुआ। गंगाजली दामाद को देख कर बहुत रोयी।

सुमन गृह कार्य में कुशल नहीं थी, उसे ही चौका-बर्तन करना पड़ता। वह चटोरी थी, खर्च करने की आदी थी। गजाधरप्रसाद गरीब थे, इसलिए सूम थे। जो कुछ भी हो इन दोनों में इन्हीं सब कारणों से कम बनती थी। फिर गजाधर के किराये के मकान के सामने भोली नामक एक गौनहारिन वेश्या रहती थी, पहले-पहल तो सुमन एक गृहवधू के सहजात के कारण उसे बहुत नीच समझती थी, किंतु जब उसने एक दिन उसके घर के जशन में अच्छे-अच्छे लोगों को बैठे देखा, तब उसमें जो असंतोष जमा था, उसके कारण उसने आँखें खोल कर देखा। उसने अपने पति को भी उस भीड़ में देखा था।

एक दिन वह गंगा नहा कर थकान के मारे एक बाग के एक बेंच पर बैठ गयी तो वहाँ के चौकीदार ने उसे गँवारिन समझ कर वहाँ से उठा दिया, किंतु दूसरे ही क्षण जब दो वेश्याएँ आयीं तो उसी चौकीदार ने उनका स्वागत कर उन्हें बैठाया, और उनको सैर करायी। सुमन ने जो यह बात देखी, तो वह एकदम से उस चौकीदार से लड़ पड़ी। न मालूम इस लड़ने का क्या नतीजा होता, इतने में पद्मसिंह वकील तथा उनकी स्त्री सुभद्रा अपनी फिटन पर गंगा नहा कर लौट रहे थे। इन दोनों की दृष्टि सुमन पर पड़ी और सुमन को उन्होंने बचा लिया। वह फिटन पर घर लौटी। जब गजाधर ने यह देखा तो वह जलभुन गया, और स्त्री पर संदेह करने लगा।

सुमन अब सुभद्रा के यहाँ अक्सर आने जाने लगी। पद्मसिंह म्युनिसिपल्टी के मेम्बर चुने गये, इसकी खुशी में तय हुआ कि होली के दिन उनके मकान पर भोली का मुजरा हो। सुमन भी रात तक वहाँ रही। उसने जो देखा कि भोली की बड़ी इज्जत हुई, तो वह फिर उधेड़बुन में पड़ी। उसने खूब सोच कर देखा

कि भोली से वह कहीं अधिक खूबसूरत है, फिर भी उसकी कोई कदर नहीं। 'वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं, उसकी दूकान खुली हुई है, मेरी बन्द है। ... वह डालियों पर स्वच्छंदता से चहकती है, मैं पिंजड़े में बन्द तड़पती हूँ। उसने लज्जा त्याग दी है, मैं उसे पकड़े हुए हूँ।'

जब सुमन घर पहुँची तो देखा गजाधर डंडा हाथ में ले कर सो गया है, बड़ी मुश्किलों से किवाड़े खुले। गजाधर ने उसको मयगहने के बक्स के निकाल बाहर किया, उसने जा कर सुभद्रा का आश्रय लिया। इधर गजाधर को जब यह मालूम हुआ कि सुमन ने वकील साहब के यहाँ आश्रय लिया, तब उसने सबसे जा-जा कर वकील साहेब के चरित्र पर दोष लगाया। वकील साहेब को जब बाजार में अपनी बदनामी की बात मालूम हुई, तो उन्होंने नौकर से कहलवा कर सुमन को घर से निकलवा दिया। इस घटना से प्रेमचंद समाज की ताकत का अच्छा दिग्दर्शन करते हैं। सुमन निकाली जा कर भोली के पंजे में फँसती है। भोली की भी कहानी सुमन से मिलती थी।

सुमन एकबारगी गौनहारिन होने को तैयार नहीं होती, सिलाई से गुजारा करना चाहती है, किंतु भोली के समझाने पर वह उसी के मार्ग की पथिक हो जाती है।

पद्मसिंह के एक बड़े भाई मदनसिंह थे। इन्होंने बड़े दुःख सह-सह कर पद्मसिंह को वकील बनाया। इसलिए जब उनका लड़का सदन शहर में रहने आया, तो पद्मसिंह ने उसकी बड़ी आवभगत की। उसके पढ़ने-लिखने का प्रबंध किया गया, तथा उसकी हवाखोरी के लिए बहुत मुश्किल से रुपये निकाल कर एक घोड़ा खरीदा गया। सदन को दालमंडी और चौक की लत पड़ गयी और वह घूमते-घामते सुमन बाई के यहाँ पहुँचा। सुमन उसको चाहने लगी, क्या होता पता नहीं, किंतु उसे मालूम हो गया कि सदन पद्मसिंह का भतीजा है। सदन को तो इस बात की पड़ी थी कि सुमन को खुश किया जाय, वह समझता कि सुमन इसलिए उस पर प्रसन्न नहीं हो रही है कि वह उसे भेंट नहीं चढ़ा पाता, तदनुसार उसने अपने पिता के यहाँ पत्र लिख कर २५ रुपये मँगाये, एक साड़ी खरीद कर सुमन को पेश किया। इससे भी जब उसका मनोरथ सिद्ध न हुआ, तब उसने अपनी चाची का एक कंगन चुरा लिया, और उसे सुमन को पेश किया।

विट्ठलदास पद्मसिंह के मित्रों में थे। वे अपराजेय समाज-सुधारक थे। कहीं विधवा-आश्रम तो कहीं कुछ यही उनका काम था। ये वेश्याओं का मुजरा कराने के सख्त विरोधी थे, इसलिए जब मेम्बरी की खुशी में पद्मसिंह ने मुजरा करवाया था, तो वे उससे बहुत नाराज हो गये थे। जब सुमन जाकर वकील साहेब के घर पर टिकी थी, उस समय गजाधर ने पहुँच कर विट्ठलदास को यह बताया था कि देखिए वकील साहेब ने मुझ गरीब की स्त्री को लोभ दिखा कर अपने यहाँ बिठा लिया। विट्ठलदास नाराज तो थे ही, उन्होंने आव देखा न ताव इसको सत्य समझ लिया, और चारों तरफ वकील साहेब की बदनामी उड़ाने लगे। जब सुमन को पद्मसिंह ने घर से निकाल दिया, और वह सोनबाई होकर चौक में बैठ गयी, उस समय पद्मसिंह ने एक पत्र लिख कर विट्ठलदास को इस घटना की सूचना दी, और यह बतलाया कि 'अब आपको भली-भाँति ज्ञात हो जायेगा कि इस दुर्घटना का उत्तरदाता कौन है, और मेरा उसे आश्रय देना उचित था या अनुचित।' यह पत्र विट्ठलदास के मुँह पर थप्पड़-सा पड़ा। वे तुरंत सुमन के यहाँ पहुँचे, और उसे वहाँ से उबारने की चेष्टा करने लगे।

सुमन विट्ठलदास के समझाने पर मंडी से निकल आई। हम यह बताना भूल गये कि सुमन ने वह कंगन वकील साहब को लौटा दिया था, किंतु वह कैसे उसके हाथ लगा था, यह नहीं बताया था। जब सदन ने अपनी चाची के हाथ में फिर वह पुराना कंगन देखा तो वह घबड़ा गया, और सुमन के यहाँ जाने की हिम्मत नहीं हुई और वह कुछ दिनों में गाँव वापस चला गया। इस प्रकार सुमन जिस दिन मंडी छोड़ रही थी, उस दिन सदन वहाँ न पहुँच सका।

सदन जब घर पर पहुँचा तो उसके पिता मदनसिंह ने उसके विवाह की तैयारी की। जिस लड़की से उसका विवाह तय हुआ, वह और कोई नहीं, हमारी पूर्वपरिचित शांता अर्थात सुमन की बहन थी। इस बीच में कृष्णचंद्र अपनी सजा काट कर छूट गये थे, उनका अजीब हाल था। रात को चारपाई पर करवटें बदल-बदल कर यह गीत गाया करते—

अगिया लागी सुंदर बन जर गयो

कभी-कभी यह गाते —

लकड़ी जल कोयला भयी और कोयला जल भयो राख।

मैं पापिन ऐसी जली कि कोयला भयी न राख ।।

जाड़े के दिन में कृषकों की स्त्रियाँ हाट में काम करने जाया करती थीं, कृष्णचंद्र भी हाट की ओर निकल जाते और वहाँ स्त्रियों से दिल्लगी किया करते। वास्तव में कृष्णचंद्र काम संताप से जले जाते थे। वे नित्य संध्या समय 'नीच' जाति के आदमियों के साथ चरस के दम लगाते दिखाई देते थे। उस असभ्य मंडली में बैठे हुए वे अपने जेल के अनुभव वर्णन किया करते। वहाँ उनके कंठ से अश्लील बातों की धारा बहने लगती थी। बहनोई के इन कृत्यों से झल्ला कर उमानाथ ने एक दिन उन्हे चेतावनी दी तो वे उसको गालियाँ देने लगे, वे बोले — 'तुमने मेरी स्त्री को मारा, मेरी एक लड़की को न जाने किस लम्पट के हाथ बाँध दिया (वे यह नहीं जानते थे कि सुमन पति के घर से निकल गयी, गौनहारिन बनी, फिर इस समय आश्रम में है) और दूसरी लड़की से मजदूरिन की तरह काम ले रहे हो।'—किसी तरह कृष्णचंद्र शान्त हुए, किंतु उमानाथ के मन में दाग रह ही गया।

शहर की म्युनिसिपिल्टी के सामने यह प्रस्ताव पेश होने वाला था कि वेश्याओं को नगर से बाहर निकाल दिया जाय। म्युनिसिपिल्टी की मीटिंग के पहले ही मुसलमान सदस्यों की अलग सभा हुई। कैसे इस प्रश्न में भी साम्प्रदायिकता लायी गयी इसका एक वस्तुवादी कलाकार के नाते प्रेमचंद ने अच्छा चित्रण किया है, आश्चर्य यह है कि किसी भी समालोचक ने उनकी इस खूबी की ओर दृष्टि आकर्षित नहीं की है। हाजी हाशिम ने इस सभा में कहा— बिरादराने वतन की यह नयी चाल आपने देखी ? वल्लाह, इनको सूझती खूब है। बगली घूसे मारना कोई इनसे सीख ले।

अबुलवफा ने कहा — मगर अब खुदा के फजल से हमको भी अपने नफे-नुकसान का एहसास होने लगा। यह हमारी तायदाद को घटाने की शरीह कोशिश है। तवायफें ९० फीसदी मुसलमान हैं, जो रोजे रखती हैं, हजादारी करती हैं, मौलूद और उर्श करती हैं, हमको उनके ज़ाती फेलों से कोई बहस नहीं है।

हिंदू मेंबरों में भी एक से एक कूड़मग़ज हैं, वे भी इसे सांप्रदायिक रंग देते हैं, किन्तु असल में उनका इसमें आर्थिक स्वार्थ है। मुसलमान मेंबरों की सभा की बात सुन कर हिंदू मेंबरों की भी एक सभा हुई। उसमें चिम्मनलाल बोले — मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि हमारे मुस्लिम भाइयों ने

हमारी गर्दन बुरी तरह पकड़ी है। चावल मंडी और चौक के अधिकांश मकान हिंदुओं के हैं, यदि बोर्ड ने यह स्वीकार कर लिया, तो हिंदुओं का मटियामेट हो जायेगा। छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानों से सीख ले।

केवल इस पुस्तक में ही नहीं सारे प्रेमचंद साहित्य में हिंदू और मुसलमानों के संबन्ध में हमें स्वस्थ दृष्टिकोण मिलता है, और इस कारण इस साहित्य का पाठ एक बहुत ही मानसिक सतह को ऊँचा ले जानेवाला कृत्य हो जाता है।

सदन की बारात यथासमय शांता के यहाँ आती है, किंतु ऐन मौके पर मदनसिंह को यह मालूम हो जाता है, कि शांता की बहिन सुमन कुलत्यागिनी हो चुकी है, और दालमंडी में कोठे पर बैठती है। बस क्या था, बारात लौटने लगी। कृष्णचंद्र को यह बात मालूम हुई कि बारात लौट रही है तब वह मदनसिंह के पास गये। जब उन्होंने बहुत जिद्द की कि उन्हें यह बताया जाय कि किस लिए यह शादी टूट रही है तो मदन ने उनसे बताया—'अच्छा तो सुनिए, मुझे दोष न दीजिएगा। आपकी लड़की सुमन, जो इस कन्या की सगी बहिन है, पतित हो गयी है, आपका जी चाहे तो उसे दालमंडी में देख आइए।

अब कृष्णचंद्र को पहली बार सुमन के संबन्ध में असली बात मालूम हुई। आधी रात होते-होते डेरे खेमे सब उखड़ गये।

वेश्याओं को शहर से निकालना चाहिए, इस पर अच्छी खासी बहस शहर भर में होने लगी, तथा क्वीन्स पार्क में रोज पक्ष-विपक्ष में भाषण भी होने लगे। एक वक्ता ने वेश्याओं को शहर में रखे जाने के पक्ष में यों भाषण दिया—सच तो है कि यदि इनको निकाल दिया गया, तो देवताओं की स्तुति करनेवाला भी कोई न रहे। वेश्यागृह ही वह स्थान है, जहाँ हिंदू-मुसलमान दिल खोल कर मिलते हैं, जहाँ द्वेष का वास नहीं है, जहाँ हम जीवन-संग्राम से विश्राम लेने के लिए, अपने हृदय में शोक और दुख भुलाने के लिए शरण लिया करते हैं। अवश्य 'उन्हें शहर से निकाल देना उन्हीं पर नहीं, वरन सारे समाज पर घोर अत्याचार होगा।

कृष्णचंद्र को जब यह ज्ञात हुआ कि सुमन वेश्या हो गयी, तो उन्हें यही उत्तम साधन मालूम हुआ कि चल कर तलवार से उसको मारूँ और तब

पुलिस में जा कर आप ही इसकी खबर दूँ। बाद में उन्होंने यह विचार छोड़ दिया, और नदी में डूब कर आत्महत्या कर ली।

शांता को प्रेमचंद ने इस रूप में दिखलाया है कि शादी टूटने पर भी वह सदन को मानसिक रूप से अपना पति समझने लगी है। हद तो यह है कि उसने इसी आशय का एक पत्र पद्मसिंह को लिख भेजा। इसमें यह था कि 'शीघ्र सुधि लीजिये, एक सप्ताह तक आपकी राह देखूँगी, फिर आप इस अबला की पुकार न सुनेंगे।' पद्मसिंह ने जब यह पढ़ा तो विट्ठलदास की सलाह ली, यह तय हुआ कि जा कर इस लड़की को बचाया जाय, तदनुसार ये लोग इस लड़की को ले आये और उसे सुमन के आश्रम पहुँचा दिया। उस समय सुमन बहुत बीमार थी।

बोर्ड के प्रस्ताव के सम्बन्ध में बड़ी चहल पहल रहती है, और अखबार वाले भी इसके पक्ष-विपक्ष में लिखते हैं। इस संबन्ध में 'जगत' के संपादक प्रभाकर राव एक विवेकहीन पेशेदार संपादक के रूप में सामने आता है। यह प्रभाकर राव पद्मसिंह के विरुद्ध लिखता है। सदन ने अपने चाचा के पक्ष-समर्थन के लिए दो एक लेख 'जगत' में भेजे, किंतु वे नहीं छपे, तब वह मोटा सा सोंटा ले कर वहाँ पहुँचा तो उसे संपादक से ज्ञात हुआ कि वह तो पद्मसिंह पर बड़ी रियायत कर रहा है। उसने कहा कि आप से कहने में कोई हानि नहीं है कि उन्होंने कई महीने हुये सुमन बाई नामक वेश्या को गुप्त रीति से विधवा-आश्रम में प्रविष्ट करा दिया, और लगभग एक माह से उसकी छोटी बहिन को भी आश्रम में ठहरा रक्खा है। मैं अब भी चाहता हूँ कि मुझे गलत खबर मिली हो, लेकिन मैं शीघ्र ही किसी और नीयत से नहीं तो उनके प्रतिवाद कराने के लिये ही इस खबर को प्रकाशित कर दूँगा।

सदन यहाँ से आश्रम पहुँचा। सुमन से उसे शांता के संबंध में बहुत कायल किया। वह बगलें झाँकने लगा, मानों अपना मुँह छिपाने के लिए कोई स्थान खोज रहा है। उस दिन यह मामला यहीं तक रहा। सदन बड़ी उधेड़ बुन में पड़ गया। वह कुछ यों सोचता है—'मैं मानता हूँ कि माता-पिता की आज्ञा पालन करना मेरा धर्म है।.......किंतु उनके दुराग्रह पर मैं इस रमणी का तिरस्कार नहीं कर सकता, जिसकी रक्षा करना मेरा धर्म है।' उसने निश्चय किया कि पहले अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाय, अपना झोपड़ा बनाया जाय, तदनुसार

वह इसी की फ़िक्र में हो गया। उसके पास एक मोहनमाला थी, उसे बेच कर उसने कुछ पूँजी इकट्ठी की। सदन ने एक नाव खरीद ली, और लोगों को पार उतारने का कारोबार करवाने लगा। सदन मल्लाहों का नेता हो गया। उसने अफसरों को लिखा-पढ़ी कर के उन्हें आये-दिन की बेगारी से मुक्त करा दिया।

प्रभाकर राव ने अंत में अपने पत्र में सुमन की बात छाप दी, आश्रम में हलचल मच गयी, नतीजा यह हुआ कि विधवाएँ आश्रम छोड़ कर भागने लगीं। सुमन और शांता ने यह तय किया कि आश्रम छोड़ कर चल दिया जाय तदनुसार वे नदी पार करने गयीं तो वहाँ सदन से भेंट हो गयी, सदन ने उनको अपने झोपड़े में रोक लिया। सदन ने शांता को ग्रहण करने की बात कही, शांता पर इस घटना का इतना असर पड़ा कि वह बेहोश हो गयी। शांता को बेहोश देख कर सुमन बरस पड़ी, वह बोली—तुमने उसके साथ जो अत्याचार किया उसका यह फल है। तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इस लिए किया कि मैं उसकी बहिन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने वर्षों नाक रगड़ी, जिसके तलवे तुमने वर्षों सहलाये.....आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो। अँधेरे में जूठा खाने को तैयार, पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं.....कोई और स्त्री होती तो तुम्हारी बातें सुन कर फिर तुम्हारी ओर आँख उठा कर न देखती, तुम्हें कोसती.....।

शांता के साथ सदन का विवाह हो गया। पद्मसिंह उसी दिन घर गये और उन्होंने भाई मदनसिंह को सब समाचार बताया। मदनसिंह आग बबूला हो गये, उनकी स्त्री ने कहा कि आज ही जाती हूँ, समझाकर लड़के को वापस लाती हूँ।

सदन के स्वभाव में अब काया-पलट हो गया। वह प्रेम का आनंद भोग करने में तन्मय हो रहा है। सुमन घर का सारा काम भी करती है, और बाहर का भी शांता और सदन उससे उदासीन हो गये। शांता उस पर अविश्वास करती थी, उसके रूप लावण्य से डरती थी। सदन इस प्रकार सुमन से बचता था जैसे हम कुष्ठ रोगी से बचते हैं। दोनों चाहते थे कि यह आस्तीन-साँप आँखों से दूर हो जाय। सुमन पर यह रहस्य शनैः खुलता जाता था। धीरे-धीरे मल्लाहों को यह पता लग गया कि सुमन कभी दाल मंडी में बैठ चुकी

है। अब मल्लाहों ने इस सारे घर का पानी पीना बंद कर दिया। दूसरा साल जाते-जाते नौबत यहाँ तक पहुँची कि सदन ज़रा-ज़रा सी बात पर सुमन पर झुँझला जाता। अंत तक एक दिन शांता ने सुमन के पूछने पर कह दिया—लेकिन वात यह है कि उनकी वदनामी हो रही है। लोग मनमानी बातें उड़ाया करते हैं। वह कहते थे कि सुभद्रा जी यहाँ आने को तैयार थीं, लेकिन तुम्हारे रहने की वात सुन कर नहीं आयीं और बहिन, बुरा न मानना जब संसार में यही प्रथा चल रही है, तो हम क्या कर सकते हैं।

बहुत दिनों तक मदनसिंह लड़के पर नाराज रहे, किंतु धीरे-धीरे पुत्र का प्रेम जोर करने लगा, अंत तक वे उसके घर पर आये, सुमन ने बाहर से यह सुन लिया कि उसके संबंध में चर्चा हो रही है, और सदन की माँ भामा कह रही है कि 'मैं उसे यहाँ सोने न दूँगी, ऐसी स्त्री का क्या विश्वास।' अब वह उल्टे पाँव लौट पड़ी, और उसकी भेंट स्वामी गजानंद से हुई। यह उसी के पति गजाधर प्रसाद थे जो तब से साधु हो गये थे। गजानंद ने सुमन को सेवाधर्म का उपदेश दिया। इस बीच में वेश्याओं की लड़कियों को ले कर अनाथालय खोला गया था, इसमें पचास कन्याएँ थीं। गजानंद ने सुमन से कहा कि वह इन अनाथालय के लिये एक पवित्र आत्मा की खोज में था, किंतु उसे कोई ऐसी महिला न मिली, जो इस काम को सेवा तथा प्रेम भाव से करे। वह बोला—वात्सल्य के बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता.....मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगी ?

सुमन ने इस कार्य को स्वीकार कर लिया। इसी आश्रम का नाम सेवासदन है। सुमन इसी आश्रम के सेवा कार्य में अपना जीवन व्यतीत करने लगी।

सेवासदन पर विचार

इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या कुछ और है, किंतु इसका प्रारंभ भारत में मौजूद बृटिश पुलिस पद्धति की निंदा से होता है। जिसे हम सरकार कहते हैं, उसमें सबसे मुख्य वस्तु पुलिस, फौज और कचहरी है, क्योंकि सरकार इन्हीं की बदौलत अपने हुक्मों को मनवाती है, इसलिए पुलिस पद्धति पर हमला बृटिश शासन पर सीधा हमला था। यह जो दिखाया गया था कि

पुलिस विभाग में रहकर कोई आदमी भला नहीं रह सकता, और यदि अपवाद के तौर पर कोई भला भी रहे, घूस न ले, झूठी गवाहियाँ न दे, तो पनप नहीं सकता, इससे बढ़ कर बृटिश-भारतीय पुलिस की निंदा और क्या हो सकती थी ? ईमानदार दारोगा कृष्णचंद्र इस पद्धति की चक्की में पड़ कर स्वयं जेल जाता है, अंत तक आत्महत्या करता है, उसकी स्त्री बिलख-बिलख कर मर जाती है, उसकी एक कन्या कोठे पर बैठती है, उसकी दूसरी कन्या के यहाँ बरात आकर लौट जाती है—यदि इन बातों को ध्यान से देखा जाय, तो यह पुलिस पद्धति की ही निंदा है। आगे के उपन्यासों में विशेष कर कर्मभूमि में प्रेमचंद बृटिश-भारतीय पुलिस पद्धति का पर्दाफाश करते नजर आते हैं। इस संबंध में उन्होंने भारतीय जनता में आमतौर से प्रचलित, और सही कारणों से उद्भूत बृटिश पुलिस विद्वेष का प्रतिफलन किया है।

बृटिश-भारतीय पुलिस पद्धति पर इस बौछार के फौरन बाद ही वे धर्मध्वजी महन्तों पर आक्रमण बोल देते हैं। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि वह हमला केवल, ठलुआ, परोपजीवी, दुश्चरित्र, लम्पट, कुकर्मी महंत वर्ग पर ही नहीं है, न यह हमला केवल धर्म पर है—जो उसका बाहरी रूप मात्र है, बल्कि यह हमला बीसवीं सदी में मौजूद सामंतवाद पर है। बाँके-बिहारी जी के सेवार्थ जो पट्ठे रहते थे, दूधिया भाँग छानते थे, और कसरत करते थे, उनको हम महंत जी या दूसरे शब्दों में धार्मिक भेष में अवस्थित और शायद सुरक्षित सामंत सरदार के गुर्गों और गुंडों के रूप में पाते हैं। इन लोगों ने चेतू को जिस निर्दयता के साथ मार डाला, उसमें हम महंतों के सामंतवादी रूप को देख सकते हैं। चेतू की मृत्यु में हम वर्ग संघर्ष के सामंतवादी रूप को मूर्त पाते हैं। अवश्य यह स्मरण रहे कि यह रूप विशुद्ध रूप से सामंतवादी नहीं है, इसमें पूँजीवाद का भी पुट आ गया है, क्योंकि चेतू को मार डालने के तुरंत बाद ही महंत जी को दारोगा जी के शरणापन्न हो कर घूस देने के लिए तैयारी करनी पड़ी। सामंतवाद के स्वर्णयुग में अर्थात् उसके अपने युग में, उस पर यह सब बखेड़ा नहीं था। सामंतवादी प्रभु अपने इलाके में बसे हुए अर्द्ध-गुलाम किसान की जानोमाल का संपूर्णरूप से मालिक होता था। कुछ गहराई से देखने पर महंत जी के सामंतवादी अत्याचार में और अन्य सामंतवादियों के अत्याचार में एक विशेष प्रभेद ज्ञात होगा। वह यह कि साधा-

रण ज़मींदार या ताल्लुकेदार का अपने किसान पर जो कुछ भी रोब होता है, वह ऐहिक अर्थात् डंडे का और मुकदमे का रोब है, जेल भिजवा सकने, पिटवा सकने तथा बेदखल करने का रोब है, किंतु बाँके बिहारी जी को इन शक्तियों के अलावा नरक भेजने का भी अख्तियार था। श्री बाँके बिहारी जी लेन देन में ३२ रु० सैकड़े से कम सूद नहीं लेते थे, सख्ती से मालगुजारी वसूल करते थे, विपत्तिग्रस्त किसान से रेहननामे बैनामे लिखाते थे। उनकी रकम दबाने का साहस किसी को नहीं होता था, और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे रण मोल ले सकता था। कौन भला जानबूझ कर अपना इहलोक और उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण परलोक बिगाड़े। प्रेमचंद ने जो इस पहलू का चित्रण किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार धर्म, परलोक आदि की भय संबंधी धारणाएँ उच्चवर्ग के स्वार्थ को सिद्ध करती हैं, और शोषित वर्ग को कष्टहीन रूप से लुटवाने में समर्थ होती हैं। सेवासदन में हम प्रेमचंद के संबंध में केवल यह अनुमान ही कर सकते हैं कि वे धर्म, जन्मांतर आदि मत के वर्ग चरित्र को समझते थे, किंतु बाद को चल कर 'कर्मभूमि' में इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है। उसमें हम चमारों के चौधरी को यह कहते पाते हैं कि पूर्व जन्म संबंधी विचार इसलिए हैं 'जिससे गरीबों को अपनी दशा पर संतोष रहे, और अमीरों के राग-रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े, लोग समझते रहें कि भगवान ने हमको गरीब बनाया।'

बृटिश-भारतीय पुलिस पद्धति अर्थात् साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति तथा धर्म और सामंतवाद पर इस चढ़ाई के साथ इस उपन्यास का सूत्र-पात होने पर भी इस पुस्तक की केंद्रीय समस्या वेश्याओं का प्रश्न है। सुमन जिन परिस्थितियों में धीरे-धीरे कोठे पर जा बैठती है, उसका चित्रण अच्छा हुआ। पिता का जेल चले जाना, एक दुआह से शादी होना, फिर सामने समाज द्वारा 'भोली' की इज्जत होते देखना, साथ ही गरीब होना और रोटियों के लाले पड़ना, इन सब बातों के परिणाम स्वरूप वह यदि वेश्या जीवन स्वीकार करने के लिए बाध्य होती है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस संबंध में यह भी स्मरण रहे कि सुमन का पालन एक मध्यवित्तवर्ग की लड़की की तरह हुआ था। उसमें उपार्जन की क्षमता नहीं थी, उसको जो कुछ भी शिक्षा दी गयी थी, वह केवल इतनी ही थी कि वह जिस पुरुष के भी गले से बँध

जाय, उसकी लौंडी बन कर रह सके। कुमारी अवस्था में पिता की, यौवन में पति की और उसके बाद पुत्र की अधीनता में रहने के लिए जो और जितनी शिक्षा उपयुक्त है, वह और उतनी ही शिक्षा उसे मिली थी। वह स्वतंत्र रूप से अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो सकती थी। ऐसी हालत में जब पति ने उसको निकाल दिया, फिर जहाँ आश्रम में गयी वहाँ से भी निकाल दी गयी तो उसके लिए इसके अतिरिक्त और क्या चारा रहा कि या तो वह आत्महत्या कर ले, या वेश्या जीवन ग्रहण करे। प्रेमचंद ने सुमन के इस विकास को बहुत खूबी के साथ दिखलाया है। 'भोली' के संबंध में पहले उनके विचार बहुत भिन्न थे, किंतु बाद को जब उसने देखा कि बड़े-बड़े मालातिलकधारी उसकी इज्जत करते हैं, तो यह स्वाभाविक था कि उसके संबंध में सुमन के विचार बदल जाते। हमारे वर्तमान-समाज में सुमन की तरह प्रत्येक कुलवधू को यह देखने का मौका मिलता है कि वही समाज जो ऊपर से वेश्याओं को न मालूम क्या-क्या करता, भीतर से और दिल से उसकी कितनी इज्जत करता है, किंतु फिर भी उनमें वह परिवर्तन नहीं होता जो सुमन में हुआ था, इसका कारण एक तो यह है कि पिता को एकबार बेईमानी करने के कारण जेल भेज दिये जाने से उसके नजदीक सब नैतिक बंधन बहुत कुछ शिथिल हो चुके थे, क्योंकि दिन-रात बेईमानी करने वाले दूसरे दारोगाओं का कुछ नहीं होता, और कृष्णचंद्र को एक ही बार में जेल जाना पड़ा; दूसरी बात यह है कि उसे एक ऐसा पति मिला, जो उसको समझा नहीं सकता था; तीसरी बात यह है कि उसे अपने पतिगृह से निकाले जाने पर कहीं आश्रय नहीं मिला, फिर चौथी बात यह है और यह मुख्य बात है कि वह स्वयं अपनी रोटी चला नहीं सकती थी।

सुमन के संबंध में प्रेमचंद ने यह दिखलाया है कि वह वेश्यालय में पहुँच कर भी अपने हाथ से भोजन बनाती है। इस पर श्री जनार्दनझा ने यह कहा कि यह अस्वाभाविक है। वे कहते हैं 'सुमन उस विलास की जगह पर पहुँच कर भी अपने हाथ से भोजन बनाने का कष्ट क्यों और किस तरह वहन कर रही थी, यह समझ में नहीं आता।' झा जी का यह मन्तव्य मनोविज्ञान अनभिज्ञता सूचित करता है। झा जी मनुष्य स्वभाव से यह आशा करते हैं कि जब एक क्षेत्र में उसके सब बंधन, टैबू या रोक टूट गयी, तो प्रत्येक क्षेत्र में उसके सब बंधन टूट जाने चाहिए। यह यांत्रिक तर्क का तकाजा अवश्य है, किंतु जीवन की द्वंद्ववादी

वास्तविकता से परिचित लोग इसमें कोई भी अस्वाभाविकता नहीं देखेंगे। कुमारी एलगाकर्न नामक एक जर्मन विदुषी ने बर्लिन की वेश्याओं के संबंध में जाँच की, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि बहुत सी वेश्याएँ नित्य ईश प्रार्थना करती हैं, यहाँ तक कि उपवास आदि भी रखती हैं, यद्यपि जहाँ तक पेशा करने का संबंध है, वे उसे बराबर करती हैं। यांत्रिक तर्कशास्त्र का तकाजा तो शायद यह हो कि वे ऐसा न करतीं, किंतु वास्तविक रूप से जो तथ्य था, उसका हमें जो वर्णन मिला है, वह उसी प्रकार था जैसा हम बता चुके हैं। सुमन को इस प्रकार वेश्यालय में रहते हुए भी अपने हाथ से भोजन पकाती हुई दिखा कर प्रेमचंद ने मनोविज्ञान के ज्ञान का ही परिचय दिया है; न कि इसके विपरीत। संभव है उन्होंने ऐसा प्रत्यक्ष देखा हो।

सुमन का चरित्र इस प्रकार बहुत सफल रूप से चित्रित हुआ है, किन्तु कृष्णचंद्र जेल से आकर जिस प्रकार स्त्रियों में बैठ कर फोश मजाक करता है, गाँजा, भाँग आदि पीता है, यह परिवर्तन उतनी अच्छी तरह चित्रित नहीं हुआ है। अतएव इस क्षेत्र में भी हमें यह समझ में आता है कि एकबार घूस लेते ही सजा पा जाने के कारण कृष्णचंद्र की मानसिक विकृति हो जाती है, और उसकी अब तक की २+२=४ वाली धारणाएँ सब बिखर कर उड़ जाती हैं। चरित्र का अर्थ ही है अनुशासित इच्छा, किंतु जब एक भयंकर धक्के से अनुशासन की रीढ़ ही टूट जाती है, तो उस समय पहले की चरित्र संबंधी मान्यताएँ कैसे टिक सकती हैं? इस रूप में देखने पर कृष्णचंद्र की परिणति तो ठीक ज्ञात होती है, किंतु पूर्व धारणा और बाद की परिणति की बीच की सीढ़ियाँ गायब हो जाने से चरित्र में कुछ अस्वाभाविकता आ जाती है। कृष्णचंद्र के चरित्र को इस प्रकार चित्रित करना चाहिए था, जिससे उस पर पाठक की सहानुभूति का उद्रेक हो, किंतु इसके बजाय पाठक उसके बाद के जीवन को उदासीनता के साथ ऐसे देखता हैं, मानों वह कोई प्रकृति की एक विकृति या अस्वाभाविक व्यक्ति हो। यों तो सुमन के चरित्र का विकास अच्छी तरह कदम-ब-कदम दिखलाया गया है, किंतु सुमन के प्रति भी पाठक की सहानुभूति नहीं उत्पन्न हो पाती।

इस दृष्टि से देखने पर सेवासदन शरत की रचनाओं के मुकाबिले में घटिया साबित होता है। हमने विशेषकर इस संबंध में शरत बाबू का नाम इसलिए लिया कि शरत बाबू के उपन्यासों में वेश्याओं का जितता सजीव और

सहानुभूति पूर्ण चित्रण है, इतना विश्व-साहित्य में भी कम उपलब्ध हैं। कृष्णचंद्र और सुमन के जीवन की कार्य कारण परम्परा को बहुत बड़ी हद तक सफलता के साथ दिखा पाने पर भी इस न्यूनता के कारण सेवासदन में जीवन का संचार कम होता है। यहीं पर प्रेमचंद की कला उनके विचारों की उदात्तता, उनके विद्रोह की तीव्रता, समाज यंत्र के उनके आंतरिक ज्ञान तक पहुँच नहीं पाती। सदन के चरित्र में उन्होंने जो परिवर्तन दिखलाया है कि कहाँ तो वह एक अल्हड़ नौजवान था, और कहाँ वह एकदम समाज को तिरस्कार कर शांता से शादी कर लेता है, इस परिवर्तन का यथेष्ट कारण भी नहीं दिखलाया गया।

इस उपन्यास का सबसे कमजोर, शिथिल, और असंबद्ध हिस्सा वह है जिसमें म्युनिसिपिलिटी के सदस्यों की तथा अन्य सार्वजनिक वक्ताओं की तथा उनके तर्कों की बात चित्रित है। यह हिस्सा बहुत कुछ उखड़ता हुआ, तथा मुख्य कथानक से अपरिहार्य-रूप से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होगा, फिर भी वस्तु-दर्शी कलाकार के नाते उन्होंने जीवन में जो देखा था, उसका चित्र आ जाने के कारण वर्णन कहीं कहीं बहुत ही वस्तु अनुयायी हो जाता है। देवताओं की स्तुति करने के लिए वेश्याओं की जरूरत है, एक वक्ता के इस तर्क को सुन कर भले ही हमें हँसी आवे, किंतु जिन जिन देशों में देवदासी प्रथा रही है, उनमें इसी प्रकार की धारणा प्रचलित थी। इसी प्रकार के अन्य कई दिलचस्प अंश इसमें होते हुए भी इन स्थानों पर यह कहानी निस्संदेह रूप से कुछ पतली पड़ गयी है।

प्रेमचंद ने स्वयं लिखा है कि 'उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट संबंध रखती हो, इतना ही नहीं बल्कि उसमें इस तरह घुल मिल गयी हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की सी हो जायगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों।' (कुछ विचार, भाग एक, पृ० ८६)। यद्यपि उन्होंने ऐसा लिखा है, किंतु सेवासदन में सब जगह वे इसको निभा नहीं पाये।

श्री रामरतन भटनागर इसलिए प्रेमचंद पर बहुत गरम हुए हैं कि सेवासदन में वेश्या समस्या का कोई हल नहीं है। वे कहते हैं 'सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शांता

और सदन का परिश्रम समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर लें, तो भी परिस्थिति का अन्त नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब वेश्यायें रहेंगी ही, तो बात क्या हुई? स्पष्ट है कि प्रेमचंद समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते। वे मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते।'

क्या उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक समस्या का एक तैयार हल पेश कर दे? फिर हल पेश करने के तरीके भी तो हो सकते हैं। यदि उपन्यासकार यह दिखा दे कि किन कारणों से समस्या का रूप यों है, इसके पीछे कौन से आर्थिक-मनोवैज्ञानिक कारण हैं, दूसरे शब्दों में वह यदि रोग का निदान कर दे, और रोग मुक्ति किस दशा में हो सकती है, इसका इशारा कर दे, तो क्या हम यह न समझेंगे कि उसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया? दार्शनिक-सामाजिक निबंधकार तो हल पेश करते हैं। क्या कलाकार उसी प्रकार से प्रत्येक समस्या का हल पेश करे, या उसके हल में और दूसरों के पेश किये हुए हल में कुछ फर्क होगा? यदि हाँ तो वह फर्क क्या है। इस बात पर यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि कलाकार को हल इस रूप में पेश करना पड़ेगा कि हल तो आ जाय, किंतु यह जरूरी नहीं कि वह दूसरों की तरह लट्ठ-मार तरीके से आवे। सच तो यह है कि हल जितने ही सूक्ष्म तरीके से आवेगा, (अवश्य सूक्ष्मता का अर्थ यह नहीं है कि इन भुल पकीरी हो, या हल ही लुप्त हो जाय), उतना ही कला का परिपाक अच्छा होगा। यों तो प्रत्यक्ष हल देने के लिए दल का साहित्य काफी है, फिर सुकुमार साहित्य की आवश्यकता क्या है?

यदि इस दृष्टि से देखें तो हम यह कदापि नहीं कह सकते कि सेवा-सदन में वेश्या-समस्या का हल नहीं है। रहा उन्होंने जो अंत में सबको आश्रम में डाल दिया है, वह उनका एक प्रिय ढंग है किंतु यह ढंग उन्हें जितना भी प्रिय रहा हो, हम जानते हैं कि वह कोई हल नहीं है। बहुत संभव है कि वे स्वयं इसी को एक टालू हल समझते हों, किंतु एक वस्तुवादी लेखक जितना अपनी रचना में सज्ञान रूप से देना चाहता है, उससे कहीं अधिक उसमें हो सकता है। सेवा-सदन का आश्रम भले ही सज्ञान प्रेमचंद के निकट इस विकट समस्या का एक हल ज्ञात हुआ हो, किंतु उनकी रचना ही पुकार-पुकार कर

कह रही है कि यह कोई हल नहीं है। उनकी रचना से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इस समाज के आमूल परिवर्तन के बगैर किसी भी हालत में वेश्या-समस्या का हल नहीं हो सकता। अंत में सुमन के सामने सब जगह से निकाले जा कर यह परिस्थिति आयी कि वह या तो आत्महत्या कर ले, या वेश्या बने, किंतु तीसरा हल स्वतंत्र हो कर अपने उपार्जन पर रहना, यह उसके दिमाग में नहीं आया, और आता भी तो वह उसे कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकती — इन बातों का इशारा इसी तरफ है कि जब तब स्त्रियाँ आर्थिक रूप से पुरुष के समकक्ष नहीं होंगी, तब तक न वेश्या-समस्या का हल होगा, न स्त्रियों की स्वतंत्रता का प्रश्न हल होगा।

प्रेमाश्रम

लखनपुर की जमींदारी के मालिक ज्ञानशंकर तथा उनके चाचा प्रभाशंकर हैं। प्रभाशंकर के तीन लड़के हैं, बड़ा लड़का दयाशंकर पुलिस में नौकर है। जमींदारी में ज्ञानशंकर का आधा हिस्सा है, किन्तु संयुक्त परिवार होने के कारण प्रभाशंकर की शाखा के आठ व्यक्ति इसी जमींदारी पर मजा करते हैं, किंतु ज्ञानशंकर की शाखा के केवल तीन प्राणी हैं। इन बातों को सोच कर ज्ञानशंकर कुढ़ता रहता है, संयुक्त परिवार के टूटने के आसार दृष्टिगोचर हैं।

इसी बीच में ज्ञानशंकर के मित्र ज्वालासिंह इस इलाके के मजिस्ट्रेट हो गये।

ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या एक बहुत ही सुशीला लड़की है। वह एक बड़े तालुकेदार की लड़की है, किंतु उसमें सरलता कूट-कूट कर भरी है, वह पति की अलगौझेवाली बात से खुश नहीं है।

पारिवारिक जीवन में इस प्रकार रुख रखने के अतिरिक्त ज्ञानशंकर किसानों को सताने में भी एक नंबर है। प्रभाशंकर कुछ रियायत करना चाहते हैं, किंतु ज्ञानशंकर इसके बिल्कुल विरुद्ध हैं। ज्ञानशंकर को यह भी झक सवार है कि जल्दी से जल्दी बटवारा हो जाय।

मनोहर एक अच्छा खाता पीता किसान है, वह पुरानी चाल का आदमी है, किंतु उसका लड़का बलराज हर बात में अन्याय का सामना करने के लिए हर तरीके से तैयार है। बलराज के दिमाग में कुछ रूस की बातें भी घुसी हुई हैं। यह उपन्यास १६२२ में प्रकाशित है, इस बात को देख कर रूस का इस प्रकार उल्लेख प्रेमचंद के मन की प्रगतिशीलता का सूचक है। बलराज कहता है— 'तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो जानो कास्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींदार की बेगार करने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि कास्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के

पास कोई और देश बलगारी है, वहाँ अभी हाल की बात है कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है, और अब किसानों और मजूरों की पंचायत राज करती है।' बलगारी और रूस को एक कोष्ठक के अंदर रखने पर भी १६२२ में प्रकाशित पुस्तक में रूस के संबंध में इस प्रकार उल्लेख ही बहुत मार्के की बात है ।

अधिकारियों के दौरों के समय गाँव वालों का क्या हाल होता है, इसका प्रेमचंद ने अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

दौरे के जमाने में गाड़ियाँ बेगार में पकड़ी जाती हैं, पुआल घास ले ली जाती है, चार काट लिया जाता है, या काटा ही क्यों जायगा, कटा-कटाया ले लिया जाता है, और सो भी चारे के मालिक को उसे ढो कर पहुँचाना पड़ता है, और ऊपर से हर पाँच रुपये के चपरासी को सलाम बजाना पड़ता है। हाकिम तथा उनके पिछलगुओ के लिए दूध पहुँचाना पड़ता है इत्यादि। इस काम में जमींदार के कारिंदे हाकिम के लश्कर के साथ पूर्ण सहयोग करते हैं।

मनोहर का लड़का बलराज हिम्मती तो था ही, एक दिन ज्वालासिंह के पास पहुँचा, और गाड़ियों के बेगार पर लिये जाने की शिकायत की। ज्वालासिंह ने बेगार आदि बंद होने का हुक्म दे दिया।

किसी न किसी रूप में ज्ञानशंकर में और प्रभाशंकर में बटवारा हो गया। विद्या इस पर खुश नहीं हुई। ज्ञानशंकर अपनी पत्नी से भी इस कारण नाराज रहते थे कि उनके ससुर ने उनको कोई जायदाद नहीं दी। पति और पत्नी में इन दिनों इस संबंध में तकरार हो जाया करते थे। विद्या कहती मैं तुम से कोई रुपये तो माँगती नहीं। ऐसे ही एक दिन तकरार हो रहा था कि एक तार आया जिसमें यह लिखा था कि विद्या के एक मात्र भाई का स्वर्गवास हो गया। इस खबर को सुनते ही ज्ञानशंकर मन ही मन बहुत खुश हुए क्योंकि वे इस प्रकार अपने ससुर की सारी जायदाद के मालिक बनते नजर आये, किंतु ऊपर से उन्होंने बहुत समवेदना प्रकट की।

ज्ञानशंकर ससुराल पहुँचे तो वहाँ अपनी विधवा साली गायत्री से उनका परिचय हुआ। गायत्री एक भोली-भाली लड़की थी, और सरलता से उनसे मिलती थी। उसका सौंदर्य उनके हृदय को खींचता जाता था, और वह पतिंगे की भाँति परिणाम से बेखबर इस दीपक की ओर बढ़ते चले जा

रहे थे। उन्हें गायत्री प्रेमाकांक्षा की मूर्ति दिखाई देती थी। गायत्री का पति एक दुराचारी मनुष्य था, पर गायत्री को कभी उस पर संदेह नहीं हुआ, वह उसके मनोभावों की तह तक कभी नहीं पहुँची थी, और यद्यपि उसे मरे हुए तीन साल बीत चुके थे, पर वह अभी तक उसकी स्मृति की आराधना आध्यात्मिक श्रद्धा से किया करती थी। उसका निष्कपट हृदय वासनायुक्त प्रेम के रहस्यों से अनभिज्ञ था। गायत्री भोली सही, अज्ञान सही, पर शनैः शनैः उसे ज्ञानशंकर से लगाव होता जाता था। यदि कोई भूल कर भी विष खा ले, तो उसका असर क्या कुछ कम होगा? धीरे-धीरे ज्ञानशंकर उससे अपनी लगावट बढ़ाता गया। घनिष्ठता बढ़ती गयी। एक तरफ से सरलता थी, दूसरी तरफ से योजनात्मक वासना का आक्रमण। एक दिन दोनों को बिल्कुल एकांत में रहने का अवसर हुआ। ज्ञानशंकर ने अपने घुटने से गायत्री की जाँघ में एक ठोका दिया। गायत्री ने तुरंत पैर समेट लिया, उसे कुचेष्टा की लेशमात्र भी शंका नहीं हुई। किन्तु एक क्षण के बाद ज्ञानशंकर ने अपने जलते हुए हाथ से उसकी कलाई पकड़ कर धीरे से दबा दी। गायत्री ने चौंक कर हाथ खींच लिया, मानो किसी विषधर ने काट खाया हो। गायत्री ने भयभीत नेत्र से ज्ञानशंकर को देखा। उसका चित्त स्थिर हो गया, आँखों में अँधेरा छा गया, सारी देह पसीने से तर हो गयी। उसने कातर नेत्रों से बाहर की ओर झाँका।......वह संज्ञा शून्य हो गयी। उसकी वह वस्तु लुट गयी जो उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय थी। थोड़ी देर में गायत्री सम्हल गयी। वह रोने लगी, उसकी सिसकियाँ सुन कर ज्ञानशंकर के हृदय में चोट-सी लगी। अंतरात्मा जागृत हो गयी, शर्म से गर्दन झुक गयी। यह घटना गाड़ी में हुई थी। दोनों प्राणी खिड़कियों से सिर निकाल रोते रहे। यहाँ तक कि गाड़ी घर पहुँच गयी। गायत्री को इसका बड़ा अफसोस हुआ, और उसने सोच लिया कि अब यहाँ से चल देना चाहिए। तदनुसार वह अपनी जमींदारी गोरखपुर में चली गयी।

बलराज के कहने पर जब ज्वालासिंह ने लश्करियों को गाड़ी आदि बेगार में पकड़ने से तथा पुआल, दूध आदि जबरदस्ती लेने से मना कर दिया, तब तो इन लश्करियों में हाहाकार मच गया।

गौस खाँ ने इस अवसर पर ज्वालासिंह को बताया कि आप हिंदुस्तानी हैं, इसी कारण ये गाँव वाले बेगार देने से भड़क रहे हैं, 'अँगरेज

हुक्काम आते हैं तो कोई चूँ भी नहीं करता। अभी दो हफ्ते होते हैं पादरी साहब तशरीफ लाये थे, और हफ्ते भर रहे लेकिन सारा गाँव हाथ बाँधे खड़ा रहता था।'

यह बातें निशाने पर बैठ गयीं और ज्वालासिंह अकड़ कर बोले—'अच्छा यह बात है तो मैं भी दिखा देता हूँ कि मैं किसी अँगरेज से कम नहीं हूँ।'

जब ज्वालासिंह से यह इशारा मिल गया कि वे अब न्यायान्याय के झंझट में न पड़ेंगे, तो उनके नीचे के कर्मचारियों ने एक कार्यक्रम तय कर लिया। यह तय हुआ कि यदि बलराज को ठीक किया जाय, तो काम बने। शाम को दारोगा जी उस गाँव में पहुँचे। ज्योंही बलराज दिखाई पड़ा, वह पकड़ लिया गया। दारोगा जी बलराज को इस अभियोग पर फाँसना चाहते थे कि उसने सरकारी काम में मुदाखिलत बेजा की है, तथा उसमें बाधा पहुँचा कर फौजदारी करने पर तैयार है। गाँववालों का इस संबंध में बयान लिया गया, किंतु कोई ऐसी बात तो थी नहीं, तथा गाँववाले हिंदू-मुसलमान सब एक थे, इसलिए बलराज के विरुद्ध कोई मुकदमा नहीं बन पाया, और उसे छोड़ देना पड़ा। जब दारोगा जी इस प्रकार निराश हुए तो वे झल्ला कर मुचलका ले कर चले गये।

ज्ञानशंकर के बड़े भाई प्रेमशंकर बहुत सालों से अमेरिका में प्रवास कर रहे थे। किसी को पता नहीं था कि वे कहाँ हैं। एक दिन वे लौट आये, ज्ञानशंकर को पहले तो बड़ी खुशी हुई, किंतु जब उसे यह बात याद आयी कि संपत्ति का आधा हिस्सा प्रेमशंकर का है, तो उनकी प्रफुल्लता एक ही क्षण में लुप्त हो गयी।

रायसाहब ने ज्ञानशंकर से दो लेख लिखने के लिए कहे, एक बजट के संबंध में और एक गायत्री देवी के संबंध में। ज्ञानशंकर ने ऐसा ही किया, और इन दोनों लेखों में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। पहले लेख के कारण ज्ञानशंकर की धाक विद्वानों में जम गयी, और दूसरे लेख के कारण गायत्री को बाद को चल कर रानी का खिताब मिला। गायत्री के मन में फिर से ज्ञानशंकर के लिए प्रशंसात्मक भाव उत्पन्न हुए, और अंत में ज्ञानशंकर उनके स्टेट के मैनेजर हो गये।

प्रेमशंकर घर लौटे तो चचासाहब ने उनका जी भर कर स्वागत किया, गले से लिपटे और फूट-फूट कर रोने लगे। प्रेमशंकर को यह उम्मीद थी कि उनकी स्त्री श्रद्धा उनका स्वागत करेगी, सच बात तो यह है उसी के कारण वे

लौटे थे, किन्तु श्रद्धा कहीं दिखाई न पड़ी। बात यह है कि वह पति के प्रति श्रद्धाशील होते हुए भी विदेश यात्रा को प्रायश्चित योग्य समझती थी। यह केवल श्रद्धा की बात नहीं थी, सारे समाज का ही प्रेमशंकर के प्रति यह रुख रहा। मजे की बात यह है कि प्रेमशंकर ने अमेरिका में रहते समय दर्शनशास्त्रों पर कितने ही व्याख्यान दिये, अपने रस्म और वर्णाश्रम धर्म के समर्थन करने में सदैव तत्पर रहे, यहाँ तक कि पर्दे की रस्म की भी सराहना करते रहे। वे यह मानने को तैयार न थे कि अमेरिका जाने से वे विधर्मी हो गये, बल्कि उनका दावा था कि मैं अपने धर्म और मत का वैसा ही भक्त हूँ जैसा पहले था, बल्कि उससे ज्यादा। इस सफाई के बावजूद समाज टस से मस नहीं हुआ, क्योंकि लोगों की विदेशयात्रा पर जो अश्रद्धा है, यह किसी तर्क या सिद्धान्त के अधीन नहीं है।

प्रेमशंकर गाँववालों की तरह-तरह से मदद करते रहे, और गाँववालों पर इसकी धाक जम गयी कि वे किस प्रकार निस्वार्थ सेवा के लिए तैयार रहते हैं।

ज्ञानशंकर ने लखनपुर गाँव में इजाफा लगान करने का इरादा किया, और इस संबंध में कानूनी कार्रवाई शुरू कर दी। इस अर्जी के फैसले का भार ज्वालासिंह पर पड़ा। ज्वालासिंह की स्त्री शीलमणि तथा ज्ञानशंकर की स्त्री विद्या में मित्रता थी। ज्ञानशंकर ने चाहा कि विद्या इस मित्रता का फायदा उठा कर शीलमणि से कहे कि वह अपने पति से इस अर्जी पर अनुकूल राय देने के लिए कहे। विद्या ने इन्कार किया, तब एक दिन ज्ञानशंकर ने ही शीलमणि से मुलाकात की, और कहा कि आप इसकी सिफारिश कर दें। शीलमणि राजी हो गयी और पति से जाकर इस बात की सिफारिश की। ज्वालासिंह इस अर्जी पर फैसले के सिलसिले में एक दिन मौका देखने के लिए लखनपुर पहुँचे। वहाँ पर प्रेमशंकर से उनकी भेंट हुई। प्रेमशङ्कर के मुँह से कुछ ऐसे विचार इस समय व्यक्त किये गये हैं जो समाजवादी विचार कहे जा सकते हैं।

ज्वालासिंह ने जो गाँव का दौरा किया तो चारों तरफ भूख, बीमारी आदि देखी, लौट कर उन्होंने शीलमणि से बताया कि 'लखनपुर में प्लेग का भयंकर प्रकोप हो रहा है। लोग तबाह हुए जाते हैं.....ज्ञानशंकर डिग्री पाते ही जारी कर

देंगे, किसी के बैल नीलाम होंगे, किसी के घर बिकेंगे, किसी की फसल खेत में खड़ी-खड़ी कौड़ियों के मोल बिकेगी। यह दीनों की हाय किस पर पड़ेगी ?' शीलमणि ने यह हाल सुना तो उसने अपनी सिफारिश वापस ले ली और कहा कि आप वही कीजिए जो न्याय और सत्य कहे, मैं गरीबों की आह लेना नहीं चाहती। ज्वालासिंह ने ज्ञानशंकर के विरुद्ध फैसला दे कर उनका दावा खारिज कर दिया। ज्ञानशंकर ने अपील की किंतु प्रेमशंकर के जरिये से आर्थिक मदद मिल जाने के कारण गांववालों की ओर से मुकदमे की अच्छी पैरवी हुई, और इनका दावा ऊपर से भी खारिज हो गया। जबसे ज्वालासिंह ने ज्ञानशंकर का दावा खारिज किया था, तब से ज्वालासिंह के विरुद्ध ज्ञानशंकर ने लेखों का ताँता लगवा दिया, यहाँ तक कि उन्हें असचरित्रों का राजा बतलाया।

ज्ञानशंकर गायत्री के स्टेट में मैनेजर होकर गये, तो उनको वहाँ बड़ी सफलता मिली। आय में वृद्धि और व्यय में कमी यह ज्ञानशंकर के सुप्रबंध का फल था। गवर्नर साहब ने गायत्री के यहाँ दरबार किया, जिसमें उन्हें रानी उपाधि से भूषित किया गया, इस अवसर पर भी ज्ञानशंकर ने खूब नाम कमाया। उन्होंने सब अफसरों को खुश कर दिया, और एक ऐसा मानपत्र लिखा जिसकी अँगरेज लोग भी तारीफ करने लगे। ज्ञानशंकर को, उसकी बीबी विद्या को तथा लड़के मायाशंकर को पुरस्कार तथा उपहार मिले।

ज्ञानशंकर जिस समय गोरखपुर में थे, उस समय लखनपुर में एक वारदात हो गयी, जिसके कारण वे लखनपुर लौटने पर मजबूर हुए।

बलराज की मा और मनोहर की बीबी बिलासी चरावर पर अपने जानवरों को चरा रही थी, इतनी में गौस खाँ पहुँचा, और उसने उससे कहा कि वह अपने जानवरों को निकाल ले जाय।

बिलासी ने हटाने से इनकार किया, नतीजा यह हुआ कि गौस खाँ ने सब जानवरों को कानीहौद भिजवा दिया, और जब बिलासी ने इसका विरोध किया तो गौस के पिछलगुओं ने उसे जोर से धक्का दिया, और वह जमीन पर गिर पड़ी। बिलासी इसी हालत में वहाँ पर पहुँची, जहाँ उसके पति और पुत्र काम कर रहे थे। मनोहर खून का घूँट पी कर रह गया, किंतु रात को वह उठा, और जा कर गड़ासे से गौस खाँ का काम तमाम कर दिया। इस काम में बलराज ने भी उसका साथ दिया था, किंतु वह अकेले थाने पहुँचा और सब दोष

अपने ऊपर ले लिया। इस हत्या के संबंध में बलराज तो खैर गिरफ्तार हुआ ही, अन्य कई व्यक्ति, यहाँ तक कि प्रेमशंकर गिरफ्तार हो गये। प्रेमशंकर बाद को अपने चचा की कोशिश से छूट गये।

जब मनोहर ने देखा कि उसके इकबाल करने पर भी गाँव के सब अच्छे आदमी फँसे हुए हैं, और अंत तक उन्हें सजा होती दिखाई पड़ी, तो उसे बहुत आत्मग्लानि हुई, और उसने उधेड़बुन में पड़ कर आत्महत्या कर ली। मनोहर की आत्महत्या से विलासी को बहुत कष्ट पहुँचा। वह अब घर से बाहर भी नहीं निकलती थी। गौस खाँ की जगह फैजुल्ला नियुक्त हुआ था। वह उससे भी खराब था। मालगुजारी, लगान देने की लोगों में सामर्थ्य नहीं थी। फैजुल्ला ने सख्ती करनी शुरू की, किसी को चौपाल के सामने धूप में खड़ा करता, किसी को मुश्कें कसकर पिटवाता। दीन नारियों के साथ और भी पाशविक व्यवहार किया जाता, किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जातीं, किसी के जूड़े नोचे जाते। इन अत्याचारों को रोकने वाला अब कौन था? यहाँ पर प्रेमचंद ने एक ऐसा मंतव्य किया है जो उनके संबंध में यह जो कहा जाता है कि वे साहित्य में गाँधीवाद के प्रतिनिधि हैं, इसे संदेह में डाल देता है। वे कहते हैं 'सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धांत भ्रांति पूर्ण सिद्ध हुआ।' इस प्रकार वस्तुवादी होने के नाते उन्होंने तथ्य का सही-सही चित्रण कर दिया; और यह दिखा दिया कि गाँव वाले यद्यपि सत्य पर डटे रहे, किंतु उनकी हालत दिन ब दिन बिगड़ती गई।

प्रेमशंकर पक्का पैटी बुर्जुआ परोपकारी ढंग का बुद्धिवादी जीव है। उसकी हालत अजीब है। उसके सामने कोई कार्यक्रम नहीं है, समाज के रोग की उसे अनुभूति है, किंतु उसका स्वरूप क्या है, उसका निदान क्या है, इसे वह नहीं समझता, नतीजा यह है कि वह एक सदिच्छाओं का गट्ठर होते हुए भी अपाहिज और अकर्मण्य है। मनोहर की आत्महत्या की बात सुन कर वह जेल के फाटक पर जाता है, किंतु वहाँ पुलिस के प्रधान अफसरों ने जेल से निकल कर कहा, तुम्हीं ने शेष अपराधियों को बचाने के लिए आत्महत्या करायी। इस तिरस्कार से वे विचार-मग्न हो गये। प्रेमचंद ने यहाँ प्रेमशंकर के विषय में लिखा है 'अभी कुछ समझ में नहीं आता कि जीवन का क्या लक्ष्य बनाया जाय।' हम आगे भी उसके चरित्र को देखेंगे।

रायसाहब कमलानंद ने ज्ञानशंकर से यह पूछा कि उन्होंने यह जो गायत्री के स्टेट में कृष्ण लीला आदि फैला रक्खी है, और स्वयं कृष्णभक्त हो गये हैं, उसका असली उद्देश्य क्या है। राय साहब ने पूछा—तुमने यह जाल किसके लिये फैलाया है ?

ज्ञानशंकर—गायत्री के लिए।

रायसाहब—तुम उससे क्या चाहते हो ?

ज्ञानशंकर—उसकी संपत्ति और उसका प्रेम।

रायसाहब ने यह जो बात पूछ ली, इसे भी प्रेमचंद ने इस प्रकार दिखलाया है मानो रायसाहब किसी अलौकिक शक्ति के द्वारा उसके हृदय के इस अंतरतम सत्य को पूछ लेने में समर्थ हुए, ज्ञानशंकर पर एक अर्द्ध-विस्मृति की दशा छा गयी, यह दिखाया गया है। यह कहाँ तक स्वाभाविक है। क्या दुर्जनों के हृदय-संकल्प को इतनी आसानी से पूछ लिया जा सकता है। अवश्य काले से काले हृदयवाला व्यक्ति भी परिस्थितियों में आत्मदोष स्वीकार करता है, किंतु उसके लिए जो मनोवैज्ञानिक परिस्थिति होनी चाहिए, उसे न दिखाकर इस प्रकार अलौकिक शक्ति का आश्रय लेना वस्तुवाद के साथ कहाँ तक न्याय है ? इस स्वीकारोक्ति के बाद रायसाहब बहुत नाराज हुए, और ज्ञानशंकर से कहा कि वह कभी गायत्री की तरफ कदम न उठावे। ज्ञानशंकर रोने लगे। थोड़ी देर में वे वहाँ से उठे, और गोमती में आत्महत्या करने चले, किंतु जब वे पानी में घुसे, तो मरने को जितना सहज समझा था, उससे वह कहीं कठिन ज्ञात हुआ। उन्हें विचार हुआ मैं कैसा मंद-बुद्धि हूँ कि एक जरा सी बात के लिए प्राण देने पर तत्पर हो रहा हूँ। इसके बाद ज्ञानशंकर ने रायसाहब को खाने में जहर दे दिया, किंतु रायसाहब खाना खाते ही ताड़ गये। उन्होंने कहा—तुम सिंह का शिकार बाँस की तीलियों से करना चाहते हो .....यद्यपि यह थाल बीस पचीस आदमियों को सुलाने के लिए काफी है, शायद एक कौर खाने के बाद उन्हें दूसरे कौर की नौबत न आ पाये .....

यह कहते-कहते रायसाहब ने थाल से कई कौर उठा कर जल्द-जल्द खाये। अकस्मात ज्ञानशंकर तेजी से लपके, थाल उठा कर भूमि पर पटक दिया, और रायसाहब के पैरों पर गिर कर बिलख-बिलख कर रोने लगे। रायसाहब की योगसिद्धि ने आज उन्हें परास्त कर दिया।

गौस खाँ की हत्या के संबन्ध में जो मुकदमा चल रहा था, उसमें सबको लम्बी-लम्बी सजाएँ हुईं। प्रेमचंद ने दिखलाया है कि कई महीने बीत चुके लेकिन प्रेमशंकर अपील दायर करने का निश्चय न कर सके। यहाँ कुछ वर्णन में गड़बड़ी जरूर है क्योंकि अपील दायर करने की भी एक मियाद होती है, और उसके बाद अपील दायर नहीं हो सकती। जो कुछ भी हो जिस बिसेसर साह ने पुलिस की भभकी में आ कर अभियुक्तों के विरुद्ध बयान दिया था, वह जब पश्चात्तापग्रस्त होकर अपील का सारा खर्च उठाने पर तैयार हुआ तो अपील दायर की गयी।

ज्ञानशंकर अपने ससुर द्वारा दुतकारे जा कर लखनऊ पहुँचे और उन्हें हिम्मत न हुई कि गायत्री के पास जायँ। फिर उन्होंने गायत्री को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने यह लिखा — मरने लगूँ तो उसी मुरली-वाले की सूरत आँखों के सामने हो और यह सिर राधिका की गोद में हो। इसके अतिरिक्त मुझे कोई और इच्छा और लालसा नहीं है। राधिका की एक तिरछी चितवन, एक मृदुल मुस्कान, एक मीठी चुटकी, एक अनोखी छटा पर मैं समस्त संसार की सम्पदा को न्यौछावर कर सकता हूँ। इसके बाद ज्ञानशंकर ने इसी पत्र में यह लिख दिया कि रायसाहब मुझ पर नाराज हैं और मुझ पर बेजा संदेह करते हैं। कृष्णलीला आदि का स्वाँग रच कर ज्ञानशंकर ने गायत्री की हालत ऐसी कर दी थी कि यद्यपि सामने रहते तो वह अनुभव नहीं करती थी, किंतु ज्ञानशंकर के चले जाने के बाद उसको एक-एक क्षण काटना दुस्तर हो गया। गायत्री इसी विकलता की दशा में कभी ज्ञानशंकर के दीवानखाने की ओर जाती, कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी बाग में, पर कहीं जी न लगता, वह गोपिकाओं की विरह-व्यथा की अपने वियोग दुख से तुलना करती है, सूरदास के उन पदों को गाती जिनमें गोपिकाओं का विरह वर्णन किया गया है। ऐसी हालत में जब ज्ञानशंकर का पत्र पहुँचा तो उसने आग में घी का काम किया, और उसने ज्ञानशंकर को तार दिया 'मै आ रही हूँ।' और शाम की गाड़ी से मायाशंकर को साथ ले कर बनारस चली। बनारस में ज्ञानशंकर ने कृष्णलीला की रचना की। वह स्वयं कृष्ण बने और गायत्री राधा बनी। अंतिम नतीजा यहाँ तक हुआ कि गायत्री आत्मसमर्पण कर ज्ञानशंकर को कृष्ण समझ कर उसके पैरों पर गिर पड़ी। ज्ञानशंकर ने उसको तुरंत उठा कर छाती से लगा

लिया। ऐसे समय में अकस्मात् कमरे का द्वार धीरे से खुलता है, और विद्या अंदर कदम रखती है। विद्या ने काफी भला-बुरा कहा। गायत्री रोने लगी। ज्ञानशंकर ने विद्या के सामने ही गायत्री को बहकाने की चेष्टा की, किंतु सफल नहीं हुए। गायत्री पर इन सब बातों का यह असर पड़ा कि उसने तय कर लिया अब सारी जायदाद कहीं अर्पण कर अलग जा कर बैठेगी। उसने यह तय किया कि ज्ञानशंकर के लड़के मायाशंकर को सारी जायदाद दे। बाकायदा हवन आदि के साथ गायत्री ने मायाशंकर को गोद ले लिया। विद्या को इस बात से बहुत ही चोट लगी, और वह बीमार पड़ गयी। इसी हालत में उसने विष खा लिया और मर गयी।

गायत्री और ज्ञानशंकर के बीच मनमुटाव रहने लगा, ज्ञानशंकर हर समय यह शंकित रहते थे कहीं ऐसा न हो कि राय साहब इधर ध्यान दें, और सब मामला पलट जाय, इसलिए वे गायत्री की चिट्ठियाँ भी खोल कर पढ़ लेते। वे यथासाध्य गायत्री को स्त्रियों से मिलने-जुलने का भी अवसर न देते। ये बातें गायत्री पर खुल गयीं, और उसने एक दिन ज्ञानशंकर से इन बातों का जवाब तलब किया, ज्ञानशंकर बात बना कर बच गये। फिर भी उन्होंने यह जो कोशिश की कि गायत्री को फिर से कृष्णलीला और राधा के नाम से फँसाया जाय, उस में वे असफल रहे। श्रद्धा और गायत्री में इन दिनों बहुत मेल-जोल बढ़ा, और गायत्री दिल खोलकर श्रद्धा से बातचीत करती थी। गायत्री ने अंत तक यह अनुभव किया कि उसी में कुछ विकार था, तभी ज्ञानशंकर उसको इस प्रकार हर मामले में उल्लू बनाने में समर्थ हुआ। उसने श्रद्धा से कहा—मच्छर के डंक से सबको ताप और जूड़ी नहीं आती। यह वाह्य उत्तेजना केवल भीतर के विकार को उभाड़ देती है। ऐसा न होता तो आज एक भी स्वस्थ प्राणी दिखाई न देता। मुझमें यह विकृत पदार्थ था—इत्यादि।

इस उपन्यास में अंत में ज्वालासिंह ने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यह इस्तीफा जिस मनोवृत्ति के कारण दिया, उसमें गाँधीवादी असहयोग की छाप स्पष्ट है।

ज्ञानशंकर की मानसिक अवस्था बिगड़ती ही गयी। गायत्री उससे फिरंट थी, वह सोचती थी 'मैंने अपनी आत्मा की, कर्म की, नियमों की हत्या की और

एक सती-साध्वी स्त्री के खून से अपने हाथों को रंगा, पर प्रारब्ध पर विजय न पा सकी.....इत्यादि।

दशहरे की छुट्टियों के बाद ज्योंही हाईकोर्ट खुला, अपील दायर हो गयी। फिर शहादतें तलब हुईं। बिसेसर साह, प्रियनाथ चोपडा आदि ने बयान उलट दिये। आगे चल कर इसका नतीजा यही हुआ कि सब अभियुक्त बरी हो गये।

गायत्री मर गयी। ज्ञानशंकर की उच्चाकांक्षा तृप्त न हुई थी, वे राजसभा के चुनाव के लिए खड़े हुए, और बड़ी दौड़-धूप के बाद उसमें सफल भी हुए। इधर प्रेमशंकर ने एक आश्रम-सा खोल रखा था, जिसका नाम प्रेमाश्रम था। प्रेमशङ्कर भी लोगों के कहने पर खड़े हुए थे, और वे बिना अधिक दौड़धूप किए सफल हो गए। जब ज्ञानशंकर को यह बात ज्ञात हुई तो अपनी बुद्धि और कौशल पर फिर सन्देह हुआ। इसके बाद इस पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि प्रेमशङ्कर कौंसिल में सुधार के प्रस्ताव आदि रखते रहे।

मायाशङ्कर के अट्ठारहवें साल की पूर्ति के उपलक्ष्य में अर्थात् बालिग होकर अपनी रियासत पर अधिकार प्राप्ति के उपलक्ष्य में एक बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर मायाशङ्कर ने एकाएक अपने सब अधिकार त्याग दिये। गवर्नर के सामने ही मायाशंकर कहते हैं—'विज्ञ सज्जनों, मुझे यह मिथ्याभिमान नहीं है कि मैं इन इलाकों का मालिक हूँ। पूर्व संस्कार और सौभाग्य ने मुझे ऐसी पवित्र, उन्नत और दिव्य आत्माओं की सत-संगति से उपकृत होने का अवसर दिया है कि अगर यह भ्रम, यह ममत्व एक क्षण के लिए भी मेरे मन में आता तो मैं अपने को अधम और अक्षम्य समझता। भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने सृष्टि की, या किसान की, जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या उससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज व्यवस्था का कलंक चिन्ह समझना चाहिए.....मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं.....। मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों

का त्याग करता हूँ जो प्रथा, नियम और समाज व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ, वे न मेरे आसामी हैं, न मैं उनका तालुकदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज से वे अपनी जोत के स्वयं जमीदार हैं.... मैं बैरिस्टर डाक्टर इरफान अली से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरी इस विषय में सहायता करें और जाब्ते और कानून की समस्याओं के तय करने की व्यवस्था करें।...'

ज्ञानशंकर को मायाशंकर के इस त्याग से बहुत ही दुख पहुँचा। 'जो तिमंजिला भवन मैंने एक युग में अविश्रान्त उद्योग से खड़ा किया, वह क्षणमात्र में इस भाँति भूमिस्थ हो गया, मानो उसका अस्तित्व न था, उसका चिन्ह तक नहीं दिखाई पड़ता।.....सम्पत्ति, मान, अधिकार किसी का शोक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रहता है, बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त होने में है। शोक यह है कि मैं अल्पांश में भी इस यश का भागी नहीं बन सकता।.....प्रारब्ध ने कैसा गुप्त आघात किया। अब क्यों जिंदा रहूँ.....हाँ विद्या, मैंने तेरे साथ कितने अत्याचार किये, तू सती थी, मैंने तुझे पैरों तले रौंदा.....।' जीवन की घटनाएँ सिनेमा के चित्रों के सदृश उनके सामने मूर्तिमान हो गयीं।...उनके मन ने प्रश्न किया क्या मरने के सिवाय कोई उपाय नहीं है? नैराश्य ने कहा, नहीं कोई उपाय नहीं है। वह घाट के एक पीलपाये पर जा कर खड़े हो गये। दोनों हाथ तौले, जैसे चिड़िया पर तौलती है। पर पैर न उठे। मन ने कहा, तुम भी प्रेमाश्रम में क्यों नहीं चले जाते? ग्लानि ने जवाब दिया, कौन मुँह लेकर जाऊँ, मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे? हाय मैं जबरन मरा जा रहा हूँ। यह सोचकर ज्ञानशंकर जोर से रो उठे...। वे एक अचेत शून्य दशा में उठे और गंगा में कूद पड़े। शीतल जल ने हृदय-दाह को शांत कर दिया।

प्रेमाश्रम चलता रहा। किसी न किसी रूप में ज्वालासिंह, इरफानअली आदि सभी इससे संयुक्त रहते हैं।

प्रेमाश्रम पर विचार

'प्रेमाश्रम' प्रेमचंद का द्वितीय उपन्यास है। यह बताया गया है कि 'प्रेमाश्रम हिंदी का ही नहीं, भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास है', (प्रेमचंद : एक अध्ययन, पृ० ५६)। किंतु इस कथन में कुछ अत्युक्ति है,

क्योंकि इसके बहुत पहले बंकिमचंद्र ने 'आनंदमठ' की रचना की थी। अवश्य 'आनंदमठ' और 'प्रेमाश्रम' की विषयवस्तु में विभिन्नता है। 'आनंदमठ' में केवल विदेशी शासन के विरुद्ध संग्राम या संघर्ष की वात घुमाफिरा कर वर्णित है, किंतु 'प्रेमाश्रम' में विदेशी-शासन के विरुद्ध संघर्ष के साथ-साथ उसी के समांतराल में चलने वाले दूसरे संघर्ष अर्थात जमींदार किसान के संघर्ष की बात भी दिखलायी गयी है। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' का कथानक राजनैतिक दृष्टि से 'आनंदमठ' के कथानक से कहीं अधिक विस्तृत तथा वास्तविक जीवन का अधिक अच्छा दर्पण है क्योंकि जब से भारतवर्ष में विदेशी-शासन का प्रारम्भ हुआ है, तब से ये दो संघर्ष अर्थात् विदेशी पूँजीशाही के विरुद्ध संघर्ष और साथ ही साथ अपने यहाँ के जमींदार तथा पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष साथ-साथ चल रहे हैं। जब 'आनंदमठ' के साथ हम 'प्रेमाश्रम' की तुलना कर रहे हैं, तो एक वात और बता दें, वह यह कि 'आनंदमठ' में गोरे तो शत्रु के रूप में चित्रित हैं ही, साथ ही साथ भारत के मुसलमान भी शत्रु के रूप में चित्रित हैं।

हम इस विषय में ब्योरे में जा नहीं सकते, किंतु संक्षेप में यह देख लेना अनुचित न होगा कि बंगला को मातृभाषा मानने वाले बंगाली-मुसलमान इस संबंध में क्या सोचते हैं। शमशुलआनम खाँ नामक बँगला लेखक का कहना है कि बंकिम साहित्य में हिंदू मुसलमान दोनों के चित्र अलग-अलग खींचे गये हैं। हिंदू चरित्र तो स्वर्गीय चरित्र से उद्भासित हो कर सुमेरु के उच्च शिखर पर शोभायमान होता है, किंतु मुसलमानों का चित्र उतर कर गंभीर पंकिल पातालपुरी में पहुँच जाता है। (मोहमदी १३५१ कार्तिक)।

'आनंदमठ' में ही 'वंदेमातरम्' गीत आता है, इसके संबंध में बाद में मुसलमानों ने जो यह नारा बुलंद किया है कि इसमें बुतपरस्ती की गयी है, वह कहाँ तक उचित है, उसके विचार का स्थान यह नहीं है, किंतु बंकिम साहित्य में मुसलमानों का चित्र हिंदुओं के मुकाबिले में निकृष्ट दिखलाया गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। बंकिमचंद्र के सामने हिंदू-मुसलिम एकता का कोई प्रश्न नहीं था। इसके विपरीत प्रेमचंद अपने विराट साहित्य में एकाध अपवाद के अतिरिक्त प्रत्येक अवसर पर हिंदू-मुसलमान एकता के प्रबल उपासक के

रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इस उपन्यास में वे यह दिखलाते हैं कि एक तरफ कादिर खाँ और बलराज तथा मनोहर आदि का हित एक है, और दूसरी तरफ गौस खाँ, ज्ञानशंकर तथा हिंदू-मुसलमान हाकिमों का हित एक है। वे उपन्यास में यह भी दिखलाते हैं कि हिंदू-मुसलमान एकता के नारे का दुरुपयोग भी होता है। सैयद इजाद हुसेन इसी प्रकार हिंदू-मुसलमान एकता का नारा देकर अपना उल्लू सीधा करते हुए दिखलाये गये हैं। प्रेमाश्रम इस प्रकार भारतवर्ष का पहला राजनैतिक उपन्यास तो नहीं है, किंतु यह कहा जाय कि इसके पहले हिंदी में ही नहीं, बँगला में भी वर्ग संघर्ष को प्रधान उपजीव्य बना कर कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। अवश्य केवल वर्ग-संघर्ष को केंद्र बना कर उपन्यास लिखने पर ही वह उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता, सबसे पहले तो हमें इस बात को देखने जाँचने की जरूरत है कि लेखक की रचना कलाकृति हो भी पायी या नहीं। यदि कोई उपन्यास और दृष्टियों से ऊँचे दर्जे की रचना न हो, किंतु वर्ग-संघर्ष को केंद्र बना कर लिखा गया हो, तो उससे केवल उस रचना के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि लेखक दृष्टगत रूप से प्रगतिशील है। इससे अधिक नहीं। अगले पृष्ठों में हम देखेंगे कि प्रेमाश्रम कहाँ तक सफल कृति है।

प्रेमाश्रम की कथा का आरंभ जिस प्रकार जमींदार के चपरासी गिरधर महाराज के द्वारा घी के लिए रुपये बाटने से होता है, वह गाँव के जीवन से अभिज्ञों के लिए एक सुपरिचित बात है। लखनपुर की रंगभूमि पर मनोहर, दुखरन भगत, सुक्खु, गिरधर, बिलासी, बलराज, कल्लू, कादिर, गौस खाँ, डपटसिंह, बिसेसरसाह, फैजुल्लाह आदि जितने भी पात्र तथा पात्रियाँ हैं, वे सभी बहुत आम चरित्र हैं। लेखक ने इनका बहुत ही सजीव चित्र खींचा है। प्रेमचंद ग्राम-जीवन से बहुत अच्छी तरह परिचित थे, इसीलिए इन चरित्रों के वर्णन को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक ने जो कुछ आँखों से प्रत्यक्ष किया था, उसी को लिख भर दिया, फिर भी कथानक का जिस तरह गुंफन किया गया है, और एक-एक चरित्र हमारे सामने जिस प्रकार खुलता जाता है, वह लेखक के कृतित्व का परिचायक है। जमींदार तथा उनके कारिंदों की मनमानी, दौरे के नाम पर अफसरों के साथ गाँवों पर चपरासियों तथा छोटे नौकरों के टिड्डी दल का टूट पड़ना, उनकी ज्यादती, उनकी चोरी और

सीनाजोरी, साहूकारों की लूट, और अपनी बारी में अफसरों के द्वारा साहूकारों को लूट, हिंसा, अहिंसा—ये सभी बातें इस उपन्यास में अपना जौहर दिखाती हैं। किसानों की दयनीय दशा का जितना अच्छी तरह बोध इस उपन्यास से होता है, उतना बीसियों समाजवादी ट्रैक्टों से नहीं हो सकता। ग्राम-जीवन से अनभिज्ञ पाठक भी गाँव वालों के जीवन की समस्याओं से भली-भाँति परिचित हो जाता है। यही लेखक की बड़ाई है। प्रेमचंद के पहले किसी भी हिंदी लेखक ने ग्रामजीवन का ऐसा सजीव चित्र नहीं खींचा।

कुछ लोगों में ग्राम-जीवन को एक प्रकार का स्वर्ग करके समझने, कल्पना करने की प्रवृत्ति है। किंतु प्रेमचंद यह दिखलाते हैं कि यह स्वर्ग केवल ऐसे लोगों की कल्पनाओं में है, असल में किसानों का जीवन बहुत ही दुख और बेबसी का जीवन है। बलराज जो यह कहता है कि 'किसी का दिया खाते हैं, किसी के घर माँगने जाते हैं, अपना तो एक भी पैसा नहीं छोड़ते, तो हम क्यों धौंस सहें' यह बात तो ठीक है, बहुत तर्क संगत है, किंतु जमींदार, कारिंदों तथा सरकारी चपरासियों के आगे यह तर्क चलता कब है? वहाँ तर्क की गुंजाइश ही कहाँ है? वहाँ तो केवल जबरदस्ती है, वर्ग स्वार्थ है, अत्यंत घृणित, नग्न वर्ग स्वार्थ— जिसके पीछे सरकार का वरदहस्त, उसका बल, युगयुगांतर के कुसंस्कार तथा धर्म और सदाचार की एकदेशीय धारणा है। बलराज का तर्क नहीं चलता। उधर से जबरदस्ती ही जबरदस्ती होती है। बेगार चलती है, मार पड़ती है, अदालत के जरिये से भी नये-नये जुल्म ही होते हैं। बलराज खुद ही हिरासत में ले लिया जाता है। फिर किसी प्रकार छूटता है। वह नवयुवक है, उसने समाजवादी रूस के संबंध में सुन रखा है, मन ही मन वह यह कहता है कि जब रूस में मजदूर किसानों का राज्य है, तो यहाँ क्यों मनमानी सहें। अंत में एक दिन उसकी माँ का अपमान होता है। पृष्ठ-भूमि में आर्थिक कारण है, किंतु ऊपर से भावुकता की सतह पर यह कारण ही निकलता है। अब तक जो गाड़ी खड़ी थी, वह आगे खिसक पड़ती है। वह लाठी ले कर बदला लेने के लिए विह्वल हो जाता है, किंतु उसका पिता मनोहर इससे भी कहीं भयंकर बात अपने मन में ठान चुका है, वह अर्थपूर्ण तरीके से आज्ञामूलक इंगित करता है। बलराज रुक जाता है। रात को बाप

बेटा मिल कर गौस खाँ का काम तमाम कर डालते हैं, फिर मनोहर जा कर थाने में हाजिर हो जाता है। गाँव के बहुत से आदमी बँध जाते हैं, तथा मनोहर ने जो अपने बेटे को बचाने के लिए इकबाली गवाह बनना स्वीकार किया था, वो बलराज भी फँस जाता है।

वैयक्तिक आतंकवादी हमला क्रांतिकारी विद्रोह का प्रथम सोपान है। उसे कोई भले ही बुरा कहे—और जिस समय जन आंदोलन संभव है, और जारी है, उस समय उसको बुरा कहना भी चाहिए, उस समय वह निश्चितरूप से हानिकर है,—किंतु प्रारंभिक युग में जिस समय एक जाति या वर्ग अँगड़ाई लेकर अपने सताने वाले के विरुद्ध आ रहा है, उस समय यह सोपान एक अपरिहार्य ऐतिहासिक सोपान है। किसान इस सोपान में किसी एक जमींदार को, उसके कारिन्दे को या चपरासी को मारता है, रात में चोरी से उसके घर में आग लगा देता है, इत्यादि। मजदूर इस सोपान में किसी पूँजीपति को, मैनेजर को, फोरमैन को मारता है, या मशीन तोड़ डालता है, मानों इन निर्जीव मशीनों ने ही इसका कुछ बिगाड़ा हो। 'प्रेमाश्रम' में हम किसानों को इसी सोपान में देखते हैं। इसके आगे जो जन-संगठन का सोपान है, जिसमें वे संगठित तरीके से विद्रोह करते हैं, उसका इस उपन्यास में पता नहीं है। हम यह नहीं कहते कि प्रेमचंद के लिए इस बात की मजबूरी थी कि वे किसानों के सब सोपानों को इसी पुस्तक में दिखला देते, ऐसा बिलकुल नहीं। जब उस समय यह स्थिति ही नहीं थी, तो वे उसका चित्रण कैसे करते? हम तो केवल एक तथ्य की ओर पाठक की दृष्टि आकर्षित कर रहे हैं।

स्वाभाविकरूप से बलराज-मनोहर की इस वैयक्तिक क्रिया का जो परिणाम होना था वह हुआ। गाँववाले और भी बुरी तरह दबा दिये गये। जिस विलासी को धक्का देने के कारण गौस खाँ की जान गयी, वही बिलासी बाद को इससे कहीं अधिक अपमानित हुई। इसी प्रकार सब गाँववालों का पहले से अधिक अपमान हुआ। फैजुल्लाह नाम से जो नया कारिंदा आया, वह गौस खाँ से बढ़ कर बदमाश निकला। इससे यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि असल में दोषी पद्धति है न कि कोई विशेष व्यक्ति। स्वाभाविक रूप से इसमें समाधान की ओर भी इंगित है, और वह इंगित यह है कि

पद्धति को नष्ट करना चाहिए, उसके एक व्यक्ति को मारने से कुछ लाभ संभव नहीं।

गाँववालों पर फैजुल्लाह जुल्म करने लगा, फिर भी लगान वसूल नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में लगानवन्दी हुई, फिर भी कुछ फायदा नहीं हुआ। गाँववालों की प्रतिरोध-शक्ति पहले से घटी हुई थी, इसलिए उनको लगान-बन्दी के कारण और भी कष्ट उठाना पड़ा। इस स्थान पर प्रेमचंद चिढ़ कर लिख देते हैं—'सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धांत भ्रमपूर्ण सिद्ध हुआ।'

इस दृश्य पर टीका करते हुए डाक्टर रामविलास लिखते हैं—"यदि प्रेमाश्रम संवत् १९७८ में न लिखा जा कर बारह वर्ष बाद लिखा गया होता, तो भी शायद वह इसी वाक्य में समाप्त हो जाता, परंतु प्रेमचंद को उसे सुखांत बनाना था, उनका आदर्शवाद संघर्ष के इस कटु परिणाम के लिए तैयार न था। दूसरे शब्दों में उस समय की जनता बिना इस आदर्शवाद के मुलम्मे के इस नग्न-यथार्थता को देखने के लिए तैयार न थी। प्रेमचंद ने अपने युग की माँगों के अनुसार उसे सुखांत बना दिया है।" (प्रे० डा०, पृ० ८६)। डाक्टर साहब के इस कथन से यह ध्वनि निकलती है मानो प्रेमचंद को इसका असली समाधान ज्ञात था, उन्होंने केवल उस समय की जनता की माँग के अनुसार आगे यह दिखलाया कि अभियुक्त अपील से छूट जाते हैं, मायाशंकर रियासत त्याग देता है इत्यादि किंतु हमें इसमें बहुत भारी संदेह है। कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि वे इस कटु-परिणाम रूपी उलझन को सुलझाने के व्यावहारिक क्रांतिकारी स्वरूप से परिचित थे। शायद डाक्टर साहब यह समझते हैं कि इस प्रकार उन्होंने प्रेमचंद की बड़ी प्रशंसा की है, किंतु यदि यह प्रशंसा है तो निंदा क्या है?

यह तो समझ में आ सकता है कि प्रेमचंद को स्वयं मायाशंकर के हृदय परिवर्तन वाला सुझाव पसंद था, इसलिए उन्होंने इस धारणा के वशवर्ती हो कर बाद का हिस्सा लिखा है। इसे हम भले ही अव्यावहारिक तथा स्वाप्निक कहें, किंतु इससे प्रेमचंद की कलागत सच्चाई पर आँच नहीं आती, किंतु यदि डाक्टर साहब की बात मानी जाय, तब तो प्रेमचंद कोई क्रांतिकारी

या प्रगतिशील लेखक नहीं, बल्कि जनता की गलत धारणाओं के इशारे पर नाचने वाले घटिया लेखकों में हो जाते हैं। जिस कलाकार में कलात्मक सच्चाई नहीं है, जो अपनी अनुभूतियों के प्रति वफादार नहीं है, जो अपनी अनुभूतियों का गला घोट कर कलम उठाता है, उसके लिये घटिया शब्द कोई बहुत भद्दा नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद की सारी रचनाओं की सम्मिलित गवाही यही है कि प्रेमचंद इसी प्रकार के सुझाव को पसंद करते थे। 'गोदान' में जो एक नयी प्रवृत्ति है, उसके संबंध में हम बाद को आलोचना करेंगे, किंतु अपनी अन्य सब रचनाओं में उनका रूप 'प्रेमाश्रम' में दृष्ट रूप ही है। ऐसी हालत में डाक्टर साहब की यह आलोचना केवल काल्पनिक है। अवश्य डाक्टर साहब ने उद्धृत मंतव्य उनकी प्रशंसा में ही किये हैं, किंतु हम देख चुके कि किस प्रकार इस तरह की प्रशंसा उनकी सबसे बड़ी निंदा हो जाती है। हम डाक्टर साहब के संबंध में अलबत्ता यह कह सकते हैं कि उन्होंने जो मंतव्य किये हैं तथा उन्होंने जिस प्रकार से जहाँ कोई प्रशंसनीय बात नहीं है, वहाँ प्रेमचंद जी की प्रशंसा की है, उसमें अवश्य वे अपने समय की जनता की माँग के द्वारा परिचालित हुए हैं, न कि निस्पृह, शुभ्र, पक्षपातहीन आलोचकदृष्टि से, जैसा कि उन्हें होना चाहिए था।

मायाशंकर ने अपनी अट्ठारहवीं वर्ष गाँठ पर रियासत को त्यागते हुए तथा किसानों में सारी जमीन बाँटते हुए जो व्याख्यान दिया है, वह बिलकुल असंभव नहीं है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति, या कोई दो व्यक्ति इस प्रकार का कार्य करें, किंतु इससे सामाजिक समस्या—किसान के शोषण की समस्या हल नहीं होती। फिर भी यह कहना कि मायाशंकर के चरित्र की सृष्टि प्रेमचंद के दिमाग में ही हुई, यह गलत होगा। पूरी बात तो यह है कि मायाशंकर के चरित्र की सृष्टि प्रेमचंद के दिमाग से कहीं पहले गाँधी जी के दिमाग में हुई, और उससे भी पहले अन्य अनेक स्वाप्निक-समाजवादियों के दिमाग में हुई। जिस समय प्रेमाश्रम हिंदी संसार में आया है, उस समय का वातावरण मायाशंकर की कल्पना से ओतप्रोत था। यह कल्पना इतना प्रबल-रूप धारण कर गयी थी कि वह रक्त-मांस-मय शरीर-धारी मनुष्य से अधिक वास्तविक हो गयी थी। सच बात तो यह है कि इन वर्षों में निरंतर इस कल्पना

के ऊपर व्यावहारिक, वैज्ञानिक-समाजवादियों के द्वारा चोट किये जाने पर भी वह अभी तक बहुत कुछ वास्तविक बनी हुई है, और लाखों व्यक्ति यह समझते रहे कि इस प्रकार का हृदय परिवर्तन संभावना के दायरे में है।

फिर वह तो गाँधीवाद का वह युग था, जब वह बिलकुल एक छत्र था। ऐसी हालत में यदि एक वस्तुवादी कलाकार के नाते प्रेमचंद जी उस प्रवाह में बह गये, और उस कभी न कार्यरूप में परिणत होनेवाले आदर्श को वास्तविक करके समझ लिया, और उसमें अपनी कल्पना से रंग डाल कर मायाशंकर की सृष्टि कर दी, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यदि प्रेमचंद मायाशंकर तथा इसी प्रकार के अन्य चरित्रों की सृष्टि अपने साहित्य में न करते, तो वे अपने युग के प्रति सच्चे न रह पाते। उस हालत में संभव है कि उनका समाजवाद वर्ग-संघर्ष पर अधिक निखरा हुआ होता, सिद्धांत दृष्टि से उनमें कोई नुक्स न निकाल पाता, किंतु वे अपने युग के प्रतिनिधि कलाकार नहीं हो पाते। जब युग ही ऐसा था, जिसमें अधिकांश सोचने वाले लोग मायाशंकर की वास्तविकता में विश्वास करते थे, और उसी विश्वास पर अपनी राजनीति और अर्थनीति का निर्माण करते थे, यही नहीं इसी धारणा पर बड़ा से बड़ा त्याग करते थे, उस हालत में मायाशंकर का चरित्र बिलकुल हवाई नहीं है। जैसे धार्मिक चरित्रों में एसिसि के सेन्ट फ्रांसिस, बुद्ध या महावीर भले ही दो चार व्यक्ति हों, किंतु वे न तो असंभव हैं, और न अवास्तविक, उसी प्रकार मायाशंकर को भी समझना चाहिए। अवश्य जिस समय मायाशंकर को सामने रख कर कोई यह दावा करेगा — Eureka यूरेका — यही समाधान है, तो वह दूसरी बात हो जायेगी, किंतु यहाँ तो केवल मायाशंकर कहाँ तक उस युग म वास्तविक था, इसी की बात हो रही है।

यद्यपि प्रेमाश्रम में प्रेमचंद हिंदी-उपन्यास-क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तन करते हैं, किंतु फिर भी इसमें वे संपूर्णरूप से तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। कई जगह तो बहुत खटक जाता है, और एक अवास्तविकता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। राय कमलानंद को ज्ञानशंकर जहर देते हैं, वे जहर को जहर जान कर भी खाते ही चले जाते हैं, यह फिर भी गनीमत है, किंतु इस युग में लेखक ने

पद्मशंकर और तेजशंकर का जिस प्रकार अंत कराया है, वह तिलस्म के ही क्षेत्र में पहुँच जाता है। यों तो ढूँढ़ने पर छोटी-मोटी त्रुटि मिलेगी, किंतु सब मिला कर इस उपन्यास ने हिंदी संसार के लिए एक बहुत बड़ी आशा का संचार किया। कहानी कहने की दृष्टि से यह उपन्यास शायद बहुत उच्चकोटि के उपन्यासों में न गिना जा सके, पर जिस प्रकार उन्होंने गरीबों के जीवन को, उसके वर्ग-संघर्ष मूलक पहलू को दिखलाया है, वैसा कोई भी भारतीय लेखक उस समय तक न दिखा सका था।

रंगभूमि

शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्यभाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ हैं और उनके मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं। बनारस में पांडेपुर ऐसी ही वस्ती है। सूरदास इसी वस्ती का रहने वाला एक अंधा है। वह सड़क पर भीख माँगता है, कभी-कभी धनियों की गाड़ियों के पीछे दूर-दूर तक दौड़ता है। एक दिन जान सेवक नामक एक उदीयमान ईसाई पूँजीपति उसी सड़क से अपने फिटन पर जा रहे थे, सूरदास उसके पीछे-पीछे दौड़ा, यहाँ तक कि दौड़ते-दौड़ते वह इसी जान सेवक के चमड़े के गोदाम तक दौड़ गया।

यह सूरदास एक जमीन के टुकड़े का मालिक है, जिस पर जानसेवक लट्टू हो रहे हैं कि उसे किसी तरह ले लिया जाय और उस पर सिगरेट का कारखाना खोल दिया जाय, किंतु उन्हें शुरू में यह नहीं मालूम होता कि यही सूरदास उस जमीन के मालिक हैं। इसलिए जानसेवक उसका बहुत अनादर करते हैं। मिसेज सेवक तो उसका मजाक उड़ाती है।

इतने में जानसेवक को यह ज्ञात हो गया कि वांछित जमीन इसी सूरे की है। बस उनका रुख बदल गया।

जानसेवक ने सूरदास को बहुतेरा कायल किया, किंतु सूरदास अपने बाप-दादों की जमीन को बेचने को तैयार नहीं हुआ। इस जमीन में वर्तमान समय में गाँव भर के जानवर चरते थे, साथ ही सूरदास ने भीख से जोड़ कर पाँच सौ रुपये कर लिये थे, जिससे वह समझता था कि शीघ्र ही इस जमीन पर एक धर्मशाला तथा कूप की स्थापना कर सकेगा। जब सूरदास भिखमंगे की तरह जानसेवक के यहाँ गया था, उसने उसे एक पैसा भी नहीं दिया था, अपनी

लड़की सोफिया की जिद करने पर भी मिसेज सेवक ने उसे एक पैसा भी नहीं दिया था, उल्टा उसे बिना कारण खरी-खोटी सुना रही थी।

सूरदास अपने झोपड़े में अकेला रहता था, हाँ उसके साथ मिट्ठू नामक एक छोटा-सा लड़का रहता था। यह उसका भतीजा था। जब से उसके माँ-बाप दोनों प्लेग में मर चुके थे, तब से उसके पालन-पोषण का भार सूरदास ही पर था। इसी लड़के पर उसका सारा प्रेम मानों केंद्री भूत हो गया था। अपने हाथ से रोटी बना कर उसे खिलाता और भीख के पैसे से गुड़ आदि मँगा कर उसे मना मना कर खिलाता था। भीख माँगना, इस लड़के का पालन पोषण करना, अपने लिए तथा इस लड़के के लिए खाना पकाना तथा शाम को मंदिर के चबूतरे पर बैठ कर और लोगों के साथ भजन गाना यही उसका काम था।

सोफिया और उसकी माँ में अक्सर धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद हो जाया करता। मिसेज सेवक धार्मिक मामलों में बहुत असहिष्णु थी। वह अक्सर सोफिया पर तरह-तरह के लांछन लगाती। एक दिन वह यहाँ तक कह बैठी कि सोफिया को ईसू के नाम से घृणा है।

सोफिया बोली—मैं उन पर हृदय से श्रद्धा रखती हूँ।

—तू झूठ बोलती है।

—अगर दिल में श्रद्धा न होती तो जबान से कदापि न कहती।

माँ बोली —तुझे यह विश्वास है कि वही तेरा उद्धार करेंगे ?

सोफिया —कदापि नहीं। मेरा विश्वास है कि यदि मेरी मुक्ति हो सकती है तो मेरे कर्मों से होगी।

इसी प्रकार बात बढ़ गयी, और मिसेज सेवक ने यहाँ तक कह दिया कि इस प्रकार के विचार वाली स्त्री के लिए घर में कोई स्थान नहीं है। इस पर सोफिया के दिल में बहुत चोट लगी, और मन में कोई स्थान निश्चित किये बिना हाते से बाहर निकल गयी। उसे अब उस घर की वायु दूषित मालूम होती थी। वह एक हवेली के सामने भजन सुनने के लिए खड़ी हो गयी। इतने में उसी हवेली के हाते के अंदर एक खपरैल के मकान में आग लग गयी। जब तक लोग उधर दौड़े, अग्नि की ज्वाला प्रचण्ड हो गयी। सारा मैदान जगमगा उठा। सब लोग आग बुझाने दौड़े। इधर अग्नि शांत नहीं हो पायी

थी कि दूसरी तरफ से आवाज आयी — दौड़ो - दौड़ो, आदमी डूब रहा है। एक आदमी बावली में डूब रहा था। सोफिया उधर जाना ही चाहती थी कि उसने एक आदमी को पानी का डोल लिए फिसल कर जमीन पर गिरते देखा। चारो ओर अग्नि शांत हो गयी थी, पर जहाँ वह आदमी गिरा था, वहाँ आग अब तक बड़े वेग से धधक रही थी। अग्नि ज्वाला विकराल मुँह खोले उस मनुष्य की ओर लपकी। सोफिया विद्युतगति से ज्वाला की तरफ दौड़ी, और उस आदमी को खींच कर बाहर निकाल लायी। यह सब कुछ पल - मात्र में हो गया। उस व्यक्ति की जान बच गयी लेकिन सोफ़िया का कोमल गात आग की लपट से झुलस गया। वह ज्वालों के घेरों से बाहर आते ही अचेत होकर गिर पड़ी।

सोफिया ने तीन दिन तक आँखें नहीं खोलीं। चौथे दिन प्रातःकाल उसने आँखें खोलीं तो अपने को कुँवर भरतसिंह के कमरे में पाया। उसे यह भी मालूम हुआ कि उसने कुँवर भरतसिंह के लड़के विनयसिंह का जीवन बचाया था। कुँवर भरतसिंह तथा उनकी स्त्री रानीसाहिबा और लड़की इंदु सोफिया की सेवा में स्वयं तैनात थे। इसके अतिरिक्त नौकर चाकर तथा डाक्टर ये तो थे ही। इंदु से सोफिया की बहुत गहरी मित्रता हो गयी और जब सोफिया कुछ अच्छी हुई तो उसने यह बताया कि धार्मिक मतभेदों के कारण वह घर से एक तरह से निकाल दी गयी है, और वह घर लौटना नहीं चाहती।

जब जानसेवक को यह खबर दी गयी कि इस हालत में तुम्हारी लड़की यहाँ पड़ी हुई है, तो जानसेवक ने फौरन सोचा कि इस बहाने से कुँवर भरतसिंह से जान पहचान हो जायगी। यह अच्छी बात है क्योंकि एक तो सिगरेट की कंपनी के लिए अवश्य ही वे कुछ शेयर खरीदेंगे, और दूसरे कुँवर साहब के दामाद म्युनिसिपलिटी के सर्वेसर्वा हैं, इसलिए वे सूरे की जमीन को किसी न किसी कानूनी पेंच में डाल कर दिला सकते हैं। जब सोफिया ने विनयसिंह की जान बचायी तो इतनी तो इन लोगों से उम्मीद की ही जा सकती है।

यद्यपि सूरदास ने पड़ोसियों की भलाई की दृष्टि से अपनी ज़मीन नहीं बेची थी, किंतु फिर भी इस कारण मुहल्लेवाले उसके साथ कोई विशेष रियायत नहीं करते थे। मुहल्ले के लड़के अक्सर सूरदास का डंडा छीन

भाग जाते थे। इस पर कभी किसी लड़के को चोट आ जाती तो उस लड़के के माँ-बाप उसी को भला-बुरा कहते हैं। इसी प्रकार एक बार एक लड़के को चोट लग गयी तो उसकी माँ आ कर बोली — अब तुम्हें घमंड हुआ है। भीख माँगते हो, फिर भी लाज नहीं आती, सब की बराबरी करने को मरते हो। आज मैं लहू का घूँट पी कर रह गयी, नहीं तो जिन हाथों से तुमने उसे ढकेला है, उनमें लूका लगा देती।

इसी प्रकार अक्सर सूरे पर आफत आती, किंतु वह जमीन बेचने पर तयार न होता था। एक बार जब उसका बहुत अपमान हुआ, तो उसने जमीन बेचने की सोची, किंतु जब वह चमड़े के गोदाम में जानसेवक के एज़ेंट ताहिरअली के पास पहुँचा, तो उसके इरादे बदल गये। कहाँ तो वह जमीन बेचने गया था, कहाँ वह कह बैठा — मियाँ साहब, वह जमीन तो बाप-दादों की निशानी है, भला मैं उसे बय या पट्टा कैसे कर सकता हूँ। मैंने उसे धर्म-काज के लिए संकल्प कर दिया है।

ताहिरअली का जीवन भी अजीब था। उसके बाप ने तीन शादियाँ की थीं। पहली स्त्री से ताहिरअली थे, दूसरी से माहिरअली और जाहिरअली और तीसरी से जाविरअली। ताहिरअली धैर्यशील और विवेकी मनुष्य थे। पिता का देहांत होने पर साल भर तो रोजगार की तलाश में मारे-मारे फिरे। कहीं मवेशीखाने की मुहर्रिरी मिल गयी, कहीं किसी दवा बेचनेवाले के एजेंट हो गये, कहीं चुंगी घर के मुंशी का पद मिल गया। रोजानमाज़ के पाबंद और नीयत के साफ़ थे। उनकी माँ तो मर चुकी थी। वे स्वयं हराम की कमाई से कोसों दूर भागते थे, किंतु उनकी विमाताएँ रकिया और जैनब राह चलते लोगों से घूस ले लेती थीं, और न मालूम किस-किस उपाय से। जो चमार चमड़ा बेचने आते, उनसे वे चमड़ा पीछे कुछ ले लेती थीं।

जान सेवक ने कुँवर भरतसिंह के हाथ अपने कारखाने के पचास हजार के शेयर बेच दिये। इसके बाद उसने सोचा कि कुँवर साहब के दामाद चतारी के राजा महेंद्रकुमार सिंह पर चारा डाला जाय। इस बीच में सोफिया कुँवर भरतसिंह के यहाँ ही पड़ी रही। चतारी के राजा साहब के साथ मेल-जोल बढ़ाने में जान सेवक का उद्देश्य सूरे की ज़मीन को हथियाना था। घर में ...र इस बात पर चर्चा रहती कि सोफी को घर लाया जाय। मिसेज़ सेवक

इस पर यह कहती, मुझे इसकी कोई फ़िक्र नहीं है, प्रभु मसीह की द्रोही मेरे यहाँ स्थान नहीं पा सकती।

सोफिया अच्छी हो जाने पर भी कुँवर साहेब की कोठी पर ही पड़ी रही। कुँवर साहब उसे लड़की की तरह मानते थे। विनयसिंह भी कभी-कभी उसके पास चला आता था। दोनों के स्वभाव में तथा जीवन के आदर्शों में बहुत समता थी। धीरे-धीरे इन दोनों में एक दूसरे की अनजान में प्रेम का उदय हुआ। विनयसिंह के यहाँ प्रभुसेवक भी आया करता था। इन दोनों नौजवानों में खूब छनती थी, क्योंकि प्रभुसेवक का आदर्श भी विनयसिंह से मिलता था। एक दिन भावावेश में आकर विनयसिंह ने प्रभुसेवक से यह कह दिया कि वह सोफिया से प्रेम करता है। बोला—'मैं वह फल खाने जा रहा हूँ जो मेरे लिए वर्जित है। खूब जानता हूँ, अपने जीवन को नैराश्य की बलिवेदी पर चढ़ा रहा हूँ,' इत्यादि। प्रभुसेवक ने जा कर यह बात सोफिया से कह दी।

सोफिया बोली—वह मुझे अपने प्रेम के योग्य समझते हैं, तो यह मेरे लिए गौरव की बात है। ऐसे साधु प्रकृति, ऐसे त्याग-मूर्ति, ऐसे सदुत्साही पुरुष की प्रेमपात्री बनने में कोई लज्जा नहीं.....यह वरदान आज मुझे मिल गया है, तो यह मेरे लिए लज्जा की बात नहीं, आनंद की बात है।

प्रभुसेवक—धर्म विरोध के होते हुए भी?

सोफिया—यह विचार उन लोगों के लिए है जिनके प्रेम वासनाओं से युक्त हैं। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बंधन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं जिसका अंत विवाह है; उस प्रेम के लिए नहीं जिसका अंत बलिदान है।

धीरे-धीरे यह बात रानी जाह्नवी पर भी खुल गयी। उन्होंने फौरन विनय को बुला कर राजपूताने में सेवा के लिए भेज दिया। विनय ने जाते समय प्रभु सेवक से गद्गद कंठ से कहा—केवल देह ले कर जा रहा हूँ। हृदय यहीं छोड़े जाता हूं।

भैरो पासी पांडेपुर का रहने वाला था। वह अपनी स्त्री सुभागी पर जब तब बहुत अत्याचार किया करता था। उसे अपनी माँ पर अविचलित श्रद्धा थी, इस भय से कि कहीं बहू सास को भूखा न रखे, वह उसकी थाली अपने सामने परसा लिया करता था, और उसे अपने साथ हा बिठा कर खिलाता

था। बहू ने जरा चिलम भरने में देर की, चारपाई बिछाना भूल गयी, या मुँह से निकलते ही उसके पैर दबाने या सिर के जुँए निकालने न आ पहुँची तो बुढ़िया उसके सिर हो जाती। खूब गालियाँ देती। और ज्यों ही भैरो दूकान से आता एक-एक की सौ-सौ लगाती। भैरो ताड़ी के नशे में होता था। डंडा उठा कर सुभागी को मारने लगता। एक दिन इसी प्रकार डंडे मारे तो सुभागी घर से निकल गयी, सोचा कि कहीं रात बिता लेगी और फिर सबेरे घर में आ जावेगी। वह कई घरों में गयी, किंतु भैरो के डर के मारे किसी ने उसे आश्रय न दिया। वह आफ़त की मारी सूरदास के यहाँ पहुँची। सूरदास ने फौरन आश्रय दे दिया। जब भैरो को अगले दिन इस बात का पता लगा तो उसने सूरदास को बहुत बुरा-भला कहा, किंतु उसी दिन से सुभागी सूरदास पर स्नेह करने लगी। जब तब वह वहाँ जाती। बात यह है उसके अतिरिक्त उसे कहीं सहानुभूति का व्यवहार नहीं मिलता। भैरो ने कई बार उसे सूरदास के घर से निकलते देखा। भैरो के मित्र जगधर ने भी कई बार सूरदास और सुभागी को बात करते हुए देख लिया। बस भैरो सूरदास से खार खाने लगा। यहाँ तक कि उसने यह बताना शुरू किया कि सूरदास का चरित्र खराब है। बढ़ते-बढ़ते यह दुश्मनी यहाँ तक बढ़ी कि भैरो ने सूरदास की झोपड़ी में रात को आग लगा दी। भैरो ने केवल आग ही नहीं लगायी बल्कि उसने सूरदास की आज तक की जो कमाई एक पोटली में रखी हुई थी, उसे भी चुरा लिया। इस पोटली में पाँच सौ रुपये थे। सूरदास ने इरादा किया था कि इन रुपयों से अपना परलोक बनायेगा।

जगधर को यह ज्ञात हो गया कि भैरो ने ही आग लगायी है। केवल यही नहीं उसने अपनी आँखों से भैरो के पास उस थैली को भी देख लिया था जिसमें सूरदास के रुपये थे। यों तो वह भैरो का मित्र था। यदि भैरो उसका कुछ हिस्सा देता तो उसका धर्मभाव न जगता, किंतु जब भैरो ने इस संबंध में कुछ भी न कहा तो वह सूरदास के पास पहुँचा और उससे सारी बात कह सुनायी। सूरदास ने सोचा जो हुआ, सो हुआ, उसने इस बात को स्वीकार ही नहीं किया कि वह थैली उसकी थी। बोला—'मेरे पास थैली-वैली कहाँ। होगी किसी की। थैली होती तो भीख माँगता ?' जब जगधर इस प्रकार बातें कर रहा था, उस समय सुभागी भी पहुँची। जगधर ने सुभागी से कहा—देखी अपने

खसम की करतूत, बेचारे सूरदास को कहीं का न रखा।

सुभागी ने समझा झाँसा दे रहा है, पेट की थाह लेना चाहता है, व्यंग से बोली—उसके गुरु तो तुम्हीं हो, तुम्हीं ने मंत्र दिया होगा।

सूरदास फिर भी कहता ही गया कि थैली मेरी नहीं थी। अंत में सुभागी ने कहा—अब चाहे वह मुझे मारे या निकाले, रहूँगी उसी के घर। कभी तो हाथ लगेगी। मेरे ही कारण इस पर यह विपत्ति पड़ी है। मैंने ही उजाड़ा है, मैं ही बसाऊँगी।

जानसेवक स्वयं पाँडेपुर गये और गाँववालों से कहा—अगर उस जमीन के मेरे हाथ में आने से तुम्हारा सोलहों आने फायदा हो तो भी तुम हमें न लेने दोगे?

बजरंगी—हमारा फायदा क्या होगा, हम तो मिट्टी में मिल जायेंगे।

जानसेवक—मैं दिखा दूँगा, यह तुम्हारा भ्रम है। बतलाओ तुम्हें क्या एतराज है। इसी प्रकार वे प्रत्येक से एतराज़ पूछते गये और उसका संतोषजनक जवाब देते गये। पंडा जी के यात्रियों के ठहरने के विषय में उन्होंने कहा कि यहाँ धर्मशाला बनवा दिया जायेगा। इस ज़मीन पर गाय भैसें चरती हैं, इसके उत्तर में उन्होंने कहा—अहाते में घास चराने का तुम्हें अख्तियार रहेगा। अभी तुम्हें अपना सारा दूध ले कर शहर जाना पड़ता है, हलवाई तुम से दूध ले कर मलाई, मक्खन, दही बनाता है, और तुमसे कहीं ज्यादा सुखी है। यह नफा उसे तुम्हारे ही दूध से तो होता है। तुम अभी यहाँ मलाई मक्खन बनाओ तो लेगा कौन? जब यहाँ कारखाना खुल जायेगा, तो हज़ारों आदमियों की बस्ती हो जायेगी, तुम दूध की मलाई बेचोगे, दूध अलग बिकेगा। तुम्हारे उपले घर बैठे बिक जायेंगे।

इसी प्रकार जानसेवक ने प्रत्येक की आपत्ति को काट दिया, और यह समझा दिया कि यहाँ पर कारखाना खुलने से सबको फ़ायदा है। अब ये लोग सबके सब यह चाहने लगे कि सूरदास ज़मीन बेच दे। जानसेवक ने घर जा कर प्रभुसेवक से ये सब बातें बतायीं। सूरदास को यह बात मालूम हो गयी कि गाँववाले ज़मीन दे दिये जाने के पक्ष में हो गये हैं। उसने खुद बजरंगी से पूछा तो बजरंगी ने कहा—तुमको हम यही सलाह देते हैं कि अच्छे दाम मिल रहे हैं, जमीन दे डालो। यों न दोगे तो जाब्ते से ले ली जावेगी। इससे क्या फायदा?

सूरदास—अधरम और अविचार कितना बढ़ जावेगा, यह भी मालूम है?

बजरंगी—धन से तो अधरम होता ही है, पर धन को कोई छोड़ नहीं देता!

सूरदास—तो तुम लोग अब मेरा साथ नहीं दोगे? अच्छी बात है, अगर जमीन गयी तो उसके साथ मेरी जान भी जायेगी।

विनयसिंह के जाने के बाद सोफिया को ऐसा प्रतीत होने लगा कि रानी जाह्नवी उससे खिंची हुई है। फिर भी प्रेम क्या-क्या करा सकता है। विनय के पास से रानी जी के पास पत्र आते। सोफी ने जब यह देखा कि रानी जी स्वयं डाकिया से बढ़ कर पत्र लेती हैं, तो उसको यह शक हुआ कि शायद उसके नाम से कोई पत्र आया हो और वह दबा लिया गया हो। एक दिन इस भावना से वह इतनी व्याकुल हो गयी कि वह रानी के कमरे में चोरी से पहुँच गयी, और विनय के पत्रों को पढ़ने लगी। किसी पत्र में भी इसका कहीं नाम भी नहीं था। पत्रों को पढ़ने से ज्ञान हुआ कि विनय इस समय बड़ी मुसीबतें झेल रहे हैं। इसके बाद उसने विनय के नाम से एक पत्र लिखा जिसमें विनय से यह प्रार्थना की कि वे उसे अपने पास बुला लें। पत्र डाल देने के बाद उसे इस बात पर अफ़सोस हुआ कि उसने इस प्रकार चोरी से पत्र पढ़े। उसने रानी के सामने जा कर रोते हुए अपना अपराध स्वीकार कर लिया। रानी ने तिरस्कार भाव से कहा—तुम मुझे कृतघ्न समझोगी किंतु मैंने तुम्हें अपने घर में रख कर बड़ी भूल की। मैं न जानती थी कि तुम आस्तीन का साँप बनोगी। मैं विनय को ऐसा मनुष्य बनाना चाहती हूँ जिस पर समाज को गर्व हो। मैं उसे सपूत बेटा, निश्छल मित्र और निस्वार्थ सेवक बनाना चाहती हूँ। मुझे उसके विवाह की लालसा नहीं, अपने पोतों को गोद में खिलाने की अभिलाषा नहीं। देश में आत्मसेवी पुरुषों और संतानसेवी माताओं का अभाव नहीं है। धरती उनके बोझ से दबी जाती है। मैं अपने बेटे को सच्चा राजपूत बनाना चाहती हूँ। आज वह किसी की रक्षा के निमित्त प्राण दे दे तो मुझसे भाग्यवती माता संसार में न होगी।.....मेरे कुल का सर्वनाश न करो।

प्रभु सेवक कभी-कभी सोफिया से मिलने आता था। एक दिन आया तो उसने एक पत्र दिया जो विनय के यहाँ से आया था। सोफिया ने इस पत्र को बिना पढ़े ही जा कर रानी को सौंप दिया। रानी ने कहा कि अब तुम अपनी दुर्बलता पर विजय पा चुकीं, अब विनय को एक पत्र लिख दो कि मैं आपको अपना भाई समझती हूँ, इसी रूप में हमारा आपका संबंध रह सकता है। सोफी ने ऐसा पत्र लिखना स्वीकार किया, किंतु जब वह पत्र लिखने बैठी तो उसे

कुछ सूझा ही नहीं कि क्या लिखें। उसने सोचा, बिना पत्र पढ़े कैसे पत्रोत्तर दिया जाय। तदनुसार वह चोरी से पत्र ढूँढ़ने चली। इस काम में वह पकड़ गयी। रानी ने कहा — 'क्या यही सत्य की मीमांसा है ?' सोफ़िया मूर्छित हो कर फर्श पर गिर पड़ी।

बहुत दिनों से मिस्टर क्लार्क मजिस्ट्रेट सोफिया पर आसक्त थे। मिसेज सेवक चाहती थी कि यह विवाह हो। अंत तक मिसेज सेवक ने इस विवाह में इतने फायदे देखे कि वह धार्मिक मतभेद को भूल कर सोफिया के पास पहुँची, और उसको घर वापस ले आयी।

इंदु इस पक्ष में थी कि सूरदास की जमीन न ली जाय, किंतु राजा साहब चतारी इस विषय में कोई मत नहीं रखते थे। एक तो जो सोफिया ने विनय की जान बचा कर एहसान किया है, उससे मुक्त होना चाहते थे, दूसरा वे यह समझते थे कि हुक्काम जो चाहेंगे, वह तो होगा ही। क्लार्क की आसक्ति का फ़ायदा उठा कर मिसेज सेवक और जान सेवक ने सूरदास की जमीन लेने का निश्चय कर लिया। अब राजा साहब क्या करते। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने सम्मति दे दी।

विनयसिंह जसवंत नगर में जनता की सेवा में लगे हुए थे। वह आने को तो यहाँ लज्जावश आ गये थे, पर एक-एक घड़ी एक-एक युग के समान बीत रही थी। पहले उन्होंने यहाँ के कष्टों को खूब बढ़ा कर माता को पत्र लिखे। उन्हें विश्वास था कि अम्माँ जी मुझे बुला लेंगी। पर वह मनोरथ पूरा न हुआ, इतने ही में सोफिया का पत्र मिल गया, जिसने उनके धैर्य के टिमटिमाते हुए दीपक को बुझा दिया। अब उनके चारों ओर अँधेरा था। वह इस अँधेरे में चारों ओर टटोलते फिरते थे, और कहीं राह नहीं पाते थे। अब उनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है, कोई निश्चित मार्ग नहीं हैं, वे माँझी की नाव है जिसे एकमात्र तरंगों की दया का भरोसा है, किंतु इस चिंता और ग्लानि की दशा में भी वह अपने कर्त्तव्य का पालन करते जाते हैं। जसवंत नगर के प्रांत में एक बच्चा भी नहीं है जो उन्हें न पहचानता हो। देहात के लोग उनके इतने भक्त हो गये हैं कि ज्यों ही वे किसी गाँव में जा पहुँचते हैं सारा गाँव उनके दर्शनों के लिए एकत्र हो जाता है। उन्होंने उन्हें अपनी मदद आप करना सिखाया है। इस प्रांत के लोग अब वन्यजंतुओं को भगाने के लिए पुलिस के

यहाँ नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित हो कर उन्हें भगाते हैं, जरा-जरा सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता कर लेते हैं। जहाँ कभी कुएँ न थे, वहाँ पक्के कुएँ तैयार हो गये हैं, सफाई की ओर भी लोग ध्यान देने लग गये हैं, दरवाजों पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किये जाते। सारांश यह कि प्रत्येक व्यक्ति अब केवल अपने ही लिए नहीं, दूसरों के लिए भी है।.....विनय को चिकित्सा का भी अच्छा ज्ञान है। उनके हाथों सैकड़ों रोगी आरोग्य लाभ कर चुके हैं। कितने ही घर जो परस्पर कलह से बिगड़ गये थे, वे फिर आबाद हो गये हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों वे काम करते जाते हैं त्यों-त्यों राज्य के अधिकारी वर्ग उनसे बदगुमान होते जाते हैं। उनके विचार में प्रजा दिन-दिन सरकश होती जाती है। दारोगा जी की मुट्ठियाँ अब गरम नहीं होतीं, कामदार और अन्य कर्मचारियों के यहाँ मुकदमे नहीं आते। कुछ हत्थे नहीं चढ़ता, यह प्रजा में विद्रोहात्मक भाव के लक्षण नहीं तो क्या है?

एक दिन विनय विश्रामार्थ एक पेड़ के नीचे बैठे थे, इतने में एक डाकिया आया जिसने उनसे कहा कि डाकू मेरा पीछा कर रहे हैं, मुझे बचाओ। इतने में पाँच सवार आ पहुँचे। डाकुओं ने डाकिये से रुपये माँगे किन्तु विनय बीच में पड़े, बोले— पहले मेरा काम तमाम कर दो, जब तक मैं हूँ तुम्हारा मनोरथ पूरा न होगा।

जब डाकुओं ने उसे इस प्रकार निर्भीक पाया, तो वे सहम गये और बाद को जब मालूम हुआ कि यही विनयसिंह हैं जो प्रजा का उपकार कर रहे हैं, तो वे पीछे हट गये। इतने में किसी तरफ से बन्दूक की आवाज आयी। वीरपालसिंह का गिरोह घोड़ों पर चढ़ कर फौरन हवा हो गया। विनय और डाकिया जसवंत नगर पहुँच गये। सेवाकार्य में लगे रहने पर भी विनय का मन सोलहो आने सोफिया के इर्दगिर्द पड़ा रहता था। रानी ने लिखा था—'तुमने मेरे साथ और अपने बन्धुओं के साथ दगा की है। मैं तुम्हें कभी क्षमा न करूँगी। तुमने मेरी अभिलाषाओं को मिट्टी में मिला दिया। तुम इतनी आसानी से इंद्रियों के दास हो जाओगे इसकी मुझे लेशमात्र भी आशंका न थी। तुम्हारा वहाँ रहना व्यर्थ है, घर लौट आओ और विवाह करके आनंद से भोग विलास करो। मिस सोफिया की मँगनी मिस्टर क्लार्क से हो गयी, और दो चार दिन में विवाह भी होने वाला

है। यह इसलिए लिखती हूँ कि तुम्हें सोफिया के विषय में किसी तरह भ्रम न रहे .....।'

अपनी माता की आँखों में गिर गया साथ ही सोफी ने भी दगा की, यह सोच कर विनय के मन में प्राणघात का विचार उत्पन्न हुआ। उसने इसी आवेश में सोफी को कोसते हुए, एक पत्र लिखना चाहा। वह पत्र के मजमून को सोचता और करवटें बदलता। इतने में रियासत का एक अफसर आया और उसे गिरफ़्तार कर लिया। बहुत पूछने-पाछने पर पुलिस ने उसे यह बतलाया कि वीरपालसिंह ने यहाँ से तीन मील पर सरकारी खजाने की गाड़ी लूट ली है, और एक सिपाही की हत्या कर डाली है, पुलिस को यह संदेह है कि यह संगीन वारदात विनयसिंह के इशारे से हुई है। विनयसिंह ने कहा यह घोर अन्याय है, किंतु पुलिस अफसर ने बताया कि डाकिये का ही ऐसा बयान है। दो सिपाहियों ने विनय के हाथ में हथकड़ी डाल दी, उन्हें घोड़े पर सवार कराया और जसवंतनगर की राजधानी को ले चले।

सोफिया घर आयी तो उसके आत्मगौरव का पतन हो चुका था। वह क्लार्क से मिलती अवश्य थी, किंतु उसे पास फटकने नहीं देती थी। इधर सूरदास की जमीन निकल जाने के कारण सूरदास दिन रात शहर में दुहाइयाँ देता फिरता था। शहर में काफी हलचल थी। चतारी के राजा को लोग कहाँ बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे, और कहाँ अब लोग उन पर थू-थू करने लगे। सोफिया को सूरदास से सहानुभूति थी। वह एक दिन इंदु के घर पर पहुँची और उससे अनुरोध किया कि राजा साहब जमीन न लें। इस पर इंदु ने कहा — यह भी जानती हो, जो कुछ हुआ तुम्हारे मिस्टर क्लार्क की प्रेरणा से हुआ।

बात-बात में बात बढ़ गयी और दोनों सखियों में झगड़ा हो गया। इंदु कह रही थी कि अब जमीन वापस करने में राजा साहब का अपमान है, किंतु सोफिया कहती थी कि न्याय के लिए यही सही। बोली — अपमान अन्याय से अच्छा है।

जब सोफिया इंदु के यहाँ से लौट आयी तो वह क्रोध में थी। क्लार्क तो उस पर लट्टू थे ही। उसने हाव-भाव बता कर मिस्टर क्लार्क को इस बात के लिए मजबूर किया कि वे जमीन-संबंधी प्रस्ताव को मन्सूख कर दें। ऐसा ही

हुआ। इस बात से सोफिया को बहुत खुशी हुई, किंतु अब उसकी खुशी में केवल एक गरीब को मदद पहुँचाने की खुशी मात्र नहीं थी, बल्कि इंदु के ऊपर चोट करने की खुशी भी सम्मिलित हो गयी थी। जानसेवक ने सोफिया को इसके लिए बहुत कोसा, यद्यपि सोफी इस संबंध में अपनी जानकारी को छिपाती ही रही। उधर चतारी के राजा साहब को जब यह मन्सूखी ज्ञात हुई तो उन पर बज्र गिर पड़ा किंतु एक चापलूस व दूरदर्शी राजा की तरह वह इसे चुपचाप सहन करते जा रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि इसके विरुद्ध कुछ होना कठिन है, किंतु इंदु ने उनको जोश दिलाया, जानसेवक ने पीठ पर हाथ रखा और बड़े जोरों से अखबारों में मजिस्ट्रेट की मनमानी के विरुद्ध आंदोलन खड़ा हो गया।

जब अधिक आंदोलन हुआ तो सरकार ने मिस्टर क्लार्क का तबादला करके रियासतों में भेज दिया। हाँ, उन्हें इस बात के लिए स्वतंत्रता दी कि वे अपने लिए रियासत चुन लें। सोफिया ने जब यह बात सुनी तो उसने उनसे वही रियासत चुनवायी जहाँ विनय थे, साथ ही मिस्टर क्लार्क से यह कहा कि मैं तुम्हारे साथ वहाँ एक मित्र की हैसियत से भ्रमण करने चलूँगी।

कुँवर भरतसिंह अपनी स्त्री के असर के कारण ऊपर से तो हाँ-हाँ करते जाते थे, किंतु उनको यह बहुत नागवार था कि एकमात्र बेटा इस प्रकार दुख सहन करे। ऊपर से बेटी भी हेकड़ बनी रहे। किंतु भीतर से नायकराम को बुला कर उन्होंने इसलिए रियासत भेज दिया कि जिस किसी प्रकार हो विनयसिंह को जेल से छुड़ा लाये। उन्हें यह विश्वास था कि पिता की बेचैनी की बात सुनते ही विनयसिंह आना स्वीकार करेंगे। नायकराम को खर्चे के लिए मुँहमाँगी रकम दे दी गयी।

एजेंट रूप में तैनाती के बाद मिस्टर क्लार्क यथासमय सोफिया सहित जसवंतनगर पहुँचे।

सोफिया विनय की जेल में पहुँची तो उसने मौका लगा कर विनय से बातें करनी शुरू कीं। पहली बात तो विनय को यह ज्ञात हुई कि सोफ़िया के विषय में रानी जाह्नवी ने जो लिखा था कि वह मिसेज़ क्लार्क हो चुकी है, यह बिलकुल गलत है। सोफिया ने साफ कह दिया—मैंने तुम्हारा दामन पकड़

लिया है, और अब उसे किसी तरह नहीं छोड़ सकती, चाहे तुम ठुकरा ही क्यों न दो।

विनय ने अंत में सोफिया के हाथ अपने हाथ में ले लिये, और कहा — तो आज से तुम मेरी और मैं तुम्हारा हूँ।

सोफी का मस्तक विनय के हृदय-स्थल पर झुक गया, और नेत्रों से जल-वर्षा होने लगी। नौका ने कर्णधार का सहारा पा लिया था।

सोफी ने शराब पिला कर गाना गवा कर क्लार्क से विनय की रिहाई की आज्ञा करा ली। सोफी इस आज्ञा को लेकर जेल गयी, पर विनय ने छूटने से इनकार किया। सोफी ने बहुत समझाया, पर विनय टाल गया। सोफी यह संदेह लेकर लौटी कि शायद क्लार्क के साथ रहने से तथा उसके साथ मिथ्याचरण करने से विनय नाराज़ है। बिदाई के समय सोफी ने साफ-साफ कह भी दिया।

उधर नायकराम विनय के पिता कुँवर साहब से विनय की खबर लाने का वादा कर जसवंतनगर रवाना हो गया। घूमते-घामते नायकराम विनय की जेल के दारोगा जी के घर पहुँचा। वहाँ उसने ऐसा स्वाँग रचा कि दारोगा जी को भ्रम हो गया कि हो न हो यह किसी बहुत बड़े राजा आदि के यहाँ से मेरे लड़के की मँगनी की खबर लाया है।

उसने पंडे की खूब आवभगत की। पर घर में कहाँ इतना मौका था कि ऐसे बड़े आदमी को ठहरावे, तदनुसार उसने उनको ले जाकर जेल के अंदर ठहराया। यहाँ मुफ़्त के नौकर थे, चार-चार हर वक्त हाथ बाँधे खड़े रहते। नायकराम यही चाहता था। उसने विनय से अकेले में भेंट की और कहा कि पिता जी ने बुलाया है, माता जी मृत्युशय्या पर हैं। माता जी की बीमारी की बात सुन कर विनय पछताने लगा कि क्यों मैं सोफी के कहने पर नहीं गया। पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि सोफिया अब जेल में नहीं आयेगी। अब वह बड़े असमंजस में फँसा। ऐसे समय में नायकराम ने दीवार फाँदने का परामर्श दिया। यह प्रस्ताव विनय को नहीं जँचा। ऐसा करने से उसका जी घबड़ाता था। पर दूसरा रास्ता नहीं था। नायकराम ने उसको विश्वास दिलाया कि यह बायें हाथ का खेल है। अंत में नायकराम विनय को लेकर जेल की दीवार फाँद कर निकल गया।

नायकराम और विनय जेल से निकले तो सड़क पर देखा कि जनता में कुछ हलचल-सी ज्ञात होती है।

लोगों से पूछा तो मालूम हुआ कि रियासत के एजेंट मिस्टर क्लार्क की मोटरगाड़ी के नीचे एक बटोही दब गया था। फिर भी साहब ने मोटर नहीं रोकी। तब लोग मोटर के पीछे दौड़ पड़े। साहब ने पिस्तौल चलाई। एक आदमी गिर पड़ा। साहब मोटर हँकाकर चले गये थे। अब चारों तरफ से लोग उन्हीं के बँगले को घेरने जा रहे थे।

विनय के होश उड़ गये। यकीन हो गया कि आज अवश्य कोई उपद्रव होगा। नायकराम से बोले—पंडा जी जरा बँगले तक होते चलें।

नायकराम—किसके बँगले तक ?

विनय—पोलिटिकल एजेन्ट के।

नायकराम—उनके बँगले पर जा कर क्या कीजिएगा ? क्या अभी तक परोपकार से जी नहीं भरा ?

विनय ने बात नहीं मानी और बँगले पर जा पहुँचा। वहाँ देखा तो अपार भीड़ थी। भीड़ के नेता के रूप में वीरपाल और उधर सोफिया से बात हो रही थी। बात यह है कि मिस्टर क्लार्क शराब पी कर अचेत थे। वीरपाल कह रहा था—मगर यह नहीं हो सकता कि हमारा भाई किसी मोटर के नीचे दब जाय, चाहे वह मोटर महाराना ही का क्यों न हो, और हम मुँह न खोलें।

सोफी—वह संयोग था।

वीरपाल—सावधानी उस संयोग को टाल सकती थी, हमें जब तक आश्वासन नहीं मिलेगा हम यहाँ से नहीं हट सकते।

सोफी—संयोग के लिये कोई वचन नहीं दिया जा सकता, लेकिन.........

वह और कुछ कहना चाहती थी कि इतने में किसी ने एक पत्थर उसकी तरफ फेंका, जो उसके सिर में इतने जोर से लगा कि वह वहीं सिर थाम कर बैठ गयी।

जो पत्थर सोफी के सिर में लगा, वह कई गुने आघात के साथ विनय के हृदय में लगा। उसकी आँखों में खून उतर आया, आपे से बाहर हो गया। उसने पिस्तौल कमर से निकाली, और वीरपालसिंह पर गोली चला दी। फिर तो सैनिकों ने भी गोली चला दी। वीरपाल ने विनय को पहचान कर कहा—आप भी उन्हीं में हैं ?

इसके बाद दोनों तरफ से लड़ाई हुई। विनय क्रोधवश वीरपाल पर लपका, पर उसके एक साथी ने उसे गिरा दिया। इस प्रकार मारपीट में जनता कब तक ठहरती, भाग खड़ी हुई। पर विद्रोही जाते समय सोफी को लेते गये। नायकराम का भेजा खुल गया था।

इसके बाद विनय का बस एक ही काम रह गया, वह यह कि किसी प्रकार सोफी का पता लगाया जाय। इसके लिये वह रियासत और क्लार्क के सारे दुष्कृत्यों में साथ देने लगा।

बहुत कष्टों के बाद सोफी के साथ मिलने की नौबत भी आयी तो अजीब हाल था। सोफी आरती का थाल लेकर आयी। विनय ने गद्‌गद होकर कहा—प्रिये, यह क्या ढकोसला कर रही हो, तुम भी इन रस्मों के जाल में फँस गयीं?

सोफी—वाह! आपका आदर-सत्कार न करूँ? मेरे कारण आपने रियासत में अँधेर मचा रक्खा है, सैकड़ों निरपराधियों का खून कर दिया कितने ही घरों के चिराग़ गुल कर दिये, माताओं को पुत्रशोक का मज़ा चखा दिया, रमणियों को वैधव्य दिया। अब आप एक तुच्छ सेवक नहीं, रियासत के दाहिने हाथ हैं।

विनय ने सफाई दी कि वह वही है, पर सोफी ने एक न सुना, उसे खूब लताड़ा। अंत में बोली—तुम्हें अपना सम्मान मुबारक हो। जिनके साथ हूँ वे सहृदय हैं, वे किसी दीनप्राणी की रक्षा प्राण-पण से कर सकते हैं। तुम्हें वह बात क्यों न्यायसंगत जान पड़ी जो न्यायविरुद्ध थी।

अंत तक विनय को अकेला लौटना पड़ा। सोफी उसके साथ चलने पर राजी नहीं हुई।

भैरो ने सुभागी को घर से निकाल दिया। सुभागी सूरे के पास आयी कि उसके यहाँ रहे। सूरे ने कहा इस में बहुत झंझट है, मैं बदनाम हो जाऊँगा; पर जब उसने देखा कि सुभागी के लिए रहने की कोई जगह नहीं, और उसने भी निकाल दिया तो उसे शायद कसबी होने की नौबत आवे, उसने उसे घर में स्थान दे दिया। क्षण भर के लिये सूरे के मन में यह बात भी आयी कि इसे रख लूँ तो कैसा रहे। क्या अंधा हूँ तो आदमी नहीं।

पर यह विचार क्षण भर के लिए आया और सूरदास सँभल गया।

भैरो ने जब यह देखा कि सुभागी को जगह मिल गयी, तो वह बहुत

क्रुद्ध हुआ। वह खुल कर सुभागी और सूरे को वदनाम करने लगा। मुहल्लेवालों ने भी इसमें साथ दिया। पर इससे सूरे का कुछ बिगड़ते न देख कर भैरो ने ऐसा सोचा कि चलें राजा महेंद्रकुमार के पास, सूरे की जमीन के मामले में सूरे से गच्चा खाने के कारण नाराज़ हैं, वे शायद कुछ तरकीब बतायें। तदनुसार वह राजा साहब के पास पहुँचा। भैरो का उद्देश्य सुना तो बहुत खुश हुए कि शहरवाले जानें तो कि सूरा कैसा पाजी है, उसे तो लोग महात्मा समझते हैं। उन्होंने भैरो से कहा कि गवाह बना कर लाओ, और मेरी अदालत में नालिश कर दो।

मुकदमे में सूरदास तथा सुभागी को सजा हो गयी। पर अंत में सूरे ने ऐसी दुहाई मचायी कि लोग समझ गये मुकदमा झूठा था।

शहरवालों ने चंदा कर सूरे तथा सुभागी का जुर्माना अदा कर दिया। शहरवालों ने यह भी तय किया कि सूरे का जेल से जुलूस भी निकले, पर राजा महेंद्रकुमार को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सूरे को समय से बहुत पहले ही छुड़वा कर मोटर पर गाँव पहुँचा दिया।

इस प्रकार जुलूस के खर्च के लिये जो तीन सौ रुपये इकट्ठे हुए थे वे बच गये, और सूरे को दे दिये गये।

सूरा जो गाँव में पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि इस दो तीन दिन के बीच में किसी ने भैरो की दूकान में आग लगा दी, और उस अग्निकांड में उसका सर्वस्व स्वाहा हो गया था। अग्निकांड के समय भैरो स्वयं नशे में था, इस कारण वह कोई सामान बचा नहीं सका और सब गाँववालों ने भी कुछ मदद नहीं दी।

सूरे ने आते ही जो यह बात सुनी तो उसने यह कहा कि इन तीन सौ रुपयों से भैरो का काम जहाँ तक हो सके सँभाल दिया जाय। उसने ऐसा ही भैरो से कहा और उसे रुपये दिये, इससे भैरो पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसके मन में सूरे के प्रति जो मैल था, वह दूर हो गया, और वह सुभागी को फिर घर में लेने के लिये तैयार हो गया।

जानसेवक चाहते थे कि प्रभुसेवक ढंग से व्यवसाय में लग जायँ, पर प्रभुसेवक थे कविता कामिनी के उपासक। वे सबेरे कविता लिये कहीं जा रहे

थे कि पिताजान ने बुला कर कहा कि वह पाँडेपुर की जमीन के लिए कुँवर साहब से कहे।

प्रभुसेवक—मुझे ऐसे बँगले से झोपड़ा ही पसंद है जिसके लिए कई गरीबों के घर गिराने पड़ें। मैं कुँवर साहब से इस विषय पर कुछ न कहूँगा।

जानसेवक—यह तुम्हारी अकर्मण्यता है। इसे संतोष और दया कह कर तुम्हें धोखे में न डालूँगा। तुम जीवन की सुख-सामग्रियाँ तो चाहते हो, लेकिन उन सामग्रियों के लिये जिन सुख-साधनों की ज़रूरत है, उनसे दूर भागते हो।

प्रभुसेवक को ये बातें इतनी बुरी लगीं कि वह घर छोड़ कर चला गया और कुँवर साहब के सेवा दल में काम करने लगा।

जब विनय सोफिया द्वारा दुत्कारा जा कर रियासत की राजधानी में लौटा, तो उसे ज्ञात हुआ कि रियासत के अधिकारीवर्ग उस पर अब विश्वास नहीं करते। उन्हें गुप्तचरों से ज्ञात हो चुका था कि विनय ने इस प्रकार सोफी से भेंट की थी। इसी के साथ-साथ विनय को अपनी माँ का दीर्घ पत्र मिला जिसका आशय शुरू से आखिर तक यह था कि उनको बहुत भारी लज्जा है कि विनय उनका पुत्र है।

विनय ने तय कर लिया कि घर चलना चाहिए। वह रेल पर सवार हो गया। पाँचवें स्टेशन से थोड़ी दूरी पर एकाएक गाड़ी रुक गयी। कोई स्त्री उसी डब्बे में दाखिल हुई। वह मिस सोफिया थी। विनय ने देखते ही पहचान लिया।

विनय और सोफिया में बातचीत होने लगी। बातचीत क्या, प्रेमिक-प्रेमिका का उलाहना तथा प्रेम-निवेदन था। सोफी का दिल भी क्रांति से भर गया था। अब तो वह दूसरी ही सोफिया थी। अब वह दुत्कार नहीं थी, बल्कि प्रेम में सनी, अनुराग में डूबी बातें थीं।

सोफी ने विनय को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे दोनों बीच ही में उतर पड़ें। सोफी पहले विनय को अपना बना कर फिर उसे रानी के पास ले जाना चाहती थी। विनय ने रेल ही में वह पत्र पढ़ लिया था जो रानी ने विनय के नाम भेजा था। नतीजा यह हुआ कि सोफी और विनय दोनों बीच के एक स्टेशन पर उतर पड़े।

जानसेवक ने ताहिर अली की मेहनत और ईमानदारी से प्रसन्न हो कर

खालों पर कुछ कमीशन नियत कर दिया था। इससे अब उसकी आय अच्छी हो गयी थी। पर सौतेला छोटा भाई माहिर अली मुरादाबाद पुलिस ट्रेनिंग स्कूल में पढ़ रहा था, उसके खर्च के मारे बड़ी तंगी रहती थी। इसी के कारण तथा विमाता के तानों के कारण उसे कोठी की रक़म से इधर-उधर कभी दस कभी बास निकालना पड़ता। पर यह कब तक छिपता, एक दिन जान साहब आये, उन्हें कुछ शक मालूम दिया, बस उन्होंने सब हिसाब किया तो खज़ाने में कमी पकड़ी गयी। जान साहब ने फौरन चाभी ले ली और चले गये। इसके बाद मुक़दमा चला और ताहिर अली को सज़ा हो गयी। जिस दिन उसे सज़ा हुई, उसी दिन माहिर अली लौटा, पर उसने भाई से भेंट तक नहीं की। जब ताहिर अली को जेल की सजा हो गयी तो माहिर अली की तैनाती हो गयी। वह अपनी माँ आदि को ले कर अलग हो गया। उधर कुलसुम तथा उसके बच्चों का बुरा हाल हुआ, किसी तरह सी-पिरो कर रोटी खाने लगी।

विनय और सोफिया जहाँ उतरे वहाँ दोनों एक दूसरे के साथ रहे, पर कुछ अलगाव के साथ। विनय चाहता कि यह अलगाव दूर हो, पर सोफी उसे अधिक पास नहीं फटकने देती। विनय ने कई बार चेष्टा की, पर कुछ न हुआ। अंत में विनय ने दुखी हो कर यह कहा—सोफी, इसका आशय इसके सिवा और क्या है कि मेरा जीवन सुख-स्वप्न में ही क़ट जाय।

पर फिर भी सोफी न पसीजी।

विनय कुछ बोलते नहीं, पर मलिन और खिन्न रहते। यथासंभव घर से बाहर रहते। इसी हालत में विनय से एक भीलनी की भेंट हुई। उससे उसको वशीकरण की क्रिया मालूम हुई, बस वह उसी में दत्तचित्त हो कर उसी का प्रयोग करने लगा। जब पाँच दिन क्रिया की गयी तो सोफी ने एकाएक विनय के गले में बाँह डाल दी। विनय ने सोफी के करपाश को धीरे से मुक्त कर दिया, और पुकारा—सोफी !

सोफी चौंक पड़ी, मानो निद्रा में हो। सोफ़ी का चित्त भ्रमित रहने लगा। विनय ने क्रिया की बात बता दी।

सोफी ने विनय की गरदन में हाथ डाल दिये। बोली—तुम बड़े छलिया हो। अपना जादू उतार लो, क्यों तड़पा रहे हो।

विनय—क्या कहूँ, उतारना नहीं सीखा यही तो भूल हुई।

अंत में यही तय हुआ कि यहाँ रहने से फायदा नहीं, चला जाय। तदनुसार ये चल पड़े।

तीसरे दिन यात्रा समाप्त हो गयी, तो संध्या हो चुकी थी। सोफिया और विनय दोनों डरते हुए गाड़ी से उतरे कि कहीं किसी से भेंट न हो जाय। सोफिया ने विनय के घर जाने का विचार किया। वह घबड़ा रही थी कि न मालूम रानी जी किस प्रकार पेश आवें। पर रानी ने सोफी का स्वागत किया, बोली—बेटी, तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था। मैंने तुम्हें पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी, सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, पहले से मालूम न था। आह! अगर पहले से जानती।

रानी ने विनय को बता दिया कि वह उसे कब की क्षमा कर चुकी है।

मिल के कारण मिल के इर्द-गिर्द अच्छा खासा बाजार हो गया। पाँडेपुर का पुराना बाजार सर्द पड़ गया। चकला खुल गया था। घरों के लड़के इन चकलों में जाते।

घरों के लड़के चकले पर हाथ मारते-मारते मुहल्ले घर की स्त्रियों को भी ताकने लगे। बजरंगी का लड़का घीसू, सूरे का पालित पुत्र मिठुआ और जगधर के लड़के विद्याधर की निगाह सुभागी पर गयी। इन लोगों ने तय किया कि सुभागी को एक दिन रात में पकड़ लिया जाय। तदनुसार इन लोगों ने ऐसा ही किया, पर ज्यों ही एक ने सुभागी का हाथ पकड़ा, सुभागी चोर चोर चिल्ला उठी। सूरदास किवाड़े पर सोता था। वह भी उठा, मुहल्ले वाले भी उठे। जब सब लोग आये तो देखा गया कि सुभागी ने घीसू को और सूरे ने मिठुआ को पकड़ लिया है।

गाँव के लड़के थे, लोगों ने कहा मामले को दबा दो, पर सूरे ने एक नहीं सुनी। मामला पुलिस में गया और पुलिस ने मुकदमा किया। लड़कों को सजा हो गयी। नतीजा यह हुआ कि गाँववाले सूरदास पर फिर नाराज हो गये।

विनय फिर से घर में रहने लगा। पर उसके विवाह का मामला खटाई में रह गया, क्योंकि जानसेवक ने सम्मति नहीं दी। प्रभुसेवक सेवादल को ले कर इतनी निर्भीकता से काम कर रहा था कि कुँवर भरतसिंह की रियासत पर आँच आने की नौबत आ गयी। कुँवर साहब को जहाँ यह ज्ञात

हुआ, उन्होंने पुत्र तक को बिना बताये रियासत को कोर्ट आफ़ वार्ड्स में कर दिया। इस बीच में प्रभु विलायत चला गया था, वहाँ उसकी कविता की बहुत क़द्र हुई थी।

कोशिशों के बाद जानसेवक को पांडेपुरवाला पूरा गाँव ही मिल गया। इसमें मज़दूरों के लिए घर बनाया जानेवाला था। एक दिन सबेरे तख़मीने के अफ़सर आदि पांडेपुर आये और उन लोगों ने गाँववालों को हुक्म सुना दिया कि सरकार को एक खास काम के लिए इस ज़मीन की ज़रूरत है। उसने फैसला किया है कि उचित दाम देकर यह ज़मीन ले ली जाय, जिसे अर्ज मारूज करना हो, वह आ कर तख़मीने के अफसर से मिले।

गाँववाले एक अस्पष्ट आशा ले कर सूरे के पास पहुँचे। सूरे ने कोई खास उपाय नहीं देखा, पर कहता रहा देख लिया जायगा। तखमीना लगा, जिसने मुट्ठी गरम की, उसको अपने मकान का कुछ ढंग का दाम मिला, जिसने नहीं की उसका मकान नीलाम के दामों पर गया। मकानों पर कब्जा बड़ी बेरहमी से किया गया, सामान उठा-उठा कर फेंका गया, पुलिसवालों ने लूट मचायी। ये सारे काम माहिर अली दारोगा के ही सिपुर्द थे। दंगा होने की नौबत आयी। राजा महेंद्रकुमार म्यूनिसिपलिटी की ओर से आये। उन्होंने जब देखा कि यह दंगा इसलिए होने जा रहा है कि सरकार ने मुआवजे के जो रुपये तय किये थे, वे अभी नहीं दिये गये थे, लोग जायँ तो कहाँ जायँ। राजा साहब मोटर पर चढ़ कर अपने बैंक से रुपये ले आये, और उसे बाँट दिया। पर जनता इतने से शांत नहीं हुई। तब पुलिस साहब ने गोली चलवा दी। विनय आया। उसे पुलिसवाले पहचानते थे, उन्होंने आगे गोली चलाने से इंकार किया। पर जो गोलियाँ चली थीं, उसी से इंद्रदत्त मर गया।

सोफिया धर्मपरिवर्तन के लिये तैयार हो गयी तो विवाह की सब बाधा दूर हो गयी। रानी जाह्नवी ज्यों-ज्यों विवाह की तैयारियाँ कर रही थी, सोफिया का हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त शंका से आच्छन्न होता जाता था। सोफी इसी चिंता में बीमार हो गयी। विनय दिन-रात वहीं डटा रहता।

तीसरा पहर था। एक आदमी डौंडी पीटता हुआ निकला। विनय ने नौकर को भेजा कि क्या बात है। उसने लौट कर कहा — सरकार का हुक्म है

कि आज से शहर का कोई आदमी पांडेपुर न जाय, सरकार उनकी प्राण-रक्षा की जिम्मेदार न होगी।

विनय तथा सोफिया दोनों समझ गये कि पांडेपुर में आज कोई नया आघात होनेवाला है। एक वालंटियर ने आ कर विनय से बताया कि मिस्टर क्लार्क फिर जिलाधीश हो कर आये हैं। विनय ने उस स्वयंसेवक के पूछने पर भी कि आप चलेंगे कि नहीं, खिन्न हो कर कहा—देखा जायगा।

पर सोफिया ने कहा कि वह चलेगी, बोली—मैं इसीलिए और भी जाना चाहती हूँ कि मेरे सामने वह कोई पैशाचिक आचरण न कर सकेगा। इतनी सज्जनता अभी उसमें है।

यह कह कर सोफी तैयारी करने गयी। पर जब तैयारी कर लौटी तो विनय के कमरे में विनय नहीं था। द्वार पर कुछ देर खड़ी रही, फिर एक अज्ञात शंका के पूर्वाभास ने सोफ़ी के हृदय को आंदोलित कर दिया। वह भी पांडेपुर चली। वह सोचती जाती थी कि विनय को जाने की इच्छा न थी, वह मेरे ही आग्रह से गये हैं।

उधर विनयसिंह दफ़्तर में जा कर सेवक-संस्था के आय-व्यय का हिसाब लिख रहे थे। उनका चित्त बहुत उदास था। मुख पर नैराश्य छाया हुआ था। एकाएक किसी ने पीछे से उनका हाथ पकड़ कर खींचा। चौंक कर देखा तो सोफिया थी। पूछा—तुम क्यों आये?

विनय—तुम्हें अकेले क्योंकर छोड़ देता?

तीन तोपें झोपड़े की ओर मुँह किये खड़ी थीं। गाँववाले झगड़े के लिये तैयार खड़े थे। मिस्टर जानसेवक पर किसी ने हमला कर दिया। वे भागे। सूरे ने जब यह सुना तो एक व्यक्ति के कंधे पर बैठ कर जनता को शांत रहने के लिए कहा। वह बोल ही रहा था कि मिस्टर क्लार्क ने यह समझा कि यह अंधा जनता को उपद्रव करने के लिये प्रेरित कर रहा है। उन्होंने जेब से पिस्तौल निकाली और सूरदास पर चला दी। निशाना अचूक पड़ा, सिर लटक पड़ा, रक्तप्रवाह होने लगा। भैरो उसे सम्हाल न सका, वह भूमि पर गिर पड़ा।

जनता नैराश्य और क्रोध से उन्मत्त हो गयी। विनय ने देखा आन की आन में अनर्थ होगा, सैकड़ों जानों पर बन आयेगी। तुरंत एक गिरी हुई

दीवार पर चढ़ कर बोले—मित्रो, यह क्रोध का अवसर नहीं है, प्रतिकार का अवसर नहीं है, सत्य की विजय पर आनंद उत्सव मनाने का अवसर है।

जनता ने उसको व्यंग किया—जब मैदान साफ हो गया, तो आप मुर्दों की लाश पर आँसू बहाने आये हैं। जाइये, शयनागार में रंग उड़ाइए..... इत्यादि।

इस प्रकार जब चारों तरफ से ताने आने लगे, तो विनय की आकृति तेजस्वी हो गयी, लोचन लाल हो गये। वह बोले—क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं? देखिए—यह कह कर उन्होंने जेब से भरी हुई पिस्तौल निकाल ली, छाती में उसकी नली लगाई और जब तक लोग दौड़ें-दौड़ें भूमि पर गिर पड़े। लाश तड़पने लगी। जनता स्तंभित रह गयी।

सोफी ने खबर सुनी तो उसके होश उड़ गये। उधर से रानी जाह्नवी आयी तो वह उससे लिपट गयी। पर रानी उसे गले लगाती हुई बोली—क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिये? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहर होते तो उसे लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर आज प्राण बचा कर भागता। यह तो मेरी चिरसंचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी। वीर राजपूत और राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी, उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जातिहित के लिये अर्पण करता।

सूरदास मरा नहीं था, बहुत सख्त घायल हुआ था। विनय की दाह-क्रिया समाप्त कर सोफी वहीं रहती। एक दिन राजा महेंद्रकुमार आये, और उससे माफ़ी माँगी। सूरे के दिल में तो कोई मैल नहीं था। बड़ी मुश्किलों से मिठुआ आया, पर वह सूरे को कोसता रहा, बोला—मुझे चौपट कर के मर जाते हो।.....हमारी दस बीघे मौरूसी ज़मीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? हाकिमों से वैर न ठानते तो उस घर के सौ से कम न मिलते। मुझे तो तुमने मटियामेट कर दिया, कहीं का नहीं रक्खा। कमाई में तुम्हारे शक नहीं पर कुछ जलाया, कुछ उड़ाया, मेरे लिये कुछ न रक्खा। मुझे बिना छाँह के छोड़े जाते हो।—इत्यादि।

मिठुआ ने तैश में आ कर यहाँ तक कहा कि पुतलीघर में आग लगा देगा। सूरदास को इन बातों से कष्ट हुआ। शायद इन्हीं कटुवाक्यों के कारण वह अच्छा न हो सका।

जानसेवक भी सूरे से मिलने आया। जान ने सूरे की तारीफों के बाद पूछा—सूरदास, मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो बताओ।

सूरदास—कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

कहने-सुनने पर सूरे ने यह कहा कि ताहिरअली को फिर से नौकरी पर रख लिया जाय क्योंकि उसके बालबच्चे बड़े कष्ट में हैं।

जानसेवक—मुझे अत्यंत खेद है कि तुम्हारे आदेश का पालन न कर सकूँगा। किसी नीयत के बुरे आदमी को आश्रय देना मेरे नियमों के विरुद्ध है, मैं उसे तोड़ नहीं सकता।

सूरदास—दया कभी नियम-विरुद्ध नहीं होती।

जान—मैं इतना कर सकता हूँ कि ताहिर अली के बाल-बच्चों का पालन-पोषण करता रहूँ। लेकिन उसे नौकर न रक्खूँगा।

सूरदास—जैसी आपकी इच्छा।

उधर पाँडेपुर में गोरखे अभी तक पड़ाव डाले हुए थे। उनके उपलों के जलने से चारों तरफ धुँआ छाया हुआ था। उस श्यामावरण में बस्ती के खँडहर भयानक मालूम होते थे। यहाँ अब भी दिन में दर्शकों की भीड़ रहती थी। जहाँ विनयसिंह ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी, वहाँ लोग आते तो पैर से जूते उतार देते। घर की याद भूलते ही भूलते भूलती है। कोई अपनी भूली भटकी चीजें खरीदने आता। बच्चों को तो अपने घरों के चिह्न खोजने में ही आनंद आता। एक पूछता अच्छा बताओ, हमारा घर कहाँ था? दूसरा कहता जहाँ कुत्ता लेटा हुआ है। तीसरा कहता, जी, कहीं हो न? वहाँ तो बेचू का घर था। गाँव के लोग भिन्न-भिन्न गाँवों में बिखर गये थे। सभी का बुरा हाल था। नायकराम शहर में जाकर बसने की बात सोचता था।

सूरदास मृत्युशय्या पर था। अंतिम बार वह डाक्टर गाँगुली की दवा से बोल रहा था—तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो। तुम जीते, मैं हारा। तुम मँजे खिलाड़ी हो,

दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो, और तुम्हारा उत्साह खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली - गलौज मार - पीट करते हैं। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, एक न एक दिन हमारी जीत होगी।

सूरदास सब को रुला कर मर गया।

ताहिर अली जेल से छूट कर आया तो उसे मालूम हुआ कि उसकी स्त्री तथा नादान बच्चों को छोड़ कर माहिर अली अलग हो गये। इस समय माहिर अली दारोगा का काम कर रहे थे। ताहिर अली ने जो बच्चों का बुरा हाल देखा तो उसे क्रोध आ गया। यह सीधा माहिर अली के यहाँ गया, वहाँ पान इत्र था और ताश हो रहा था। उसने माहिर को बेवफाई पर सैकड़ों लानत दी, फिर झपट कर कलमदान उठाया, उसकी स्याही निकाल ली और माहिर की गरदन ज़ोर से पकड़ कर स्याही मुँह पर पोत दी, और फिर गालियाँ दीं। लौट कर जब ताहिर ने ये बातें कुलसुम से कहीं, तो कुलसुम ने बहुत अफसोस किया कि यह क्या किया, तुम तो उससे भी रज़ील हो गये, वह अगर चाहता वहीं बेइज्जत कर देता।

सूरदास की मूर्ति बनाकर प्रतिष्ठित करने का अंदोलन चला। इन्दु ने १००० रु० दिये। इसी पर राजा महेंद्रकुमार बीबी से बहुत नाराज़ हुए। यह विवाद दाम्पत्य क्षेत्र से निकलकर सार्वजनिक क्षेत्र में आ गया। राजा साहब मूर्ति के लिये चंदे का विरोध करते थे। बात यह है कि उन पर म्युनिसिपल बोर्ड में इसी पाँडेपुर की घटना के कारण अविश्वास का प्रस्ताव पास होनेवाला था। इंदु सोफी के साथ घर-घर घूम चंदा करती थी।

अंत में मूर्ति की बड़ी धूमधाम से स्थापना हुई। आधी रात बीत चुकी थी। एक आदमी साइकिल पर सवार मूर्ति के समीप आया। उसके हाथ में कोई यंत्र था। उसने क्षण भर तक मूर्ति को सिर से पाँव तक देखा, और तब उसी यंत्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज सुनाई दी, और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी, और उसी मनुष्य पर जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात न कर सका, मूर्ति के नीचे दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा तो राजा महेंद्रकुमार सिंह थे।

मिसेज सेवक समझती थी कि विनय मर गये, अब शायद लड़की ढर्रे पर आ जाय और मिस्टर क्लार्क से शादी कर ले तो उसकी मुराद पूरी हो जाय। तदनुसार एक दिन घर बुला कर बात की और समझाया। जो होना था वह हो गया, आगे की सोचनी चाहिये। यदि वह चाहे तो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, सँभल सकती है। बहुत मजबूर किया तो सोफिया घर रहने को राजी हो गयी, फिर शादी की बात पर भी कह दिया कि ठीक है।

पर अगले दिन सबेरे सोफिया का पता नहीं लगा। अगले दिन डाक आने पर पता लगा कि उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार सोफिया का अंत हुआ। इसके बाद मिसेज सेवक की आशाओं पर पानी फिरने से वह पागल हो गयी। जानसेवक फिर भी निरलस हो कर कारखाना चलाने लगे।

रानी जाह्नवी सेवादल चलाती है, कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे। वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आंडबर, वही ठाठ-बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जड़ें उखड़ गयी हैं। इस जीवन से परे उनके लिये अनंत शून्य आकाश के अतिरिक्त अब कुछ नहीं है।

रंगभूमि पर एक नयी दृष्टि

रंगभूमि प्रेमचंद का सबसे बड़ा उपन्यास है। इस उपन्यास के नाम से ही यह स्पष्ट है कि लेखक ने यह समझ कर ही इसका नाम रंगभूमि रक्खा था कि समसामयिक भारतीय समाज का विस्तृत प्रतिफलन हो। यह उपन्यास १६२४ के लगभग प्रकाशित हुआ था। १६२० का असहयोग आंदोलन भारत को एक साल के अंदर स्वराज्य दिलाने में तो असमर्थ रहा, पर किसी असहयोगी के मन में इस असफलता का अवसाद नहीं था। लोगों के मन में अभी यह सुनहरी आशा बाकी थी कि चौरीचौरा के कारण गाँधी जी ने आंदोलन का एकाएक स्विच जो बंद कर दिया था उससे उसको पूरा मौका ही नहीं मिला था। स्वयं प्रेमचंद भी इधर कई वर्षों से असहयोग के प्रवाह में बह रहे थे। उन्होंने अत्यंत त्याग स्वीकार कर सरकारी नौकरी छोड़ दी थी, और अब व्यावहारिक रूप से असहयोग तथा कांग्रेस में भाग लेने की बात सोच रहे थे। इस पुस्तक

के प्रकाशन के बाद ही या उसके प्रकाशित होते-होते ही वे काशी विद्यापीठ के विद्यालय विभाग के प्रधान शिक्षक के रूप में आ गये थे।

तो इस सामाजिक और मानसिक वातावरण में जो उपन्यास लिखा गया होगा, उसमें गाँधीवाद के नये तरीके पर विश्वास का आधिक्य प्रतीत होगा इसमें आश्चर्य ही क्या है ? श्री अनुसूया प्रसाद पाठक ऐसे बुद्धिमान पाठक इसलिए गद्गद् हो कर यह लिखते हैं कि "प्रेमाश्रम और रंगभूमि दो-दो बार पढ़ीं। उस जेल में वह साथी थीं। पात्रों के चरित्र वहाँ बलदाता थे। उस समय प्रेमचंद दूर नहीं, बल्कि पास उपदेशदाता के रूप में वर्तमान से मालूम देते हैं।" इन मंतव्यों की यह बात विशेष द्रष्टव्य है कि रंगभूमि के चरित्र जेल में बल देने की सामर्थ्य रखते हैं, अर्थात् एक असहयोगी को जेल में रहते समय बल देते थे। इस पहलू पर हम बाद को लौटेंगे, पर यहाँ इतना ही समझ लेना यथेष्ट है कि प्रेमचंद का यह बृहत्काय उपन्यास बहुतों की दृष्टि में इसी कारण बहुत उपादेय है कि वह उन्हें बल देता है। दूसरे शब्दों में उनके निकट यह उपन्यास इसलिए एक शाहकार है कि यह आदर्शवादी है।

कहाँ तक यह उपन्यास आदर्शवादी है, और कहाँ तक वस्तुवादी इसका विचार हम बाद को करेंगे पर इसमें संदेह नहीं कि ऐसा बहुत से लोगों का विचार है कि यह उपन्यास एक आशावादी संदेश देता है। श्री गंगाप्रसादजी पांडेय ऐसे समालोचक भी यह कहते हैं कि रंगभूमि में एक निर्दिष्ट आशावादी संदेश है। पाँडेय जी यह बताने का कष्ट नहीं करते कि यह निर्दिष्ट आशावादी संदेश क्या है, और उसकी रूपरेखा क्या है, पर अभी जो हमने श्री अनुसूया प्रसाद के मत को उद्धृत किया, उसकी तथा इस प्रकार की समालोचनाओं की रोशनी में इसको समझना कठिन नहीं है कि ऐसे संदेश से उनका इशारा किस तरफ़ है।

पाँडेय जी गोदान की आलोचना करते हुए कुछ दर्द भरे लहजे में कहते हैं 'गोदान में न तो रंगभूमि के समान जीवन का कोई निर्दिष्ट आशावादी संदेश है, न प्रेमाश्रम की भाँति किसी रामराज्य का सैद्धान्तिक स्वप्न और न सेवासदन की तरह समाज सेवा का कार्यक्रम।" इस प्रकार पांडेय जी का क्या आशय है यह स्पष्ट है। वे रंगभूमि में जिस आशावादी संदेश को पाते हैं, वह निर्दिष्ट भी है और आशावादी भी। निर्दिष्ट यों है कि यह संदेश गान्धीवादी विश्वदृष्टि में

आस्थामूलक है, और आशावादी यों है कि यह संदेश हमें बताता है कि इसी विचार तथा कर्म-पद्धति के अनुसरण से ही भारत में, नहीं नहीं विश्व में स्वर्ण-विहान का अरुण राग दृष्टिगोचर होगा। रहा यह जो प्रतिज्ञात स्वर्ण विहान है, यह मृगमरीचिका तथा सब्जबाग मात्र तो नहीं है, कहीं यह आशावाद निर्दिष्ट और निश्चित होते हुए भी ऐसा तो नहीं है कि उसका आधार अवास्तविक होने के कारण यह संदेश एक कल्पनामात्र तथा इस कारण त्याज्य तो नहीं है, इन प्रश्नों के संबन्ध में श्री पाँडेय जी विशेष चिंतित नहीं ज्ञात होते।

इसी कारण वे आगे चल कर यह बतलाते हैं कि "गोदान में समस्याओं के समाधान का सुझाव न होने के कारण कथानक कुछ अपूर्ण सा अवश्य लगता है। जीवन भी तो अपूर्ण है, किंतु उसमें पूर्णता की आकांक्षा, उसकी आस्था और उस ओर का एक संदेश अवश्य रहता है, जो गोदान में नहीं है। होरी की पराजय में आत्मा की विजय का वह आध्यात्मिक संदेश नहीं है, जो रंगभूमि के विनय या सूरदास में है।"

पाँडेय जी ऐसे महानुभाव को वास्तविक हो या न हो एक आशावादी संदेश अवश्य चाहिए। तभी तो वे यह मानते हुए भी कि जीवन अर्थात् वर्तमान भारतीय का जीवन अपूर्ण है, इस बात पर जिद करते हैं कि आशावादी और सो भी एक विशेष तरीके का निर्दिष्ट संदेश हो। हम न तो आशावाद के विरुद्ध हैं और न हम उसमें निर्दिष्टता के ही विरोधी हैं, सच तो यह है कि इस प्रकार के संदेश की अव्यक्त तथा सूक्ष्म मौजूदगी पर ही कला चरम सार्थकता प्राप्त कर सकती है, और अपने क्रांतिकारी कर्तव्यों को अंजाम दे कर जीवन को सुन्दरतर तथा सार्थकतर बना सकती है, पर ऐसा जो संदेश हो उसके लिए सबसे बड़ी शर्त यह होनी चाहिए कि वह हो तो वास्तविकता के चट्टानी आधार पर स्थित, वह आशा होने के साथ-साथ ऐसी आशा तो हो कि कार्यरूप में अपने को वास्तविक प्रमाणित कर सके। नहीं तो वह तो धर्म की श्रेणी में चली जायगी, वह फिर एक नशीला पदार्थ हो जायगी जो जीवन की वास्तविकताओं के ऊपर विजय प्राप्त करने में सहायक न हो पायेगी, हाँ वह हमें भुलावें में भले ही रख ले।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय भी रंगभूमि की प्रशंसा में शतमुख हो कर कहते हैं "रंगभूमि का सूरदास मेरे हृदय में बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह

हिंदुस्तान के स्वराज्य की कुंजी लेकर आया है। उसे पा कर ऐसा ज्ञात होता था मानो कोई खोयी हुई चीज मिल गयी हो। मैंने उनका कर्मभूमि और गोदान भी पढ़ा है, परंतु दोनों रंगभूमि की होड़ के नहीं जँचे। गोदान मैंने उनकी अंतिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा, पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु नहीं मिली जो रंगभूमि में मिली थी। रंगभूमि में एक ग़रीब अंधे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण आंदोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है इसका वह एक नमूना था। गोदान में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता।"

यह एक भक्त के उद्गार हैं, पर एक समीक्षक का काम बहुत ही कठिन है। उसे नीरक्षीर विवेक कर यह दिखाना पड़ता है कि अमुक रचना कहाँ तक कला की कसौटी पर ठीक उतरती है। श्री हरिभाऊ के अनुसार सूरदास भारत के स्वराज्य की जो कुंजी लाया है वह सचमुच कोई कुंजी है, या कुंजी है तो मोम की है जिससे ताला खुलना तो असंभव है पर जिसे जेब में रख कर कोई चाहे तो अपने को धोखा दे सकता है। आपात दृष्टि से देखने पर तो यही ज्ञात होता है कि यह कुंजी जिसको पाकर हरिभाऊ जी समझते हैं कि उन्होंने सब कुछ पा लिया, वह तो पाँडेपुर गाँव को भी सरकार द्वारा पृष्ठपोषित स्वदेशी पूँजीवाद के चंगुल से नहीं बचा सका, यहाँ तक कि सूरदास की झोपड़ी भी नहीं बची और बलुवे में उसकी जान तथा सैकड़ों दूसरे लोगों की जानें गयीं। हरिभाऊ जी कहते है कि रंगभूमि उपन्यास यह बतलाता है कि आत्मबल से क्या प्राप्त हो सकता है, पर हम तो रंगभूमि में आत्मबल को कुछ प्राप्त करते नहीं देखते। अवश्य प्राप्ति से मैं स्पष्ट प्राप्ति समझता हूँ, वह चाहे नैतिक प्राप्ति हो या वास्तविक। नैतिक प्राप्ति भी वास्तविक हो सकती है। अवश्य यह साफ कर दिया जाता है कि वास्तविक से बिलकुल अलग किसी नैतिक प्राप्ति में मैं आस्था नहीं रखता।

जिस ज़मीन के लिए सारा झगड़ा था, वह तो बची नहीं। यदि बचती तो हम कहते कि हाँ आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया, पर प्रेमचंद उपन्यास के अंतिम अध्याओं में यह दिखलाते हैं कि सब के सब गाँववाले बिखर गये हैं। कोई कहीं गया, कोई कहीं गया। नायकराम शहर का रास्ता लेता है, बजरंगी किसी अन्य गाँव में जा कर बसता है, भैरो कहीं और। मैं यह नहीं कहता कि हार हर क्षेत्र में बुरी चीज़ है। नहीं, जैसा कि फ्रिड्रिख एंगेल्स ने कहा है 'ज़ोर के

साथ लड़ाई के बाद जो हार होती है, वह उतने ही महत्त्व का तथ्य है जितना कि आसानी से प्राप्त जीत।' पर पराजय के बाद यदि लड़ने वाले लोग थक कर बैठ जायँ या बिखर जायँ, तो अवश्य ही वह पराजय किसी प्रकार अच्छी नहीं कही जा सकती। जहाँ पराजय का अर्थ यह है कि नये ढंग से कार्य करने के लिए स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति, वहाँ पराजय का अर्थ संग्राम के जीवन में एक नया पन्ना उलटना होता है। ऐसी पराजय पर हमें ग्लानि की आवश्यकता नहीं। ऐसी पराजय तो विजय की सूचक तथा उसकी कृष्णवर्णा अग्रदूती मात्र है। ऐसी पराजय होते हुए भी हम कह सकते हैं नैतिक जीत हुई। नैतिक जीत माने कल्पना में जीत नहीं बल्कि नैतिक जीत माने ऐसी हार जो जीत की आशा देती है।

सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ क्रांतिकारी लेनिन ने ऐसी ही पराजय के संबंध में कहा था, 'बड़ी पराजय से ही क्रांतिकारी दलों को तथा क्रांतिकारी वर्ग को वास्तविक और हितकर सबक, चीजों को बुद्धियुक्त रूप से समझने में मदद, ऐतिहासिक द्वंद्ववाद के सबक तथा राजनैतिक संग्राम को चलाने में योग्यता तथा दक्षता प्राप्त होती है। दुर्दिन में ही मित्रों की पहचान होती है। हारी हुई सेनाएँ अपने सबक अच्छी तरह सीखती हैं।'

सूरदास गोली का शिकार हो कर मर गया, पाँडेपुरवाले गाँव से निकाल बाहर किये गये, कोई बात नहीं, पर इस हार के फलस्वरूप वे यदि संगठित हो जाते, तथा आगे के संग्राम के लिये तैयार होते तब तो हम इस पराजय को स्वराज्य की कुंजी का प्रतीक समझते, तब हम इसमें पाँडेय जी की तरह एक निर्दिष्ट न सही अनिर्दिष्ट आशा का संदेश पाते, उस हालत में हम इसमें आत्मबल क्या प्राप्त कर सकते हैं, उसका नमूना पा सकते थे, पर जैसा कि कथानक मौजूद है, उसमें हम इस प्रकार का कोई भी उपादान नहीं पाते। उसमें ऐसा सोचना आत्मप्रवंचना मात्र है।

हाँ यदि कोई यह कहे कि सूरदास की मृत्यु के बाद उसका जो सार्वजनिक स्मारक बना, यह उसके आत्मबल की विजय है, और यह कह कर तसल्ली कर ले, तो उसको हम इस आत्मप्रवंचना से नहीं रोक सकते, पर हम यह समझते हैं कि इस प्रकार के स्मारक का कोई विशेष मूल्य नहीं है।

हम सूरदास के चरित्र की विस्तृत आलोचना करेंगे, पर यहाँ इतना

बतला दें कि जो गाँधीवादी सूरदास को गाँधीवाद का प्रतीक मान कर फूले नहीं समाते, गहराई से सोचने पर उन्हें रंगभूमि के उपसंहारों में गाँधीवाद की गौरववृद्धि की कोई बात नहीं मिलेगी।

व्यक्तिगत जीवन में केवल एक अर्द्धवास्तविक अर्द्धकाल्पनिक नैतिक ज्योति बिखरा कर, ऐसी नैतिक ज्योति जो अपने इर्द गिर्द जनता को खींच ला कर कर्मशील नहीं कर पाती बिखरा कर मर जाना कहाँ तक अच्छा है, इस कूटतर्क में हम न पड़ेंगे, पर सार्वजनिक जीवन में इस प्रकार की कथित नैतिक ज्योति या विजय निश्चित रूप से दो कौड़ी की है। ऐसी नैतिक विजय कल्पना में ही अच्छी है, वास्तविक जीवन में ऐसी नैतिक विजय का कोई मूल्य नहीं है, और न हो सकता है। हाँ वह कुछ लोगों को धोखे में रख सकती है।

रंगभूमि की यह समालोचना बहुत ही अभिनव है। अब तक सब समालोचक एक दूसरे ही स्वीकृत विचार (ideefixe) के वशवर्ती हो कर अपने वक्तव्य पेश करते रहे हैं। मैं बिलकुल ही एक नये आधार से चीज़ों को देख रहा हूँ। इस कारण इस मत का और विशदीकरण किया जाना चाहिए।

आखिर क्या बात है कि सब के सब पाठकों तथा समालोचकों ने एक विशेष प्रकार के रंगीन चश्मे से रंगभूमि को देखा, और इस मोटी बात को भी न देखा कि पाँडेपुर की ज़मीन जो सारे झगड़े या प्रयोग का केंद्र थी, उसका तथा उसके निकाले हुए लोगों का क्या हुआ? ऐसी क्या बात हुई जिससे सभी लोगों ने रंगभूमि में एक अवास्तविक चीज़ देखी? अवास्तविक से मेरा मतलब ऐसी चीज से है जो वह नहीं है।

इस भ्रमोत्पादन के लिए कौन सी बात जिम्मेदार है? इसके लिए कौन जिम्मेदार है? मैं अब साफ़-साफ़ विषय पर आता हूँ। इन सारे भ्रमों के लिए स्वयं प्रेमचंद ही जिम्मेदार हैं।

रंगभूमि के लेखक प्रेमचंद असहयोग के आदर्शों से ओतप्रोत हैं। उन्होंने गोदान में जो संहत समाहित पूर्ण वस्तुवादी दृष्टिकोण का प्रदर्शन किया है, अभी उसके विकसित होने में विलंब है। उस परिष्कृत दृष्टि को प्राप्त करने के लिए अभी गाँधीवाद के और प्रयोगों की व्यर्थताओं को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता है। अभी तो प्रेमचंद की आँखों में गाँधीवाद के खुमार की

लाली अवशिष्ट है, बल्कि सच कहा जाय तो रंगभूमि उसके भरपूर नशे में विभोर अवस्था में लिखित उपन्यास है।

सूरदास

द्रष्टृगत (Subjective) रूप में रंगभूमि के कलाकार अभी गाँधीवाद के मन्दिर के पुजारी हैं। सूरदास की सृष्टि उन्होंने गाँधीवादी आदर्श के नमूने पर ही की है। इसी कारण वे उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय का ऐसा समावेश करते हैं कि वह आदर्श का मूर्त रूप हो जाता है। भैरो यह समझता है कि उसकी बीबी सुभागी सूरदास से फँसी है, वह बस इसी संदेह पर उसके घर में आग लगा देता है, साथ ही सूरे की जन्म भर की कमाई जिसे उसने सार्वजनिक कल्याण के लिए कुएँ आदि खुदवाने के लिए रक्खा है ले कर चलता हो जाता है। सूरदास को विश्वस्त सूत्र से मालूम हो जाता है कि यह कुकृत्य किसने किया है, पर वह चुप रहता है। यहाँ तक कि जब भैरो के यहाँ से सुभागी उस थैली को फिर से चुरा कर उसके हवाले करती है, तो वह उसे लेने से इनकार करता है। यही नहीं, वह खुद अपनी इस थैली को चोर के घर पहुँचा देता है। यह अस्तेय ही नहीं, उससे एक कदम आगे की बात हुई।

सूरदास जिन शब्दों के साथ चोर को अपना माल लौटा देता है, वे भी बड़े मार्के के हैं। सुभागी से सूरदास कहता है 'यह मेरी चीज़ नहीं है, भैरो की चीज़ है। इसी के लिए भैरो ने अपनी आत्मा बेची है। महँगा सौदा लिया है। मैं इसे कैसे ले लूँ।'

इस प्रकार चोर के घर से माल वापस मिलने पर भी (अवश्य चोर की स्त्री के द्वारा की गयी चोरी के कारण प्राप्त) उसे स्वयं जा कर फिर चोर के घर पहुँचा देना एक ऐसा दृष्टांत है जिसके जोड़ की दूसरी मिसाल शायद हमारे पुराणों में भी न मिले। पर नहीं, इस प्रकार की एक दूसरी मिसाल अस्तेय के क्षेत्र में तो नहीं, पर दूसरे क्षेत्र में हमारे पुराणों में मौजूद है। वह यह है कि एक सती स्त्री ने अपने पति की आज्ञा से पति को अपने कंधे पर रख कर वेश्या के घर में पहुँचा दिया था। यहाँ हमें इससे मतलब नहीं की जिस स्त्री ने ऐसा किया था, उसने उचित कार्य किया था या नहीं,

पर इस विषय में तो मुझे संदेह नहीं कि वह सती निरवच्छिन्न सतीत्व के माननेवालों का आदर्श है, और वह सती अपने इस सुकृत के कारण जिस परमलोक की अधिकारिणी हुई होगी, सूरा भी अपने इस कृत्य के कारण मरने के बाद भी उसी लोक में गया होगा। रहा जहाँ तक इस लोक की बात है, उसे हम बता सकते हैं। सूरा के इस प्रकार कृत्य से भैरो का हृदय भी नहीं परिवर्तित हुआ। बल्कि पूरा तथ्य जान लेने के बाद उसने सुभागी को घर से ही निकाल दिया, और जब सूरे ने सुभागी को अपनी झोपड़ी में आश्रय दिया तो उसने सूरे और सुभागी को बदनाम किया। इस बदनाम करने के कार्यक्रम में गाँववालों ने भी मदद दी। अन्त तक सुभागी को आश्रय देने की घटना ने इतना तूल पकड़ा कि सूरे पर एक विगर्हित स्त्री को रख लेने का मुकद्दमा चला, और उसे सज़ा हो गयी। अवश्य उसे अपनी मियाद पूरी नहीं करनी पड़ी, शहर के कुछ परोपकारियों नें उसका जुर्माना अदा कर दिया, और वह छूट गया। जब सूरा जेल में था, उस समय किसी ने भैरो के घर में आग लगा दी। अब सूरे के पास तीन सौ रुपये थे। जेल से छुड़ा कर उसके स्वागत के लिए ये रुपये इकट्ठे किये गये थे, पर अधिकारियों की चालाकी से जुलूस के समय के पहिले ही सूरा चुपके से मोटर पर चढ़ा कर घर भेज दिया गया था। इस कारण जुलूस न निकाला जा सका, और जुलूस के उद्योक्ताओं ने ये रुपये सूरे के हवाले कर दिये।

जब छूट कर सूरे को भैरो के सर्वस्व के अग्निकांड में स्वाहा हो जाने की बात मालूम हुई तो उसने इन तीन सौ रुपयों को भैरो के हवाले कर दिया। इससे लेखक ने दिखलाया है कि भैरो का मलिन हृदय इस आंत-रिक निर्मलता से प्रतिबिंबित हो गया। आज पहली बार उसे सूरदास की नेकनीयती पर विश्वास हो गया। अंत तक भैरो ने सूरे से कहा 'अब तक मैंने तुम्हारे साथ जो बुराई-भलाई की, उसे माफ़ करो। आज से अगर तुमसे कोई बुराई करूँ तो भगवान समझे।' भैरो ने अपनी स्त्री को निष्पाप जान कर उसे ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार रंगभूमि में सूरे की आमरण चेष्टाओं से उसकी ओर से एक व्यक्ति का हृदय परिवर्तित होता है। पर इस एक व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करने में क्या केवल सूरे के उपकार या उसके द्वारा मुक्त नैतिक शक्तियाँ ही

जिम्मेदार हैं, या अन्य लौकिक ऐहिक घटनाएँ हैं यह संदेह का विषय है। इस भैरो के हृदय-परिवर्तन में कितनी आकस्मिक (अकारण नहीं) घटनाएँ आ कर काम करती हैं यह भी देखने लायक है।

सूरे को जेल की सज़ा होती है। पर कुछ परोपकारी आकस्मिक नहीं तो अप्रत्याशित रूप से उसका जुर्माना अदा कर देते हैं, और वह छूट जाता है। लोगों ने उसके जुलूस के लिए जो चंदा इकट्ठा किया है वह अप्रत्याशित तरीके से उसके हाथ लगता है। राजा महेंद्र कुमार चाहते हैं उसका जुलूस न निकले, इसलिए वे उसे टेलीफोन से इस प्रकार रिहा कर गाँव पहुँचवा देता है। इस प्रकार वे रुपये बच जाते हैं और अंत तक वे रुपये उसे मिलते हैं। ऐसा भी तो हो सकता था कि जेल के फाटक से उसका जुलूस न निकल पाया न सही। बाद को उसको मानपत्र वगैरह दिया जाता, और उसमें ये रुपये खर्च हो जाते। पर नहीं, ऐसा नहीं हुआ। फिर इसी बीच में किसी ने भैरो के घर में आग लगा दी थी, और जिस समय भैरों के घर में आग लगी, उस समय भैरों आकस्मिक रूप से नशे में चूर कहीं पड़ा था, इसलिए उसकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गयी।

मैंने उन आकस्मिक या अप्रत्याशित घटनाओं में से कुछ ही को गिनाया है जिनसे भैरों के हृदय परिवर्तन का दृश्य संभव हुआ। इनमें से एक भी घटना न घटित होती तो सूरे की नैतिक उच्चता के बावजूद क्या होता कौन जाने! भैरों के हृदय - परिवर्तन के ऐन पहिले उसके मन में जो विचार उठे थे, सौभाग्य से लेखक ने उन्हें चित्रित किया है, और हम उन्हें देख सकते हैं।

जब सूरा रुपये लेकर आया है उस समय भैरो सोच रहा है 'अगर इसका दिल साफ़ न होता तो मुझसे ऐसी बातें क्यों करता? मेरा कोई डर तो इसे है नहीं। मैं जो कुछ कर सकता था कर चुका। इसके साथ तो सारा शहर है। सबोंने जरीबाना अदा कर दिया। ऊपर से कई सौ रुपये और दे गये। मुहल्ले में उसकी धाक फिर बैठ गयी। चाहे तो बात की बात में मुझे बिगाड़ दे। नीयत साफ न होती तो अब सुभागी के साथ आराम से रहता। अंधा है, अपाहिज है, भीख माँगता है, पर उसकी कितनी मरजाद है। बड़े-बड़े आदमी आवभगत करते हैं।.....'

इस प्रकार के विचारों में एक प्रबलतर शक्ति के रोब में आ जाने का तथा उसकी शक्ति से घबड़ा कर उसके सामने घुटने टेक देने का उपादान भी

है। यह हृदय-परिवर्तन कहाँ तक एक अनिवार्य तथा अपरिहार्य व्यक्ति के साथ समझौता है यह भी विचार्य है। फिर इस भैरो का हृदय-परिवर्तन कहाँ तक स्थायी हुआ, यह हम नहीं जान पाते क्योंकि इसके थोड़े ही दिन बाद सारे गाँव पर भयंकर संकट आता है, और सूरा मारा जाता है। भैरो के हृदय-परिवर्तन के स्थायित्व की बात पर कौतूहल इस कारण स्वाभाविक है कि रंग-भूमि में हम कई बार यह देखते हैं कि सूरे पर व्यक्ति विशेष की तथा आमतौर से पाँडेपुर निवासियों की कृपा या प्रशंसादृष्टि रही, पर एक साधारण घटना से वातावरण बदल गया। सूरे को गाँववालों ने वारीबारी से साधु, दुष्ट फिर साधु, फिर दुष्ट समझा।

पहले तो जगधर और भैरो दोनों गहरे मित्र थे। पर भैरो ने अकेले सूरे के रुपये चुरा कर दबा लिये, इसलिए जगधर ने सूरे से इस चोरी की बात की मुखबिरी की, और तब से उसका अनन्य प्रशंसक हो गया। उसने हर समय सूरे की तरफदारी की। जब भैरो घूम-घूम कर सूरे की दुश्चरित्रता पर गाँव-वालों को गवाह तैयार कर रहा था, उस समय पीछे से जगधर उनको फाड़ कर गवाही से अलग करता जाता था। पर जब इसी जगधर का लड़का विद्याधर सूरे के घर में रात के समय सुभागी को पकड़ते हुए धर लिया गया, और बहुत समझाने पर भी सूरे ने इसे नहीं छोड़ा और पुलिस के हवाले कर दिया, तो जगधर बहुत नाराज हो गया। तब से वह और तो और सूरे के चरित्र पर भी दोष लगाने लगा। इस प्रकार सूरे के संबन्ध में पाँडेपुरवालों का हृदय चक्रवत् परिवर्तित होता रहा। कौन जाने मौका मिलता तो आगे भैरो भी सूरे के संबन्ध में फिर करवट बदलता कि नहीं।

बहुत बढ़ाने पर भी तथा सब बातों को भूलने पर भी भैरो का ही एक मामला है कि जिस क्षेत्र में एक बड़ी हद तक उसका हृदय-परिवर्तन हुआ। पर यह बहुत छोटी बात है। इसका सामाजिक-राजनैतिक मूल्य इतना कम है, है भी कि नहीं संदिग्ध है। जहाँ भैरो का एक मामला है जिसमें हृदय परिवर्तन होता है, वहाँ दूसरी तरफ़ हम देखते हैं कि राजा महेंद्रकुमार का मामला दूसरा ही है।

राजा महेंद्रकुमार सूरदास से अदावत इस प्रकार मानते थे कि जब ईसाई पूँजीपति जानसेवक ने अपने सिगरेट के कारखाने के लिए सूरदासवाली

ज़मीन माँगी तो कई कारणों से महेंद्रकुमार ने इस ज़मीन को प्राप्त कराने में जानसेवक की मदद की। यह ज़मीन जानसेवक को दे दी गयी। पर इसके बाद सूरे ने इतना कुहराम मचाया कि राजा साहब बदनाम हो गये। राजा साहब थे यशोलिप्सु, और अब जिधर देखो उधर उनकी थुड़ी-थुड़ी होने लगी। फिर कई कारणों से ज़मीन देने का आर्डर भी मंसूख हो गया। यहीं से राजा और सूरे की लागडाट शुरू हुई। राजा की स्त्री इंदु सूरे का पक्ष करती थी, इससे भी राजा का क्रोध बढ़ता गया। भैरो ने जब आ कर राजा से कहा कि वह सूरे के विरुद्ध सुभागी को रख लेने का मुकद्दमा चलाना चाहता है, तो राजा साहब बहुत खुश हुए। मुकद्दमा राजा के ही इजलास में चला। राजा ने सूरे को छै महीने की सजा कर दी, पर शहरवालों ने जुर्माना अदा कर उसे छुड़ा दिया। इस घटना ने भी उनके क्रोधानल में घृताहुति का काम किया। फिर जिस दिन पुलिसवाले पांडेपुर गाँव को खाली कराने गये उस दिन राजा साहब ने अपने टेंट से मुआवजे के बीस हज़ार रुपये जनता को बाँट कर सुर्खरू बनना चाहा, पर उस दिन गोली चल गयी और सूरा घायल हो गया। इसके बाद इसी घाव के फलस्वरूप सूरे की मृत्यु हो गयी पर मृत्यु के पहले सूरा कई दिन अस्पताल में पड़ा रहा।

जिन दिनों सूरा अस्पताल में पड़ा रहा उन दिनों राजा साहब पश्चात्ताप-ग्रस्त हो कर अस्पताल पहुँचे और कहा—'सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलों की क्षमा माँगने आया हूँ। अगर मेरे बस की बात होती तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।'

इस प्रकार राजा साहब का संपूर्ण रूप से हृदय-परिवतन हो गया। इसके बाद सूरा मर गया। लोगों ने उसकी एक मूर्ति बनवा कर स्थापना की। 'आधी रात बीत चुकी थी! एक आदमी साइकिल पर सवार मूर्ति के समीप आया। उसके हाथ में कोई यंत्र था। उसने क्षण भर तक मूर्ति को सिर से पाँव तक देखा, और तब उसी यंत्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज सुनाई दी और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी और उसी मनुष्य पर जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात करनेवाला था, इतने में मूर्ति गिर पड़ी। वह भाग न सका, मूर्ति के नीचे दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा तो राजा महेंद्रकुमार सिंह थे। सारे नगर में खबर फैल गयी कि राजा साहब ने सूरदास की मूर्ति तोड़

डाली और खुद उसके नीचे दब गये।'

भैरो का तो हृदय-परिवर्तन स्थायी रहा, पर राजा महेंद्रकुमार का हृदय परिवर्तित हो कर भी फिर दूसरे ढंग पर लग गया। इसीलिए तो मुझे संदेह है कि यदि सूरा दस-पाँच वर्ष और जीता रहता और किसी मामले में वह भैरो के किसी स्वार्थ के आड़े आता, तो उसका हृदय संभव है फिर से फिर जाता।

हम यह नहीं कहते कि हृदय परिवर्तन नहीं होता, या नहीं हो सकता, पर हमारा यह कहना है कि जिसे हृदय-परिवर्तन कहते हैं, वह साधारणतः आवेशजनित परिवर्तन होता है। कोई मानसिक धक्का लगा, बस साधु चोर हो गया, या चोर साधु हो गया। पर ऐसे परिवर्तन विश्वासयोग्य नहीं होते यानी इन्हें आधार बना कर किसी समाज का उन्नयन नहीं हो सकता, यह हम रंगभूमि के राजा महेंद्रकुमार के उदाहरण से ही देख सकते हैं।

सूरे की टेकनीक में भारत के स्वराज्य की कुंजी पाने के लिए जो बात जरूरी है, वह और हो है। सूरे की कार्यपद्धति को हम एक राजनैतिक सामाजिक अस्त्र तभी मानते, जब उसके त्याग, बलिदान, अहिंसा, अस्तेय के कारण सिगरेट के कारखाने के डाइरेक्टर जानसेवक तथा सरकार के प्रतिनिधि मिस्टर क्लार्क आदि के हृदयों का परिवर्तन होता, पर हम रंगभूमि में ऐसा होते नहीं देखते, बल्कि घटनाएँ इसकी विपरीत दिशा में ही गयीं। पहले केवल सूरे की जमीन पर दाँत रहा, पर धीरे-धीरे सारे गाँव की ज़मीन ले ली गयी। फिर भी कुछ लोग सूरे की टेकनीक में स्वराज्य की कुंजी देखें, और आत्मबल की विजय देखें, तो यह नितांत आश्चर्य की बात है। हाँ रंगभूमि प्रणेता ने यह दिखलाया है कि बीच में एक बार मिस्टर क्लार्क ने अपने पहले के आर्डर को मंसूख कर ज़मीन सूरे को दिला दी थी, पर ऐसा सूरे की टेकनीक के कारण नहीं, बल्कि मिस्टर क्लार्क के साथ सोफिया द्वारा खेले गये तिरिया चरित्तर के कारण हुआ था न कि और किसी उच्चतर कारण से।

रंगभूमि के सूरदास के कार्यों में स्वराज्य की कुंजी आविष्कार करने वालों को इस उपन्यास के ४५वें अध्याय को ध्यान से पढ़ने का अनुरोध करूँगा। इस अध्याय में उन्हें अपने स्वराज्य का रूप दिखाई पड़ जायगा। कुछ अंश यों हैं—

"पाँडेपुर में गोरखे अभी तक पड़ाव डाले हुए थे। उनके उपलों के जलने

से चारों तरफ धुँआ छाया हुआ था। उस श्यामावरण में बस्ती के खंडहर भयानक मालूम होते थे।.....लोग यहाँ आ कर घंटों खड़े रहते और सैनिकों को क्रोध तथा घृणा की दृष्टि से देखते। इन पिचाशों ने हमारा मानमर्दन किया, और अभी तक डटे हुए हैं। अब न जाने क्या करना चाहते हैं। बजरंगी, ठाकुरदीन, नायकराम, जगधर आदि-आदि अब भी अपना अधिकांश समय यहीं विचरने में व्यतीत करते थे। घर की याद भूलते ही भूलते भूलती है। कोई अपनी भूली भटकी चीजें खोजने आता।.....बच्चों को तो अपने घरों के चिन्ह देखने में ही मजा आता। एक पूछता, अच्छा बताओ हमारा घर कहाँ था? दूसरा कहता, वह जहाँ कुत्ता लेटा हुआ है। तीसरा कहता, वहाँ तो बेचू का घर था, देखते नहीं यह अमरूद का पेड़ उसी के आँगन में था। दूकानदार आदि भी शाम सबेरे यहाँ आते और घंटों सिर झुकाये बैठे रहते, जैसे घरवाले मृतदेह के चारों ओर जमा हो जाते हैं। यह मेरा आँगन था, यह मेरा दालान था। यहीं बैठ कर तो मैं बही करता था।' इत्यादि।

इसी अध्याय के अंत में जब गाँव वाले बिखर जाते हैं, कोई कहीं जा रहा है तो कोई कहीं। वे इस विपत्ति को अप्रतिकार्य समझ कर हताश होकर अपना-अपना रास्ता पकड़ना चाहते हैं, तो वह दृश्य बड़ा करुण है। यही वह स्वराज्य है, यही वह सफलता है जो उन्हें 'आत्मबल' की बदौलत प्राप्त होती है।

तो यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि यहाँ स्वराज्य की कुंजी का कहीं पता नहीं। हाँ उसका भ्रम अवश्य उत्पन्न होता है। यह भ्रम सभी समालोचकों के मन में उत्पन्न हुआ है। इसका क्या कारण है यह हम बाद को बतायेंगे, पर फिर एक बार बता दें कि इस प्रकार की समालोचना से प्रेमचंद की कला का सही रूप से मर्मोद्घाटन नहीं हो सका। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें आत्मबल को एक विशेष तरह के लोगों की बपौती मान कर चला जाता है जो बिल्कुल ही निकम्मी और बेहूदी धारणा है। क्या आत्मबल सूरदास ऐसे लोगों में ही है जो दबावमूलक राजनीति में विश्वास करते हैं, क्या क्रांतिकारियों में आत्मबल नहीं होता? सबसे उत्कृष्ट नमूनों को लिया जाय। क्या आत्मबल केवल गाँधी में ही है, लेनिन आदि में नहीं? कहीं विषय से बाहर न चले जायँ इस कारण इंगित से इतना ही कह कर हम आगे बढ़ जाते हैं। हम तो केवल इतना ही दिखलाना चाहते हैं कि सूरदास ने न तो

स्वराज्य की कुंजी ही दी है, और न उसे आत्मबल का ठेका ही प्राप्त है। समालोचना का उद्देश्य जबर्दस्ती अपने विचारों की जयदुंदुभि बजाना नहीं, बल्कि सामाजिक पृष्ठ-भूमि में रचना की कला का मर्मोद्घाटन करना है।

अब हम इस विषय पर आते हैं कि कथानक के द्वारा सूरे की कुंजी की व्यर्थता सिद्ध होने पर भी क्या कारण है कि सब के सब पाठक तथा समालोचक भ्रम में पड़ गये। इसका कारण प्रेमचंद की अर्थात् रंगभूमि के प्रेमचंद की कला में ही अंतर्निहित है।

पहले ही मैं बता चुका हूँ कि रंगभूमिकार (गोदानकार नहीं) द्रष्टृगत रूप से (Subjectively) गाँधीवादी थे, पर उनकी कला दृश्यगतरूप से (Objectively) वस्तुवादी थी। यदि कोई प्रेमचंद के कथित गाँधीवादी युग के प्रभाव में लिखे हुए उपन्यासों अर्थात् कर्मभूमि, कायाकल्प तथा रंगभूमि को समझना चाहे, तो उसे उन दिनों के प्रेमचंद की—उन दिनों के प्रेमचंद इसलिए कह रहा हूँ कि गोदान के युग में वे ऐसे नहीं रह गये थे—कला की इस द्विविधता को स्मरण रखना पड़ेगा। गाँधीवाद के प्रभाव में लेखनी धारण करने के कारण प्रेमचंद से सूरदास ऐसे पात्रों के चरित्र पर जितना भी रंग भरते बना भर दिया। हरिभाऊ जी के शब्दों में अधिक से अधिक धीरोदात्त बनाया, अपनी जान में उन्होंने इसमें कोई कोरकसर नहीं रक्खी, पर वस्तुवाद का हाथ न छोड़ा। इसी दुधारा का नतीजा रंगभूमि आदि पुस्तकें हैं। इन उपन्यासों का ऊपरी रंग बिल्कुल गाँधीवादी है, पर जरा गहरे पानी में पैठ कर उनके उपसंहारों को पढ़िए, तो गाँधीवाद की पराजय ही दृष्टिगोचर होगी। इस प्रकार यह एक अजीब दुनिया हो गयी।

हम नहीं कहते कि लेखक ने सज्ञान रूप से रंगभूमि में पाँडेपुरवालों को बिखरते तथा पाँडेपुर को उजड़ा हुआ दिखलाया है। नहीं, ऐसा नहीं। पर हुआ यह कि अपने गाँधीवादी आदर्श के बावजूद उन्होंने अपने पैरों को वस्तुवादी ज़मीन पर कस कर जमा रहने दिया, पैरों को वहाँ से नहीं हटाया। इसी वस्तुवादी ज़मीन पर पैर जमा कर ही वे गाँधीवादी पंखों के सहारे उड़े। जो नतीजा है सो सामने है।

प्रेमचंद ने न रंगभूमि में न प्रेमाश्रम में न तो अन्य किसी इस प्रकार

के उपन्यासों में गाँधीवादी नीति की जीत दिखायी है। अवश्य इन सभी में उन्होंने ऐसे वातावरण की सृष्टि की है कि वास्तविक हार होते हुए भी नैतिक जीत का आभास होता है, पर एक तो जहाँ उद्देश्य वास्तविक जीत है, वहाँ नैतिक जीत के आभास का कोई मूल्य नहीं। आभास इसलिए कह रहा हूँ कि कम से कम रंगभूमि में नैतिक जीत भी नहीं हुई। नैतिक जीत हम तभी मानते जब हारकर भी पाँडेपुरवालों का संगठन हो जाता, वे इस बात को समझ जाते कि स्वदेशी पूँजीवाद और साम्राज्यवाद एक दूसरे के मित्र हैं, और इस बात को समझ कर वे आगे के संग्राम के लिए तैयार हो जाते। पर जैसा कि हम दिखा चुके, ऐसा नहीं हुआ।

मैं समझता हूँ अब भी रंगभूमि को ठीक तरह से समझने का युग नहीं आया। बाद की पीढ़ियाँ क्वचित् इस उपन्यास को जिस रूप में आज लोग उसे देखते हैं उससे भिन्न रूप में देखें। अब लोग उसमें गाँधीवाद की सामाजिक टेकनीक की सफलता या असफलता खोजते हैं, शायद लेखक ने भी यही दिखाने के लिए लिखा भी हो, पर किसी की कला में उससे कहीं अधिक हो सकता है जितना कि लेखक उसमें सज्ञान रूप से रखता है, कथानक का तकाजा कुछ और ही है। रंगभूमि की कथा संक्षेप में यही है न कि स्वदेशी पूँजीवाद अपनी दिग्विजय के दौरान में पाँडेपुर पहुँचता है, वहाँ गाँववाले उससे चौंक कर उसका विरोध करते हैं। सूरदास जो आत्मयथेष्ट ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था का आदी है, इसके विरुद्ध एक असंगठित तथा स्वतःस्फूर्त विद्रोह का नेतृत्व करता है। वह ऐसा किसी स्पष्ट धारणा को लेकर नहीं, बल्कि कई आर्थिक, सामाजिक, भावुकतागत कारणों से करता है।

मिलों की स्थापना के विरुद्ध सूरदास के विचार कुछ यों हैं—'साहब किरस्तान हैं। धरमसाले में तम्बाकू के गोदाम बनायेंगे, मंदिर में उनके मजदूर सोयेंगे, कुएँ पर उनके मजदूरों का अड्डा होगा, बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी।.....ताड़ी शराब का परचार बढ़ जायगा, कसवियाँ भी तो आ कर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को आ कर घूरेंगे। कितना अधरम होगा! दिहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बात सीखेंगे, और अपने बुरे आचरन अपने गाँवों में फैलायेंगे। दिहातों की

लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी।'

राजा साहब जो सूरदास को यह समझाने आये थे कि जमीन दे दो, उन्होंने सूरे को यह समझाया कि ये बुराइयाँ तो तीर्थस्थानों में भी होती हैं, पर सूरे के सामने एक न चली।

कहा जायगा सूरे के ये विचार गाँधीवादी हैं। अवश्य हैं, पर ऐसा कहनेवालों को यह भी पता होना चाहिए कि गाँधी जी के विचार उन्हीं के नहीं हैं। जिस समय पहले-पहल पाश्चात्य देशों में पूँजीवाद का उदय हुआ, उस समय उसका विरोध तरह-तरह के लोगों ने किया। मार्क्स-एंगेल्स ने १८४८ में प्रकाशित अपने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में ऐसे विरोधों को गिनाया है। ऐसे विद्रोहियों में सबसे प्रमुख तो खैर सामंतवादी थे, पर इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे परोपकारी अच्छे लोग भी थे जो किसी न किसी कारण से उदीयमान पूँजीवाद से घबड़ाये हुए थे। पर ये लोग पूँजीवाद का किस प्रकार समाजवाद द्वारा अर्थात् और भी उन्नततर तरीके के द्वारा विरोध कर विद्रोह को सफलता-मंडित करना चाहिए, यह न समझ पा कर पीछे के युग में गोचारण और वेणवादन के सामंतवादी युग में लौट जाना चाहते थे, और तदनुसार उसी का नारा देते थे। इस प्रकार ये अपने अनजान में ही सामंतवादी युग के यानी Status quo के समर्थक थे।

सूरदास ऐसे ही लोगों में है। वह कोई समाजवादी या क्रांतिकारी नहीं, वह समाज के रथचक्र को पीछे की ओर घुमाना चाहता है। समाज के संबंध में उसके जो विचार हैं, जिनको हमने उसी के शब्दों में व्यक्त किया, वे गाँधीवादी हैं, पर वे एक बीते हुए युग को प्रत्यावर्तित करना चाहते हैं, इसलिए वे प्रतिक्रियावादी हैं। वे जय प्राप्त नहीं कर सकते, वे हार कर ही रहेंगे, उनके हारने में ही भलाई है। यहाँ कोई सूरभक्त चौंक कर यह पूछ सकता है, तो क्या तुम्हारा अभिप्राय यह है कि गाँधी जी के आर्थिक सामाजिक विचार प्रतिक्रियावादी हैं ? हाँ, मैं स्पष्ट रूप से कहता हूँ कि गाँधी जी के या सूरदास के विचार आत्मयथेष्ट ग्राम्य आर्थिक पद्धति पर अवलम्बित हैं, वे अवश्य ही प्रतिगामी हैं। चाहे जितना भी आध्यात्मिक मुलम्मा चढ़ा कर ये विचार पेश किये जायँ इन आर्थिक विचारों की प्रतिगामिता स्पष्ट है। अवश्य

इस संबंध में यह बता दिया जाय कि गाँधी जी बाद को मिलों के संबंध में 'हिंद स्वराज' (१६०८) में व्यक्त अपने विचारों से हट गये थे, उन्होंने अब मिलों को सहन करने की नीति ग्रहण कर ली थी। उनके इस संबंध के विचारों का जो चित्र हमें 'अग्रवाल योजना' तथा अन्य लेखों में मिला है, वह 'हिंद स्वराज' में व्यक्त विचारों से भिन्न है। अपने विचारों को अव्यावहारिक पा कर ही उन्होंने ऐसा परिवर्तन किया होगा। इसी अव्यावहारिकता के कारण ही हम 'रंगभूमि' के अंतिम अध्यायों में यह देखते हैं कि पाँडेपुर उजड़ गया, और उसी की छाती पर जानसेवक की मिल धुँआ फेंकती हुई मानो उद्धतरूप से खड़ी है।

मैं इस प्रकार चीजों को देख रहा हूँ, और भविष्य की पीढ़ियाँ रंगभूमि को इस रूप में देखेंगी। इससे यह न समझा जाय कि मैं पूँजीवाद को आदर की दृष्टि से देखता हूँ। बिलकुल नहीं। मेरा वक्तव्य केवल इतना है कि पूँजीवाद सामंतवाद के मुकाबले में उन्नततर पद्धति है। सामंतवाद अपने अंदर की असं-गतियों के कारण पूँजीवाद को जगह छोड़ देने के लिए बाध्य है। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह एक जुल्म करनेवाली शोषक पद्धति के अलावा कुछ और है। रंगभूमि ही इसका प्रमाण है। किस प्रकार से लोगों को घरों से निकाल कर, खेतों-खलिहानों को उजाड़ कर, जहाँ लोग सत्तर-सत्तर पुश्तों से बसे हुए हैं, वहाँ से उन्हें निकाल कर, बेकसों को गोलियों से उड़वा कर पूँजीवाद आ कर आसन जमाता है यह रंगभूमि में सुंदर रूप से चित्रित है। सामंतवाद से पूँजीवाद में आने में जो बीच का परिवर्तनकाल पड़ता है, उसका रंगभूमि एक बहुत सजीव चित्र है। मजे की बात है कि उन दिनों प्रेमचंद सामंतवाद, पूँजीवाद आदि शब्दावलियों के संबंध में सज्ञान न थे, फिर भी उनके कैनवस पर इसका चित्र इसलिए सुंदर और सजीव उतरा कि इधर-उधर ताक-झाँक करते रहने पर भी तथा कहीं मिल विरोध, कहीं अहिंसा आदि से आँख लड़ाते रहने पर भी वे हर हालत में अपने वस्तुवादी लँगोटे के प्रति सच्चे रहे।

रंगभूमि में सूरदास जैसे पूँजीवाद के विरुद्ध असंगठित, भावुकता पर आधारित, धर्म का मुलम्मायुक्त विद्रोह का प्रतीक है, उसी प्रकार जानसेवक नये पूँजीवाद का प्रतीक है। जानसेवक एक आदर्श पूँजीवादी, एक पूँजीवादी

Comme il faut है पर उसके चरित्र की आलोचना करने के पहले हम सूरदास तथा अन्य कुछ चरित्रों पर एक निगाह और डालेंगे।

यद्यपि प्रेमचंद ने सूरदास के चरित्र को हरिभाऊ जी के शब्दों में जितना भी हो सका धीरोदात्त बनाया, पर वस्तुवादी कला के तकाजे के कारण उन्होंने इस व्यक्ति में भी ऐब दिखलाये हैं। मनुष्य प्रकृति द्विधायुक्त (ambivalent) है, इसलिए ऐसा दिखाना जरूरी था। जिस समय सुभागी ने पति द्वारा पीटी जा कर सूरे का आश्रय लिया, उस समय सूरे ने सोचा था—'मैं कितना अभागा हूँ, काश यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनंद से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैरो ने इसे घर से निकाल ही दिया, मैं रख लूँ तो इसमें कौन सी बुराई है। इससे कहूँ कैसे, न जाने दिल में क्या सोचे ? मैं अंधा हूँ तो क्या आदमी नहीं हूँ ! बुरा तो न मानेगी ? मुझसे प्रेम न होता तो मेरी इतनी सेवा क्यों करती ?"

अवश्य सूरदास सम्हल गया, पता नहीं इस प्रकार के विचारों से उसकी धीरोदात्तता में बट्टा लग गया कि नहीं, पर उसकी इनसानियत में तो नहीं लगा। सच तो यह है कि कम से कम इस प्रकार एक बार सूरदास में कमजोरी आयी दिखा कर प्रेमचंद ने सूरदास को एक रक्त-मांसस्पर्शहीन कल्पना होने से बहुत कुछ बचा लिया। एक अन्य मौके पर उसने ताव में आ कर एक गाँव वाले को मुँह चिढ़ाया। उसने क्रोध में आ कर भैरो से उसकी चिढ़ कही—

भैरो, भैरो, ताड़ी बेच ;
या बीबी की साड़ी बेच।

पर इतना ही नहीं जब भैरो ने उसकी पोटली चुरा ली थी और घर में आग लगा दी थी, उस समय जगधर ने आ कर उससे पूछा था कि उसके रुपये चोरी गये कि नहीं। इस पर उसने कहा, नहीं। कलाकार की निःस्पृहता से प्रेमचंद ने यह दिखलाया कि सूरे ने इस प्रकार जो इनकार किया कि उसके रुपये नहीं उठ गये, इसमें यह परोपकारी भावना नहीं थी कि भैरो चोरी में फँस जायगा। बात कुछ और ही थी। "अंधे भिखारी के लिए दरिद्रता इतनी लज्जा की बात नहीं थी, जितना धन। सूरदास जगधर से अपनी आर्थिक हानि गुप्त रखना चाहता था.....भिखारियों के लिए धन-संचय पाप-संचय से कम अपमान की बात नहीं। बोला—मेरे पास थैली वैली कहाँ ! होगी किसी की ! थैली होती तो भीख माँगता ? जगधर ने बहुत जिद की, फिर भी सूरे ने कहा—साढ़े पाँच रुपये तो

कभी जुड़े नहीं, साढ़े पाँच सौ कहाँ से आते ?"

इस प्रकार सूरे ने सरासर झूठ कहा — और ऐसा किसी उदात्त उद्देश्य को ले कर नहीं, बल्कि उसी कारण से कहा जिस कारण से सभी झूठ बोलते हैं, अर्थात् अपने एक ऐब पर पर्दा डालने के लिए।

और आगे चला जाय। जिस समय सुभागी बाद को चल कर इन्हीं रुपयों को चोर के घर से छिछोरपन से ले आयी और सूरे को रुपये दिये तो सूरे ने एक मौखिक प्रतिवाद के बाद रुपये रख लिये थे, जब उसके घर में जगधर, वह तथा सुभागी हँसी करती हुई भैरो के द्वारा पकड़ ली गयी, तभी उसने जा कर इस धन को वापस किया, और उल्लूपने से यह भी बता दिया कि सुभागी ने ये रुपये उसे पहुँचाये थे।

इस प्रकार सूरा कोई आदर्श नहीं है। वह एक मनुष्य है। अच्छा ही है कि वह ऐसा है, नहीं तो एक पुतला मात्र होने से सारा उपन्यास ऐंठ कर रह जाता क्योंकि वह उपन्यास का केन्द्र है।

यह तो हुआ सूरे के व्यक्तिगत चरित्र का उद्घाटन, अब उसके सामाजिक राजनैतिक व्यक्तित्व पर दो बातें। मैंने इस संबंध में सूरे पर जो कुछ कहा है, उससे यह भ्रम हो सकता है कि वह अपने अनजान में केवल सामंतवादी व्यवस्था को फिर से लौटा लाने का (अवश्य भावुकता तथा धर्म का मुलम्मा चढ़ाया हुआ) एजेंट मात्र है, पर यह बात नहीं। उसके व्यक्तित्व में, उसके सामाजिक आर्थिक विचारों में प्रतिगामित्व का यह उपादान अंतर्निहित होने पर भी, उसके चरित्र में एक अत्यंत क्रांतिकारी उपादान है। वह है उसके द्वारा पूँजीवाद के मनमानेपन, उसके अत्याचारी तरीकों का विरोध। सूरदास के चरित्र में ये दोनों उपादान इतने खिल्तमिल्त हो गये हैं कि इनको अलग करना टेढ़ी खीर है। सच तो यह है कि उसका प्रतिगामी चरित्र उसके विचारों तक ही सीमित रहता है। सफलता के बाद इन विचारों को जब उसे कार्यरूप में परिणत करने का मौका मिलता, तभी उसका प्रतिगामी चरित्र खुलता, पर अभी तो कार्यक्षेत्र में वह पूँजीवाद के विरुद्ध चाहे जिस उद्देश्य को ले कर हो, संग्राम ही कर रहा था। इसलिए उसके चरित्र का क्रांतिकारी पहलू ही हरकत में आ रहा था। इसी कारण उस पर लोग इतने मुग्ध हो गये हैं। सूरदास के ऐतिहासिक प्रतीक गाँधी जी के चरित्र में ये दो उपादान इसी रूप में हैं।

इस दृष्टि से देखने पर सूरदास की चरित्र-सृष्टि करने में प्रेमचंद ने कमाल कर दिया इसमें संदेह नहीं।

सूरदास अहिंसा का अनन्य उपासक है। एक अंधे-अपाहिज के लिए यह स्वाभाविक बात भी थी। वह अहिसा का इतना उपासक है कि ऐसे समय में भी अहिंसा की सलाह देता है जब अहिंसा कायरपन मात्र है। जिस समय जानसेवक का लड़का प्रभुसेवक ताव में आ कर नायकराम को मार कर चला जाता है, उस समय किसी भी दृष्टि से नायकराम की ओर से अहिंसा कायरपन ही होती। नायकराम मन ही मन तय करता है कि वह इस अपमान का बदला लेगा, पर सूरा ऐसे समय में भी अहिंसा का पाठ पढ़ाता है। कहता है — 'बैर बढ़ाने से कुछ फायदा नहीं होगा। तुम्हारा तो कुछ न होगा, लेकिन मुहल्ले के सब आदमी बँध जायेंगे।' अब यह पूछा जा सकता है कि क्या मुहल्ले के आदमियों के बँध जाने के डर से प्रबल व्यक्ति के विरुद्ध हाथ न उठाना अहिंसा है? तो कायरपन क्या है? क्या यही धीरोदात्तता है?

एक बार उसी ज़मीन के संबंध में सरकार से झगड़े के सिलसिले में पुलिस और जनता में मुठभेड़ होने की नौबत आई थी। जनता ने कहा — 'हम देवता नहीं हैं, हम तो जैसे के साथ तैसा करेंगे। उन्हें भी गरीबों पर जुल्म करने का मजा मिल जाय।' यह कह कर वे लोग पत्थरों को उठा उठा कर पटकने लगे। 'तब इस अंधे ने वह काम किया जो औलिया ही कर सकते हैं। उसने जमीन से एक बड़ा-सा पत्थर का टुकड़ा उठा लिया, और उसे अपने माथे के सामने रख कर बोला, 'अगर तुम लोग अब भी मेरी बिनती न सुनोगे, तो इसी दम इस पत्थर से सिर टकरा कर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंजूर है, पर यह अंधेर नहीं देख सकता।' उसके मुँह से इन बातों का निकलना था कि चारों तरफ सन्नाटा छा गया।'

ये अहिंसावादी भी अजीब ख़ुदा के बंदे होते हैं, जब सरकार या शासक-वर्ग की तरफ़ से ज़ुल्म होता है, निहत्थों और बेकसों पर गोलियाँ चलायी जाती हैं, तो ये ज़बानी प्रतिवाद कर फिर समझौते के नाम पर आत्मसमर्पण कर देते हैं, पर जब इन्हीं जुल्मों से ऊब कर ग़रीब या बेकस चक्का या ढेला भी उठा लेते हैं, तो फौरन इनको दर्दसर होता है, और ये उनके सामने माथा टकरा लेने

की या अनशन की धमकी देते हैं। इस दृष्टि से देखने पर सूरे का चित्र गाँधीवादी अहिंसा का अच्छा अक्स खींचता है।

सूरा इसी प्रकार विद्रोही जनता को विद्रोह से रोकता हुआ मैजिस्ट्रेट की गोली से मारा जाता है। फिर क्यों न गाँधीवादी उस पर निसार हों। इसी कारण हम अपने मित्र गाँधीवादी समीक्षक श्री रामनाथ 'सुमन' को कहते पाते हैं —

'कला और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से रंगभूमि प्रेमचंद का मास्टरपीस है। वह मानव जीवन को एक व्यक्तित्व और एक सत्य प्रदान करता है। वह शरीर पर आत्मा की विजय का शंखनाद है। वह संपूर्ण जीवन का एक चित्र और उस चित्र में चिरंतन तत्त्व की कला का प्रस्फुटन है। पर पिछले वर्षों ने प्रेमचंद के जीवन पर जो प्रभाव डाला था, उसका प्रतिनिधि चित्र गोदान है। इसमें रंगभूमि की भाँति कोई निर्दिष्ट फिलासफ़ी नहीं है, कर्मभूमि की तरह समाज-क्षेत्र की कोई स्ट्रेटजी नहीं है, और न 'सेवासदन' की भाँति समाज सेवा का स्पष्ट कार्यक्रम है। इसमें केवल चित्र हैं और समस्याएँ हैं.....। होरी की पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का वह संदेश नहीं है जो रंगभूमि में है।'

हम पहले ही बता चुके हैं यह व्यक्ति, सत्य तथा आत्मा की विजय किस प्रकार अवास्तविक, रंगभूमि के नतीजों को भूल कर उड़ान भरने का परिणाम है। उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। रहा रंगभूमि प्रेमचंद की सर्वोत्तम रचना है या नहीं, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

सूरदास अहिंसा पर विश्वास करता है, पर एक जगह उसे हम दूसरे ही रूप में पाते हैं। जिस समय एक दिन रात को सुभागी पर बुरे उद्देश्य से हमला करते हुए घीसू और विद्याधर पकड़े गये थे, उस समय मुहल्लेवालों ने बहुत समझाया पर सूरदास ने इन लड़कों को पुलिस के हवाले कर तथा सज़ा करवा कर ही चैन लिया है। उसने किसी की एक न मानी। उसकी क्षमा, तितिक्षा, अहिंसा का कहीं पता नहीं रहा। क्या इस मामले में सूरा गाँधीवाद का सही रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता ? क्या यहाँ पर प्रेमचंद गाँधी जी के व्यक्तित्व का अक्स नहीं उतार पाये, और बहक गये ? नहीं, इसके विपरीत इससे सूरा गाँधी जी का और भी सही और समग्र प्रतिनिधि हो जाता है। गाँधी जी की अहिंसा का भी तो यही हाल है। वह क्या है और क्या नहीं,

इसे कोई जान नहीं सकता। दूसरे का किया हुआ अनशन भी हिंसा हो सकता है, पर गाँधी जी चाहे वाडाला में एक बोरा भर नमक ले कर भागें तो वह अहिंसा है। असली बात यों है कि गाँधी जी जिसे अहिंसा कह दें, वह अहिंसा है, बाकी सब हिंसा है। सीतारमैया कहते हैं, अहिंसा अँगरेजों के लिए है, मार्क्सवादियों के लिए नहीं। इस प्रकार सैकड़ों असंगतियाँ दिखलाई जा सकती हैं।

सूरदास की सबसे बड़ी असफलता है कि उसके मरते समय मिठुआ भी उससे नाराज़ था। उसका कहना था—'दादा अब मुँह न खुलवाओ। परदा ढका रहने दो। मुझे चौपट कर के जा रहे हो। हमारी दस बीघे की मौरूसी ज़मीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? घर में भी मेरा कुछ हिस्सा होता कि नहीं? हाकिमों से बैर न करते तो क्या घर के सौ न मिलते?' फिर मिठुआ ने यह कहा था कि वह पुतली-घर में आग लगायेगा। समझ में नहीं आता आत्मबल की विजय कहाँ हुई?

इससे अधिक सूरदास के चरित्र पर आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। उसके संबन्ध में इतना कह देना यथेष्ट होगा कि वह अपने में गाँधीवाद को काफ़ी अच्छी तरह मूर्त करता है। उसकी कमजोरियाँ, असंगतियाँ, दुर्बलताएँ उसके चरित्र के निर्माण में बाधक न हो कर उसे और भी जीवन प्रदान कर गाँधी का मूर्त रूप बना देती हैं।

विनय

इसी उपन्यास में एक दूसरा पात्र विनय है। आपात दृष्टि में वह भी गाँधीवाद को मूर्त्त करता है। पर इतनी सफलता के साथ नहीं जितना कि सूरदास। विनय एक राजा का इकलौता लड़का है, पर वह समझता है कि उसमें सेवाभाव है, और इसी धारणा के वशवर्ती हो कर वह विपुल विश्व में अपने प्रयोग करने या अपने साथ प्रयोग करने निकल पड़ता है। असल में वह एक petty-bourgeois philistine है, जैसे कि उच्च तथा मध्यम वर्ग के परोपकारीगण होते हैं। यह परोपकारी शब्द हमारा नहीं है। जब विनय जेल से भागने के बाद भीड़ के पीछे होना चाहता है, उस समय नायकराम उससे कहता है—'क्या अभी तक परोपकार से जी नहीं भरा?' थोड़ी बात पड़ते ही

उसकी कलई खुल जाती है, और अन्त तक वह डान क्विक्जाट, डान जुआन, हैमलेट और सेन्ट आसीसी की अजोब खिचड़ी के रूप में होकर सम्मुख आता है। कभी वह यह है, कभी वह। वह खुद ही नहीं जान पाता कि वह है क्या। उसकी प्रेमिका सोफिया उसकी रिहाई के लिए आज्ञापत्र लाती है, पर वह छूटने से इन्कार करता है, पर कुछ ही देर बाद नायकराम के इस झाँसे में आ कर कि उसकी माँ बीमार है दीवार फाँद कर निकल जाता है। स्मरण रहे वीरपाल के कहने पर उसने जेल से भागने से यह कह कर इनकार किया था कि यह गलत है। वह अहिंसा पर विश्वास रखता है पर जब अपनी प्रेमिका को जनता के हाथों खतरे में पड़ते देखता है तो जनता के नेता पर गोली चला देता है। वह एक अवसर पर जनता को अहिंसात्मक रहने के लिए कहता हुआ जनता द्वारा व्यंग का पात्र बनता है। इस पर वह ताव में आ कर अपने को गोली मार लेता है।

लड़ने तो रियासत से चले हैं और यह चाहते हैं कि उसकी बदनामी न हो, यह क्या धीरोदात्त आदर्श है? क्या आत्मा के गौरव का शंखनाद है? इसे चाहे जो भी ऊँचा नाम दिया जाय यह भावना शासक वर्ग के हित में है। कुछ संदेह रहा हो तो विनय आगे क्या कहता है सुनिए। वह कहता है—'मुझे अपने भाइयों के हाथ से विष का प्याला पीना मंजूर है, पर उनको संकट में डालना मंजूर नहीं। इस राज्य को हम लोगों ने सदैव गौरव की दृष्टि से देखा है, और महाराजा साहब को आज भी हम उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वह उन्हीं साँगा और प्रताप के वंशज हैं जिन्होंने हिंदू जाति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। हम महाराज को अपना रक्षक, अपना हितैषी, क्षत्रियकुलतिलक समझते हैं। उनके कर्मचारी सब हमारे भाई-बंद हैं। फिर यहाँ की अदालत पर क्यों न विश्वास करें? वे हमारे साथ अन्याय भी करें तो भी जबान न खोलेंगे। राज्य पर दोषारोपण करके हम अपने को उस महान वस्तु के अयोग्य सिद्ध करते हैं जो हमारे जीवन का लक्ष्य और इष्ट है।'

वर्गसमन्वय के साथ-साथ कैसी बड़ी-बड़ी बातें हैं?

कायरता और आत्मप्रवंचना की क्या अच्छी संगत है?

विनय के संबन्ध में कायर शब्द कदाचित् किसी धीरोदात्त पाठक को अवांछित ज्ञात हो इसलिए याद दिला दें कि कैसे जब एक झाँसे पर वह

नायकराम के साथ जेल से भागने को तैयार हो गया, तो भागते समय उसकी घिग्घी-सी वँध रही थी। फिर उसके वाद उसने जा कर किस प्रकार सर्दार साहब से सफ़ेद झूठ कहा कि उसे श्रीमती क्लार्क का पता नहीं, जब कि सब पता था। उसके विचार थे : सब हमारे भाई हैं, शोषित और शोषक दोनों इसलिए laissiez fare सबको समान अधिकार status quo जैसा है रहे, हाँ कुछ दया धरम से काम लेना चाहिए, धनियों को चाहिए कि मजदूरों के ट्रस्टी वन जायँ ! प्रेमचंद ने इसी पुस्तक में दिखलाया है कि किस प्रकार अँगरेज रेज़िडेंट का नाम सुनते ही इस क्षत्रियकुलतिलक साँगा और प्रताप के वंशज का डर के मारे बुरा हाल हो जाता है, किस प्रकार वह प्रजा पर जुल्म करता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने विनय के व्याख्यानों में भले ही वर्ग-समन्वय के पक्ष को दिखलाया हो, पर वस्तु के क्षेत्र में वे वास्तविकता को प्रदर्शित करने में नहीं चूके।

रंगभूमि में भारतीय रियासतों को उनके सही रंग में दिखलाया गया है। वीरपाल के शब्दों में रियासत के राजा तथा कर्मचारी, 'हैं हमारे ही भाई बंद, पर हमारी ही गरदन पर छुरी चलाते हैं। किसी ने ज़रा साफ कपड़े पहने, और ये लोग उसके सिर हुए। जिसे घूस न दीजिए वही आपका दुश्मन। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आप से न बोलेगा। बस कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गरम करते रहिए। दिन दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायेंगे, आप के वदले कोई बेकसूर फाँसी पर चढ़ा दिया जायगा। कोई फरियाद नहीं सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-वट्टे हैं। यह समझ लीजिए कि हिंसक जंतुओं का गोल है, सबके सब मिल कर शिकार करते हैं और मिल-जुल कर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू। उसे विलायत में जा कर विद्वानों के सामने बड़े-बड़े व्याख्यान देने की धुन है ! मैंने यह किया और मैंने वह दिया। या तो विलायत की सैर करेगा या यहाँ अँगरेजों के साथ शिकार खेलेगा। सारे दिन इन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा, इसके सिवा उसे कोई काम नहीं, प्रजा जिये या मरे।'

प्रेमचंद के चित्रण से यह ज्ञात होता है कि उन्हें रियासती प्रजा से कितनी अगाध सहानुभूति है, वे अन्य मामलों में वैयक्तिक रूप से इस समय तक गाँधीवादी होने पर भी कम से कम रियासतों के मामले में वर्गसमन्वय,

ट्रस्टीशिप तथा रामराज्य में विश्वास नहीं रखते थे । पर विनय रखता था। कार्यरूप में तो वह इससे कहीं आगे बढ़ जाता है । वह गया था रियासती प्रजा की सेवा करने, पर किसी स्पष्ट विचार धारा का अधिकारी न होने के कारण वह सैकड़ों घरों को उजड़वा कर लौटता है। वह काफी तजर्बा प्राप्त करने के बाद कहता है — 'मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी । मैं समझता था प्रजा बड़ी सहनशील और शांतिप्रिय है । अब ज्ञात हुआ वह नीच और कुटिल है ।' विनय असल में कभी जनवादी था ही नहीं । जिस समय सोफी को विद्रोही भगा ले गये उस समय उसने रियासत तथा क्लार्क के दुष्कृत्यों में खुल कर हिस्सा लिया । यहाँ तक कि रियासत का दाहिना हाथ हो गया । वह एक अजीब चरित्र है । पर प्रेमचंद के चार उपन्यासों में हम इसी व्यक्ति को विभिन्न रूप में पाते है । प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प में वह क्रमशः प्रेमशंकर, विनय, अमरकांत, चक्रधर के रूप में मौजूद है। पर रंगभूमि में ही यह पात्र अपनी पूरी इतरता में प्रकट होता है । एक बार तो वह अपनी माँ के सामने तलवार उठा कर यह कहते हुए आत्महत्या का प्रयास करता है कि, 'अम्माँ, इस योग्य तो नहीं हूँ कि आप का पुत्र कहलाऊँ लेकिन आपकी अंतिम आज्ञा को शिरोधार्य करके अपनी सारी अपकीर्ति का प्रायश्चित किये देता हूँ । मुझे आशीर्वाद दीजिए ।' पर उसके हाथ की तलवार पकड़ ली गयी, वह आत्महत्या न कर सका । उसको लोगों ने जब आशिक आदि कह कर दुत्कारा तो उसने यह कह कर अपने को गोली मार ली कि 'क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं ? देखिए ।' यह अपने रूप की चरम सीमा है। इस नौजवान रईस को न जीना आया, न मरना । उसने जनम भर कुछ ऐसे विचारों को ले कर चलना चाहा जो उसके लिए बहुत ही बोझिल थे, फिर इसमें आ पड़ा प्रेम, अब तो बिल्कुल पगहा टूट गया, कुछ तारतम्य नहीं रहा । अंत में वह मरा भी तो उस तरह से । फिर भी प्रेमचंद ने इस व्यक्ति के जीवन का बड़ी ही सहानुभूति के साथ चित्रण किया है। ऐसा शायद इस कारण किया हो कि विनय कुछ भी हो गाँधीवादी विचारों को ले कर चलने की चेष्टा तो करता है । पर लेखक की इस सहानुभूति से उसके चरित्र की दुर्बलता, उसकी मध्यवर्गीय जनोचित ढुलमुलयकीनी, उसकी कै करा देनेवाली विशेषताएँ और भी स्पष्ट हो गयी हैं । जिन चार उपन्यासों के हमने अभी

नाम गिनाये उनमें रंगभूमि उपन्यास अवश्य ही उच्चतर कोटि का है और गाँधीवाद को सबसे अधिक सफलतापूर्वक चित्रित करता है, केवल इसलिए नहीं कि इसमें हम विनय के चरित्र को पूर्ण रूप से उद्घाटित देखते हैं, बल्कि इसलिए कि इस उपन्यास में और उपन्यासों की तरह विनय के दुर्बल चरित्र से ही गाँधीवाद का प्रतिनिधित्व नहीं कराया गया है, इसमें सूरदास ऐसा चरित्र इस काम को अंजाम देता है। स्वाभाविक रूप से यह पुस्तक गाँधी-युग का अधिक सफल चित्र है।

यह आश्चर्य की बात है कि कुछ समालोचक उपन्यासकार की सहानुभूतिमूलक तूलिका से धोखे में आ कर विनय को भी धीरोदात्त समझ बैठे हैं। शायद वे उसके 'आत्मबलिदान' से धोखे में आ गये। पर जिस परिस्थिति में वह 'आत्मबलिदान' हुआ, उसमें उसे आत्महत्या से अधिक 'गौरव' प्रदान करना गलत होगा।

रंगभूमि में विनय अकेला फिलिस्टीन हो, ऐसी बात नहीं। वह तो खानदानी फिलिस्टीन है। उसका पिता राजा भरतसिह, उसकी मा रानी जाह्नवी, उसकी बहिन इंदु, उसकी प्रेमिका सोफिया ये सब उच्च तथा मध्यवित्तवर्ग के अंदर की सड़ाँध के विभिन्न प्रतिनिधि हैं। सोफिया का भाई प्रभुसेवक भी एक नरम क़िस्म का फ़िलिस्टीन है। ये लोग सब समझते हैं कि ये दुनिया की बहुत भलाई कर रहे हैं, बड़ा त्याग कर रहे हैं, वे एक हद तक त्याग करते भी हैं, पर समाज की गति के नियमों से, उसके द्वंद्वात्मक विकास से अपरिचित होने के कारण, और जिस काम को वे उठाना चाहते हैं अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा वर्ग से उसके अयोग्य होने के कारण वे केवल और गड़बड़ी पैदा करके विलीन हो जाते हैं। जिस समय वे समझ रहे हैं कि वे बड़ी सेवा कर रहे हैं, उस समय वे केवल अपने अनर्गल, परस्पर संबंधविहीन प्रयोग मात्र ही कर रहे हैं, ऐसे प्रयोग जिन्हें वे शायद सत्य का प्रयोग कहें। बात यह है कि इन सब लोगों ने लोकसेवा को अपनाना चाहा है, पर ये लोक कौन हैं इसकी उन्हें तमीज़ नहीं, इसमें वे लोक के द्वारा परिचालित नहीं होते, वे इस मामले में केवल स्वेच्छा से परिचालित होते हैं। इसका नतीजा है धींगाधींगी, कल्याण के बदले अकल्याण। ऐसी धींगाधींगी के साथ उनके जीवन में और भी धींगाधींगियाँ हैं। नतीजा है मान्यताओं तथा मूल्यों की कयामत, महाप्रलय।

राजा भरतसिंह

आइए, राजा भरतसिंह से शुरू किया जाय। रंगभूमि में वे लोकसेवक विनय के सुयोग्य पिता के रूप में प्रवेश करते हैं। अभी न विनय की कलई खुली, न उनकी। पर जब वे सुनते हैं कि विनय जा कर रियासत में कैद हो गया है तो वे रानी से छिपा कर नायकराम को उसे छुड़ाने के लिए भेजते हैं। खैर, एक पिता में यह कमज़ोरी बड़ी चीज़ नहीं, पर आगे चल कर हम देखते हैं कि जब विनय की कार्रवाइयों से रियासत पर आँच-सी आने लगती है तो वे अलग कमरे में विनय को बुला कर कहते हैं—"मेरी तुमसे विनीत याचना है कि तुम स्पष्ट रूप से अपने को सेवक दल से पृथक कर लो, और समाचारपत्रों में इसी आशय की विज्ञप्ति प्रकाशित कर दो।....." अवश्य विनय ने ऐसा नहीं किया, पर वह वास्तविक रूप से इन झमेलों से अलग हो गया। तभी तो जब वह एकाएक जनता को समझाने आया तो जनता ने उसको ताने दिये, और उसने अपने को गोली मार ली। इस प्रकार जनता का ताना जो उसको इतना लगा वह क्यों, इसके लिए हमें मनोवैज्ञानिक से जा कर पूछने की ज़रूरत नहीं।

कुँवर भरतसिंह विनय की मृत्यु के बाद फिर अपना व्याघ्रचर्म उतार कर रईसों की रैंक की दुनिया में चले गये। करीब १००० पृष्ठ की रंगभूमि का अंत इस पैराग्राफ से होता है—"कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत करते हैं। फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आडंबर, वही ठाठ-बाट। उनके धार्मिक विश्वासों की जड़ें उखड़ गयी हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिए अनंत शून्य और अनंत आकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लोक असार है। परलोक असार है। जब तक जिंदगी है, हँस खेल कर काट दो। मरने के बाद क्या होगा कौन जाने।....."

क्या विनय की मृत्यु के बाद कुँवर भरतसिंह अब बदले? नहीं, वे हमेशा भीतर से यही थे। उनके पत्नी तथा पुत्र-प्रेम ने उन्हें कुछ दिन लोकसंग्रह का नाच नचाया था।

रानी जाह्नवी

कुँवर साहब की स्त्री और विनय तथा इंदु की माँ रानी जाह्नवी देखने में तो एक तेजस्विनी वीर ललना हैं, पर उनकी मानसिक बनावट अत्यन्त

जटिल है। वह भी कुँवर साहब की तरह पुत्रगतप्राणा हैं, पर कुँवर साहब से भिन्न अर्थ में। उनकी पुत्रप्राणता शायद उनके अहंकार और Philistinism की एक परोक्ष परितृप्ति का जरिया मात्र है। वह सोफिया और विनय के प्रेम के बीच जिस प्रकार पड़ती हैं, जिस प्रकार वह सोफिया से कहती हैं कि वह दूर प्रवास में गये हुए विनय को यह लिख दे कि वह (सोफिया) मिसेज क्लार्क होनेवाली है, जिस प्रकार वह स्वयं इस सफेद झूठ को विनय के पास लिख भेजती हैं, उसका कोई फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषण करे तो उसमें पुत्रगमन-प्रवृत्ति तथा ऐडलर के अनुसार विश्लेषण करे तो प्रभुत्व की भूख के अतिरिक्त कुछ न पायेगा। वह सोफिया और विनय के विवाह संबंध के विरुद्ध थीं, इस बात की कदाचित् यों व्याख्या कर दी जाय कि धर्मों की विभिन्नता ही इसका कारण था, पर वह तो हर हालत में विनय के विवाह के विरुद्ध ही हैं। यह कोई स्वस्थ बात नहीं कही जा सकती। वह विनय पर एकाधिकार चाहती हैं।* सच तो यह है कि इसी अहंकारी स्त्री के कारण सारे खानदान का सत्यानाश हो जाता है। बात यह है कि वह कुँवर साहब, विनय तथा इंदु को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से ऐसे विचारों पर चलाना चाहती है जिनके लिए वे अपनी वर्ग-स्थिति तथा शिक्षा-दीक्षा से संपूर्ण अनुपयुक्त हैं। declasse होने पर ही वे इन विचारों को ले कर चल सकते थे, उस अवस्था के अभाव में इन विचारों को ले कर प्रयोग करने में फिलिस्टिनवाद का उदय हुआ है न कि क्रांति-कारिता का।

फिर रानी जाह्नवी के विचार भी कुछ सामंजस्य-युक्त रूप में क्रांतिकारी नहीं। केवल एक परोपकार की पंगु भावना है। पंगु इसलिए कह रहा हूँ कि उसके साथ जिन बातों के होने से वह बाअसर हो सकती थी, वे नहीं हैं। रानी में सामाजिक उदारता कुछ भी नहीं। उसमें अपने किसी विचार को क्रांतिकारी उपसंहार तक ले जाने की हिम्मत नहीं। जब इंदु अपने पति की इतरताओं के

---

*रानी केवल पुत्र पर प्रभुत्व करना चाहती है इसी बात को दिखाने के के लिए ही शायद प्रेमचंद ने दिखाया है कि सोफिया का "आचरण पूर्ण रीति से हिंदू धर्म और हिंदू समाज के अनुकूल हो चुका था।" फिर भी रानी को उससे ऊपरी खुशी ही है।

विरुद्ध उकता कर विद्रोह कर उसके घर में रहने से इनकार करके चली आती है तो वह इंदु को पुरुषप्राधान्यमूलक पातिव्रत धर्म का उपदेश दे कर कहती है—'× × × × अगर फिर मेरे सामने मुँह से ऐसी बात निकाली तो तेरा गला घोंट दूँगी। क्या तू उन्हें अपना गुलाम बना कर रक्खेगी ? तू स्त्री होकर चाहती है कि कोई तेरा हाथ न पकड़े, वह पुरुष हो कर क्यों ऐसा चाहें ? × × × अगर तुझे उनकी बातें पसंद नहीं आतीं, तो कोशिश कर कि पसंद आयें। वह तेरे पति देव हैं, तेरे लिए उनकी सेवा से उत्तम कोई पथ नहीं।'

इस प्रकार जाह्नवी सरासर यह कह रही है कि स्त्री का कर्तव्य है कि वह संपूर्ण रूप से अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में बोर दे चाहे पति पाजी, बदमाश, उचक्का ही हो। अन्यत्र वह इंदु से कह रही है—'जो स्त्री अपने पुरुष का अपमान करती है, उसे लोक, परलोक कहीं शांति नही मिल सकती है।' इंदु ने अपमान यह किया था कि एक सत्कार्य में चंदा दिया था।

जिस समय विनय आत्महत्या कर मर गया, उस समय सोफ़िया रोती हुई आयी तो जाह्नवी बोली—'क्यों रोती हो बेटी ? विनय के लिए ? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहरात होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचा कर आता।' यहाँ पर पाठक को यह याद दिलाया जाय कि सोफिया जा रही थी इस कारण विनय इस झगड़े में पड़ा था। फिर यह समझ में नहीं आता कि जब वह भीड़ को शांत करने गया था तो पिस्तौल ले कर क्यों गया था ? विनय को प्रेमचंद ने बराबर अहिंसावादी, फिर भी बराबर पिस्तौलबाज क्यों बनाया, यह समझ में नहीं आता। जब वह रियासत की जेल से निकल कर करीब-करीब सीधे उस भीड़ के सामने गया जो क्लार्क के मकान को घेर कर खड़ी थी, उस समय भी वह एकाएक पिस्तौल चलाता है। आख़िर यह पिस्तौल कहाँ से आयी ? क्या जेल में उसके पास पिस्तौल थी ?

विनय की मृत्यु के बाद जाह्नवी और भी कहती है—'यह तो मेरी चिर-संचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी, और वीर राजपूतों तथा राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी। उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी ऐसा ही पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति के लिए

हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गयी।'

सचमुच क्या यह कामना पूरी हो गयी ? मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि विनय अपनी माँ के अहंकार तथा अपनी दुर्बलता की वेदी पर बलिदान हो गया। कुछ भी हो, रानी जाह्नवी एक बहुत ही प्रभुत्वशीला रमणी है, और उसका चरित्र वैसा नहीं है जैसा कि धीरोदात्त पाठक उसे समझते हैं, यहाँ तक कि वैसा भी नहीं जैसा कि प्रेमचंद उसका निर्माण करना चाहते थे, बल्कि कुछ दूसरा ही है। उसका महत्त्व एक सफल चरित्र के रूप में है। उसके चरित्र से उपन्यास के रस के परिपाक में सहायता मिलती है।

सोफिया

सोफिया इस उपन्यास की नायिका है। वह भी विनय का ही प्रतिरूप है। वह भी विनय की तरह अस्थिर-चित्त, स्पष्टविचारहीन तथा सदा उद्भ्रांत है। शुरू में वह बड़ी विचारशीला तथा नैतिक साहस युक्त ज्ञात होती है। वह अपनी कट्टरधर्मी माँ के विरुद्ध जिस प्रकार विद्रोह करती है, वह बहुत ही सुंदर है। सच तो यह है कि इसी प्रथम दर्शन की छाप पाठक के मन पर अंत तक रहती है, और इसी के कारण पाठक उसकी बाद की कलाबाजियों को देख कर भी नहीं देखता। वह न तो ठीक-ठीक प्रेमिका है और न ठीक-ठीक क्रांतिकारिणी, अर्थात् दोनों बातों की ऐसी मिलावट है जो उसे एक अजीब दुर्बलचित्त स्त्री बना कर छोड़ देती है। उसमें दो व्यक्तित्व हैं, और दोनों परस्पर विरुद्ध। जब तक वह मिसेज सेवक के विरुद्ध विद्रोह करती है, और इसी की वशवर्ती हो कर घर से निकल जाती है, तब तक उसे हम एक विद्रोहिणी के रूप में पाते हैं। इसके बाद विनय के जाने तक विनय के घर में उसका जो आचरण रहता है, वह एक साधारण प्रेमिका के कार्य हैं, उसमें कोई और उपादान नहीं। वह क्लार्क के साथ 'कपट लीला' कर जिस प्रकार उदयपुर पहुँचती है तथा विनय से मिलती है, वह भी इसी रूप में है। अब वह क्रांतिकारिणी नहीं है। यदि क्रांतिकारिणी या गाँधीवादिनी कुछ भी होती, तो उसे चाहिए था कि रियासत में विनय का काम जहाँ से छूटा है, उसे वहाँ से उठा लेती। पर वह ऐसा नहीं करती। घटनाचक्र से रियासत के विद्रोही उसे उठा ले जाते हैं, और विनय

खोजता हुआ उसके पास पहुँचता है तो वह जनवादिनी बन कर विनय को दुत्कारती है। संदेह नहीं, यह ड्रामा बहुत अच्छा रहा, पर शीघ्र ही वह इस बाघ की खाल को उतार कर भाग चलती है। रास्ते में तथा बाद को बराबर वह प्रेमिका ही है। हाँ, अंत की तरफ फिर उसका क्रांतिकारित्व उभड़ता है, और वह यह जान कर कि पाँडेपुर में गोली चलनेवाली है, वहाँ जाने के लिए तैयार होती है। इसी अनुप्रेरणा से विनय वहाँ जाता है, फिर वह आत्महत्या करता है।

सोफिया का सारा विद्रोह केवल तीन घटनाओं पर निर्भर है —

(१) माँ के विरुद्ध विद्रोह कर घर से निकल जाना।

(२) रियासत के विद्रोहियों के यहाँ जब विनय पहुँचता है, तो उसे बुरी तरह और उचित रूप से दुतकारना।

(३) पाँडेपुर की उस सभा में जाना और विनय के जाने में कारण-स्वरूप होना।

हाँ, एक बात और, वह यह कि विनय के अतिरिक्त किसी से शादी करने से इनकार करना और आत्महत्या करना, पर इसका रूप विद्रोह का होने पर भी इसमें अन्य उपादान भी हैं। आत्महत्या करना तो बिल्कुल फिजूल था। उसका किसी प्रकार समर्थन नहीं हो सकता। वह चित्तदौर्बल्य का परिचायक है।

संक्षेप में यही सोफिया है, विनय का स्त्री-संस्करण। उपन्यास को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि पहले प्रेमचंद दोनों का मिलन कराना चाहते थे, पर उनमें धर्मभेद था, इसे कैसे सुलझाया जाय यह न समझ पा कर पहले विनय द्वारा और फिर सोफिया द्वारा आत्महत्या करायी गयी। शायद अभीष्ट मिलन को आसान करने के लिए ही सोफी से लेखक २६वें अध्याय में कहला रहा था — "मैं भी हिंदू धर्म पर जान देती हूँ। जो आत्मिक शांति कहीं न मिली, वह गोपियों की प्रेमकथा में मिल गयी। वह प्रेम का अवतार, जिसने गोपियों को प्रेमरस पान कराया.......उसी की चेरी बन कर जाऊँगी, तो वह कौन हिंदू है जो मेरी उपेक्षा करेगा?"

सोफिया ने यह सब जो कुछ कहा वह बिल्कुल ही बेसिर-पैर है। हम मान सकते हैं कि एक ईसाइन किसी हालत में ऐसा कह सकती है, रोज बीसियों लोग धर्मों में इधर से उधर जाते रहते हैं, पर सोफिया को ईसाई धर्म की जिस

प्रकार छानबीन करते दिखाया गया है, उसके कारण सोफिया को यह वक्तव्य शोभा नहीं देता, और यदि देता है तो केवल एक आत्मविस्मृता प्रेमिका की दशा में ही। अंत में सोफिया धर्मपरिवर्तन करने के लिए तैयार हो गयी थी, यह बात सोफिया के प्रेमिका-चरित्र पर शायद चार चाँद लगाये, पर मनुष्य के रूप में उसका मूल्य घटाती है। प्रेमचंद अपनी रचनाओं में, यहाँ तक कि इस पुस्तक में भी सर्व-धर्म-विरोधी के रूप में दृष्ट होते हैं, नहीं तो हम तो यही कहते कि यहाँ प्रेमचंद प्रतिक्रियावादी दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण हमारा यह अनुमान है कि इस संबन्ध में पहले प्रेमचंद का कुछ और लक्ष्य था पर बाद में उन्होंने उसे बदल कर आत्महत्या करवा दी। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से शायद अच्छा ही रहा क्योंकि विनय और सोफिया के से चरित्रों के लिए आत्महत्या ही एकमात्र नतीजा हो सकता था। इन लोगों ने न तो जग को पहचाना, न अपने को! वे एक ऐसे विचार को उठा कर चले जिसके वे सर्वथा अयोग्य थे। ऐसे पात्रों तथा पात्रियों से प्रेमचंद ने उच्च तथा मध्य वर्ग के ऐसे लोगों का चरित्र खींचा है जिनमें कुछ त्याग की प्रवृत्ति है, तपस्या भी है, परोपकार-भावना भी है, पर वे अपने वर्ग-विचारों में बुरी तरह बँधे हैं। वे जनता की सेवा के नाम पर आत्मश्लाघा की तृप्ति करने चले हैं। वे अपने वैयक्तिक जीवन को कर्तव्य के साथ सामंजस्य युक्त करने में असमर्थ हैं, इसलिए वे असफल तथा (Frustrated) मनःक्षुण्ण होने के लिए बाध्य हैं। ऐसे ही चरित्र के लोग छात्र जीवन में क्रांतिकारी या समाजवादी तथा बाद के जीवन में सी० आई० डी० के जालिम अफसर होते हैं।

इंदु

इंदु भी इसी श्रेणी की एक स्त्री है। फिर भी वह अपने भाई तथा सोफिया से अच्छी ही है। उसका दुर्भाग्य यह है कि उसकी शादी एक ऐसे व्यक्ति से हुई है जो एक ही आत्म-प्रवंचक है। वह सोचता है, मैं जो करता हूँ और जो मेरा स्वार्थ है, वही सबका स्वार्थ होना चाहिए। वह भी अपनी माँ के मार्ग पर चलती है। एक जगह उसकी कलई बहुत बुरी तरह खुल जाती है, वहाँ जहाँ कि सोफिया के साथ बातों-बातों में चोट करती हुई वह कह जाती है— 'एक राजा का सम्मान एक क्षुद्र न्याय से कहीं ज्यादा महत्त्व की वस्तु है।' यह मानो

इंदु के पति की ही बातों की—उस पति की बातों की जिससे वह उकता जाती है—प्रतिध्वनि है : 'यों मैं स्वयं जनवादी हूँ, और उस नीति का हृदय से समर्थन करता हूँ, पर जनवाद के नाम पर देश में जो अशांति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। ऐसे जनवाद से तो धनवाद, एकावाद सभी वाद अच्छे हैं।' यह ठीक ही है, राजा और पूँजीपति लोग तभी तक जनवादी, लोकतंत्रवादी हैं जब तक उससे उनका लाभ होता है, नहीं तो साम्राज्यवाद, फासिस्टवाद तो हैं ही। कितने संक्षेप में पूँजीवादी गणतंत्र को समझा दिया। इंदु का यह कहना कि एक राजा का सम्मान एक क्षुद्र न्याय से बड़ा है, भावुकता की भाषा में राजा के वचनों का तर्जुमा है।

इंदु का चरित्र उस जगह भी बहुत घृणित रूप में प्रकट हुआ है जहाँ वह अपने पति को इसलिए उकसा रही है कि वह इसलिए लड़े जिसमें सूरदास की जमीन मैजिस्ट्रेट उसे वापस न करा सके। अवश्य इसके पीछे दो औरतों की लागडाँट भी है, पर यह कैसी लागडाँट कि सब सिद्धान्तों को तिलांजलि दे कर वह कह रही है—'यह बात आपके मुँह से शोभा नहीं देती। यह नेकनामी-बदनामी का प्रश्न नहीं है, अपनी मर्यादा रक्षा का प्रश्न है। आपकी कुल-मर्यादा पर आघात हुआ है, उसकी रक्षा करना आपका परम धर्म है चाहे उसके लिए न्याय के सिद्धांतों की बलि क्यों न देनी पड़े।.........' मर्यादा तथा कुल-मर्यादा की क्या सुंदर फिलिस्टिन-सुलभ आत्मवंचना मूलक धारणा है!

प्रभुसेवक

सोफिया का भाई प्रभुसेवक विलायत से सिगरेट का काम सीख कर आया है, अपने को कवि और कलाकार समझता है पर है वह पक्का पेटिबुर्जुवा फिलिस्टन। वह एक कवित्वरसलोलुप पलायनवादी है। अपने ऐहिक स्वर्ग का उसने स्वयं ही चित्रण किया है—'मेरे जीवन का सुख स्वर्ग तो यही है कि किसी पहाड़ी के दामन में एक जलधार के तट पर छोटी-सी झोंपड़ी बना कर पड़ा रहूँ। न लोक की चिंता हो, न परलोक की। न अपने नाम का कोई रोनेवाला हो, न हँसनेवाला।' इस प्रकार के भावों को बहुत-सी कविताओं में व्यक्त किया गया है। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इक़बाल के संग्रह बाँग-ए-दरा में इस प्रकार की एक कविता है। 'इक बँगला बनेगा न्यारा' भी इन्हीं विचारों का सूचक है।

ऐसे लोगों में लोक सेवा के लिए जिस संग्राम-शीलता की जरूरत है, वह नहीं होती, और न वह स्पष्ट विचार होता है, क्रांतिकारी बनने के लिए जिसकी ज़रूरत है। ये वीरता की कमी लच्छेदार भाषा में छिपी आत्मा-वंचना से पूरी कर लेते हैं। इंद्रदत्त ने प्रभुसेवक से ठीक कहा था—'तुम्हारी समस्त शक्ति शब्द योजना में ही उड़ जाती है, क्रियाशीलता के लिए कुछ बाकी नहीं बचता। यथार्थ तो यह है कि तुम अपनी रचनाओं की गर्द में भी नही पहुँचते, बस जबान के शेर हो।'

पिता जानसेवक ने भी प्रभुसेवक को बिल्कुल ठीक कहा— 'तुम जीवन की सुख-सामग्रियों को तो चाहते हो, लेकिन उन सामग्रियों के लिए जिन साधनों की जरूरत है, उनसे दूर भागते हो। हमने तुम्हें क्रियात्मक रूप से कभी धन और विभव से घृणा करते नहीं देखा। तुम अच्छे से अच्छा मकान, अच्छे से अच्छा भोजन, अच्छे से अच्छा वस्त्र चाहते हो, लेकिन बिना हाथ-पैर हिलाये ही चाहते हो कि कोई तुम्हारे मुँह में शहद और शर्बत टपका दे।' सिनेमा में जा कर रोनेवाले, चित्रपट के खलनायक पर दाँत किटकिटानेवाले शौकीन परोपकारियों का यही हाल है। ऐसे लोग क्रांति कर सकते हैं बशर्ते कि वैसा करते समय उनकी माँग के बाल इधर-उधर न हों और पतलून की क्रीज़ न बिगड़ जाय।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रभुसेवक में कुछ भलाई है। कविता उसे परोपकार के गंभीर प्रयत्नों या यों कहिए प्रयोगों से अपेक्षाकृत रूप से बचा लेती है। इसके अतिरिक्त वह अपने पिता के इन वचनों से क्रुद्ध हो कर घर छोड़ देने का साहस तो रखता है। साधारण तौर पर इस तरह के लोग बिल्कुल अकर्मण्य, बुज़दिल, घरघुस्सू, कवितामात्र-सर्वस्व होते हैं। बात यह है उसमें कुछ अच्छी कवित्व-शक्ति है। इसके अतिरिक्त जीवन की गुत्थियों में अधिक नहीं पड़ता, पड़ता तो क्या होता पता नहीं। जानसेवक का लड़का प्रभु तथा सोफिया किसी न किसी कारण घर को छोड़ते हैं यह बात बहुत मार्के की है। यह पूँजीवादी वर्ग में भी आत्मविरोध की सूचना देता है, जो क्रांति के लिए आवश्यक शर्त है।

जानसेवक

अब हम सूरदास के बाद इस उपन्यास के सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र जानसेवक पर आते हैं। जानसेवक उदीयमान भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि

है, निरलस, कर्मठ, उन्मेषशालिनी बुद्धियुक्त, निर्दय, अवसर का ज्ञाता। जैसे बाज कितना भी ऊपर उड़े, उसकी निगाह शिकार पर रहती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि मुनाफे पर रहती है। इसी मुनाफे के पीछे वह जीता है, और इसी के पीछे वह मरने के लिए तैयार है। इसके पीछे वह लड़का छोड़ता है, लड़की छोड़ता है, सबको छोड़ने के लिए तैयार है बशर्ते कि मुनाफा हो।

रंगभूमि में भारतीय पूँजीवाद के शैशव का चित्रण है। इसमें पूँजीवाद अभी घुटनों के बल चल रहा है। गोदान में भी देशी पूँजीवाद का चित्र है, पर वह अपेक्षाकृत परिणत अवस्था का चित्र है। रंगभूमि का कैनवास काफी बड़ा है, पर उसमें मज़दूरों के असंतोष का चित्र नहीं है। गोदान में यह है। बात यह है कि शुरू के युग में मज़दूर संगठित नहीं होते, धीरे-धीरे ही उनमें संगठन का उदय होता है।

प्रेमचंद की सबसे बड़ी विशेषता और शायद सबसे बड़ी महत्ता यह है कि वे नख से शिख तक हमेशा साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के विरोधी रहे हैं। अदालत को, पुलीस को वे काले से काले रंग में चित्रित करते हैं। इस उपन्यास में दारोगा माहिरअली ने अपने उसी भाई को धोखा दिया जिसने खून का पानी कर उसे पाला। माहिरअली का बाप भी दारोगा और घूसखोर था, मरते समय कफन नहीं जुड़ा। यह भी द्रष्टव्य है कि तखमीने के अफ़सर को भी प्रेमचंद ने बेईमान ही दिखलाया है। उसको घूस मिलती है तो छोटे मकान का ज्यादा दाम दिलवाता है, नहीं तो अच्छे मकान को भी नाममात्र मूल्य पर ले लेता है। उनका साहित्य इस कारण उदीयमान भारतीय राष्ट्रीयता तथा साथ ही उठते हुए दलित वर्गों का साहित्य हो जाता है। अमीरों के प्रति उनके मन में अगाध घृणा थी। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "जो व्यक्ति धन सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को — उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के दोहन पर अवलंबित है — स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी असफलता ही

हो। बैंक में मोटी रकम जमा देख कर शायद मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे हैं, मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ संबद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"

कहा जा सकता है कि ये बाद के युग के प्रेमचंद के विचार हैं। हाँ ये परिणत तथा विकसित प्रेमचंद के, गोदान के लेखक के विचार हैं, पर रंगभूमि में भी धन के प्रति यही घृणा का भाव है। उस युग में व्यक्तिगत रूप में गाँधीवादी होते हुए भी प्रेमचंद कभी भी गाँधीवाद के आनुषंगिक वर्गसमन्वय सिद्धांत के कायल न हो पाये। बात यह है उस जमाने में भी वे एक हद तक ही धोखे में रह सकते थे। जीवन की वास्तविकताएँ उन्हें वर्गसमन्वय में विश्वास करने नहीं देती हैं। अगर कहीं ऊपर से उन्होंने इस विचार को दिया भी है, तो उसके साथ जो तथ्य उन्होंने दिये हैं, वे चिल्ला-चिल्ला कर कुछ दूसरी ही बात कह रहे हैं।

रंगभूमि के तो पहले पैरे ही से धनियों के विरुद्ध जेहाद शुरू है। "शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठ-शालाएँ और मुकदमेबाजी के अखाड़े हैं, जहाँ न्याय के बहाने ग़रीबों के गले घोंटे जाते हैं।" साथ-साथ न्यायालयों को भी ले लिया।

जानसेवक एक आदर्श पूँजीपति है। उसे अपने कारखाने के लिए सूरे की ज़मीन चाहिए। साम, दाम, दंड, भेद से वह इसे प्राप्त करता है। उसकी लड़की सोफिया का एक अग्निकांड के कारण राजा भरतसिंह के परिवार से परिचय हो गया। बस उसने गोट मिलाना शुरू किया। उसका दामाद महेन्द्रसिंह म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन है, उससे यह काम होगा; स्वयं राजा को चार सौ बीस पढ़ा कर वह उससे मोटी रकम का शेयर खरिदवा लेता है। पर वह धोखेबाज नहीं। शेयर ज़रूर धोखेबाजी से खरिदवाया, पर मोटा मुनाफा दिलवाया।

वह मुनाफे के लिए किसी बात से चूकना कोरी भावुकता समझता है। वह हिसाब का पक्का है। जो हिसाब ठीक नहीं रखता, उसका वैसा करने में चाहे कुछ भी बहाना हो वह उसे क्षमा नहीं कर सकता। वह ताहिरअली को हिसाब

की गड़बड़ी के लिए माफ़ नहीं करता, यहाँ तक कि सूरा अपनी मृत्युशय्या से उसकी सिफ़ारिश करता है, पर ऐसे के लिए पूँजीवाद में माफी नहीं। वह अपने मुनाफे में कौड़ी वृद्धि के लिए कहता है कि म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब से मिल कर यहाँ एक शराब और ताड़ी की दूकान खुलवा दूँगा। उसे सूरे की जमीन पसन्द आती है, वह समझता है वह ज़रूर बेचेगा। रुपये की शक्ति में उसे अगाध विश्वास है। कहता है, "रुपये के सत्रह आने दीजिए और आसमान के तारे गिनवा लीजिए।"

प्रेमचंद ने बड़ी दक्षता से इस व्यक्ति का चित्र खींचा है। जान को मानापमान की कोई चिंता नहीं, लड़का प्रभु नायकराम से लड़ आता है, पर वह जा कर उससे माफी माँग आता है। बात यह है व्यापार का तकाजा था। है जानसेवक ईमानदार याने पूँजीवादी दृष्टिकोण से ईमानदार। पर प्रेमचंद बीच-बीच में फबती कस देते हैं। कहते हैं, "मगर धन का देवता आत्मा का बलिदान बिना पाये प्रसन्न नहीं होता।" जानसेवक धार्मिक है, पर उसका असली धर्म मुनाफा है। जानसेवक अपने धर्म का रहस्य अपने ही मुँह से पुत्र को समझाता है। पूँजीवादी के धर्म का बहुत ही मार्मिक उद्‌घाटन है। अँगरेज के विषय में कहा जाता है कि वह छै दिन तक तो मैमन या धन देवता के यहाँ पूजा करता है, और एक दिन खुदा के घर में, पर यह पूँजीवाद के ह्रास के युग में उत्पन्न भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि जानसेवक उससे आगे बढ़ जाता है, वह सातवें दिन गिरजे में तो जाता है, पर वहाँ भी जपने के लिए मैमन के बुत को अपने साथ ले जाता है।

जान अपने पुत्र प्रभु को समझा रहा है: "× ×मुझे निश्चय था कि तुम जीवन और धर्म के सम्बन्ध को भलीभाँति समझते हो, पर अब ज्ञात हो गया कि तुम, सोफी और अपनी माता की भाँति भ्रम में पड़े हुए हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे और हजारों आदमी जो नित्य गिरजे जाते हैं, आँख बन्द कर के ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ-संघटन है। संभव है तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उसके प्रति उतनी ही श्रद्धा है जितनी किसी मामूली फकीर के प्रति। उसी प्रकार फकीर भी

दान और क्षमा की महिमा गाता फिरता है, परलोक के सुखों का राग गाया करता है। वह भी उतना ही त्यागी, उतना ही दीन, उतना ही धर्मरत है। लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़ कर गिरजे में अवश्य जाता हूँ। न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा। फिर अपने ही घर में अशांति फैल जायगी। मैं केवल तुम्हारी माता की खातिर से अपने ऊपर यह अत्याचार करता हूँ।"

स्वाभाविक रूप से ऐसा व्यक्ति अपने नौकरों के धर्म की परवाह नहीं करेगा। वह अपने गुमाश्ता ताहिरअली से कहता है, 'आपको हमारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना पड़ेगा, चाहे उससे आपका खुदा खुश हो या नाखुश। हम अपने कामों में आपके खुदा को हस्तक्षेप न करने देंगे।' जानसेवक इन बातों को अपनी पत्नी के सामने कहता है, और वह उनका समर्थन करती है। इधर बड़ी धार्मिक बनती है, अपनी लड़की से धार्मिक बहस कर उसे घर से चले जाने के लिए विवश करती है उसका यह हाल। फिर जब अँगरेज क्लार्क से लड़की की शादी के ढंग देखती है तो धार्मिक मतभेद भूल कर उसी सोफी की खुशामद करती है। यदि वश चलता तो शायद स्वयं क्लार्क से विवाह करती। परले सिरे की कट्टर पर बिल्कुल असामाजिक है। पर जान की तारीफ यह है कि उससे निभाता है। धर्म के संबन्ध में इस प्रकार के विचार कि वह स्वार्थ-संघटन मात्र है केवल जान तक सीमित नहीं। विनय के पिता कुँवर साहब भी कहते हैं—'हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध ये धर्म नहीं हैं, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के दल हैं, जिनसे हानि के सिवा आज तक किसी को लाभ नहीं हुआ।'

प्रेमचंद की कला की एक विशेषता यह है कि वे धर्म को हमेशा बुरे रंग में दिखलाते हैं। सब धीरोदात्त पाठक तथा आलोचक कहते हैं कि प्रेमचंद कभी गाँधीवादी थे, पर मैं तो यही पाता हूँ कि गाँधीवाद के सब मौलिक सिद्धान्तों को वे गले के नीचे नहीं उतार पाये। धर्म गाँधीवाद की बहुत बड़ी विशेषता है, पर प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में धर्मों का मजाक उड़ाया गया है। रंगभूमि के जान का धर्म हम देख चुके। श्रीमती सेवक का धर्म देख लिया। जान का बाप ईश्वरसेवक परले सिरे का दुष्ट और कंजूस है। हर समय ईसा और खुदा की बात करने पर भी

उससे काइयाँ, कंजूस, मक्कार कोई नहीं। जवानी में वह भारी बदमाश रहा होगा।

इस उपन्यास में ईसाई पात्रों को लाने में प्रेमचंद का उद्देश्य शायद कथा में एक नवीनता लाना था तथा यह दिखाना था कि बहुत से लोग जिन्हें इनके साथ मिलने का मौका नहीं मिलता वे जान जायँ कि सभी धर्म अफीम हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी दिखा दिया कि किस प्रकार ईसाइयों की प्रवृत्ति अपने जन्म को भूल कर अँगरेज बनने की ओर है, पर जानसेवक ऐसे मुनाफा-सर्वस्व लोग इस प्रकार की धारणा के भी कायल नहीं। वे भारतीयों के निकट भारतीय और अँगरेजों के निकट उनके धर्मभ्राता बन कर काम निकालते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवाद किस प्रकार अपने मतलब के लिए राष्ट्रीय, फिर उसी मतलब के लिए उसी साँस में अन्तर्राष्ट्रीय है। इससे पूँजीवाद के चरित्र की कलई खूब खुल जाती है।

यह न समझा जाय कि आधुनिक लोगों के धर्मों पर ही प्रेमचंद की फबती है। पाँडेपुर का नायकराम पंडा इसी उपन्यास में एक विकट लग्घीबाज (अवसरवादी) के रूप में चित्रित है। यों तो उसका चरित्र कहीं-कहीं हास्योत्पादक है, पर वह कुटिल, ढोंगी, पड़ जाय तो घूस दे दे, पड़ जाय, ले ले, गुंडा, भँगेड़ी, गाँववालों तथा यात्रियों को ठगनेवाला है। सूरे के धर्म से भी प्रेमचंद की सहानुभूति नहीं। जानसेवक उसके लिए यह जो कहता है कि 'शरीर में भभूत लगा कर भीख माँगना सबसे बड़ा दुःख है, यह हमें दुःखों से क्यों कर मुक्त कर सकता है,' ये शायद सूरे के धर्म के संबन्ध में प्रेमचंद के विचार हैं। मुसलिम धर्मावलंबी ताहिर भी नहीं बचा। प्रेमचंद के अनुसार "ताहिरअली खुद बड़े दीनदार आदमी थे, पर अन्य धर्मों की अवहेलना करने में उन्हें संकोच न होता था। वास्तव में वह इसलाम के सिवा किसी धर्म को धर्म ही नहीं मानते थे।"

रंगभूमि में एक सबसे खटकने वाली चीज है कि रोमैंस होते हुए भी इसमें बराबर एक विषादमय अंत की छाया पड़ती है। जब-जब सोफिया और विनय के विवाह की बात चलती है, तब-तब यह दिखाया जाता है कि सोफिया का हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त आशंका, एक अनिष्ट चिन्ता

से आच्छन्न हो जाता था। सोफिया ऐसी पात्री के लिए यह अनुचित नहीं, इससे सारी रचना पर एक भाग्यवादी छाया-सी पड़ती है। यह भाग्यवादी छाया रंगभूमि को क्रांतिकारी रचना होने से एक बड़ी हद तक रोकती है।

कूलसुम और सुभागी

ऊपर गिनाये हुए पात्रों तथा प्रवृत्तियों के अतिरिक्त रंगभूमि में बीसियों और पात्र-पात्रियाँ तथा प्रवृत्तियाँ हैं। इस उपन्यास की सबसे साध्वी पात्री कूलसुम है। वह पुराने ढंग के सतीत्व का प्रतीक है, और फिर भी हमारी श्रद्धा की पात्री हो जाती है। पर, इस उपन्यास का सबसे जबर्दस्त नारी चरित्र सुभागी है; वह इबसेन की नोरा का एक हद तक ग्रामीण संस्करण है, ऐसी नारी जो पति को सुधार कर फिर सही माने में सहधर्मिणी बनने के लिए घर लौट आती है। उसका चरित्र बहुत ही तेजस्वी है। सोफिया, इन्दु आदि उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ भविष्य की भारतीय नारी का आदर्श नहीं हो सकतीं, इसके लिए सुभागी ऐसी बलिष्ठ नारी चाहिए। वह बहुत हद तक आदर्श है।

प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ रचना नहीं

अब अंत में विचारणीय यह है कि रंगभूमि प्रेमचंद की सबसे उत्कृष्ट रचना है या नहीं। श्री रामनाथ सुमन के कथन का हम हवाला दे चुके कि वे समझते हैं कि यह प्रेमचंद की मास्टरपीस है। श्री ऋषभचरण के मतानुसार "यों तो उनके सभी उपन्यास लोगों ने पसंद किये हैं, लेकिन रंगभूमि मेरी राय में उन्हीं का नहीं, हिंदुस्तान का सबसे अच्छा उपन्यास है। रंगभूमि में कहानी है, काव्य है, फिलासफी है, मनोविज्ञान है और ढूँढ़ने पर नीति, धर्म और सोशलिज़्म का बहुत-सा मसाला मिल जायगा। रंगभूमि हमारी ज़िंदगी का खाका है, जिसके जोड़ की कल्पना थैकरे के वैनिटी फेयर में और मेरी कारेली के वेन्डेटा में ज़रा-ज़रा मिल जाय तो मिल जाय, वरना दुनिया में और कहीं न मिलेगी।"

कहा जाता है स्वयं प्रेमचंद ने अपने एक पत्र में रंगभूमि को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना था, पर उस समय तक वे गोदान के लेखक नहीं हुए थे। फिर यह ज़रूरी नहीं कि कलाकार अपनी कला की जो आलोचना करते हैं, वह आलोचक के लिए मान्य तथा अपरिहार्य हो। हम पहले बता चुके हैं कि

क्यो हम गोदान को ही उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना मानते है। रगभूमि मे वे अभी दुबिधे मे ह। अभी उनकी द्रष्टृगतता तथा दृश्यगतता का न तो कलात्मक द्वद्व मिटा है, न सिद्धातात्मक। अभी उनका अतर्मुख तथा बहिर्मुख दो है। इस कारण रगभूमि बहुत कुछ एक रोमैस हो गया है। इसकी दृश्यगतता द्रष्टृगतता मे रगी हुई है। इसमे नाटकीयता का प्रयास बहुत है। गोदान मे ही ये एक हो कर ऐसी कला को जन्म देते है जो अभी तक अपराजित है। हाँ गोदान के उधर के सब उपन्यासो मे रगभूमि सर्वश्रेष्ठ है।

कायाकल्प

तहसीलदार मुंशी वज्रधरसिंह के पुत्र चक्रधर एम० ए० पास थे। पिता की इच्छा थी कि पुत्र नौकरी करे, पर पुत्र का अधिकांश समय समाज-सेवा में व्यतीत होता था। अंत में बहुत अधिक दबाव पड़ने पर चक्रधर जगदीशपुर के दीवान ठाकुर हरिसेवकसिंह की कन्या मनोरमा को पढ़ाने लगे। मनोरमा चक्रधर से प्रभावित हो कर उन्हें चाहने लगी।

यशोदानंदन चक्रधर को शादी के सिलसिले में आगरे ले गये। वहाँ गाय की कुर्बानी पर हिंदू-मुस्लिम दंगा होने वाला था। चक्रधर ने जान पर खेल कर दंगा रुकवा दिया। यशोदानंदन की पालिता कन्या अहिल्या इस पर बहुत प्रभावित हुई, और चक्रधर के साथ उसका विवाह निश्चित हो गया। इधर मुंशी वज्रधरसिंह चक्रधर की नौकरी का फायदा उठा कर दीवान साहब से रब्त जब्त बढ़ाने लगे। वे उस इलाके में तहसीलदार हो गये, और औरों की तरह मनमानी करने लगे। इसके साथ ही उन्होंने स्टेट के भावी मालिक ठाकुर विशालसिंह से भी परिचय बढ़ाना शुरू किया।

जगदीशपुर की रानी देवप्रिया विधवा होते हुए भी भोगविलास में अपना जीवन बिताया करती थी। उनके प्रेमी बन कर एक ऐसे राजकुमार पहुँचे, जो पूर्वजन्म में उनके पति थे। रानी को उन्होंने बताया कि मृत्यु के बाद भी उन्हें किस प्रकार उनकी याद आती थी। फिर उनका जन्म हुआ, शिक्षा के लिये बर्लिन गये और वहाँ एक तिब्बती साधु से उनकी मुलाकात हुई। उसी के साथ वे तिब्बत गये, और अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कीं। राजकुमार के प्रस्ताव पर रानी देवप्रिया अपना सारा राज्य ठाकुर विशालसिंह को दे कर उनके साथ चली गयीं।

इधर चक्रधर के प्रति मनोरमा का स्नेह बढ़ता ही जा रहा था, और समय-समय पर उसका प्रदर्शन हो जाता था। ठाकुर विशालसिंह के राजतिलक

की तैयारियाँ इस समय जोरो से हो रही थी। इसके लिए आसामियो पर जबर्दस्ती चदा लगाया गया था। चारो ओर लूट-खसोट हो रही थी। चक्रधर ने जब यह हाल देखा, तो उन्होने विशालसिह तक यह बात पहुँचायी पर विशालसिह ने इस पर कोई ध्यान नही दिया, उल्टे उन्हे ही भला-बुरा कहा। राज्य की ओर से जबर्दस्ती होती रही, और असतोष बढता गया। तिलक के तीन दिन पूर्व घास छीलनेवालो ने ऊब कर खुद अपनी शिकायत राजा से की, राजा ने उन्हे उल्टे और डॉटा। इसी समय चक्रधर ने आ कर किसानो के पक्ष का समर्थन किया। तैश मे आ कर राजा साहब ने अपनी बदूक का कुदा चक्रधर को दे मारा। चक्रधर गिर पडे। इस पर मजदूर जोश मे आ गये और दगा हो गया। लोग मजिस्ट्रेट को मार रहे थे, पर चक्रधर ने अड कर उसे बचा लिया। पर मजिस्ट्रेट ने इसके बदले चक्रधर को जेल मे ठूँस दिया। उनसे बहुत कहा गया कि वे माफी माँग ले, पर ऐसा करने से उन्होने इनकार कर दिया।

मनोरमा ने चक्रधर को छुडाने के लिए राजा विशालसिहं से कई बार भेट की। यद्यपि राजा विशालसिह की अवस्था ढल गयी थी और उनकी तीन स्त्रियाँ थी, परतु फिर भी वे मनोरमा के रूप, गुण, शील, पर लट्टू हो गये। उन्होने मुशी वज्रधरसिह से यह बात कही, और उनके द्वारा विवाह तय हो गया। इसी बीच जेल मे दगा हो गया। कैदियो ने मिल कर दारोगा की खूब मरम्मत की। चक्रधर ने उन्हे किसी तरह पिटने से बचाया। पर इसी के बाद जेल की गारद, और फिर पुलिस आयी। कैदियो की खूब खबर ली गयी, और चक्रधर को भी खूब चोट आयी। मनोरमा ने राजा साहब पर जोर डाला कि वे मजिस्ट्रेट के पास जा कर चक्रधर को बाहर के अस्पताल मे भिजवा दे। राजा साहब और मजिस्ट्रेट मिस्टर जिम मे मार-पीट भी हो गयी। पर बाद मे वे चक्रधर-सबन्धी बात को मान गये। चक्रधर ने यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार पसद नही किया। वे जेल मे ही बने रहे। दगा कराने का अभियोग भी चक्रधर के सिर पर मढा गया। उनका मुकदमा मनोरमा के भाई गुरुसेवक के इजलास मे आया, पर मनोरमा के जोर देने पर वे इस अभियोग से बरी कर दिये गये, और उनका चालान आगरा जेल मे हो गया। यही पर उन्हे अहिल्या

से भेंट के समय राजा साहब के साथ मनोरमा के विवाह का समाचार ज्ञात हुआ।

जेल से छूटने पर चक्रधर का जोरों से राज्य की ओर से स्वागत किया गया। इसमें मनोरमा का हाथ था। इसके बाद मनोरमा के आग्रह पर दोनों गाँव-गाँव घूम कर राज्य में प्रजा को सुखी करने की कोशिश करने लगे।

आगरा में होली के अवसर पर हिंदू-मुस्लिम दंगा हो गया। इसी दंगे में अहिल्या के धर्मपिता यशोदानंदन मारे गये। अहिल्या को मुसलमानों ने उड़ा लिया। यशोदानंदन के मित्र और मुसलमानों के नेता ख्वाजा साहब के पुत्र ने पिता की गैरजानकारी में अहिल्या पर जुल्म करना चाहा। इस पर अहिल्या ने उसे छुरा भोंक कर मार डाला। चक्रधर आगरा पहुँचे। यशोदानंदन की अन्त्येष्टिक्रिया के तीन दिन बाद उन्होंने अहिल्या से विवाह किया, और वापिस लौट आये। चक्रधर के माता-पिता ने वधू का न चाहते हुए भी स्वागत किया। अहिल्या को मुसलमानों ने उड़ा लिया था इसलिए उससे छुआछूत मानते थे। एक दिन यह भेद खुल गया, तो चक्रधर अहिल्या को ले कर इलाहाबाद चले गये। वहाँ पर वे जैसे-तैसे दिन बिताने लगे। इस बीच में उनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम शंखधर रखा गया।

इसी समय एक तार मिला जिसमें मनोरमा की सख्त बीमारी की खबर थी। चक्रधर अपनी पत्नी तथा शिशु पुत्र के साथ बनारस रवाना हो गये। उनके पहुँचते ही मनोरमा की बीमारी अच्छी होने लगी। बात यह है कि उसके मनमें अब भी चक्रधर के प्रति प्रेम था।

अहिल्या के संबन्ध में कुछ ऐसे प्रमाण मिल गये जिससे यह ज्ञात हो गया कि वह राजा की बीस साल पहले खोयी हुई लड़की है। उसे उसके अधिकार दे दिये गये और वह खासी अमीरजादी हो गयी। उसे न पति की परवाह रही न पुत्र की। पुत्र शंखधर अब मनोरमा के पास ही अधिक रहता था। चक्रधर अजाब परेशानी में हो गये, क्योंकि उन्हें कोई अपना नहीं मालूम देता था। वह इधर-उधर घूमा करते थे। एक दिन मोटर भगाकर जा रहे थे कि साँड़ सामने आ गया। साँड़ को भगाने के लिए वे नीचे उतरे तो साँड़ उनके पीछे पड़ गया। उन्होंने पेड़ पर चढ़ कर जान बचायी पर साँड़ ने मोटर का बुरा हाल कर डाला। साँड़ चला गया तो जो व्यक्ति

सामने मिला, उसी को उन्होने कहा — मोटर ठीक कराओ। जब उसने इन्कार किया, तो वे अकड गये और गालियाँ देने लगे। धक्कमधक्का भी हो गया। इतने मे उस गाँववाले का भाई आ गया, तो पता लगा कि वह उनके जेल का साथी धन्नासिह है। फिर तो वे धन्नासिह के घर मे गये। थोडी देर मे मनोरमा मोटर पर उनकी तलाश मे आयी, और उन्हे ले कर लौट गयी।

अहिल्या ऐश्वर्य मे डूबी हुई थी। वह पुराने वातावरण मे लौटने को तैयार नही थी, तब चक्रधर चुपके से वहाँ से चले गये। इसी बीच मे धन्नासिह का भाई उसी चोट से मर गया। इस पर क्षतिपूर्ति के तौर पर धन्नासिह को काफी जमीन माफी मे दे दी गयी। शखधर अपने पिता को खोजने के लिए निकल पडा और उन्हे ढूंढ निकाला। उसने गुप्त रूप से अहिल्या को एक पत्र भी दिया, पर अहिल्या बहुत बीमार थी। यह समाचार पा कर शखधर घर के लिए रवाना हो गया। वह जा ही रहा था कि रास्ते मे किसी अज्ञात शक्ति के कारण 'हर्षपुर' पहुँचा। एक विशाल भवन के भीतर वह रानी से मिलने के लिए चला। यद्यपि उसने यह महल इस जन्म मे नही देखा था, पर उसे इसकी एक-एक चीज याद आ रही थी। रानी को खबर दी गयी तो वह नाराज हुई, पर स्मरण हो आने पर वह शंखधर के पास पहुँची, क्योकि यह पूर्वजन्म मे उसके पति थे। दोनो खूब मिले। फिर अगले दिन शखधर रवाना हो गये।

राजा साहब ने जब यह देखा कि बीस साल बाद मिलने पर भी लडकी, नाती, दामाद सबने उनका साथ छोड दिया, तो वे बहुत दुखी हुए। वे मनोरमा पर भी नाराज हो गये, और प्रजा पर अत्याचार करने लगे। राजा साहब ने नई शादी तय की। बरात तैयार ही थी कि शखधर के साथ अहिल्या और कमला भी आयी। यह कमला और कोई नही, भूतपूर्व रानी देवप्रिया थी। पर शखधर और कमला का मिलन अधिक दिन नही टिका, क्योकि शखधर ने कहा कि हम तब मिलेगे जब हममे वासना न हो। शखधर की मृत्यु का समाचार सुन कर राजा साहब भी मर गये।

चक्रधर आये तो उन्हे यह सब सुन कर बहुत दु ख हुआ। उनके आने पर अहिल्या भी मर गयी। अतिम दृश्य यह है कि देवप्रिया फिर राज्य करने लगी, पर अब वह तपस्विनी देवप्रिया है।

कायाकल्प पर विचार

सभी समालोचक इस विषय मे सहमत है कि 'कायाकल्प' से प्रेमचद ने अब तक जो ख्याति प्राप्त की थी, उसमे कुछ वृद्धि नही हुई। रामरतन भटनागर का कहना है कि 'प्रेमचद के अन्य उपन्यासो की कथावस्तु को हम समझ सकते हैं, परतु कायाकल्प की कथाएँ हमे चक्कर में डाल देती हैं। कौन कथा अधिकारिक है, कौन प्रासगिक, प्रेमचद क्या कहना चाहते हैं, मूल बात क्या है, पाठक समझ नही पाता।' डाक्टर रामविलास कहते है, 'निर्माण की दृष्टि से कायाकल्प प्रेमचद का सबसे निर्बल उपन्यास है।' सत्य इससे भी कटुतर है। समग्र रूप से लेने पर यह उपन्यास न केवल ऊलजलूल, निरर्थक, शिथिल तथा लचर है, बल्कि इसका कुछ रुख भी प्रगति विरोधी है। इस उपन्यास के दो भाग है, एक मे रानी देवप्रिया तथा उनके जन्मो का इतिहास है, दूसरे मे चक्रधर की कथा है। रानी देवप्रिया वाला हिस्सा उपन्यास को सब तरह से—अर्थात् कला की दृष्टि से देखिए तो, और स्वस्थ विचारो की दृष्टि से देखिए तो नीचे की ओर घसीटता है। इस हिस्से का क्या प्रतिपाद्य या आशय है, यह समझ मे ही नही आता। इस उपन्यास मे यह दिखलाया गया है कि रानी देवप्रिया के कई जन्म होते है, और हर बार उन्हे पतिरूप मे वही व्यक्ति मिलता है, कितु शारीरिक मिलन की चेष्टा करते ही पाडु की तरह उस प्रेमी का देहात हो जाता है। वही भटनागर जी जो यह कहते है कि कायाकल्प उन्हे चक्कर मे डाल देता है, न मालूम किस रहस्यवादी मनोवृत्ति से परिचालित हो कर और शायद यह भूल कर कि उन्होने पहले वैसा कहा है, इस प्रसग का यो 'उद्घाटन' करते है—

'जन्म - जन्मातर मे प्रेमप्रसग के चित्रित करने में क्या तथ्य है? जान पडता है प्रेमचद स्त्री - पुरुष के सबन्ध को दो स्तरो पर रख कर देख रहे है। आध्यात्मिक स्तर पर रख कर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद अप्राप्त है। वासना की झाँई पडते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा आदर्श है, दिव्य आदर्श है। हमारे सबके लिए तो सामाजिक और व्यावहारिक स्तर ही ठीक है, जहाँ स्त्री - पुरुष के लिए विवाह के सूत्र मे बँध कर जीवन पयत, और एक की मृत्यु के बाद दूसरे को इस 'मर्यादा' की रक्षा करनी है।

जन्म-जन्मांतरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला ही है। परंतु विवाह तन का नहीं, मन का है।'

श्री भटनागर यदि इस प्रकार रहस्यवादी ढर्रे पर बहक गये तो हमें कोई विशेष आश्चर्य नहीं है, किंतु हमें इस बात से बहुत ही आश्चर्य है कि रामविलास शर्मा भी इस संबंध में इसी प्रकार के मंतव्य करते हैं। वे कहते हैं, 'नारी की लालसा यदि जन्म-जन्मांतर भी अतृप्त रहे तो क्या आश्चर्य ? मानो उस लालसा की अस्वस्थ तीव्रता को व्यक्त करने के लिए ही प्रेमचंद ने उसके प्रेमी को बार-बार जन्माया है, और यह नारी उस युवा को बार-बार ग्रस लेती है, अंतिम बार जब वह शंखधर के रूप में पैदा होता है।'

भटनागर जी ने वासना की झाँईवाली जो व्याख्या की है, वह बहुत मनोज्ञ होने पर भी तथा विद्वान् समालोचक की काल्पनिकता की साक्षी होने पर भी तथ्य से कहीं दूर है। रानी देवप्रिया अपने पति के मरने के बाद बराबर भ्रमरवृत्ति से काम लेती रही, न मालूम कितने नौनिहाल फूलों का जीवन मधु उन्होंने चूस लिया। फिर भी वह प्रत्येक जन्म में पति के रूप में अपने पूर्वपति को पाती जाती है, इससे प्रेम की आध्यात्मिकता तथा चिरंतनता सूचित होती है, अथवा यह ज्ञात होता है कि प्रेम भी भाग्य की तरह एक अनियंत्रित शक्ति है, जिससे तर्क से कोई संबंध नहीं ? रहा जन्मजन्मांतरों तक चलनेवाला प्रेम और पति-पत्नी संबंध कल्पना जगत में कितना भी मधुर हो, वास्तविक जगत में बराबर पुरुष-प्रधान समाज में इस विचार के द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखा है। यदि पति मर जाय, तो स्त्री फिर से शादी नहीं कर सकती, चाहे उसने पति का मुँह कभी देखा भी न हो, क्योंकि पति-पत्नी का संबंध एक जन्म का नहीं बल्कि जन्मजन्मांतरों का है, किंतु यदि स्त्री मर जाय तो यह धारणा कभी भी पुरुष को पुनर्विवाह से रोक नहीं पायी। इस प्रसंग में जन्मजन्मांतरगत पति-पत्नी संबंधवाली धारणा की सामाजिक अंतर्गत वस्तु को देख लेना बिल्कुल अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। यदि भटनागर जी की समालोचना मानी जाय, तो प्रेमचंद इस उपन्यास के देवप्रियावाले हिस्से में पक्के प्रतिक्रियावादी तथा पुरुष-प्रधान समाज के पिट्ठू के रूप में सामने आते हैं। रामविलास शर्मा ने भी 'मानों' लगा कर इसी विचारसरणि का अनुसरण किया है, यह बहुत ही दुःख की बात है। प्रगतिशील समालोचना किसी भी अवस्था

मे अपने को रहस्यवाद के वाग्जाल मे फँसने नही दे सकती, वह तो हर हालत मे किसी भी साहित्य को उसकी अतर्गत वस्तु के कारण ही भला या बुरा करार देगी। जन्मातरवाद की धारणा ही प्रगति-विरोधी है। भारतीय आर्य-समाज की एक पतनशील अवस्था मे इस धारणा की उत्पत्ति हुई। जन्मातरवाद Status quo का समर्थन करना है। यह बताता है कि अमीर इसलिए अमीर है कि उसने पूर्वजन्म मे सुकृत्य किये है, गरीब इसलिए गरीब है कि उसके कृत्य इसी के अनुरूप है। यदि इस जन्म मे न्याय नही हुआ तो अगले मे होगा। हमने अन्यत्र जन्मातरवाद और कर्म-सिद्धात की बहुत विस्तृत आलोचना की है, यहाँ पर सक्षेप मे भी उसकी पुनरावृत्ति की कोई गुजाइश नही है। फिर हम दूर क्यो जायँ, यदि उल्लिखित विद्वान समालोचकगण ने प्रेमचद साहित्य को ही इस सबध मे खोजा होता तो उन्हे पुनर्जन्मवाद की अतर्गत वस्तु क्या है, यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता।

बाद को प्रेमचद ने ही कर्मभूमि मे लिखा—

"चौधरी ने सदेह का सहारा लिया—भगवान ने छोटे बडे का भेद क्यो लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उसके तो सभी लड़के हैं। फिर सबको एक आँख से क्यो नहीं देखता ?

प्रयाग ने शका समाधान की—पूरब जनम का सस्कार है। जिसने जैसे कर्म किये, वैसे फल पा रहे है।

चौधरी ने खडन किया। यह सब मन को समझाने की बातें है, बेटा, जिसमें गरीबो को अपनी दशा पर सतोख रहे, और अमीरो के रागरग मे किसी तरह की बाधा न पडे। लोग समझते रहें कि भगवान ने हमें गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष, पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम मे लगे रहे, और पेट भर भोजन न मिले, और एक-एक अपसर को दस-दस हजार की तलब मिले। दस तोडे के रुपये हुए। गदहे से भी न उठे।" (कर्मभूमि)

इस प्रकार जन्मातरवाद के जरिये से प्रेम की चिरतनता तथा स्वय जन्मातरवाद की सामाजिक अतर्गत वस्तु को हमने देख लिया। जन्मातरवाद के विषय मे सबसे मजे की बात यह है कि यह धारणा जिसे आज भारतीय सभी धर्म अपनी आधारशिला बनाये हुए है, हिंदुओ के सबसे पवित्र धर्मग्रन्थ ऋग्वेद मे नही

है। हम ब्योरे में नहीं जाना चाहते, किंतु फिर भी इस संबंध में हम डाक्टर विन्टर-निटस के शब्दों को उद्धृत करने के लोभ को संवृत नहीं कर सकते। वे लिखते हैं, 'Of the dismal belief in the transmigration of the soul and eternal rebirth—the belief which controls the whole philosophical thoughts of the Indians in later centuries—there is in the Rg Veda as yet no trace to be found.' अर्थात् 'ऋग्वेद में जन्मांतरवाद का पता नहीं मिलता यद्यपि बाद की शताब्दियों के सारे दार्शनिक विचारों का केन्द्र यही विचार है।' (History of Indian Literature, पृष्ठ—७८)।

न मालूम किस वातावरण से प्रभावित हो कर प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में जन्मों की कथा दे दी। इसमें संदेह नहीं, यह एक बहुत ही प्रगतिविरोधी प्रवृत्ति थी; और यह हर्ष की बात है कि बाद की रचनाओं में वे इस प्रवृत्ति से मुक्त हो गये, बल्कि जैसा कि हम दिखा चुके कर्मभूमि में उन्होंने जन्मांतरवाद की ऐसी सुसंगत व्याख्या कर दी जिसमें किसी प्रकार कोई बात कट्टर से कट्टर समाजवादी दार्शनिक भी नहीं जोड़ सकता। विशुद्ध कला की दृष्टि से देखने पर भी देवप्रिया की कहानी के कारण पुस्तक का रसभंग ही हुआ है, और सारा उपन्यास एक अजीब शिथिलता के भँवर में फँस गया है। यह ताज्जुब है कि भटनागर जी फिर भी इस उपन्यास के संबंध में यह लिखते हैं कि 'गोदान के बाद यह प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास रहेगा। संसार साहित्य के प्रेम रोमांचकों में इसका स्थान सुरक्षित है। इस एक उपन्यास में सामयिक आंदोलनों और अमर समस्याओं को एक ग्रंथि में गूँथा गया है।' सामयिक आंदोलनों पर हम बाद को आयेंगे, किंतु यह कथित अमर समस्याएँ क्या हैं यह समझ में नहीं आता। इससे केवल इतना ही समझ में आता है कि विद्वान लेखक जन्मांतरवाद में और उसके आनुसंगिक विचारों में आस्थावान है। रहा सामयिक और अमर समस्याओं को एक ग्रंथि में गूँथने की बात, इस पर हम एक बहुत बड़े अधिकारी समालोचक की राय दे चुके हैं, और वह अधिकारी समालोचक स्वयं भटनागर जी हैं। वे ही कहते हैं कि कायाकल्प की कथाएँ उन्हें चक्कर में डाल देती हैं, कौन कथा अधिकारिक है, कौन प्रासंगिक यह उनकी समझ में नहीं आता, फिर वही कहते हैं कि दोनों हिस्सों को अच्छी तरह एक ग्रंथि में

गूँथा गया है। अब हम इनमें से किस बात का विश्वास करें? हमारा यह सुचिंतित मत है कि देवप्रियावाले अंश के कारण यह उपन्यास प्रेमचंद की रचनाओं में सब से घटिया दर्जे का हो गया है। ध्यान से पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि भटनागर जी तथा रामविलास भी यही समझते हैं कि यह उपन्यास घटिया दर्जे का है, किंतु सत्साहस के अभाव के कारण वे इस बात को खुल कर कह न पाये, बहुत कुछ झाड़ियाँ करके रह गये। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक लेखक समग्र रूप से प्रगतिशील हो, किंतु उसकी रचना विशेष प्रगति विरोधी हो— विशेषकर जब कि लेखक कमोवेश उञ्छवृत्तिवादी या eclectic है। हम समझते हैं कि यह कह देने पर भी कि कायाकल्प निम्नकोटि का उपन्यास है, प्रेमचंद पर कोई आँच नहीं आती।

हाँ, देवप्रियावाले हिस्से को निकाल देने पर — सच बात तो यह है कि उसे निकाल देना बिल्कुल आसान है, क्योंकि चक्रधरवाली कहानी से उसका कोई विशेष संबंध नहीं है — यह उपन्यास प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की श्रेणी में आ जाता है। जन्मजन्मांतर तथा तिब्बत की गुफाओं की हवाई सैर से उतर कर जब प्रेमचंद हमारे सुपरिचित वास्तविक समतल पर आते हैं, तो उनका चित्रण बहुत अच्छा उतरता है। वही वर्ग-संघर्ष, एक वर्ग तो बेगार देते-देते मरा जाता है, पेट में अन्न नहीं है, तन पर कपड़े नहीं हैं, गालियाँ, मार पड़ रही है, ढोरों से भी बुरा हाल है; दूसरी ओर शासक वर्ग है, तीन-तीन, चार-चार बीबियाँ हैं, प्रत्येक बीबी के लिए अलग इंतजाम है, रुपये आ रहे हैं, विलासिता में ख़र्च हो रहे हैं, पुलिस भी देखो तो उनके साथ है, अदालत भी उन्हीं की-सी कहती है, राष्ट्र उनका है, आसमान उनका है, जमीन उनकी है, दिन उनका है, रात उनकी है। भारतीय देहात में आते ही प्रेमचंद अपने परिचित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी लेखनी से देहाती जीवन सजीव हो जाता है। देहाती जीवन का यह चित्र Idyllic या बंशी बजाना, और गौ चरानेवाला चित्र नहीं है, बल्कि इसमें रोग है, गरीबी है, कुसंस्कार है, अज्ञान है, अशिक्षा है।

यों तो विराट् प्रेमचंद-साहित्य में देहाती जीवन का सर्वत्र चित्रण है, किंतु रंगभूमि में और इस उपन्यास में जमींदारी प्रथा को एक पद्धति के रूप में जितना स्पष्ट किया गया है, उतना कहीं नहीं किया गया है। चक्रधर बेगार के

विरुद्ध आवाज उठा कर जेल जाता है, जेल में कैदियों की ओर से अपने ढंग से लड़ता है, जेल में उसकी सजा बढ़ते-बढ़ते रह जाती है, बाहर आ कर एकाएक वह अपने को ठाकुर विशालसिंह के दामाद के रूप में पाता है, क्योंकि इस बीच में पता लगा है कि उसकी स्त्री अहिल्या राजा विशालसिंह की खोयी हुई लड़की है ; वह मोटर में सैर करने जाता है, और उसकी मोटर एक जगह फँस जाती है। वह पासवाले गाँव में जाता है, वहाँ जो व्यक्ति पहले मिलता है उससे कहता है कि आ कर मेरी मदद करो, जब वह मदद नहीं करता तो उसको मारता है, और उसका हाथ तोड़ देता है। वही व्यक्ति जो बेगार के विरुद्ध लड़ कर जेल गया था, आज स्वयं बेगार न पाने पर हाथ तोड़ देता है। यह पद्धति की महिमा है। चक्रधर आदि से अंत तक द्रष्टृगत रूप से किसानों का हिमायती है, अहिंसावादी है, किंतु पद्धति के फेर में पड़ते ही किसानों के ऊपर जुल्म करनेवाला तथा हिंसावादी बन जाता है। क्या इस प्रकार लेखक ने यह इंगित नहीं किया है कि पद्धति को नष्ट करने की आवश्यकता है, क्योंकि उसमें अच्छे से अच्छे आदमी भी जा कर उसी पद्धति के हो जाते हैं? इस वर्णन से यह भी तो ज्ञात होता है कि जब एक व्यक्ति किसी कारण से अपने को दूसरे वर्ग में पाता है, तो उसके विचार भी उसी के अनुरूप हो जाते हैं। इसी उपन्यास में एक और व्यक्ति का अनुरूप परिवर्तन हमें देखने को मिलता है। राज्य के अधिकारी होने के पहले विशालसिंह प्रजावत्सल थे, उनके विचार बुर्जुआ ढंग से उदार थे, किंतु राजा होते ही उनके विचार परिवर्तित हो जाते हैं। अवश्य यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता, इसमें कुछ अंतर्द्वन्द्व चलता है, प्रेमचंद इसे सफलता-पूर्वक दिखलाते हैं। पद्धति की अप्रतिकार्यता और भी एक बात से स्पष्ट होती है। मनोरमा इसी कारण राजा विशालसिंह से विवाह करती है कि वह इस पद्धति के अंतर्गत हो कर चक्रधर को उनके परोपकारी—विशेषकर किसान-उन्नति संबंधी कार्यों में सहायता करना चाहती थी (अभी तक चक्रधर राजा के दामाद नहीं हुए थे) किंतु क्या हुआ? अंत तक वह उस पद्धति के सामने हार कर बैठ गयी। अवश्य उसने जो हार मानी, और वह जो बैठ गयी, वह उस प्रकार ऋजु रेखा में घटित नहीं हुई, जिस प्रकार हमने बताया है, बल्कि सौतिया डाह आदि बहुत से कारण तथा घटनाएँ इस बीच में उपस्थित होती हैं, और उसे यह रुख लेने के लिए विवश करती हैं। किंतु प्रश्न तो यह है कि

आखिरी नतीजा यही हुआ कि उसकी सदिच्छा के बावजूद उसे थक कर बैठ जाना पड़ा। यह पद्धति की ही महिमा है।

जमींदारी पद्धति न केवल अपने अंतर्गत व्यक्तियों को, चाहे वे पहले से इसके अंतर्गत रहे हों, अथवा चक्रधर की तरह पीछे के किवाड़े से आये हों, पतित कर देती है, बल्कि वह अपनी जबर्दस्ती तथा अन्य हथकंडों से शोषितों को भी पतित कर देती है। यदि जमींदारों के अहलकार बेईमान, मिथ्याभाषी, दगाबाज हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, वे भी लूट के हिस्सेदार हैं, किंतु यह पद्धति अपने नीचे पिसती हुई जनता को भी गिरा देती है। जब तक गाँववालों को यह पता नहीं था कि मोटर के लिए बेगार माँगने वाला व्यक्ति कौन है, तब तक वे अपने एक साथी के मारे जाने पर आगबबूला हो रहे थे, किंतु ज्यों ही उन्हें पता लग गया कि यह व्यक्ति राजा का दामाद तथा मुंशी वज्रधर का पुत्र है, त्यों ही उनका सारा ढंग बदल गया। उस घायल व्यक्ति के भाई ने ही—कहाँ तो वह डाँट रहा था, और आँख का बदला आँख तथा दाँत का बदला दाँत ले कर हो सकता है, इस नीति का प्रतिपादन कर रहा था, एकाएक कह उठा—'सरकार ही बाबू चक्रधरसिंह हैं, धन्य भाग्य थे कि सरकार के आज दर्शन हुए।' स्वयं वह घायल अत्यंत घृणित और खुशामदी तरीके से कराहते हुए भी मुस्कराते हुए कहता है—'सरकार देखने में तो दुबले पतले हैं, पर आपके हाथपाँव लोहे के हैं। मैंने सरकार से भिड़ना चाहा, पर आपने एक ही अड़ंगे में मुझे दे पटका।' उस घायल के भाई ने इस पर घायल को संबोधित करते हुए कहा—'अरे पागल, भाग्यवानों के हाथ-पाँव में ताकत नहीं होती, अकबाल में ताकत होती है। उससे देवता तक काँपते हैं।' राजा के दामाद के मुँह पर ऐसी बात करना कुछ हद तक क्षम्य कहा जा सकता है, किंतु बात यहीं खतम नहीं होती। कुछ दिनों बाद वह घायल उसी चोट से मर जाता है, इस पर भी उसके भाई को क्रोध नहीं आता। वह कहता है—'कजा आ गयी तो कोई क्या कर सकता है। बाबू जी के हाथ में कोई डंडा भी तो नहीं था। दो-चार घूँसे मारे होंगे, और क्या? मगर उस दिन से फिर बेचारा उठा नहीं।' दूसरे आदमी ने कहा कि ठाँव-कुठाँव चोट लग गयी होगी। एक बूढ़े ने कुछ प्रतिवाद भी किया, किंतु मृत व्यक्ति के भाई ने कहा—'वह राज्य पा कर फूल उठनेवाले व्यक्ति नहीं हैं। तुमने देखा यहाँ से जाते ही जाते माफी दिला

दी।' इस प्रकार यह पद्धति न केवल शोषक को जालिम बनाती है, बल्कि शोषित को भी मनुष्यत्व से गिरा देती है। इस प्रकार प्रेमचंद-साहित्य का यह आशय है कि यह पद्धति अनैतिक है, इसका रहना ही एक अनीति है।

फिर भी गाँधीवादी सज्ञान प्रेमचंद कुछ और ही मत के हैं। चक्रधर के मुँह से उनके विचार व्यक्त होते हैं—'मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं, लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार में रहने का कोई हक नहीं, क्योंकि मैं जानता हूँ जिस दिन राजाओं की जरूरत न रहेगी, उस दिन उनका अंत हो जायेगा। देश में वही राज्यव्यवस्था होती है, जिसका वह अधिकारी होता है।' इस प्रकार अपने साहित्य में तार्किक रूप से वे जमींदारी प्रथा के विलोप को एकमात्र ध्येय बताने पर भी सज्ञान रूप से अभी वर्ग-समन्वय से शांति की आशा रखते हैं। चक्रधर इसी विचार को ले कर हमारे सामने आता है। लगे हाथों यह बता दिया जाय कि चक्रधर भी एक आवारा है, उसी किस्म का जिस किस्म का आवारा कर्म-भूमि का अमरकांत है। चक्रधर और अमरकांत के चरित्र में केवल ऊपरी समता ही नहीं, कुछ भीतरी समता भी है। प्रेम की उलझनों में ही पड़ कर तथा उन्हें सुलझाने में असमर्थ रह कर चक्रधर किसान-संगठन करता है। किसान-संगठन उसके जीवन का कोई लक्ष्य या ध्येय नहीं है, वह यों ही फँस सा जाता है। कर्मभूमि में तो यह होता है कि अमरकांत, सलीम आदि अपने उठाये हुए आन्दोलनों को किसी जगह पर लगा देते हैं, उनका कुछ न कुछ परिणाम होता है; किंतु चक्रधर के क्षेत्र में तो इस प्रकार की कोई बात देखने में नहीं आती। जेल से छूटने के बाद चक्रधर किसान-आंदोलन या पुस्तक की भाषा में सेवा-समिति का नाम भी नहीं लेता है। यह मानों उसके जीवन में एक क्षेपक-सा था, और बाद के जीवन में उसका कहीं भी पता नहीं लगता। चक्रधर अजीब भावुक व्यक्ति है, उसकी भावुकता मस्तिष्क विकृति के दर्जे तक पहुँच जाती है। बाद को वह नाना प्रकार के घात-प्रतिघातों से त्रस्त हो कर संन्यास ग्रहण करता है, और इस प्रकार उसकी जो अंतरतम आवारा वृत्ति है, वह चरम रूप से परितृप्त होती है। चक्रधर का चरित्र बहुत सजीव चरित्र है, सजीव इस माने में नहीं कि उसमें बहुत जीवन है, बल्कि सजीव इस माने में कि उसमें जो कुछ भी भला, बुरा, उदासीन जितना भी जीवन है, वह लेखक की लेखनी से बहुत अच्छी तरह परिस्फुट हो जाता है।

यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के अर्द्धविकृत मस्तिष्क पेटिबुर्जुआ वर्ग के लोगों के नेतृत्व से कुछ सामयिक रूप से किसान-मजदूरों को भले ही कुछ लाभ हो जाय, उनके अंदर से जब तक नेतृत्व पैदा नहीं होगा तब तक कुछ होना-जाना नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यासों मे किसानों के अग्रणियों के रूप में सभी जगह यही पेटिबुर्जुआ वर्ग के कुछ न कुछ अस्वाभाविक मनोवृत्ति सम्पन्न नौजवान दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेमाश्रम के प्रेमशंकर से ले कर गोदान के मेहता, मालती आदि सभी के द्वारा उठाये गये आन्दोलनों के परिणामों को यदि हम एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह शून्य होगा। हमने बार-बार कहा है कि एक लेखक अपनी रचना में जितना चाहता है, उससे कहीं अधिक चीजें होती हैं। क्या प्रेमचंद ने इस प्रकार एक साथ यह दिखलाया है कि एक तरफ तो शहरी भावुक पेटिबुर्जुआ नौजवानों के नेतृत्व से किसानों को कुछ न हासिल होगा, दूसरी तरफ गाँधीवादी विचार-धारा और कार्य-पद्धति विशेष लाभप्रद नहीं हो सकती ?

इसी उपन्यास में नायक चक्रधर के मुँह से नेताओं के संबन्ध में जो कुछ कहलाया गया है, उससे हमने ऊपर जो अनुमान किया है कि द्रष्टृगत रूप से वे गाँधीवादी नेतृत्व के समर्थक होने पर भी कला की दृश्यगतता ने उन्हें इस बात के लिए मजबूर किया कि वे इस नेतृत्व की पोल को दिखलावें। चक्रधर जो कहता है—'हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जा कर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती, न उन्हें वह शक्ति हाथ आती है, न जनता पर उनका वह प्रभाव पड़ता है जिसके बगैर राजनैतिक सफलता हो ही नहीं सकती।'

इस उपन्यास में उस्तादी पक्के गाने के गानेवालों तथा ज्योतिष का अच्छा मजाक उड़ाया गया है। गाने का उद्देश्य यह है कि उपस्थित जनता का मनोरंजन हो तथा उनको कलात्मक आनंद प्राप्त हो, किन्तु ये शास्त्रीय रूप से शुद्ध गानेवाले किस प्रकार जनता की अवहेलना कर कला को हास्यास्पद बनाते रहते हैं, इसका मुंशी वज्रधर के गाने और नाचने के दृश्य से अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। यों प्रेमचंद-साहित्य में हास्यरस की बहुत कमी है, किंतु इस उपलक्ष्य में उन्होंने जो निर्मल हास्य की धारा प्रवाहित की है, वह उनकी इस संबंधी शक्ति का परिचायक है। गाना कभी केवल कुछ राजाओं

महाराजाओं तथा उनके दरबारियों की उपभोग्य वस्तु थी, किंतु पूँजीवाद के आगमन के साथ-साथ अपेक्षाकृत रूप से शिक्षा तथा संस्कृति का जो बहुल प्रसार हुआ है, उसके कारण अब संगीत केवल दरबारी नहीं रह सकता। अब उसे अपने स्वर्ग से उतर कर गंगा के रूप में प्रवाहित हो कर जनता के लाखों सगर पुत्रों का उद्धार करना पड़ेगा। यदि ऐसा करने के दौरान में वह स्वर्गीय न रह पावे, उसे कुछ उतर कर पार्थिव होना पड़े, तो उसमें कोई हर्ज नहीं। इसी उपन्यास के एक पात्र के शब्दों में 'गाना ऐसा होना चाहिए कि दिल पर असर पड़े, यही नहीं कि तुम तो तुम तानाना का तार बाँध दो और सुनने वाला तुम्हारा मुँह ताकता रहे। जिस गाने से मन में भक्ति, वैराग्य, प्रेम और आनंद की तरंगें न उठें वह गाना नहीं है।' गाना यदि केवल एक तरह की कसरत हो अथवा स्वरों का योग वियोग हो, हृदय के साथ उसका कोई संबंध न हो — जनता के हृदय के साथ अपना संबंध स्थापित न कर सके, तो वह व्यर्थ है।

इसी प्रकार अन्यत्र इसी उपन्यास में फलित ज्योतिष का खूब मज़ाक उड़ाया गया है। यह दिखलाया गया है कि एक तो यह सारी विद्या झूठी है, दूसरा ये ज्योतिषी भी उसी प्रकार अपनी विद्या या अविद्या को डांड़ी-पल्ला ले कर दाम देनेवालों के हाथ बेचते रहते हैं जिस प्रकार इस पूँजीवादी युग में सभी चीज़ें बिकती रहती हैं। अव्वल तो फलित ज्योतिष कोई विद्या नहीं है, दूसरा उसे धनी लोग खरीदकर मूर्खों को बेवकूफ बनाया करते हैं। हिंदुओं के प्रचलित संस्कारों में एक बहुत बड़ा कुसंस्कार यह है कि शादी-ब्याह में या अन्य किसी काम-काज में फौरन ज्योतिषी बुलाये जाते हैं, उसका नतीजा क्या होता है यह हम सभी जानते हैं। ज्योतिषी बुलाये जाने पर भी लड़की विधवा होती है, पतोहू मर जाती है, इत्यादि, किंतु फिर भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं और एक परोपजीवी वर्ग इन्हीं लोगों की मूर्खता के कारण चैन की बाँसुरी बजाता है। इसी पुस्तक में एक तरफ तो ज्योतिष का इस प्रकार मजाक उड़ाया गया है, दूसरी तरफ परलोक की कथा लिखी गयी है, इसी से तो हमारा कहना यह है कि देवप्रियावाला हिस्सा बिल्कुल क्षेपक-सा ज्ञात होता है। ऐसा मालूम होता है कि किसी ने एक सुन्दर शरीर पर गदहे का सिर लगा दिया। ये दोनों धाराएँ बिल्कुल परस्पर विरुद्ध हैं, न मालूम किस मनोवृत्ति से

परिचालित हो कर तथा किन क्रियावादी प्रभावों के वशवर्ती हो कर लेखक ने इस उपन्यास में देवप्रिया संबंधी अटरम-सटरम भर दिया।

चक्रधर, वज्रधर, शंखधर, रानासाहब आदि के कारण हम इस उपन्यास के सबसे महिमामय क्यों सारे प्रेमचंद-साहित्य में सबसे अधिक प्रेमरस में पगी हुई, लौंगी के चरित्र को भूल जाते हैं। लौंगी प्रेमचंद की एक दिव्य सृष्टि है। उनके नारी चरित्रों में लौंगी का चरित्र एकमात्र आदर्श प्रेमिका का चरित्र है। लौंगी ठाकुर हरिसेवकसिंह की विवाहिता पत्नी नहीं है, किंतु उसके संबंध में कवि की भाषा में यही कह उठने की तबीयत होती है कि

सती होते श्रेष्ठ तुमि नाइ होले सतीनामधारी।

अर्थात् तू सती नामधारिणी भले ही न हो, तू सती से श्रेष्ठ है। हमारे विराट प्राचीन साहित्य में सती, सावित्री, सीता आदि कितने ही चरित्र हैं, किंतु लौंगी के मुकाबिले में प्रेम में सम्पूर्ण-रूप से कृत-आत्मसमर्पण कोई स्त्री चरित्र नहीं है। शरत्‌बाबू के श्रीकांत में अन्नदा दीदी का चरित्र ही एक ऐसा चरित्र है जिसे लौंगी से बढ़ कर बताया जा सकता है।

लौंगी और अन्नदा दीदी में एक विशेष प्रभेद यह है कि लौंगी एक छोटे कुल से आती है। इसलिए ठाकुर हरिसेवक की रखैली होने में भी समाज की सीढ़ी में वह कुछ शायद चढ़ती ही है, किंतु अन्नदा दीदी के क्षेत्र में यह बात नहीं है। हम इस संबंध में अधिक ब्यौरे में नहीं जाएँगे, सारांश यह है कि लौंगी का चरित्र विवाह प्रथा पर एक अच्छी फबती है। लौंगी भी कहती है—'चार भाँवरें फिर जाने से ही ब्याह नहीं हो जाता। मैंने अपने मालिक की जितनी सेवा की है, और करने को तैयार हूँ उतनी कौन ब्याहता करेगी? लाये तो हो बहू, कभी उठ कर एक लुटिया पानी भी देती है? खायी है कभी उसकी बनायी कोई चीज? नाम से कोई ब्याहता नहीं होती, सेवा और प्रेम से होती है।'

हम यहाँ पर यह मौलिक प्रश्न न उठायेंगे कि जिसे सतीत्व धर्म के नाम से सराहा जाता है, उसकी अंतर्गत वस्तु क्या है, उसमें गुलामी का कितना अंश है, उसकी पृष्ठभूमि में उत्पादन पद्धति में नारी का पिछड़ी होने का क्या हाथ है, हम तो केवल यही कह रहे हैं कि प्रचलित मानदंड से जिसे सती कहते हैं, लौंगी उससे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार इस उपन्यास के इहलौकिक अंश में बहुत से अच्छे तथा

स्वाभाविक चरित्र हैं। यदि देवप्रियावाला अंश न होता तो हम इस उपन्यास को निस्संदेह रूप से श्रेष्ठ कृतियों में गिनाते, किंतु उस अंश के बोझ के कारण इसकी कला मेघग्रसित हो गयी है। राइडर हेगार्ड ने अपनी 'शी' नामक रचना में तथा बँगला के अति आधुनिक लेखकों में फाल्गुनी मुखोपाध्याय ने 'ज्योतिर्गमय' नामक उपन्यास में परलोकतत्त्व-मूलक कथानक लिया है, किंतु कुछ भी हो इस प्रकार के कथानक को अपनाना प्रगतिवाद के विरुद्ध है, इसमें संदेह नहीं। प्रेमचंद ने अपनी 'मूठ' नामक कहानी में भी इसी प्रवृत्ति को अपनाया है।

ग़बन

रमानाथ के पिता दयानाथ कचहरी में नौकर थे। रिश्वत लेने की सुविधा होने पर भी वे रिश्वत को हराम समझते थे। रमानाथ का विवाह मुंशी दीनदयाल की कन्या जालपा के साथ तय हुआ। मुंशी दीनदयाल जमींदार के मुख्तार थे, और उन्होंने बहुत रुपया पैदा कर लिया था। उन्होंने कन्या के विवाह में एक हजार रुपये का टीका दिया। स्वाभाविकतया दयानाथ की ओर से भी हैसियत से अधिक ख़र्च हुआ, और वे कर्ज में लद गये। गहने भी खरीदे गये, किंतु चंद्रहार नहीं खरीदा गया। चंद्रहार न देख कर जालपा को बहुत दुख हुआ।

विवाह हो जाने के बाद के उपरांत ऋण चुकाने के लिये तकाजे पर तकाजे होने लगे। लाचार हो कर दयानाथ ने अपने बेटे रमानाथ को बुलाया, और तय किया कि सराफ के जितने रुपये बैठते हैं, उतने के आभूषण दे कर उसके रुपये अदा कर दिये जायें। रमानाथ अपनी नवविवाहिता पत्नी से अपनी हैसियत के बारे में लम्बी-चौड़ी बातें कह चुका था। अतएव उसके सामने सारी परिस्थिति को रखना, और फिर गहने वापिस लेना, उसे ठीक नहीं जँचा। बहुत सोच-विचार कर एक रात में जब जालपा सो रही थी, उसने गहने चुरा कर अपने बाप को दे दिये। दूसरे दिन जालपा से कह दिया गया कि गहने चोरी चले गये। दयानाथ गहनों के बक्स को ले कर सराफ के पास गये। २५०० रु० के गहने १५०० रु० में चले गये, साथ ही ५० रु० बाकी रहे आये।

अंत में रमानाथ ने म्युनिसिपेलिटी में तीस रुपया मासिक की नौकरी कर ली। कुछ ऊपरी आमदनी भी हो जाती थी। जालपा का गहनों के लिए तकाजा बढ़ता ही जाता था, पर वह उधार पर गहने लेने के पक्ष में न थी। फिर भी रमानाथ ने उधार पर साढ़े छै सौ रुपये के आभूषण खरीदे, जो उसकी आमदनी को देखते हुए बहुत बड़ी रकम थी। गहने पा कर जालपा को बड़ी

खुशी हुई, और उस दिन से उसकी पतिभक्ति और पतिसेवा में वृद्धि हुई। उसके साथ ही उसने महिला समाज में बन-ठन कर आना-जाना शुरू कर दिया। इससे खर्च और बढ़ गया। ऋण का भार कम होने के स्थान पर दिनों-दिन बढ़ता ही गया।

इसी समय जालपा का परिचय हाईकोर्ट के एडवोकेट इंद्रभूषण की पत्नी रतन से हुआ। जालपा को उसने अपने पति सहित अपने यहाँ निमंत्रित किया। रतन को जालपा के जड़ाऊ कंगन बहुत पसंद आये, और उसने रमानाथ को छै सौ रुपये वैसे कंगन खरीदने के लिए दिये। रमानाथ उन रुपयों को ले कर उसी सराफ के पास गया जिससे उधार पर जालपा के लिए गहने लिये थे। उसने रुपये रख लिये, और नये गहने देने से इनकार कर दिया। इधर रतन के तकाजे बढ़ने लगे। लाचार हो कर वह अपने दफ्तर की आमदनी को खजाने में जमा न कर अपने घर उठा लाया। ऐसा करने में उसका उद्देश्य रतन को तसल्ली देना था कि उसके रुपये कहीं नहीं गये हैं। पर उसकी गैरहाजिरी में जालपा ने छै सौ रुपये रतन को दे दिये। रमानाथ को जब यह मालूम हुआ, तो उसने बहुत हाथ-पैर पटके कि रुपयों का प्रबंध हो जाय, और वह दफ्तर की आमदनी खजाने में दाखिल कर दे। पर वह सफल न हो सका। लाचार हो कर उसने जालपा के नाम एक पत्र लिख कर अपनी जेब में रखा। वह सोच ही रहा था कि उसे जालपा को दे या न दे, पर इस बीच वह जालपा के हाथों में पड़ गया। रमानाथ यह देख कर घर से भाग गया, और रेल में बैठ कर कलकत्ता जा पहुँचा। जालपा पत्र पढ़ कर सारी परिस्थिति समझ गयी। उसने अपने आभूषणों को बंधक रखा, और रकम को खजाने में दाखिल कर दिया।

रास्ते में रमानाथ की भेंट देवीदीन नामक एक वृद्ध खटिक से हुई थी। वह उसी के साथ वहाँ पहुँचा, और वहाँ दिन गुजार रहा था। कलकत्ता में उसने अपना परिचय ब्राह्मण कर के दिया था। देवीदीन की बुढ़िया उससे कुढ़ती थी, वहाँ भी उसे हरदम पुलिस का भय बना रहता, और दूर से पुलिस-वालों को आता देख कर उसके हाथ-पैर काँपने लगते थे; इस प्रकार कई दिन बीत गये, और ठंड आ गयी। ठंड के लिए उसके पास कपड़े तो थे नहीं। अतएव वह एक दिन एक सेठ से दान में मिले कंबल को ले आया। देवीदीन ने

इस पर कहा—'सेठ की जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसके मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरों से। चर्बी मिला घी बेच कर इसने लाखों कमा लिया, कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे, तो तुरंत तलब कर लेता है। अगर साल में दो-चार हजार का दान न कर दे तो पाप का धन कैसे पचाये।'

देवीदीन और रमानाथ में घनिष्ठता बढ़ती गयी, और उसने रमानाथ से उसके भागने का सारा हाल जान लिया। सारा हाल जान कर वह रमानाथ को घर लौट जाने के लिए समझाने लगा। एक बार जब वह जाने के लिए राजी हुआ तो उसने रमानाथ के लिए स्वदेशी कपड़े खरीदे। इन कपड़ों के पीछे भी एक इतिहास था। उसने बताया कि इसी स्वदेशी के पीछे उसके दो जवान बेटे अपने प्राणों की आहुति दे चुके हैं। दोनों विदेशी कपड़े की दूकान पर तैनात थे, उन्होंने एक ग्राहक को भी दूकान में नहीं आने दिया। यह हाल देख कर गोरी फौज आयी, और उन्हें चले जाने का हुक्म दिया। उन्होंने इसे मानने से इनकार किया। नतीजा यह हुआ कि दोनों को डंडों से इतना मारा गया कि वे मर गये। जवान बेटों की मृत्यु के बाद उसने भी पिकेटिंग की, और अंत में जब दूकानदारों ने यह शपथ खा ली कि भविष्य में वे विदेशों से एक धागा भी न मँगायेंगे, उसने दम लिया। तब से उसने विदेशी माचिस तक नहीं खरीदी। इसी प्रकार देवीदीन देश के नेताओं की भी जब-तब आलोचना कर देता था—"गरीबों को लूट कर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। हाँ रोये जाओ, विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती मुरब्बे और अचार चखो, विलायती बर्तनों में खाओ, विलायती दवाइयाँ पीओ, पर देश के नाम पर रोये जाओ।"

इसी समय रमानाथ ने शतरंज के एक नक्शे को हल किया। उस पर पचास रुपये इनाम की घोषणा थी, और वे रुपये उसे मिले। अब तक बुढ़िया भी उसे स्नेह की दृष्टि से देखने लगी थी। धीरे-धीरे उसने चाय की दूकान खोल ली, और उससे आमदनी भी होने लगी। एक दिन वह ड्रामा देख कर लौट रहा था कि उसने पुलिसवालों को आते देखा। भय से उसका चेहरा विकृत हो गया। पुलिसवालों को संदेह हुआ, और वह हिरासत में ले लिया गया। डर कर रमानाथ ने सारी बातें दारोगा को बता दीं। यह देख कर

देवीदीन ने रिश्वत दे कर उसे छुड़ाने की चेष्टा की, पर दारोगा ने उसे एक डकैती में मुखबिर बना कर नामवरी हासिल करने की सोची। इसके लिए उन्होंने रमानाथ को सब्ज बाग दिखाये। इस बीच में दारोगा ने इलाहाबाद की पुलिस से पता चला लिया था रमानाथ पर कोई वारंट नहीं है, पर उसने रमानाथ को यह नहीं बताया, इसलिए रमानाथ ने इलाहाबादवाले मुकदमे से बचने के लिए गवाही देने का निश्चय कर लिया। देवीदीन को इससे नाराजी हुई।

उधर एडवोकेट इंद्रभूषण बीमार पड़े, और इलाज कराने के लिए रतन के साथ कलकत्ता आये। रतन दिन-रात पति की परिचर्या में लगी रहती, और जब अवसर मिलता तो रमानाथ की खोज करती। वकील साहब अच्छे नहीं हुए। उनकी मृत्यु के बाद उनके भतीजे मणिभूषण ने चाचा की सारी संपत्ति पर कब्जा कर लिया।

इधर जालपा यह पता पा कर कि रमानाथ कलकत्ते में है, अपने छोटे देवर को साथ ले कर कलकत्ता आयी। यहाँ पर उसकी भेंट देवीदीन से हुई। यह मालूम होने पर कि रमानाथ पर कोई वारंट नहीं है, देवीदीन ने जालपा को रमानाथ की झूठी गवाही का सब हाल सुनाया। तय हुआ कि किसी प्रकार रमानाथ को इस बात से रोका जाय। तिकड़म से जालपा ने पत्र लिख कर सारी बातें रमानाथ तक पहुँचा दीं। इसके बाद जालपा से उसकी मुलाकात भी हुई। उसने अपना बयान बदलने का वादा भी किया। पर अंत में उसने अपना बयान पुलिस के पक्ष में ही दिया। नतीजा यह हुआ कि रमा के बयान के आधार पर एक दिनेश को फाँसी की सजा, पाँच को दस-दस साल, और आठ को पाँच-पाँच साल की सजा मिली। मुकदमे के फैसले के उपरांत उसे मुक्ति मिली। वह देवीदीन के घर पहुँचा। उसने सोने की चार चूड़ियाँ बुढ़िया को देनी चाहीं, पर उसने उन्हें जमीन पर पटक दिया, और उसे खरी-खरी सुनायीं। इसी समय जालपा भी वहाँ पहुँची, और इसने भी कड़े शब्दों में उसके कृत्य की भर्त्सना की।

यह देख कर वह अपना बयान बदलने के लिए जज के पास गया। पर रास्ते में ही उसे अपने परिचित दारोगा मिल गये। उन्हें यह बात मालूम हो गयी, और उस पर फिर से चौकसी रखी जाने लगी। रमा के मनोरंजन के लिए एक

वेश्या जोहरा के पास लायी जाती थी। उसे रमा से कुछ-कुछ अनुराग हो चला। इसी बीच में मोटर में घूमते समय हावड़ाब्रिज के पास सिर पर कलश रखे जालपा को देखा। वह बहुत दुबली हो गयी थी। सैर से जब वापिस आया, तो जोहरा आयी। रमा को अन्यमनस्क पा कर उसने कारण पूछा। रमा के कारण बताने पर उसने वादा किया कि वह जालपा का पता लगायेगी। कई दिनों के बाद रमानाथ को उसके द्वारा विदित हुआ कि जालपा दिनेश के घर में रह कर उसके असहाय परिवार की सहायता कर रही है। अब की बार रमा ने हिम्मत से काम लिया, और जज से सारी बातें साफ-साफ कह दीं। मुकदमे की जाँच फिर से हुई। पुलिस की तरफ से बहुत दबाव डाला गया कि ऐसा न हो। पर अंत में सब-के-सब अभियुक्त साफ बरी हो गये। इसका नतीजा दारोगा और नायब दारोगा को भुगतना पड़ा और उनकी तनज्जुली हो गयी।

इसके उपरांत तीन वर्ष व्यतीत हो गये। देवीदीन ने जमीन खरीदी, खेती जमायी, पशु खरीदे और बगीचा लगाया। उसके साथ रमानाथ, जालपा, रतन, जोहरा सभी आ गये। दयानाथ भी नौकरी से बर्खास्त होने पर वहाँ पहुँचे, और सब-के-सब गाँववालों की सेवा कर आदर्श जीवन व्यतीत करने लगे। यहाँ रतन की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद सब लोग बरसात के दिनों मे नदी के किनारे बैठे थे कि एकाएक एक नाव उलट गयी। उसके सब यात्री डूब गये। केवल एक स्त्री और उसके साथ एक बच्चा किनारे के पास दृष्टि-गोचर हुआ। जोहरा उसे बचाने के लिये नदी में कूदी, पर स्वयं लहरों में समा गयी।

ग़बन पर विचार

यों तो प्रेमचंद के कई उपन्यासों में, बल्कि सभी उपन्यासों में मध्यवित्त वर्ग का चित्रण है, किंतु ग़बन में लेखक इस वर्ग के चरित्र का जितना सुन्दर, सजीव तथा मनोज्ञ उद्घाटन करने में समर्थ हुए हैं, उतना वे और किसी उपन्यास में नहीं कर पाये। यह पुस्तक मानों एक दर्पण है जिसमें मध्यवित्तवर्ग अपनी सजीव प्रतिच्छवि देख सकता है, जरा गर्दन झुकायी और इसमें अपनी तस्वीर नजर आयी। मध्य-वित्तवर्ग की बड़ी अजीब परिस्थिति है। मानसिक रूप से उसका रुझान ऊपर की ओर अर्थात् अपने से ऊपर के वर्गों की ओर

रहता है, किंतु आमदनी कम होने के कारण तथा नौकरी की प्रतियोगिता के कारण उसे हमेशा यह खतरा लगा रहता है कि कहीं वह जिस त्रिशंकु की अवस्था में है, उससे धम से गिर कर सर्वहारावर्ग में न शामिल हो जाय।

इस उपन्यास का नायक रमानाथ फटीचर बाबू श्रेणी का एक अन्य प्रतिनिधि है। हम यह नहीं कहते कि रमानाथ केवल एक टाइप मात्र है तथा उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। उसका व्यक्तित्व है, किंतु उसका व्यक्तित्व इतना नहीं है कि वह अपने वर्ग से अलग हवा में उड़ता हुआ एक व्यक्ति मालूम दे। रमानाथ के व्यक्तित्व के विषय में हम फिर आलोचना करेंगे, यहाँ पहले यह दिखला दें कि किस हद तक वह अपने वर्ग का एक प्रतिनिधि है। रमानाथ अपनी विवाहिता स्त्री से खूब जीट उड़ाता है, खूब बढ़-बढ़ कर बातें करता है। 'जमींदारी है। उससे कई हजार का नफा है, बैंक में रुपये हैं, उनका सूद आता है।' इत्यादि। इस प्रकार जीट उड़ाने में रमानाथ सही रूप से अपने वर्ग का प्रतिनिधि है। इसी वर्ग की यह कहावत है—प्रेम तथा युद्ध में कोई भी बात गर्हित नहीं है। पूछा जाय कि यदि प्रेम में कोई बात गर्हित नहीं है, यदि प्रेयसी या स्त्री से झूठ बोलना जायज है, तो सच कहाँ बोला जाय। ऐसा न समझा जाय कि इस प्रकार की कहावत केवल अँगरेजी में ही है। महाभारत में कहा गया है—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृता न्याहुरपातकानि॥

अर्थात् 'हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब जान पर आ बने तब और संपत्ति की रक्षा के लिए—इन पाँच अवसरों पर झूठ बोलना पाप नहीं है।' स्त्री पुरुष के संबंध के विषय में यह अच्छी धारणा है कि उससे झूठ बोलना जायज है। जब पारस्परिक विश्वास ही न हो, और झूठ बोलना पड़े, उस हालत में प्रेम का गुंजाइश कहाँ है? गबन में हम देखते भी यही हैं कि रमानाथ की जीटों के कारण ऐसी अजीब परिस्थिति हो जाती है कि रमानाथ को अंत में उसका समाधान अपनी स्त्री के गहने चुरा कर करना पड़ता है, क्योंकि वह जीट उड़ा चुका है, स्त्री को अपने परिवार की सच्ची हालत बता नहीं सकता है, इसलिए जिस समय स्त्री सो जाती है, उस समय उसके गहनों को उड़ा कर सोनार के हवाले कर अपनी और अपने परिवार की 'इज्जत' बचा लेता

है। फिर उसकी यह बहुमूल्य इज्जत भी बचती कहाँ है? कहाँ तो कह रहा था जमींदारी है, कई हजार का नफा है, बैंक में रुपये हैं, उनका सूद आता है, और कहाँ जाकर उसे म्युनिसिपिलिटी के दफ़्तर में तीस रुपये की नौकरी करनी पड़ती है। अवश्य वह अपनी स्त्री को तीस रुपये की बात नहीं बताता। फिर वही मध्यवित्तवर्ग की झूठी इज्जत की धारणा उसे स्त्री से झूठ बुलवाती है। तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी, इसलिए वह चालीस बताता है। साथ ही यह डरता है कि कहीं चालीस भी कम न समझा जाय, इसलिए उसी साँस में यह भी कह देता है कि जल्दी तरक्की होगी, जब कि सच बात यह है कि इस नौकरी में तरक्की की कोई विशेष गुंजाइश नहीं है। तरक्की होगी ऐसा कहना भी यथेष्ट समझा जाता है, इसलिए वह कहता है—'जगह आमदनी की हैं, अर्थात् इसमें घूस मिलने की संभावना है। कितनी सुन्दर संभावना है, भविष्य जीवन की सुनहली अट्टालिका इसी आशा के भरोसे बनती है कि घूस मिलेगी। इधर पत्नी से तो तनख्वाह चालीस बतायी है, किंतु माँ से जा कर तीस से बीस हो जाता है। जालपा स्वयं झूठ की शिकार है किंतु इस बात पर उल्लसित हो जाती है, कि रमानाथ अपनी माँ को बीस ही बतलायेगा। उसकी बाँछें खिल जाती हैं, कहती है—हाँ जी, बल्कि पन्द्रह ही कहना, ऊपर की आमदनी की तो चर्चा ही करना व्यर्थ है। भीतर का हिसाब वो ले सकते हैं, मैं सब से पहले चंद्रहार बनवाऊँगी।' जब रमानाथ ने बाद में सरकारी रुपये खर्च कर डाले, और देखा कि सिर पर कानून की तलवार लटक रही है, तो वह रमेश बाबू के पास सहायतार्थ जाता है, किंतु वहाँ भी असली बात न बता कर यह बताता है कि उसकी जेब कट गयी है, इसलिए रुपये घट गये। स्त्री से झूठ, मित्र से झूठ, पिता से झूठ, सभी से झूठ, यही हम इस चरित्र में बार-बार पाते हैं।

रमानाथ के पिता दयानाथ बड़े ही सज्जन तथा सहृदय व्यक्ति थे। कचहरी में नौकर थे, और पचास रुपये वेतन पाते थे, रिश्वत को हराम समझते थे। यह सब तो हुआ, किंतु लड़के की शादी में वे कर्जा लेते हैं, तथा इस प्रकार वे अपने वर्ग की झूठी इज्जत संबंधी धारणा के शिकार हो जाते हैं। वे सारे टीमटाम, नाच तमाशे, जिनकी कल्पना का गला उन्होंने घोट दिया था, वृहद रूप धारण कर के सामने आ गये। धूमधाम से विवाह करने की ठानी। पहले

जोड़े गहने को उन्होंने गौण समझ रखा था, अब वही सबसे मुख्य हो गया। ऐसा चढ़ाव हो कि मड़वेवाले देख कर फड़क उठें। इस प्रकार बात की बात में उनका वर्षों का संयम काफूर हो जाता है, और वे सैकड़ों के कर्जदार हो जाते हैं। केवल यही नहीं, जब कर्ज के मारे बहू के गहने सोनार को लौटा देने या चुराने की बात चलती है, तो उसमें वे यह सुझाव देते हैं कि बहू के असली गहने ले लिये जायँ, और उनके बदले मुलम्मे के गहने दिये जायँ। यही उनके वर्षों की ईमानदारी और घूस की जगह पर रह कर घूस न लेने के जीवन क्रम का परिणाम है। रमानाथ ने जो अंत तक अपनी स्त्री के गहनों की चोरी की, उस चोरी करने में यदि दयानाथ का हाथ न भी माना जाय, तो भी उस चोरी के माल को वे ले जा कर सोनार को देते हैं, और जब बहू समझती है कि चोरी हो गयी, तो उस पर चुप्पी साधे बैठे रहते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद ने कदाचित् यह दिखलाया है कि इस ढकोसलामूलक समाज में आदमी ईमानदार रह नहीं सकता।

ग़बन में यह दिखलाया गया है कि मध्यवित्तवर्ग का समाज ही ऐसा बन गया है कि यहाँ लोग खुद झूठ बोलते हैं, और दूसरों को झूठ बोलने पर मजबूर करते हैं, क्योंकि झूठ बोलने में इज्जत होती है। जब रमानाथ अपनी स्त्री के साथ रतन और वकील साहब से मिलने जाते हैं, तो वकील साहब पूछते हैं—'आप यहाँ किसी आफिस मे हैं?' इस पर रमा यदि बता देते कि चुंगी के दफ्तर में वह एक तीस रुपये का मुंशी मात्र है, तो वकील साहब शायद पछतावें कि क्यों रतन ने ऐसे एक मामूली औकात के व्यक्ति को अपने यहाँ निमंत्रित किया, इसलिए वह कहता है—'जी हाँ, म्युनिसिपिल आफिस में हूँ, कानून की तरफ जाने का इरादा था, पर नये वकीलों की जो यहाँ हालत हो रही है, उसे देख कर हिम्मत न पड़ी।' प्रेमचंद लिखते हैं — 'रमा ने अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए जरा-सा झूठ बोलना अनुचित न समझा। इसका असर बहुत अच्छा हुआ।' क्या खूब! इस समाज में झूठ का असर अच्छा होता है।

इस वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति एक बुरका ओढ़ कर समाज के सामने आता है। खाना वह भल ही रद्दी से रद्दी खावे, उसकी दाल में भले ही घी न पड़ता हो, किंतु कपड़े-लत्तों से तथा अन्य बाहरी ठाठों से प्रत्येक व्यक्ति यह दिखाने की कोशिश करता है कि उसकी हैसियत जितनी है, उससे अधिक है। बीस

रुपये की नौकरीवाला यह कोशिश करता है कि उसके संबंध में लोग यह समझें कि उसे चालीस मिलते हैं, और वह पचास के ठाठ-बाट से रहने की कोशिश करता है। पचासवाला सौ की और सौवाला दो सौ की, इत्यादि, यही इस समाज का चित्रण है। सार्त्र ने भी मध्यवित्तवर्ग के विषय में यही लिखा है। इस प्रकार की धारणा दूसरों को दिखाने के लिए कर्ज ले कर लड़के और लड़कियों की शादी की जाती है, हैसियत से अधिक अच्छे कपड़े पहने जाते हैं, जीट हाँकी जाती है। जीट केवल बाहरी लोगों के सामने ही उड़ाई जाती है, ऐसी बात नहीं। घर के अंदर, एक परिवार के अंदर, एक दूसरे को धोखा देने की कोशिश करते हैं। इस समाज का झूठ ही ओढ़ना है, और झूठ ही बिछौना है। ढोंग और ढकोसले ही इसके जीवन के मूल सूत्र हैं। और इस पर तुर्रा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति इसी के अंदर यह भी कोशिश करता है कि मैं ईमानदार समझा जाऊँ। दयानाथ अपने पुत्र को यह सुझाव देते हैं कि वह अपनी स्त्री के गहने उड़ा ले और उनकी जगह पर मुलम्मे के गहने रख दे। इसमें स्पष्ट ही चोरी करने की बात कही गयी थी, बल्कि इससे भी अधिक, क्योंकि इसमें चोरी के अतिरिक्त धोखा देने की बात भी थी। किंतु जब रमानाथ सचमुच गहने उठा लाता है, तो वे नाक भौं सिकोड़ते हैं, अनजान की तरह पूछते हैं—'इसे क्यों उठा लाये?' जब रमा इस पर यह कहता है कि 'तो फिर क्या वह फिर गहने के बक्स को जहाँ का तहाँ रख आवे', तब वह कहते हैं—'अब क्या रख आओगे? कहीं देख ले तो गजब ही हो जाय। वही काम करोगे जिसमें जग हँसाई हो। खड़े क्या हो, संदूकची मेरे बड़े संदूक में रख आओ, और जा कर लेट रहो। कहीं जाग पड़े तो बस।' संक्षेप में यह है कि वे इस चोरी के माल को हजम कर जाते हैं।

यही महाशय दयानाथ जब सुनते हैं कि रमानाथ घूस लेता है, तो वे अपने आपे से बाहर हो जाते हैं, वे अपने पुत्र से कहते हैं—'कभी एक पैसा भी हराम का नहीं लिया। तुम में यह आदत कहाँ से आ गयी। यह मेरी समझ में नहीं आता।' रमा इनकार करता है। तब दयानाथ पूछते हैं—'तुम दस्तूरी नहीं लेते?' रमानाथ इस पर कहता है कि 'दस्तूरी रिश्वत नहीं है, सभी लेते हैं, और खुल्लम-खुल्ला लेते हैं, लोग बिना माँगे आप देते हैं, मैं किसी से माँगने नहीं जाता' इस पर दयानाथ झल्ला कर कहते हैं—'सभी खुल्लम-खुल्ला लेते हैं, और लोग बिना माँगे देते हैं, इससे तो रिश्वत की बुराई कम नहीं हो जाती।' वही अच्छी

बात है, यह भी सच है कि दयानाथ ने कभी दस्तूरी भी नहीं ली, किंतु उन्होंने अपनी बहू के चुराये हुए गहनों को ले कर अपनी जान बचायी कि नहीं।

इस प्रकार इस वर्ग की एक विशेषता यह भी है कि सत्तर चूहे खा कर भी उसका सदस्य अपने को दूध का धुला हुआ समझता है। रमानाथ जिस प्रकार रिश्वत लेने का समर्थन करता है, उसे हम देख चुके। यह रिश्वत को दस्तूरी समझता है। कहता है—"दस्तूरी को बंद कर देना मेरे वस की बात नहीं है। मैं खुद न लूँ, चपरासी और मुहर्रिर का हाथ तो नहीं पकड़ सकता। आठ-आठ नौ-नौ पानेवाले नौकर अगर न लें, तो उनका काम नहीं चल सकता। मैं खुद न लूँ, पर उन्हें नहीं रोक सकता।"

रमानाथ की माँ भी बराबर यह चाहती है कि दयानाथ घूस लें। उसे इस बात का बड़ा अफसोस है कि दयानाथ घूस नहीं लेते, इसलिए वह न गहने बनवा पायी, और न उसका कोई शौक ही पूरा हुआ। हम इसके ब्यौरे में नहीं जायेंगे। जालपा का यह हाल है कि जब वह सुनती है कि रमानाथ को म्युनिसिपिलिटी में काम मिला है, और उसमें ऊपरी आमदनी है तो वह कुछ हिचकिचाती है। लगे हाथों हम यह बता दें कि उसका यह हिचकिचाना कुछ आश्चर्यजनक इसलिए है कि उसके पिता दीनदयाल बहुत पक्के घूसखोर थे, वह इसी वातावरण में पली थी, फिर उसे इस प्रकार की झिझक क्यों हुई, यह समझ में नहीं आती। जो कुछ भी हो, वह यह कह कर पति को एक ऊपरी चेतावनी-सी दे कर अपने विवेक के दंशान को शांत कर लेती है कि गरीबों का गला न काटना। वल्कि बाद को तो वह बहुत खुश होती है, और हिदायत कर देती है कि माता जी से ऊपरी आमदनी की चर्चा न करना क्योंकि ऐसा करना व्यर्थ है। इस प्रकार उसका भी मन संतुष्ट हो जाता है कि वह बहुत ईमानदार है, जब कि सच्ची बात यह है कि घूस से प्राप्त सारे पैसे उसी के प्रसाधन तथा अन्य फिजूल खर्ची में काम आते हैं।

अब इस समाज में जो पति-पत्नी का प्रेम है, उसका भी प्रेमचंद सुन्दर चित्र देते हैं। थोड़े में पति-पत्नी के प्रेम की कैसी पोल दिखाई गयी है। जब घूस से प्राप्त पैसों से रमानाथ जालपा को एक चंद्रहार बना देता है, तो उस दिन से जालपा के पति स्नेह में सेवा भाव का उदय हुआ। हम देखते हैं, अब रमानाथ स्नान करने जाता है, तो उसे अपनी धोती चुनी हुई मिलती है,

आले पर तेल और साबुन रखा हुआ मिलता है, जब दफ़्तर जाने लगता है, तो जालपा उसके कपड़े लगा कर सामने रख देती है। पहले पान माँगने पर मिलते थे, अब जबर्दस्ती खिलाये जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि जैसे-तैसे चंद्रहार देने के कारण जालपा का पातिव्रत्य एकाएक जोर मारता है, और वह पति का रुख देखा करती है। इस प्रकार इस वर्ग के प्रेम, द्वेष, सदाचार, पातिव्रत्य सभी बातों में ढकोसले का ही जोर है। प्रेमचंद इस उपन्यास में इस ढकोसले का खूब पर्दाफाश करते हैं। जो प्रेम असली हालत को न देखे, और पति को गहना देने का एक यंत्र मात्र समझे, वह प्रेम नहीं प्रेम शब्द का उपहास है।

श्री रामरतन भटनागर इस उपन्यास की समलोचना करते हुए कहते हैं कि 'इसे गहने की ट्रेजडी भी कहा जा सकता है।' मजे की बात है कि डाक्टर रामविलास भी इससे आगे नहीं जाते। वे भी कहते हैं—'यहाँ मूल समस्या गहनों को ले कर खड़ी हुई है।' गहने तो केवल इस समाज की कमजोरियों के एक अंश को मूर्त करते हैं। संभव है प्रेमचंद ने भी यही समझ कर इस पुस्तक को लिखा हो कि आमतौर से मध्यवित्तवर्ग की स्त्रियों में गहनों का जो मोह है, उसी को आधेय बना कर एक उपन्यास लिखा जाय, तदनुसार उन्होंने यह उपन्यास लिखा, किन्तु जैसा कि हम बारबार बता चुके हैं, एक लेखक अपनी रचना में सज्ञानरूप जो कुछ रखना चाहता है, यह जरूरी नहीं है कि वह रचना वहीं तक सीमित रहे। एक रचना में लेखक जो कुछ चाहता है, उससे अधिक रहता है। अवश्य हम यह जोर दे कर नहीं कहते कि प्रेमचंद ने इस उपन्यास को गहना संबन्धी उपन्यास के अतिरिक्त कुछ समझा ही नहीं, किन्तु उनके समालोचकों के विषय में तो यह बात बहुत कुछ सत्य है। जिस मौलिक कारण से रमानाथ बात-बात पर झूठ बोलता है, वकील साहब झूठ बोलने पर रमानाथ की इज्जत करते हैं, रमानाथ और दीनदयाल घूसखोर हैं, इत्यादि, उसी कारण से इस समाज की स्त्रियाँ गहने पसंद करती हैं। गहने का मोह सामाजिक रोग का एक लक्षण है, न कि सारा रोग। यदि हम इस बात पर विचार करें कि इस प्रकार गहने का मोह पुरुष प्रधान सारी समाज पद्धतियों में क्यों पाया जाता है, तो हम देखेंगे कि इसके कई गहरे कारण हैं। पुरुष धान समाज में नारी की कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं रही, अब धीरे-धीरे

पुरुष प्रधानता के दायरे में भी उसका उदय होता जा रहा है, यह और बात है; किंतु गहनों के रूप में स्त्रियों को हमेशा एक तरह से वैयक्तिक संपत्ति प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त जिस समाज में नारी का सबसे बड़ा गुण, और चरितार्थता यह है कि वह पुरुष को रिझा सके, उसमें स्वाभाविक रूप से प्रसाधन के एक जबर्दस्त साधन के रूप में अलंकारों की चाह होना स्वाभाविक है। फिर जैसा कि हम इंगित कर चुके इस समाज में सब चाहते हैं कि अपनी हैसियत में अधिक कर के अपने को दिखावें। इसके लिए भी अलंकार अच्छे साधन हैं। इस समाज में नारी का सबसे बड़ा गौरव यह भी है कि वह यह दिखा सके कि उसे पिता तथा बाद में पति का प्रेम प्राप्त है। यह प्रेम कितना है, इसको भी इस समाज में इस बात से नापने का रिवाज है कि पिता ने तथा बाद में पति ने किस स्त्री को कितने गहने दिये। जब इतनी बातें हैं तो फिर स्त्रियों में अलंकार का मोह क्यों न हो। इस पृष्ठभूमि में यही स्वाभाविक ज्ञात होता है। ट्रेजडी गहने की नहीं है, बल्कि सारे मध्यवित्तवर्ग, बल्कि पुरुष प्रधान समाज की ट्रेजडी है। समस्या गहने की नहीं है, बल्कि समस्या इससे कहीं गहरी है, उसका रूप दोहरा है, एक तो यह कि इस समाज में नारी नर की आश्रिता है, दूसरा यह पुरुष की वैयक्तिक संपत्ति की प्रधानता मूलक समाज है।

इस समाज में पातिव्रत्य की पोल तो हमने देख ही ली, प्रेमचंद जी ने इसमें दान की पोल भी खूब दिखलायी है। करोड़ीमल अपने जूट की मिल में मजदूरों के साथ खूब जुल्म करते हैं, किंतु कहीं मंदिर बनवाते हैं, तो कहीं कंबल बँटवाते हैं, इत्यादि। वे दानी कहलाते हैं, किंतु उनकी मिल में जा कर कोई देखे कि उनके धर्मात्मापन की क्या पोल है।

इस समाज में लीडर भी समाज की आम भूलचूक तथा त्रुटि से मुक्त नहीं हैं। देवीदीन यह जो कहता है कि लीडरों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता, उनके घर में देशी चीज न मिलेगी, दिखाने को दस बीस कुर्ते गाढ़े के बनवा लिये हैं, घर का और सब सामान विलायती है, ये सब बातें भी इस समाज की पोल को दिखलाते हैं। मध्यवित्तवर्ग के आंदोलन में इस प्रकार के लोगों का पाया जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जब हम इस उपन्यास के कथानक की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हम

इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि निर्मला के अतिरिक्त प्रेमचंद के किसी भी उपन्यास का कथानक इतना सुग्रथित नहीं है। प्रेमचंद के अधिकांश उपन्यासों के पढ़ने से यह धारणा होती है कि लेखक विभिन्न समय कथा लिखते गये, और उसके बीच का संपर्क सूत्र अच्छी तरह कायम नहीं रह सका; हमें इन उपन्यासों में जीवन के कुछ सजीव चित्र जरूर मिलते हैं, किंतु उनका संगठन अच्छी तरह नहीं किया गया है, किंतु इस उपन्यास की बात और ही है। संगठन की दृष्टि से निर्मला और ग़बन प्रेमचंद के श्रेष्ठतम उपन्यास हैं। रमा भाग कर जब तक कलकत्ते में देवीदीन के यहाँ पहुँचता है, तब तक का कथानक तो बहुत ही सुग्रथित है। बाद में कुछ-कुछ शिथिलता दिखलाई पड़ती है, क्योंकि प्रेमचंद अभी-अभी जो आन्दोलन (१६३०-३१) हो चुका है, उसका कुछ पुट इसमें देने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। खटिक के लड़कों का विदेशी कपड़ों की दूकानों पर पिकेटिंग करते हुए गोली के शिकार होने का जो चित्र खींचा गया है, वह इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। अवश्य इस कथा को भी मूल कथानक के साथ जोड़ने की कोशिश की गयी है, और वह एक हद तक सफल भी है, किंतु फिर भी कुछ शिथिलता रह जाती है। इसी प्रकार रतन की जो पूरी कथा को इस उपन्यास के अंदर फिट करने की कोशिश की गई है, वह भी आंशिक रूप से ही सफल हो सकी है। यदि लेखक रतन के जीवन को उसकी अंतिम परिणति तक दिखाने का आग्रह न कर केवल वहीं तक दिखाते जहाँ तक रमानाथ और जालपा के चरित्र को परिस्फुट करने के लिए जरूरत थी, अर्थात् वकील साहब की मृत्यु तथा उनके भतीजे के द्वारा रतन को घर की मालकिन पद से उतार कर एक मामूली आश्रिता के पद तक पहुँचा देने की बात का वर्णन न करते तो कथानक की कोई हानि नहीं होती, बल्कि कथानक की सुग्रथितता कायम रहती। अवश्य जब यह कथा दी गयी है, तो उस हालत में क्या परिस्थिति पैदा हुई, इसे भी हम एक वाक्य में देख लें! रतन जिस समय पति की मृत्यु के बाद पति के भतीजे के द्वारा एक तरह से निकाल-सी दी जाती है, उस समय यह जो उद्गार करती है—'बहिनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह न करना, और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना'—उसमें नारी की संपत्तिहीनता यहाँ तक कि अपने पति की संपत्ति पर कोई अधिकार न होने की ट्रेजडी मूर्त

हो कर हमारे सामने आती है। इसी प्रकार खटिक के लड़कों के शहीद होने की कथा स्वयं एक बहुत ही वीरता पूर्ण कहानी है, इससे भारत में बृटिश साम्राज्यवाद का नग्न-चित्र हमारे सन्मुख सजीव हो कर आ जाता है। खटिक अपने पुत्रों के शहीद होने की कथा कहता है, उसी सिलसिले में वह रमानाथ के सम्मुख स्वराज्य का जो चित्र खींचता है, उसमें जनता किस प्रकार का स्वराज्य चाहती है, यह स्पष्ट हो जाता है। इस स्वराज्य के चित्रण में स्पष्ट ही समाजवाद का पुट है। जनता यह नहीं चाहती कि केवल उसके प्रभुओं के चमड़े के रंग में तब्दीली हो जाय, बल्कि वह चाहती है कि शक्ति उसके हाथ में आवे। अपनी-अपनी जगह पर उल्लिखित सभी बातें अलग-अलग अच्छी हैं, उनमें जीवन भी है, किंतु मूल कथानक के साथ वे अंगांगी रूप से (organically) संबद्ध नहीं हो पाये।

अब हम फिर मूल कथानक की ओर बढ़ते हैं, तो देखते हैं कि जिन परिस्थितियों में रमानाथ मुखबिर बन जाता है, वह बिल्कुल स्वाभाविक है, किंतु इसके बाद के कथानक में कई बड़ी गड़बड़ियाँ हैं। जिस मुक़दमे के लिए रमानाथ मुखबिर बनाया जाता है, वह मुकदमा राजनैतिक है इसे प्रेमचंद बहुत बाद को चल कर बतलाते हैं। अवश्य रस के परिपाक के लिए कहीं-कहीं यह जरूरी होता है कि किसी घटना के पूरे रहस्य को पहले ही न बताया जाय, किंतु इस क्षेत्र में पाठक को यह मुकदमा मामूली डकैती का मुकदमा मालूम होने से रस में भंग होता है। वह यों कि साधारण डकैती के अभियुक्तों के साथ पाठक को कोई सहानुभूति नहीं होती, इसलिए ऐसे मुकदमे के लिए यदि रमानाथ बनावटी मुखबिर वनाया जाता है, तो उसके कारण उसके मन में उन भावनाओं का उदय नहीं हो सकता, जो उसके किसी राजनैतिक मुकदमे के लिए मुखबिर बनने से होता। इसलिए इस रहस्य को गुप्त रखने से रस का भंग ही होता है।

रमानाथ मुखबिर हो जाने के बाद जिस प्रकार अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरता है उनका अच्छी तरह चित्रण हुआ है। वह एक अत्यंत कमजोर दिल व्यक्ति के रूप में हमारे सम्मुख आता है। शुरू से ही वह ऐसा रहा है। उसमें चरित्रबल नाम का भी नहीं है। अवश्य उसके चरित्र में भी कुछ भलाई के उपादान हैं। बुरे से बुरे आदमी में भी कुछ न कुछ भलाई होती ही

है। प्रकृति द्वयात्मिका है। इसी द्वयात्मिकता की बदौलत बाद को रमानाथ बिल्कुल गर्त के निम्नतम स्तर में गिर कर फिर उठता है। इस उपन्यास में उसके चरित्र का वह पहलू भी कभी-कभी सामने आता है, जब वह आसानी से आठ सौ रुपये रतन से कंगन के लिए पा रहा है, उस समय वह आठ सौ न ले कर छै सौ लेता है, जो उसका सही दाम है। जालपा के पत्र तथा उससे मुलाकात करने के कारण उसकी भावनाओं में जो घातप्रतिघात होते हैं, वह प्रेमचंद साहित्य का एक सुन्दर दान है। रमानाथ को मुखबिर बनाने के लिए पुलिस यहाँ तक कि तहकीकात करने वाले डिप्टी साहब जैसे-जैसे दाँव खेलते हैं, और जैसे-जैसे हथकंडे करते हैं, उनसे बृटिश भारतीय पुलिस का चित्र स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है। प्रेमचंद साहित्य की यह एक विशेषता है कि जहाँ भी पुलिस का जिक्र आया है, वह उसे वहुत काले रंग में—जो उसका वास्तविक रंग है, चित्रित करते हैं। अपनी स्त्री के सामने रमानाथ की बार-बार मुखबिरी से तोबा करना, और फिर अदालत में जा कर पुलिस का-सा बयान देना, यह उसके कमजोर चरित्र के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है, साथ ही अंत में वह अपनी स्त्री की दुर्दशा की बात सुन कर जिस प्रकार बदल जाता है, और जज साहब को सच्ची बात बता देता है, वह भी वस्तु अनुयायी है। कमजोर होते हुए भी शुरू से ही उसके चरित्र की यह विशेषता रही कि वह जालपा पर जान देता है। फिर भी मनोवैज्ञानिक रूप से उसके इस परिवर्तन को सफलतापूर्वक चित्रित कर सकने पर भी लेखक कई ऐसी भद्दी गलती कर देते हैं, जिससे जानकार पाठक के मन में इसकी कृत्रिमता स्पष्ट हो जाती है। किसी उपन्यास का मनोवैज्ञानिक सेटिंग या पृष्ठभूमि अच्छी और स्वाभाविक होने पर ही उपन्यास सफल नहीं हो सकता, आनेवाली घटनाओं का यथातथ्य वस्तुअनुयायी वर्णन भी होना चाहिए। यदि लेखक जेल का वर्णन कर रहा है तो उसे जेल के जीवन के संबंध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए, यदि जेल के वर्णन में लड़की की साड़ी पहिन कर नाच दिखलाया जाय, तो वह सही कहा जा सकता है; किंतु यदि कोई उपन्यासकार जेल में रंडी का नाच दिखलावे, तो वह उचित न होगा। यदि किसी अपवादात्मक क्षेत्र में ऐसा दिखाया भी जाय, तो पाठक को यह भी बता दिया जाय कि ऐसा क्योंकर हो सका, नहीं

तो उसका वर्णन केवल सुज्ञ पाठक का हास्योद्रेक करेगा। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि मुखबिर रमानाथ के पास पिस्तौल है, यह वर्णन बिल्कुल मनमाना है। किसी भी हालत में किसी मुखबिर के पास पिस्तौल नहीं रखी जाती है। बड़े से बड़े राजनैतिक तथा मामूली मुकदमों के मुखबिरों के साथ भी यह रियायत नहीं की गयी। यदि मुखबिर के प्राण का भय है तो उसका गारद दुगुना, तिगुना, चौगुना कर दिया जायेगा, किंतु किसी भी हालत में उसको पिस्तौल नहीं दी जायेगी। मुखबिर को पिस्तौल दिया जाना बिलकुल अस्वा-भाविक है। इसी प्रकार मुकदमे में फैसला हो जाने के बाद मुखबिर रमानाथ जब जज साहब के पास जा कर सब बातें सच्ची-सच्ची कह देता है, और उसके फलस्वरूप जज साहब मुकदमा वापस करा लेते हैं, यह बिलकुल कानूनी रूप से असंभव बात है। किसी मुकदमे में फैसला सुना देने के बाद जज को उस मुकदमे के संबंध में कोई अधिकार नहीं रहता।

इस उपन्यास की अन्यतम नायिका जोहरा नाम की एक वेश्या है। वह रमानाथ के संस्पर्श में आ कर वेश्या जीवन से तोबा कर लेती है। जिन्होंने शरत्चंद्र के 'देवदास' उपन्यास को पढ़ा होगा, उन्हें इस प्रसंग में चंद्रमुखी की याद हो आयेगी, किंतु चंद्रमुखी का चरित्र परिवर्तन जिस कुशलता के साथ दिखलाया गया है, तथा देवदास जिस प्रकार कई बार उधेड़बुन में पड़ जाता है कि वह चंद्र-मुखी को अधिक प्रेम करता है, या पार्वती को, इस प्रकार की कोई नाटकीय परिस्थिति हम जोहरा की कहानी में नहीं पाते। जोहरा का सारा चरित्र बहुत कुछ यांत्रिक ज्ञात होता है, और लेखक उसमें जीवन का संचार नहीं कर पाये। 'देवदास' में देवदास ही मर जाता है, इसी घटना से पुस्तक की समाप्ति होती है, इसलिए चंद्रमुखी की समस्या आ कर भी नहीं आ पाती। जब देवदास ही मर गया तो फिर इस सवाल का क्या अर्थ हो सकता है कि उसे चंद्रमुखी को ग्रहण करना चाहिए या नहीं, किंतु 'गबन' में परिस्थिति दूसरी तरह की है। यहाँ रमानाथ एक आश्रम में जोहरा, जालपा आदि के साथ रहता है, जोहरा उससे प्रेम करती है, ऐसी हालत में यह सवाल उठ कर रहता है कि जोहरा का क्या हो। जोहरा एक सुधरी वेश्या है। प्रेमचंद इसका समाधान न कर जोहरा को डुबवा देते हैं, और इस प्रकार इस समस्या से बचते हैं। शरत् बाबू ने भी 'देवदास' में चंद्रमुखी की समस्या का कोई समाधान नहीं किया है,

किंतु वे जिस प्रकार इस समस्या को बरा जाते हैं, उसमें यह पूछने का अवकाश नहीं मिलता कि चंद्रमुखी का क्या होगा ? प्रेमचंद और शरत् चंद्र दोनों इस समस्या का कोई हल न तो देते हैं, और न इसकी ओर इशारा करते हैं कि सुधरी हुई वेश्याओं के साथ समाज क्या करे, किन्तु शरत् चंद्र खूबी से इस समस्या से अपनी जान छुड़ाते हैं, मालूम ही नहीं होती कि यह समस्या भी है, किंतु गबन में यह समस्या उठती है, और उससे बहुत कुछ लट्ठमार तरीके से अर्थात् एक आकस्मिक घटना करवा कर जान बचाई जाती है।

इस पुस्तक का भी अंत एक आश्रम से हुआ है। प्रेमचंद इसी प्रकार अपने कई उपन्यासों का अंत करते हैं। कुछ भी कहा जाय, यह अंत अच्छा नहीं कहा जा सकता है, और लेखक की असमर्थता ही प्रकट करता है— विशेषकर जब कि किसी न किसी रूप में इस प्रकार का अंत सेवासदन, प्रेमाश्रम, प्रतिज्ञा, वरदान उपन्यासों में हो चुका है।

यों खोजने पर और भी त्रुटियाँ मिल सकती हैं। एक स्थान में जालपा अपने पति से कुछ कलंकार उपहार में पा कर उन्मत्त दिखाई जाती है—'तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, ईश्वर तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूरी करें।' क्या कोई पुराने ढंग की स्त्री भी अपने पति को आशीर्वाद देती है ? इसी प्रकार कहीं-कहीं कथोपकथन में अस्वाभाविकता झलक जाती है। कोई भी 'शरीफ' घराने की स्त्री अपने को वेश्या के साथ तुलना नहीं करती, किंतु इसमें ऐसा भी दिखलाया गया है। फिर भी जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, हम समझते हैं कि यह पुस्तक प्रेमचंद के सब से अच्छे उपन्यासों में है। इसमें मध्यवित्त वर्ग का जैसा चित्र खींचा गया है, उसकी कमजोरियाँ जिस नग्न रूप में हमारे सम्मुख आती हैं, वह भारतीय साहित्य में अतुलनीय है। शरत् बाबू अपने उपन्यासों में मध्यवित्त वर्ग को चित्रित करते हैं, जहाँ तक स्त्री पुरुष के संबंध हैं, इस वर्ग को वे बहुत सुंदर रूप से चित्रित करते हैं, उस क्षेत्र में उनका अभी तक कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। मूक अवहेलिता, निर्यातिता नारी उनके उपन्यास में वाचाल हो जाती है, किंतु वे भी किसी एक उपन्यास में यह नहीं दिखा पाये कि यह जो मध्यवित्त वर्ग है, वह कितना सड़ा-गला है, तथा उसके अंदर क्या-क्या रोग हैं, जो उसे पंगु बना कर समाज के नेता वर्ग होने में असमर्थ कर देते हैं। इस वर्ग ने, जब से अँगरेज आये, भारत वर्ष को बहुत कुछ दिया, कभी इसका

स्वर्णयुग था, किंतु अब इसके दिन ढल चुके हैं, समाज के नेतृत्व के लिए किसी और वर्ग को सामने आना चाहिए। आंशिक रूप से शिथिल होते हुए भी ग़बन में हम यह जो एक वर्ग का सजीव चित्रण पाते हैं, यह कुछ कम देन नहीं है। यद्यपि मामूली समालोचकों ने इस उपन्यास को अधिक महत्त्व नहीं दिया, किंतु यह उपन्यास बहुत यथार्थवादी है, इसमें संदेह नहीं।

श्री राम रतन भटनागर ने यह लिखा है कि रमानाथ प्रेमचंद का प्रथम यथार्थवादी नायक है, और ग़बन प्रथम यथार्थवादी उपन्यास है, हम इससे केवल सहमत ही नहीं हैं, बल्कि हम इसमें इतना और जोड़ देना चाहते हैं कि प्रेमचंद के प्राक्-गोदान युग के उपन्यासों में दो ही उपन्यास यथेष्ट रूप से यथार्थवादी हैं, एक निर्मला, और दूसरा ग़बन। निर्मला के मुकाबिले में ग़बन का कथानक कुछ शिथिल होने पर भी इस शिथिलता की क्षति पूर्ति उसके विषय की विस्तृति से हो जाती है।

निर्मला

बाबू उदयभानु लाल अपनी कन्या निर्मला के विवाह में जी भर कर खर्च करना चाहते हैं। यों तो वे कोई धनी व्यक्ति नहीं हैं, किंतु वर पक्ष की इस शराफत से वे बहुत मुग्ध हैं कि उनसे दहेज की कोई रकम नहीं माँगी गयी है, इसलिए वे उधार लेकर भी खर्च करना चाहते हैं। उनकी स्त्री कल्याणी चाहती है कि निर्मला का विवाह ढंग से हो, किंतु वह यह नहीं चाहती कि इसके लिए परिवार पर ऋण का इतना बड़ा बोझ लद जाय कि वह फिर उठ ही न पावे, उसे इस बात की फिक्र है कि और भी कन्याओं की शादी करनी है, इसलिए कुछ हाथ थाम कर खर्च किया जाय। इसी खर्च संबंधी तर्क-वितर्क पर बात बढ़ जाती है। उदयभानु तैश में आकर कहते हैं—मैं कमा कर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर सकता हूँ, किसी को बोलने का अधिकार नहीं है।

कल्याणी—तो आप अपना घर सम्हालिए। ऐसे घर को मेरा दूर ही से सलाम है, जहाँ मेरी कोई पूछ नहीं है।

बात और बढ़ गयी। यहाँ तक कि कल्याणी झुँझला कर वहाँ से हट गयी। बाबू उदयभानु लाल ने यह तय किया कि ऐसा स्वाँग रचा जाय कि यह मालूम हो कि वह डूब गये, और इस प्रकार कल्याणी को अपनी करनी की सजा दी जाय।

तदनुसार वे लपके हुए गंगा की ओर चले जा रहे थे। रास्ते में उनका पीछा करता हुआ मतई नामक एक बदमाश आता है, जिसको उन्होंने तीन साल पहले, तीन वर्ष की सजा करायी थी। गली सुनसान थी, और मतई लाठियों से उनका काम तमाम कर देता है।

कल्याणी को जब इस बात का पता लगा तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। कुछ दिन शोक में कटे, किंतु निर्मला के विवाह की समस्या तो ज्यों की त्यों थी, बल्कि दिन ब दिन और विकराल रूप धारण करती गयी। कल्याणी

ने अपने पुरोहित मोटेराम को भालचंद के पास भेजा। भालचंद के लड़के से ही निर्मला की शादी तय हुई थी। भालचंद को जब यह ज्ञात हुआ कि उदयभानु लाल चल बसे तो वे बगलें झाँकने लगे। भालचंद ने अपनी स्त्री रंगीलीबाई से जा कर पूछा कि क्या राय है, तो उसने भी साफ मना कर दिया। किंतु रंगीली बाई ने जब पान खाकर कल्याणी का पत्र खोला, और पढ़ा, तो उसकी राय बदल गयी। पहली ही पाँती पढ़ कर उसकी आँखें सजल हो गयीं, और पत्र समाप्त हुआ तो उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। इस प्रकार रंगीलीबाई तो शादी के पक्ष में हो गयी। पति-पत्नी में इस प्रकार मतभेद हो गया, तो यह तय हुआ कि इस पर पुत्र भुवन मोहन की राय ली जाय। उसने साफ-साफ कह दिया कि कहीं ऐसी शादी करवाइए कि खूब रुपये मिलें। नतीजा यह हुआ कि मोटेराम को लौट जाना पड़ा।

निर्मला का विवाह तो होना ही था। मोटेराम ने दौड़ धूप कर कल्याणी की राय से मुंशी तोताराम के साथ उसकी शादी तय की। वे वकील थे। उनके तीन लड़के थे। बड़ा मंशाराम सोलह वर्ष का था, मझला जियाराम बारह, और सियाराम सात वर्ष का। घर में वकील साहब की विधवा बहिन के सिवाय और कोई औरत नहीं थी। वही घर की मालकिन थी। उम्र पचास से ऊपर थी। ससुराल में कोई न था। स्थायी रीति से भाई के साथ रहती थी।

विवाह हो गया। पहला महीना गुजरते ही तोताराम ने निर्मला को अपना खजानची बना लिया। वकील साहब अच्छे वकीलों में थे, पैसे खूब आते थे। निर्मला वस्त्राभूषणों से लद गयी, किंतु जब वह अपने सौंदर्य की सूचनापूर्ण आभा देखती तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला-सी उठती। मुंशी जी की बहिन रुक्मिणी का हाल निराला था। वह लड़कों को निर्मला के पास फटकने न देती, मानों वह कोई पिशाचिनी है जो उन्हें निगल जायेगी। यह पता लगाना कठिन था कि रुक्मिणी किस बात से खुश होती थी, और किस बात से नाराज। रुक्मिणी निर्मला की आलोचना भी करती। इसके अतिरिक्त यह तोताराम से हमेशा निर्मला की शिकायत किया करती थी। मुंशी जी निर्मला पर लट्टू थे, उन्होंने सोचा चलो इसी बहाने निर्मला से कुछ बात कर ली जाय। निर्मला ने कहा—लड़कों को सिखा

देती हैं कि जा कर माँ से पैसे माँगो, कभी कुछ कभी कुछ। लड़के आ कर मेरी जान खाते हैं। घड़ी भर लेटना मुश्किल हो जाता है।

तोताराम ने जो यह सुना तो क्रोध से काँप उठे। बोले — तुम्हें जो लड़का दिक करे, उसे पीट दिया करो। मैं भी देखता हूँ कि लौंडे शरीर हो गये हैं।

इस प्रकार घर में अशांति रहने लगी। निर्मला को बच्चों से सचमुच प्रेम था। जब मुंशी जी की डाँट डपट के कारण रुक्मिणी ने लड़कों पर अपना लगाम ढीला कर दिया, तो वे आ कर अपनी विमाता के पास बैठने लगे। निर्मला को अब यह अच्छा काम मिला, अब वह बच्चों ही के लालन पालन में व्यस्त रहने लगी। निर्मला का तृषित हृदय प्रणय की ओर से निराश हो कर इस अवलंब ही को गनीमत समझने लगा। मुंशी तोताराम ने सोचा था कि रुक्मिणी और निर्मला के झगड़े में उन्होंने निर्मला का पक्ष लिया था, इसलिए निर्मला अब उन पर प्रसन्न रहेगी, किंतु अब उसके पास मुंशी जी के लिए बिल्कुल समय ही नहीं था। मुंशी जी मजबूर हो कर एकांत सेवन करने लगे। फिर भी स्त्री के प्रेम प्राप्त करने की इच्छा उनके मन में थी। एक मित्र से अपने दुखड़े रोये, तो उसने कहा कि उपहार आदि देने से प्रसन्न होती हैं। मुंशी जी ने कहा कि यह खूब कर चुका, दम्पतिशास्त्र के सारे मंत्रों का इम्तहान ले चुका। तब मित्र ने कहा कि बिजली के डाक्टर के पास जाकर बुढ़ापे के सारे निशान मिटा लीजिए। डाक्टर पाँच सौ रुपये लेता था। मुंशी जी इतने खर्च के लिए तैयार नहीं थे। तब मित्र ने कहा — रंगीलेपन का स्वाँग रचो, यह ढीला- ढाला कोट फेंको, तनजेब की चुस्त अचकन हो, चुन्नटदार पायजामा, गले में सोने की जंजीर जड़ी हुई, सिर पर जयपुरी साफा बँधा हुआ, आँखों में सुर्मा और बालों में हिना का तेल पड़ा हो। कहा — तोंद का पचकाना भी जरूरी है। दोहरा कमरबन्द बाँधो.........जवाँमर्दी और साहस के काम करने का मौका ढूँढ़ते रहो। रात को झूठमूट शोर करो — चोर-चोर और तलवार लेकर अकेले पिल पड़ो, हाँ जरा मौका देख लेना। ऐसा न हो कि सचमुच कोई चोर आ जाय, और तुम उसके पीछे दौड़ो, नहीं तो सारी कलई खुल जायेगी, और मुफ्त में उल्लू बनोगे। उस वक्त तो जवाँमर्दी इसी में है कि दम साधे खड़े रहो, जिसमें वह समझे कि तुम्हें खबर भी नहीं हुई, लेकिन ज्यों ही चोर भाग खड़ा हो, तुम भी उछल कर बाहर निकलो, और तलवार ले कर कहाँ-कहाँ कहते दौड़ो।

मुंशी जी ने ऐसा ही किया। जब आते तो निर्मला को कोई न कोई अपनी बहादुरी की बात सुनाते।

मुंशी जी इस प्रकार अपने मित्र के बताये हुए नुसखे को आजमाते जाते थे। उधर निर्मला यह सोचती थी—'भगवान्! क्या उन्हें सचमुच कोई भीषण रोग हो रहा है। क्या मेरी दशा को और भी दारुण बनाना चाहते हो।' मुंशी जी समझ नहीं पाते थे कि मामला क्या है, नुसखा क्यों नहीं सफल होता? एक दिन उन्होंने देखा कि मंशाराम और निर्मला में बहुत स्नेह है।

उस दिन से जैसे उन्हें उस रहस्य का पता लग गया, जिसकी उन्हें तलाश थी। अब वह कारण अकारण मंशाराम पर बिगड़ते। कभी कहते—तुम आवारा हो रहे हो, बहुत इधर-उधर घूमा करते हो, कभी कुछ कभी कुछ। इस प्रकार जब मंशाराम पर डाँट पड़ने लगी, तो रुक्मिणी ने यह समझा कि निर्मला ने कुछ शिकायत की होगी, तभी मुंशी जी नाराज रहते हैं। यहाँ तक कि यह बात बहुत तूल पकड़ गयी। मंशाराम अपने अवसर के समय निर्मला को अँगरेजी पढ़ाता था, वह भी बंद हो गया। अब मंशाराम बाहर ही बाहर रहता।

वकील साहब ने तय किया कि मंशाराम को बोर्डिंग में रख कर पढ़ाया जाय।

तदनुसार मंशाराम बोर्डिंग में भेज दिया गया। बोर्डिंग शहर ही में था, किंतु उस दिन से मंशाराम ने छुट्टी के दिन भी घर में पैर न रखा। कुछ दिनों ही में मंशा बोर्डिंग में बीमार पड़ा, हेडमास्टर ने मुंशी जी को लिख भेजा कि फौरन इसे ले जाइए, यहाँ तीमारदारी नहीं हो सकती। मुंशी जी बोर्डिंग में गये तो देखा कि मंशा सचमुच बीमार है, किंतु बहुत कहने सुनने पर भी वह घर आने के लिए राजी न हुआ। मुंशी जी दिल से तो चाहते ही थे कि वह घर न आवे। वह अस्पताल पहुँचा दिया गया। वहाँ उसकी हालत खराब होती ही गयी।

मंशाराम चल बसा। मुंशी जी को पूरा विश्वास हो गया था कि निर्मला पर उनका जो संदेह था, वह गलत था। पर; अब तो हाथ से तीर निकल चुका था। पश्चात्ताप के कारण उनका शरीर प्रतिदिन घुलने लगा।

जिन डाक्टर साहब ने मंशाराम की दवा की थी, उनसे मुंशी जी का याराना हो गया, यहाँ तक कि दोनों की स्त्रियों में भी मित्रता हो गयी। डाक्टर सिनहा की स्त्री अक्सर मुंशी जी के घर में आती, और निर्मला से घंटों सुधा की बातचीत होती। बातों-बातों में सुधा को पता लगा कि जिस पुरुष के साथ पहले निर्मला का विवाह तय हुआ था, वह और कोई नहीं डाक्टर सिनहा ही हैं। निर्मला को इस बात का पता नहीं हुआ कि डाक्टर सिनहा वे ही सज्जन हैं, क्योंकि उसने पहले कभी उनको देखा तो था ही नहीं। एक दिन सुधा ने प्रकारांतर से डाक्टर सिनहा को यह बता दिया कि पहले उनकी शादी निर्मला के साथ ही तय हुई थी। बोली—'आज अगर निर्मला को मालूम हो जाय कि आप वही महा पुरुष हैं तो शायद फिर इस घर में कदम न रखे। घर में ईश्वर का दिया हुआ सब कुछ है, मगर जब प्राणी मेल का नहीं तो और सब रह कर क्या करेगा? धन्य है उसके धैर्य को कि उस बुड्ढे खूसट वकील के साथ जीवन के दिन काट रही है।.........मेरे दादा जी ने पाँच हजार दिये थे, अभी छोटे भाई के विवाह में पाँच छ हजार और मिल जायेगा। फिर तो तुम्हारे बराबर धनी संसार में कोई दूसरा न होगा।.........' डाक्टर साहब पर इन बातों का इतना असर हुआ कि उन्होंने कर कराकर अपने छोटे भाई की शादी निर्मला की छोटी बहिन से तय करवा दी, और यह शादी हो भी गयी।

तीनों बातें एक ही साथ हुईं—निर्मला की कन्या ने जन्म लिया, कृष्णा का विवाह निश्चित हुआ, और मुंशी तोताराम का मकान नीलाम हो गया। बात यह है इन दिनों मुंशी जी की आमदनी बहुत घट गई थी। वे मुकदमे बहुत कम लेते थे, और जिनको लेते थे, उन्हें ढंग से तैयार नहीं करते थे, इसलिए उनको मुकदमे और भी कम मिलते थे। उनका कुछ पुराना कर्जा था। एकाएक महाजनों ने मुकदमा दायर कर दिया, और उनका मकान नीलाम हो गया।

अपनी छोटी बहिन कृष्णा के विवाह के अवसर पर निर्मला को यह पता लगा कि डाक्टर सिनहा के ही छोटे भाई से कृष्णा का विवाह हो रहा है। इस पर उसे बहुत आश्चर्य हुआ, किंतु धीरे-धीरे सारा रहस्य उस पर खुल गया। इस विवाह के अवसर पर वह दिल खोल कर अपनी बहिन से बात कर सकती है। बातचीत के दौरान में वह बतलाती है कि किस प्रकार उसके और

मंशाराम के बीच कोई अनुचित संबंध है, ऐसा संदेह मुंशी जी की ओर से किया गया था। वह यह भी बताती है कि मंशाराम को आँख के सामने रखने के लिए ही उसने अँगरेजी पढ़ने का बहाना निकाला था। निर्मला ने यह भी कहा कि उसके अपने मन में तो पाप नहीं था किंतु यदि मंशाराम के मन में पाप होता तो वह उसके लिए सब कुछ कर सकती थी। 'यह बात सुनने में बुरी मालूम होती है। और है भी बुरी, लेकिन मनुष्य की प्रकृति को तो कोई बदल नहीं सकता।'

मंशाराम के मरने के बाद से घर में और भी अशांति बढ़ गयी। जियाराम को यह शक था कि उसके बड़े भाई को अन्यायपूर्वक मार डाला गया है। वह समझता था कि मुंशी जी तथा निर्मला ने साजिश कर उसको मार डाला है। परिणाम यह हुआ कि अब उसके दिल में अपने पिता के प्रति कोई श्रद्धाभाव नहीं रहा। वह अब जब-तब मुंशी जी से उलझ जाता है, यहाँ तक कि एक बार हाथापाई की नौबत आ गयी। एक दिन रात को ऐसा हुआ कि निर्मला के कमरे से जियाराम ने उसके गहनों के बक्स को उड़ा दिया, और जा कर मित्रों को सौंप दिया। इन दिनों कुछ शोहदों से उसकी मित्रता हो गयी थी। निर्मला ने उसको कमरे से निकलते हुए देखा था, किंतु उसने यह बात किसी से नहीं कही। उसको यह डर था कि अगर उसने ऐसा कहा तो लोग यही कहेंगे कि सौत के लड़के पर झूठमूठ दोष लगा रही है। एक को मार चुकी, दूसरे को जेल भिजवाना चाहती है। मुंशी जी ने चोरी की रिपोर्ट थाने में की। कुछ दिनों में थानेदार को गहनों का पता लग गया, और यह भी पता लँग गया, कि जियाराम ने ही चुरा कर गहने बदमाशों को दिये हैं। जब मुंशी जी को इस बात का पता लगा तो वे बहुत घबड़ाये, उन्होंने बड़ी रिश्वत दे कर मामले को दबाया। जियाराम को पता लग चुका था कि उसकी करनी का भंडाफोड़ हुआ है, बस उसने आत्महत्या कर ली।

मुंशी जी की आर्थिक अवस्था बदतर होती गयी। गहनों के खोने की चोट तथा पुत्रशोक ने अभी बिलकुल तिलमिला दिया। फिर भी जो कन्या पैदा हुई थी उसका मुँह देख कर वे फिर एक बार जूझने के लिए तैयार हो गये। बिना नागा कचहरी जाने लगे, मुकदमों को तैयार करने लगे। निर्मला ने अब अपनी लड़की का मुँह देख कर पैसे-पैसे जोड़ना शुरू किया था। मुंशी जी

का क्या ठिकाना, न मालूम कब क्या होगा ? गहने भी नहीं रहे थे। मुंशी जी की नौकरानी सौदा लाने में चोरी बहुत करती थी। इसलिए निर्मला सियाराम से सौदे मँगाया करती, किंतु सियाराम को यह बहुत बुरा मालूम देता। इस बात के कारण दोनों में खटपट रहती। उकता कर वह साधुओं के साथ एक दिन घर छोड़ कर चला गया। जब सियाराम देर तक घर नहीं लौटा, तब मुंशी जी बहुत परेशान हुए। तीन लड़कों में केवल एक बच रहा था, वह हाथ से निकल गया, तो फिर जीवन में अंधकार के सिवाय और क्या है ? कोई नाम लेनेवाला भी न रहेगा। मुंशी जी लड़के को ढूँढ़ने निकले। रात के बारह बजे बड़े निराश हो कर घर लौटे। दरवाजे पर लालटेन जल रही थी, निर्मला द्वार पर खड़ी थी। देखते ही बोली—कहा भी नहीं, न जाने कब चल दिये, कुछ पता चला ?

मुंशी जी ने आग्नेय नेत्रों से ताकते हुए कहा—हट जाओ सामने से, नहीं तो बुरा होगा। मैं आपे में नहीं हूँ। यह तुम्हारी कर्नी है। तुम्हारे ही कारण आज मेरी यह दशा हो रही है। आज से छह साल पहले क्या इस घर की यही दशा थी ? तुमने मेरा बना बनाया घर बिगाड़ दिया, तुमने मेरे लहलहाते बाग को उजाड़ डाला। केवल एक ठूँठ रह गया है। उसका निशान मिटा कर तभी तुम्हें सन्तोष होगा।.....जो लड़के पान की तरह फेरे जाते थे, उन्हें मेरे जीते जी तुमने चाकर समझ लिया, और मैं आँखों से सब कुछ देखते हुए भी अंधा बना बैठा रहा।.........जाओ, मेरे लिए थोड़ा-सा संखिया भेज दो। बस यही कसर रह गयी है। वह भी पूरी हो जाय।

निर्मला ने रोते हुए कहा—मैं तो अभागिन हूँ ही, आप कहेंगे तब जानूँगी ? न जाने ईश्वर ने मेरा जन्म क्यों दिया था। मगर यह आपने कैसे समझ लिया कि सियाराम आवेंगे ही नहीं।

मुंशी जी ने अपने कमरे की ओर जाते हुए कहा—जलाओ मत, जा कर खुशियाँ मनाओ। तुम्हारी मनोकामना पूरी हो गयी।

मुंशी जी लड़के को खोजने के लिए निकल पड़े। एक महीना पूरा निकल गया। उनका कोई पत्र भी नहीं आया। निर्मला किसी तरह अपने जोड़े हुए पैसों से गृहस्थी चलाती थी। अब कभी-कभी सुधा के यहाँ जाना और उससे बातें करना ही उसका एकमात्र मनोरंजन कहा जाय, सांत्वना कहा जाय, था।

एक दिन वह सुधा के घर ऐसे समय पहुँच गयी जब सुधा नहीं थी। डाक्टर साहब घर पर थे। डाक्टर साहब ने उसे सुधा के कमरे में बैठाया। वह कभी निर्मला से अधिक बोलते नहीं थे। बैठा कर वे बाहर नहीं गए। उनके मन में घोर द्वंद्व मचा हुआ था। औचित्य का बन्धन नहीं, भीरुता का कच्चा तागा उनकी जबान को रोके हुए था। निर्मला ने कहा—'कहीं घूमने-घामने लगी होगी, मैं इस वक्त जाती हूँ।' भीरुता का कच्चा तागा भी टूट गया। डाक्टर साहब ने सिर उठा कर निर्मला को देखा, और अनुराग में डूबे हुए स्वर में बोले—'नहीं निर्मला, अब आती ही होगी। अभी न जाओ। रोज सुधा की खातिर बैठती हो, आज मेरी खातिर बैठो। बताओ कब तक इस आग में जला करूँ? सत्य कहता हूँ निर्मला.........' निर्मला ने और कुछ नहीं सुना। उसे ऐसा जान पड़ा मानों सारी पृथ्वी चक्कर खा रही है, मानो उसके प्राणों पर सहस्रों वज्रों का आघात हो रहा है। उसने जल्दी से अलगनी पर लटकती हुई चादर उतार ली, और बिना मुँह से एक शब्द निकाले कमरे से निकल गयी। रास्ते में सुधा आती हुई दिखाई पड़ी, किंतु उसने उससे कुछ भी नहीं कहा, और जल्दी से घर चली गयी। सुधा ने यह हाल देखा तो पति से जा कर पूछा कि क्या मामला था, किंतु डाक्टर साहब ने कुछ नहीं बताया। तब वह सीधे निर्मला के घर पहुँची। पहले तो निर्मला भी बताने से इनकार करती रही, किंतु जब सुधा बहुत गले पड़ी तो उसने कहा—'मत पूछो। तुम्हें सुनकर दुख होगा, और शायद मैं फिर तुम्हें अपना मुँह न दिखा सकूँ। मैं अभागिनी न होती तो यह दिन ही क्यों देखती। अब तो ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वे संसार से मुझे उठा लें। अभी यह दुर्गति हो रही है, तो आगे न जाने क्या होगा।' बुद्धिमती सुधा संकेत समझ गयी। बिना कुछ कहे सुने सिंहिनी की भाँति क्रोध में भरी हुई घर की ओर चली। निर्मला ने रोकना चाहा, किंतु रोक न सकी। उसने जाकर डाक्टर साहब से बहुत भला बुरा कहा, नतीजा यह हुआ कि उन्होंने आत्महत्या कर ली।

निर्मला ने जब देखा कि जिधर उसका स्पर्श होता है, दुर्भाग्य ही दुर्भाग्य सामने आता है तो वह बीमार हो गयी। अब रुक्मिणी को भी उस पर तरस आने लगा। निर्मला का रोआँ-रोआँ दुखी था, अंत में वह चल बसी। मुहल्ले के लोग जमा हो गये। लाश बाहर निकाली गई। कौन दाह करेगा? यह प्रश्न उठा।

लोग इसी चिंता में थे कि सहसा एक बूढ़ा पथिक एक बुगचा लटकाये आ कर खड़ा हो गया। यह मुंशी तोताराम थे।

निर्मला पर विचार

निर्मला प्रेमचंद के छोटे उपन्यासों में है। साधारणतः यह उपन्यास अब ज्ञात हुआ है, किंतु कहानी के गठन की दृष्टि से यह प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसका कथानक बिल्कुल सुग्रथित है, एक घटना से दूसरी घटना, और दूसरी से तीसरी चश्मे से पानी की तरह निकलती चली जाती है। न कहीं बाधा है, न कहीं गति में खीझ है, और न कहीं शिथिलता। कथित भाग्य की तरह अनिवार्य और दुर्दमनीय रूप से हमारे सामने निर्मला की जीवन कथा खुलती चली जाती है। यह एक अजीब दुनिया है, जिसको देखते-देखते हम सोचने के लिए और अपने चारों ओर के समाज पर दृष्टिपात करने के लिए विवश हो जाते हैं। यह उपन्यास क्या है, युगों से दबायी हुई, सतायी हुई नारी की कहानी है। यों बताया गया है कि इसकी कथा वस्तु का आधार दो सामाजिक कुरीतियाँ हैं, एक दहेज की प्रथा और दूसरा दोहेजा विवाह, किंतु क्या इसमें नारी की सभी अन्य समस्याएँ नहीं आ गयी हैं ?

अवश्य निर्मला इस कथानक की नायिका है। प्रेमचंद के उपन्यासों में सेवासदन के अतिरिक्त एक यही उपन्यास है जिसमें एक नारी ही कथानक की प्रधान नायिका है, वह इस उपन्यास में आये हुए किसी भी पुरुष पात्र से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सारी कथा उसी के इर्दगिर्द घूमती है, किंतु यह बात नहीं कि वही इस कथानक की एक मात्र स्त्री हो। उपन्यास के दूसरे ही परिच्छेद में जो उदयभानु लाल अपनी स्त्री कल्याणी से यह कहते हैं कि 'मैं कमा कर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर सकता हूँ, किसी को बोलने का अधिकार नहीं है' क्या इससे हमारे समाज की सभी नारियाँ—विशेष कर ऐसे वर्ग की नारियाँ जिसमें स्त्रियाँ उपार्जन के काम में बिल्कुल शरीक नहीं होतीं, अब सब नारियों की समस्या मूर्त नहीं हो गयी है ? कल्याणी करीब बीस साल से उदयभानु लाल की गृहिणी है, उसकी एक लड़की विवाह योग्य हो चुकी है, सच बात तो यह है कि उसी के विवाह के संबंध में पति-पत्नी में बात-चीत होती है, और उसी के दौरान में उसे उसका पति यह बताता है कि वह स्मरण रखे

कि कमाता वह है, अतएव घर का मालिक वह है। अवश्य इस उपन्यास में निर्मला का उतना ही महत्त्व है, जितना सौर जगत में सूर्य का है, इस उपन्यास के सब नायक तथा नायिकाएँ ग्रह-उपग्रह के रूप में उसी के इर्द-गिर्द घूर्णित अभिघूर्णित हो रहे हैं, किंतु कल्याणी और उदयभानु की कथा का इसमें बहुत भारी महत्त्व है। एक तरह से कहा जाय तो यह कहानी जिसका अंत उदयभानु लाल की हत्या से होता है, आत्मयथेष्ट और अपने में आप संपूर्ण है।

उदयभानु केवल कल्याणी को अपनी कमाई की बात शाब्दिक रूप से जता कर ही चुप नहीं हो जाता, वह यह दिखाने के लिए कि उसके बगैर गृहस्थी नहीं चल सकती, गंगा में डूबने का स्वाँग करने का निश्चय कर घर से निकलता है। घर से निकलने के ऐन पहले वह जो कुछ सोचता है, उसका सांराश यही है कि इस घर में मैं ही मालिक हूँ क्योंकि मैं कमाता हूँ, और सब लोग मेरे ऊपर निर्भर रहते हैं। वह सोचता है—'मैके का घमंड होगा, लेकिन वहाँ कोई बात भी नहीं पूछेगा। अभी सब आवभगत करते हैं, जब जा कर सिर पड़ जायेगी, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायेगा।' अभी तक कल्याणी को आटे दाल का भाव मालूम नहीं था, उच्च तथा मध्यवित्त श्रेणी की विवाहोपजीवी स्त्री (उच्च तथा मध्यवित्तवर्ग की स्त्री का इसलिए यहाँ पर विशेष उल्लेख किया जा रहा है कि कथित निम्नवर्ग की स्त्रियाँ उत्पादन के कार्य में बहुत कुछ उपयोगी होती हैं, पुरुष यदि खेत जोतता है, तो स्त्री खेती के ही अन्य काम करती है, इत्यादि, इसलिए उनमें स्वतंत्रता भी अधिक होती है। कथित निम्नवर्ग की किसी स्त्री से कोई पति उस प्रकार की बात नहीं कर सकता, जिस प्रकार उदयभानु ने कल्याणी के साथ की) को आटे दाल का भाव मालूम नहीं होता है, जीवन की सब आँधियों से पति के पक्षपुट में छिपी रह कर वह आटा-दाल का भाव नहीं जान पाती। यह भी द्रष्टव्य है कि कल्याणी इब्सन के गुड़िया के घर नामक पुस्तक में नोरा की तरह पहले तो घर छोड़ कर चले जाने की बात सोचती है, किंतु नोरा की तरह वह अपने विचार को कार्य रूप में परिणत नहीं कर पाती, संतान स्नेह की आड़ में वह अपनी कमजोरी को छिपा कर बैठ जाती है।

इसी प्रकार इस उपन्यास में डाक्टर सिनहा और सुधा की कहानी भी

एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। हमें इसमें आश्चर्य नहीं कि समालोचकों ने प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि को ऐसे उपन्यासों में गिनाया है जिनमें एकाधिक कथाएँ एक साथ हैं ; किंतु इनकी सूची में निर्मला को नहीं गिनाया। निर्मला की कहानी इतनी सुग्रथित है कि उसमें पता ही नहीं चलता कि उसी के ताने-बाने के अंदर दूसरी कहानियाँ मौजूद हैं। जो कुछ भी हो, डाक्टर सिनहा और सुधा की कहानी पृष्ठभूमि में रहते हुए भी उससे सब तरह से अच्छी तरह विवाहिता नारी की समस्या हमारे सम्मुख आती है। निर्मला की तो शादी दोहेजा के साथ हुई थी, उसके पति की पहली शादी के कई पुत्र मौजूद थे, किंतु सुधा की बात तो ऐसी नहीं थी। उसकी शादी बड़ी अच्छी जगह हुई थी। वह पति की पहली स्त्री थी। पति को धन जन यौवन किसी बात का अभाव नहीं था, फिर क्यों उसके जीवन में वह ट्रेजडी हुई जो किसी प्रकार निर्मला के जीवन की ट्रेजडी से शायद कम नहीं कही जा सकती। अवश्य दोनों ट्रेजडियों में फर्क यह है कि एक में ट्रेजडी एक ही चोट में हो जाती है, दूसरे क्षेत्र में ट्रेजडी धीरे-धीरे होती है। सुधा का पति क्यों ऐसी परिस्थिति में पड़ता है, जिससे उसका अवसान आत्महत्या से होता है ? क्या इसमें हमारे सोचने के लिए कोई बात नहीं है ? क्या इससे यह ज्ञात नहीं होता कि सुधा और डाक्टर साहब का प्रेम बालू की नींव पर स्थित था, और वह केवल ऊपर से मृग मरीचिका की तरह सरस था। हमारा काम यह नहीं है, न इस छोटे से दायरे में हमारे लिए यह संभव ही है कि हम इस पर कुछ रोशनी डालें कि इस समस्या का रूप क्या है, और उसका समाधान क्या है। संक्षेप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे समाज में विवाह कमोवेश एक ढकोसला है, मन के मेल के साथ उसका कोई संबंध नहीं। रुपये की थैलियाँ गिनी जाती हैं, और विवाह का निर्णय थैलियों की गिनती से होता है। ऐसी हालत में थैलियों की वास्तविकता तो सत्य हो जाती है, उसमें कोई धोखा नहीं होता, हर एक रुपया बजा कर लिया जाता है, किंतु विवाह कैसा हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता। अवश्य मन के मेल से जो विवाह होंगे, वे हमेशा विवाहितों के आमरण काल तक के लिए सफल होंगे, ऐसी गारंटी यहाँ नहीं दी जा रही है। यदि बाद को असफल ज्ञात हुआ तो उसके लिए तलाक हो सकता है, कम से कम होना चाहिए। और भी बातें हैं, जिनकी गहराई में यहाँ जाना अनुचित होगा।

मुंशी जी जब निर्मला को शादी कर लाये, ओर थोड़े ही दिन में समझ गये कि उन्होंने शादी कर के गलती की, तो यहाँ पर तलाक हो जाना चाहिए था। जीवन आखिर क्या है ? प्रयोगों का समूह है। यदि किसी कारण से एक गलती हुई और सुधार संभव नहीं तो दूसरा प्रयोग होना चाहिए। किंतु हिंदू समाज में इसकी गुंजाइश कहाँ ? नतीजा यह है कि एक के बाद एक ट्रेजडी निर्मला के—और केवल निर्मला ही के क्यों मुंशी जी के जीवन में भी ट्रेजडियाँ होती जाती हैं। बेचारी निर्मला को इन सब बातों का अपयश मिलता है, यद्यपि उसका दोष कुछ भी नहीं है, वह तो घटनाचक्रों के हाथों में एक खिलौना-सी हो रही है। यह सोचने की बात है कि निर्मला को यह सारा अपयश क्यों मिलता है, वह तो बेचारी अपनी शादी के लिए भी जिम्मेदार नहीं है। प्रेमचंद ने निर्मला के जीवन में समाज के निष्पेषक दबाव को बहुत स्पष्ट कर दिया है। स्मरण रहे कुछ ऐसी ही परिस्थिति में सेवासदन की सुमन ने दूसरा समाधान किया था।

टेकनिक की दृष्टि से इस पुस्तक में खोजने पर कुछ त्रुटियाँ मिल सकेंगी। द्वितीय परिच्छेद में ये वाक्य आते हैं—'पर यह कौन जानता था कि वह सारी लीला विधि के हाथों रची जा रही है। जीवन रंगशाला का यह निर्दय सूत्रधार किसी अगम्य गुप्त स्थान पर बैठा हुआ अपनी जटिल क्रूर क्रीड़ा दिखा रहा है। यह कौन जानता था कि नकल असल होने जा रही है, अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करनेवाला है।' यह उस समय का वर्णन है जब उदयभानुलाल गंगा में डूबने का स्वाँग रचने जा रहे थे। वर्णन कुछ प्राचीनता दोषपुष्ट है। इसी के बाद दो प्रकृति वर्णन हैं—'निशा ने इंदु को परास्त कर के अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उसकी पैशाचिक सेना ने प्रकृति पर आतंक जमा रखा था। सद्वृत्तियाँ मुँह छिपाये पड़ी थीं, और कुवृत्तियाँ विजय गर्व से इठलाती फिरती थीं। वन में वन्य जंतु शिकार की खोज में फिर रहे थे, और नगरों में नर पिशाच गलियों में मँडराते फिरते थे।' एक आधुनिक उपन्यास में इस प्रकार के वर्णन से सौंदर्य की कोई वृद्धि नहीं होती।

जहाँ यह दिखलाया गया है कि रंगीलीबाई पहले तो पुत्र की शादी बिल्कुल निर्मला से नहीं करना चाहती थी, किंतु ज्यों ही वह कल्याणी का पत्र पढ़ती है त्यों ही बदल जाती है, उस स्थान पर यह नहीं ज्ञात होता कि आखिर

उस पत्र में कौन-सी ऐसी बात थी जिससे उसके मत में यह एकाएक परिवर्तन हुआ। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए था कि किन कारणों से यह एकाएक परिवर्तन हुआ।

मंशाराम की मृत्यु के समय जब वह निर्मला के चरणों में गिर पड़ता है तो उसे उठाया गया या नहीं उठाया गया, यह बिना बताये ही लेखक यह दिखलाते हैं कि किस प्रकार मुंशी जी पश्चात्तापग्रस्त हैं, और मुंशी जी और निर्मला में इसी आशय की बातचीत होने लगती है। अवश्य उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह सभी छोटी घटनाओं का वर्णन ही कर दे, बहुत कुछ पाठक की कल्पना शक्ति पर छोड़ देना चाहिए, किंतु यहाँ पर एक छोटे से वाक्य में यदि मंशाराम को उठाने की बात लिख दी जाती, तभी मुंशी जी और निर्मला की बातचीत की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो पाती।

इस प्रकार की छोटी त्रुटियों के बावजूद निर्मला निष्पेषित पददलित नारी का एक बहुत सुंदर चित्र है। 'निर्मला' यों तो देखने में दहेज की कुप्रथा को केंद्र कर चलता है, किंतु स्मरण रहे कि आखिरी विश्लेषण में इसकी आधारगत समस्या सामाजिक विषमता है। हमारे समाज में विवाह ऐसी घटना—जिसमें स्त्री-पुरुष के प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं होनी चाहिए, आर्थिक अवस्था ही सब कुछ है। निर्मला की यही समस्या है। यह समझना गलत होगा कि प्रेमचंद ने इस पुस्तक में पहली स्त्री से संतान रहते हुए दूसरी स्त्री ग्रहण करने की निंदा की है। कर्मभूमि में प्रेमचंद दिखाते हैं कि सौतेली माँ हर हालत में खराब नहीं होती। भले ही इसमें लम्बे-लम्बे लच्छेदार भाषण न हों, भले ही इसमें कथानक दीर्घ न हो, किंतु मध्यवित्त तथा उच्चवर्ग की विवाहोपजीवी नारी की समस्या इस उपन्यास में जितनी स्पष्ट हुई है, प्रेमचंद के किसी अन्य उपन्यास में नहीं हुई है।

कर्मभूमि

लाला समरकांत बनारस के बहुत बड़े व्यापारी थे। उनका पुत्र अमरकांत उनकी कृपा से वंचित था, और अपनी फीस भी ठीक समय पर नहीं दे सकता था। उसका दोस्त सलीम ऐसे मौकों पर उसकी फीस अदा कर देता था। अमरकांत की माँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने दूसरा विवाह किया था। दूसरी पत्नी से उनके नैना नाम की कन्या भी हुई। उनकी दूसरी पत्नी की भी मृत्यु हो चुकी थी। अमरकांत शरीर से कमजोर था, तथा पढ़ने-लिखने में भी कमजोर था। लाला जी ने सूना घर देख कर उसकी शादी सुखदा से कर दी। सुखदा बहुत बड़ी जायदाद की उत्तराधिकारिणी थी।

अमरकांत को चर्खा चलाने का शौक था और वह अक्सर सभा आदि में भी जाता था। उसकी स्त्री और पिता को उसका यह रवैया बिलकुल पसंद नहीं था। वे हरदम उसके चर्खे पर व्यंग्य कसते। इसके फलस्वरूप अमरकांत ने यह दिखाने का इरादा किया कि वह पढ़ाई में किसी से पीछे नहीं है, और उसने मैट्रिक की परीक्षा में सारे प्रांत में प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसी समय अमरकांत की सास रेणुका काशी में आयी और गंगा-तट पर ठाठ से रहने लगी। अमरकांत का अधिकांश अवकाश का समय उसी के पास बीतता था।

पर अमरकांत ने अपना पुराना जीवन-क्रम कायम रखा, और वह जब-तब सलीम, डाक्टर शांतिकुमार तथा अन्य मित्रों के साथ ग्रामसेवा के लिए निकल जाया करता था। एक दिन वे इसी प्रकार गाँव में गये हुए थे तो उन्होंने देखा कि एक जगह गोरे गाँव की एक स्त्री का अपमान कर रहे हैं। बस ये लोग उन पर पिल पड़े। एक गोरे ने पिस्तौल चलायी, शांतिकुमार को कुछ चोट आयी, पर गोरे काबू में आ गये।

अब तो अमरकांत राजनैतिक कामों में अधिक पड़ने लगा, पर सुखदा ने उससे प्रतिज्ञा करायी कि वह राजनैतिक कामों में नहीं पड़ेगा। तब उसे

राजनैतिक काम छोड़ना पड़ा। कभी-कभी दूकान में भी बैठने लगा। एक दिन दूकान पर बैठा था तो कालेखाँ नामक गुन्डे से यह मालूम हुआ कि उसके पिता चोरी के माल खरीदा करते हैं। उसे यह भी मालूम हुआ कि उसके पिता एक मुसलमान बुढ़िया को पाँच रुपया हर महीना देते हैं। वह इस बुढ़िया के घर भी गया तो वहाँ उसकी पोती नवयुवती सकीना से उसकी जान-पहचान हुई। सकीना रूमाल काढ़ा करती थी, अमरकांत उन्हें मित्रों में बेचने लगे।

जब लाला समरकांत को यह ज्ञात हुआ कि अमरकांत ने कालेखाँ से चोरी का माल नहीं लिया, तो उसने उसे खूब डाँटा, बोला—कौन रोज़गार है जिसमें आत्मा की हत्या न होती हो। सभी रोजगारों में दाँवघात हैं। कौन वकील है जो झूठे गवाह नहीं बनाता। लीडरों में ही कौन है जो चंदे का रुपया नोच-खसोट न करता हो—पर अमरकांत ने कुछ नहीं सुना।

लाला समरकांत की दूकान के सामने ही एक भिखमंगिन ने एक गोरे पर छुरी से हमला किया। छुरी छाती में घुस गयी। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि यह वही स्त्री थी, जिसका गोरों ने उस अवसर पर अपमान किया था। तब से वह पगली-सी थी। वह गिरफ्तार कर ली गयी, और उस पर मुकदमा चला। अमरकांत तथा उसके मित्रगण जोरों के साथ उसकी पैरवी करने लगे। फैसले के दिन उस स्त्री का पति एक बच्चे को गोद में ले कर अदालत में आया। मालूम हुआ कि उसे अब बिरादरी का भय नहीं है, यदि वह स्त्री छूट गयी, तो वह उसे ग्रहण करेगा।

वह स्त्री जिसका नाम मुन्नी था, बरी कर दी गयी। मुन्नी को बताया गया कि उसका पति उसे ले जाने को तैयार है, पर वह पति के साथ यह कह कर मिलने को तैयार नहीं हुई कि वह अपने स्वार्थ के लिए उसका तथा बच्चे का सत्यानाश नहीं करना चाहती। वह कहीं चली गयी।

अमरकांत अब भी मुसलमान बुढ़िया के यहाँ जाता था। एक दिन वह पहुँचा तो बुढ़िया घर में नहीं थी। घर में अँधेरा था। पूछने पर मालूम हुआ कि एक ही साड़ी है, उसे धो कर डाल दिया है, इसलिये वह नंगी है, और तभी बत्ती जलायी नहीं गयी। इस बात से अमरकांत जोश में आ गया, और तुरंत घर जा कर वहाँ से चार साड़ियाँ ले आया। सकीना ने मना किया, और उससे कहा कि आप ज्यादा आया न करें, लोग शक करेंगे। . ने ाड़ियों

को लेने से भी इनकार कर दिया।

थोड़े दिन में अमरकांत ने यह समझ लिया कि सकीना के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न हो चुका है। इन्हीं दिनों सकीना की शादी की बातचीत हुई तो वह उन्मत्त सा हो गया, और उसने तभी दम लिया जब सकीना से वादा करवा लिया कि वह अभी शादी नहीं करेगी।

अमरकांत म्युनिसिपेलिटी के मेंबर हो गये थे, पर समरकांत चाहते थे कि वह इन सब बखेड़ों में न पड़ कर पूरा समय दूकान में दे। इसी को ले कर पिता-पुत्र में चखचख हुई, और अमरकांत को बालबच्चों के साथ घर छोड़ना पड़ा। नैना भी साथ गयी। जीविका के लिए वह खद्दर की फेरी करने लगा। घर का सारा भार नौकरानियों के बजाय सुखदा पर पड़ा। इस कारण थोड़े ही दिनों में पति-पत्नी में खटपट रहने लगी। सुखदा ने बालिका विद्यालय में नौकरी कर ली। नतीजा यह हुआ कि घर का भार भी अमरकांत पर पड़ा। इधर समरकांत की भी हालत अच्छी नहीं थी। नौकरों के हाथ से खाना खाते-खाते वे बीमार हो गये। सुखदा रोज वहाँ जाने लगी, और उनकी सेवा करने लगी। सुखदा को पति के फेरी करने पर बहुत शर्म आती थी। एक दिन उसने खुल कर कहा तो अमरकांत बोला—तुम्हारी नौकरी करने से भी तो मेरा अपमान होता है। दोनों में खटपट लगी ही रहती थी।

अमरकांत सकीना के यहाँ बहुत जाते थे। वह पत्नी के रूप में सकीना को चाहता था, पर इसके लिए ढङ्ग न देख कर भटकता हुआ देहात में पहुँचा, और एक चमारों के गाँव में ग्रामसुधार करने लगा। मुन्नी भी यहीं थी। उसने वहाँ एक पाठशाला खोल दी। वह वहाँ मजे में रहता था। इतने में एक दिन मालूम हुआ कि कहीं पास में कोई गाय मरी है, और सब गाँववाले वहाँ मांस लेने गये हैं। इस पर उसने मुन्नी से कहा कि अब न तो यहाँ खायगा, और न रहेगा। मुन्नी ने जा कर लोगों को समझाया पर वे न माने। तब मुन्नी गाय के सामने खुद बैठ गयी, और बोली जिसे मुर्दा मांस लेना है, वह पहले मुझ पर छुरी चलावे। इस पर गाँववाले मान गये। अमरकांत वहाँ रह गया।

उधर समरकांत अपने ठाकुरद्वारे में एक ब्रह्मचारी से कथा कहलवाते थे। पर एक दिन ब्रह्मचारी जी को मालूम हुआ कि कुछ अछूत भी वहाँ कथा सुनने आते हैं। तब वे बिगड़ गये। शांतिकुमार ने अछूतों का पक्ष लिया। वे

अछूतों से बोले—"तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं। तुम्हारे भगवान, किसी झोंपड़ी में या पेड़ तले होंगे। वे चिथड़ा पहनने वालों और चबेना खानेवालों की सूरत तक नहीं देखना चाहते।" अछूतों पर रोक लगा दी गयी। पर अछूत नहीं माने। एक दिन तो गोली भी चल गयी। अछूत भागने लगे, तो सुखदा सामने आ कर अछूतों को समझाने लगी कि पीछे मत हटो। उस पर गोली चलना ही चाहती थी कि लाला समरकांत ने पुलिसवालों को कह दिया कि मन्दिर खुल गया, जिसका जी चाहे प्रवेश कर सकता है। कई लोग मारे गये थे। शांतिकुमार के भी चोट आयी थी। उनको देखने के लिए नैना और सुखदा जाया करती थीं।

सलीम आई. सी. एस. में पास हो गया, और उसे उस हलके का चार्ज मिला जहाँ अमरकांत पहले ही से मौजूद थे। नैना का विवाह सेठ धनीराम के पुत्र मनीराम से हुआ। सुखदा अब सेवाकार्य में ही रहती थी। शांतिकुमार के साथ मिल कर वह चाहती थी कि लोगों के लिए सस्ते मकानों का प्रबंध हो, पर म्युनिसिपलिटी वाले इस पर तैयार नहीं हुए, तब हड़ताल की गयी, और इसमें सुखदा जेल चली गयी।

उधर अमरकांत को जब सलीम की नियुक्ति की बात ज्ञात हुई, तो वह उससे मिला। वहाँ उसे पता लगा कि सलीम सकीना से प्रेम करने लगा है, पर वहाँ सोचने का समय न था। उस इलाके के जमींदार महंत जी बहुत अत्याचारी थे। अमरकांत के नेतृत्व में लगानबंदी शुरू हुई, तो जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर गजनवी ने सलीम को हुक्म दिया कि वह अमरकांत को गिरफ्तार करे। अमरकांत गिरफ्तार हो गया। उस अवसर पर दंगा होते-होते बचा। लाला समरकांत को जब पुत्र की गिरफ्तारी की बात मालूम हुई, तो वे उस इलाके में पहुँचे। लाला जी पर हंटर चलने ही वाला था कि सलीम ने उन्हें पहचान लिया। सलीम बहुत लज्जित हुआ। लाला जी तो चले गये, पर सलीम ने जाँच शुरू की, और उसे मालूम हुआ कि किसानों की हालत सचमुच बड़ी खराब है।

अमर की जेल में कालेखाँ भी था। कालेखाँ उसका काम-वाम कर दिया करता था, और उसे आराम देता था। पर कालेखाँ एक दिन नमाज पढ़ रहा था, तो उस समय जेलर आया। कालेखाँ नमाज़ में ही लगा रहा। इस पर उसे पीटा जाने लगा, और वह अगले दिन मर गया।

इस समय तक सलीम अपनी जाँच समाप्त कर चुका था। और उसने सरकार को किसानों की सच्ची हालत की एक रिपोर्ट दी। गजनवी ने बहुत मना किया कि ऐसी रिपोर्ट मत दो, पर उसने रिपोर्ट दी। नतीजा यह हुआ कि उसे बर्खास्त कर दिया गया। सलीम किसानों में काम करने लगा। अंत तक सलीम गिरफ्तार हो गये, और उसी जेल में पहुँचाये गये जहाँ अमरकांत था।

बनारस में भी गिरफ्तारियाँ हो रही थीं। नैना भी आन्दोलन में थी। मनीराम ने उसे समझाया, पर जब वह न मानी, तो उसने उस पर गोली चला दी। सुखदा, सकीना, पठानिन, मुन्नी, रेणुका सब जेल में ही थीं। इसी कारण नैना को नेतृत्व लेना पड़ा था।

जनाने जेल की पुताई के लिये जो मजदूर भेजे गये इनमें अमरकांत और सलीम भी थे। इतने में सबकी रिहाई की खबर आयी। सेठ समरकांत भी आये थे। अमर ने सुखदा से माफी माँगी। सलीम और सकीना की शादी तय हो गयी। सरकार झुक गयी थी। यह तय हुआ था कि उस इलाके के लगान के संबंध में पाँच व्यक्तियों की एक कमेटी होगी, जिनमें सलीम और अमरकांत भी होंगे। यह फैसला गवर्नर की ओर से हुआ था। सब लोग गवर्नर की तारीफ कर रहे थे कि वाह क्या सुन्दर फैसला किया।

कर्मभूमि पर विचार

प्रेमचंद पर विशेषकर कर्मभूमि पर लिखते हुए, सुप्रसिद्ध समालोचक डाक्टर रामविलास जी लिखते हैं : 'उनके (प्रेमचंद के) चित्रण में विशेषता यह है कि अन्य रोमांटिक लेखकों की भाँति उन्होंने अपने आवारों को आदर्श रूप में नहीं रखा, न समाज के शिक्षित व्यक्तियों को उनकी तुलना में नितांत अधम और पातकी ही बतलाया है।' पता नहीं ये मंतव्य किस लेखक पर लक्ष्य करके किये गये हैं, किंतु इस मंतव्य की सबसे बड़ी ट्रेजडी यह है कि जिस कर्मभूमि के सिलसिले में उन्होंने ये मंतव्य किये हैं, उसका नायक अमरकांत एक Glorified vagabond अर्थात् एक यशमंडित आवारे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शुरू से ही वह हवा में उड़ता है। उसके कोई निश्चित विचार नहीं हैं, न कोई Moorings या विचारगत बंधन हैं। अजीब नौजवान है। जब उसके जी में जो आता है, करता है। वह रईस का लड़का और रईस का दामाद है। खाने-

पीने की उसे कोई फिक्र नहीं है। जैसे रईसों के बिगड़े हुए लड़के होते हैं, वह उसी प्रकार है, हाँ उसमें कुछ आदर्शवाद का पुट है, किंतु यह आदर्शवाद उसे एक समय तो कालेखाँ द्वारा लाया हुआ चोरी का माल खरीदने से रोकता है, किंतु दूसरी ओर एक सुशीला स्त्री के रहते हुए उसे पठानिन की लड़की सकीना से प्रेम करने के लिए मना नहीं करता। सच बात तो यह है कि इसी प्रेम में असफलता के कारण वह घूमता फिरता हुआ एक इलाके में पहुँचता है, वहाँ वह किसानों के आंदोलनों में भगा लेने लगता है। उसका छात्र-जीवन भी इसी प्रकार है। वह एक गाँव में घूमने जाता है, वहाँ गोरों को मुन्नी पर बलात्कार करते हुए पाता है, बस उन पर पिल पड़ता है। इसके बाद जब मुन्नी दो गोरों की हत्या कर डालती है, तो वह औरों के साथ मिल कर बड़े जोरों के साथ मुकदमा लड़ता है, किंतु जब घर में आकर देखता है कि लड़का पैदा हुआ है, तो उसके उत्सव की तैयारी में मुन्नी के विषय में सब बातें भूल जाता है। वह नाच के विरुद्ध है, किंतु अपने विचारों के विरुद्ध इस उत्सव के लिए नाच करवाने पर तैयार हो जाता है। वह गंडा तावीज में विश्वास नहीं करता, किंतु बच्चे के गले में बुढ़िया की दी हुई तावीज बाँधता है। जब मुन्नी छूट जाती है, और उसके मित्र डाक्टर शांतिकुमार का बहुत नाम होता है, तो वह इस बात से हर्षित हो जाता है। कहता है—'जो काम खुद न देखो, वही चौपट हो जाता है। मैं तो इधर फँस गया, उधर किसी से इतना भी न हो सका कि उस औरत को समझाता। मैं होता तो मजाल थी कि वह यों ही चली जाती।.....मैंने तो समझा डाक्टर साहब और बीसों ही आदमी हैं, मेरे न रहने से ऐसा क्या घी का वड़ा लुढ़क जाता, लेकिन वहाँ किसी को क्या परवाह।' मुन्नी जो छूट गयी उसका सारा श्रेय वह खुद लेने लगा, घर तथा बाहर हर जगह वह इसी प्रकार की डींग मारता है। अवश्य वह बाद को किसानों के झगड़े में जेल जाता है, किंतु यह भी हवा में बह कर।

इसमें संदेह नहीं कि अमरकांत एक आवारा है, अवश्य उसके विचारों तथा कार्यों में राजनैतिक पुट है, यह दूसरी बात है; किंतु आंतरिक रूप से वह अपने आवारापन को कभी छोड़ नहीं पाता। उसके आवारापन का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसकी सारी देश-भक्ति प्रेम में चोट खा जाने के कारण है। उसके किसान आंदोलन में पड़ जाने का आंतरिक रहस्य यही है। जब उसने

देखा कि सकीना से विवाह होना कठिन है, किंतु उसकी अंतरात्मा का प्रत्येक अणु सकीना के लिए कराह रहा है, उसके लिए सकीना के विना जीना असंभव है, तब वह घर से भाग निकलता है, बस वह परिस्थितियों में पड़ कर (अवश्य इसमें उसका पुराना रुझान भी काम देता है) राजनैतिक वल्कि किसान आंदोलन में भाग लेता है। राँची मानसिक चिकित्सालय के सुप्रसिद्ध मनोरोग विशेषज्ञ बर्कले हिल ने बंगाल के 'आतंकवादियों' के संवन्ध में यह सिद्धांत पेश किया था कि ये लोग सबके सब ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको अपने प्रेम जीवन में प्रत्याख्यान मिला है, किसी प्रकार का धक्का लगा है, या इसी क्षेत्र में किसी प्रकार से वे तृप्ति से वंचित रहे हैं, इसी के कारण उन लोगों ने क्रांतिकारी जीवन को अपनाया है। हम यहाँ पर इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि यह सिद्धांत सही था या गलत। सामाजिक शक्तियाँ न मालूम किस-किस व्यक्ति से किस-किस मिस से काम निकाल लेती हैं, यह कौन बता सकता है। इसी उपन्यास में सामाजिक शक्तियों के हाथों में व्यक्ति किस प्रकार कार्य करता है, इसके अन्य उदाहरण मौजूद हैं। जिस समय सलीम जेल में गया है उस समय अमरकांत के पूछने पर कि वह कैसे जेल में आया है, सलीम कहता है—'तुम्हारे इश्क में।'

अमरकांत ने पूछा —'दादा को किसका इश्क था?'

सलीम —'अपने बेटे का!'

— सुखदा को?'

—'अपने सौहर का।'

—'और सकीना को? और मुन्नी को? और इन सैकड़ों आदमियों को जो तरह-तरह की सख्तियाँ झेल रहे हैं?' इत्यादि।

इन थोड़े से वाक्यों में प्रेमचंद ने इस महान सामाजिक सत्य को जिसे समझाने के लिए मोटे से मोटे ग्रंथ लिखे गये हैं, स्पष्ट कर दिया। वह यह कि हम भावुकता के क्षेत्र में चाहे जो भी सोचें और समझें, हमारी भावुकता की आड़ में समाज की उत्पादन शक्तियाँ काम करती रहती हैं। जब तक कोई विचार इक्के दुक्के व्यक्तियों तक महदूद रहता है, तब तक हम उसे खामख्याली, कल्पना या भावुकता जो चाहे सो कह लें, किंतु जब लोगों में भावुकता एक तरह की होती है, या कई तरह की भावुकताओं का परिणाम अगर एक तरह के कार्य

तथा आचरण में होता है, तब उस कार्य या आचरण को समझने के लिए इक्के-दुक्के व्यक्तियों की भावुकता के विश्लेषण की भले ही वैज्ञानिक दृष्टि से उसे समझने के लिए आवश्यकता हो, किंतु उसे सामाजिक दृष्टि से ही देखना पड़ेगा। मुन्नी ने, सुखदा ने, अमरकांत ने, सलीम ने, सभी ने किसी न किसी प्रकार की भावुकता से परिचालित हो कर किसान या अछूत आंदोलन को—अर्थात् उस समय के एक न एक प्रगतिशील आंदोलन को अपनाया, इसका क्या कारण है, जब हम इसे समझने की कोशिश करेंगे, तभी हम उस समाज को तथा उसकी गति की ढाल को समझ सकेंगे। भावुकताएँ तो बने हुए माल हैं, उनका कच्चा माल कहीं और है। इसलिए यदि बर्कले हिल यह कहते हैं कि कुछ क्रांतिकारी ऐसे हैं जो प्रेम जीवन में धक्का खाकर ही क्रांतिकारी बने हैं तो इससे न तो क्रांति पर ही कोई बट्टा लगता है, और न उन विशेष व्यक्तियों के क्रांतिकारित्व पर कोई धब्बा आता है। इस प्रकार अमरकांत ने सकीना के प्रेम की जटिलताओं का सामना न कर पा कर जो किसान सेवा अपनायी, न तो वह व्यर्थ है, और न उससे उसके चरित्र पर कोई विशेष धब्बा आता है। फिर भी हम जो इस बात पर जिद्द कर रहे हैं कि अमरकांत एक आवारा है, उसका कारण यह है कि वह जिस समय प्रेम जीवन में धक्का खा कर एकाकी यात्रा में निकल पड़ा था, उस समय उसे बिलकुल पता नहीं था कि आगे वह कौन सा जीवन अपनायेगा। इसके अतिरिक्त हम उसमें बात-बात पर कई तरह के निम्नमध्यवित्त जनोचित कुसंस्कार भी देखते हैं। यों तो वह डींग मारने को तो यह डींग मारता है कि वह श्रम की मर्यादा को समझता है, घर में अपमानित होने पर खादी का गट्ठर ले कर चलता है, किंतु वह ऐसा केवल अपने ऊपर जबर्दस्ती कर, सीनाजोरी कर करता है, यह स्पष्ट है। उसकी स्त्री सुखदा तो खैर एक दिन उसे खादी का गट्ठर सिर पर लादकर जाते हुए देख लेती है, और अपमान से उसका माथा नीचा हो जाता है, किंतु सुखदा स्कूल में नौकरी करती है, इस पर उसे स्वयं अपमान का बोध होता है। इस प्रकार अपनी हड्डियों तक वह पेटीबुर्जुआ है। इस उपन्यास का यही व्यक्ति नायक है।

उसके आवारापन का खैर अकाट्य प्रमाण यह है कि उसे अपनी रोजी की फिक्र नहीं होती, हाँ, कछ दिनों तक वह खादी का गट्ठर लादकर फेरी करता है, किंतु वह कुछ दिनों तक है, और उससे उसके उस चरित्र में फर्क न आ कर

बल्कि वह और अधिक पुष्ट होता है। उसके लिए वह काम सबसे अस्वाभाविक है। वह खादी का गट्ठर लाद कर इस प्रकार चलता है जैसे कोई कायर किसी तरह दाँत दबा कर हाथ में पिस्तौल ले ले, और जिस शत्रु को मारना चाहता है, उसे न मार कर घबड़ाहट में किसी और ही को मार डाले, या उससे निशाना चूक जाय। जो कुछ भी हो, अमरकांत एक पेटीबुर्जुआ आवारा है। अवश्य शरतचन्द्र के चरित्रहीन सतीश, श्रीकांत आदि आवारा से वह भिन्न है, किंतु बहुत भिन्न नहीं है। सतीश भी बहुत परोपकारी है, मुफ्त में दवा-दारू करता है। श्रीकांत भी जब-तब दूसरों के लिए अपने को होमने के लिए तैयार रहता है। शरतबाबू के सभी आवारा पात्र इसी श्रेणी के हैं। अवश्य उनमें से पथेर दावी के अतिरिक्त किसी का नायक न तो जेल जाता है, और न जेल जाने के लिए शायद तैयार ही है। इस दृष्टि से अमरकांत प्रेमचंद की निराली उपज है, किंत जैसा कि हमने देख लिया, इससे पात्र के चरित्र में कोई मौलिक विशेषता नहीं आती।

कर्मभूमि भी कम से कम दो कथानकों का उपन्यास है। एक तो चमारों के गाँव की कथा है, दूसरी शहर की कथा है। इन दोनों कथाओं को अमरकांत तथा उसके परिवारवालों के द्वारा जोड़ा गया है, किंतु प्रत्येक पाठक को यह अनुभव होता है कि ये कथाएँ कुछ शिथिल तरीके से जुड़ी हुई हैं। एक कथा को पढ़ते-पढ़ते हम दूसरी कथा को करीब-करीब भूल जाते हैं, और उन दोनों में कोई आवश्यक संबंध ज्ञात नहीं होता, ऐसा मालूम होता है कि जैसे लेखक ने इन दोनों कथाओं को जबरदस्ती जोड़ा है।

हडसन ने कथानक की बनावट के संबंध में कुछ मंतव्य किये हैं, जो इस संबंध में विचार्य हैं। वे लिखते हैं, 'उपन्यास का कथानक सरल अथवा यौगिक (compound) हो सकता है, अर्थात् इसमें केवल एक कथा हो सकती है या एकाधिक कथा हो सकती है, और एकता के नियम का यह तकाजा है कि यौगिक कथानक के हिस्से इस प्रकार संयुक्त हों कि वे मिल कर एक समग्र ज्ञात हों। Vanity Fair के कथानक के निर्माण के संबंध में हमारा यही कहना है कि इसमें दो कथाएँ हैं, एक तो अमेलिया सेडली की कथा तथा दूसरी बेकी शार्प की कथा है, और ये दो कथाएँ अच्छी तरह संयुक्त नहीं हुई हैं। इसी प्रकार Middlemarch, Daniel Deronda तथा आनाकैरेनिना के संबंध में यही मंतव्य

किया जा सकता है। इसके विपरीत Bleak House नामक उपन्यास में एस्थर समर्सन की कथा, लेडी डेडलाक की पाप की कथा, तथा जारनडाइस बनाम जारनडाइस वाले मुकदमे की कथा बहुत चतुरता के साथ जोड़ दी गयी हैं, इस प्रकार इस उपन्यास में हमें अत्यंत जटिल उपादानों की एकता करके कहानी कहने का एक बहुत अच्छा नमूना मिलता है। अक्सर उपन्यासकारगण ऐसा करते हैं कि जब उनके उपन्यास में कई अलग-अलग उपादान आते हैं, तो वे इन कथाओं को एक दूसरे से बेलेन्स कर देते हैं, या एक कथा के द्वारा दूसरी कथा को स्पष्टतर कर देते हैं। डिकेन्स का यह तरीका था कि वे अपने अतिनाटक को एक विस्तृत सुखांत करके खतम कर देते थे, यही उन दिनों रोमान्टिक नाटककारों की योजना थी। Vanity Fair में भी जहाँ दो कथाओं को संयुक्त करने का बहुत कम प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है, वहाँ भी उनके नैतिक तथा नाटकीय contrast या विरोध को स्पष्ट कर के रखा जाता है। इस प्रकार का नैतिक और नाटकीय विरोध हमें आनाकैरेनिना की दो कथाओं में मिलेगा। (An Introduction to the Study of Literature, पृ० १४२)।

इस प्रकार हमने देख लिया कि टालस्टाय और थकरे ऐसे लेखकों की उत्कृष्टतम रचनाओं के संबंध में यह कहा गया है कि उनकी रचनाओं के कथानक में परस्पर संबद्धता की कमी है। हम इस विषय पर आगे और लिखेंगे, किंतु यहाँ यह बता दें कि स्वयं प्रेमचंद भी शायद कर्मभूमि के कथानक की शिथिलता के संबंध में परिचित थे, उन्होंने जो अपने ४०० पन्ने के उपन्यास को पाँच भागों में बाँटा है, इससे इस संबंध में उनकी सज्ञानता जाहिर होती है। यहाँ यह भी बता दिया जाय कि हडसन सब बातों को विचार करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह बात कोई जरूरी नहीं है कि किसी उपन्यास का कथानक सुग्रथित हो, और उसमें शिथिलता न हो। डिकेन्स की रचनाओं में Pickwick Papers का कथानक बहुत ही शिथिल कथानक युक्त है। डिकेन्स के अन्य उपन्यासों में David Copperfield, Martin Chuzzlewit के कथानक न अधिक शिथिल हैं, न अधिक सुग्रथित। इसके विपरीत जेन आस्टन और तुर्गनेव के उपन्यास बिल्कुल सुग्रथित हैं। इन सब बातों को विचार करने के बाद भी हडसन कहते हैं कि 'अंतिम तरीके से एक मुहूर्त के लिए भी यह नहीं मान लिया जा सकता है कि सुग्रथित उपन्यास शिथिल उपन्यास से कला की दृष्टि से

उच्चतर सतह पर है, यद्यपि स्काट बराबर अपने पाठकों से इस बात के लिए माफी माँगते रहे कि उनके कथानक शिथिल हैं.....। सच बात तो यह है कि एक वास्तविक रूप से अच्छा उपन्यास बहुत संभव है शिथिल तरीके का ही हो न कि सुग्रथित तरीके का।' अवश्य ही हडसन की यह राय मान्य नहीं हो सकती। यह कहना दूसरी बात है कि अक्सर बहुत अच्छे उपन्यास और गुणों के बावजूद सुग्रथित नहीं हो पाये, यह एक तथ्य है, किंतु यदि उनके और गुणों के साथ-साथ वे सुग्रथित भी होते तो वे अधिक अच्छे न होते, यह कहना गलत है। स्वयं हडसन शायद इस बात को समझते हैं, इसलिए वे आगे कहते हैं, 'किंतु इसी के साथ सुग्रथितता और आंगिक सौष्ठव से निस्सन्देह रूप से सौंदर्योपभोग से जो आनंद प्राप्त होता है, वह हमें मिलता है, और हम अवश्य ही ऐसी रचना की प्रशंसा करते हैं। Vanity Fair आदि रचनाओं में और जो उत्कृष्टताएँ हैं उनके बावजूद उनके कथानक में सुग्रथितता का अभाव है, उसे हम नज़रन्दाज़ नहीं कर सकते।' हम आगे चल कर देखेंगे कि अन्य यौगिक कथानकयुक्त उपन्यासों में प्रेमचंद ने अपनी कला को किस प्रकार निबाहा है।

जिन दिनों यह पुस्तक लिखी गयी थी, उन दिनों (१९३० के बाद) अछूत समस्या को ले कर सवर्ण हिंदुओं में कुछ आंदोलन हो रहा था। इसलिए इसमें हमें आश्चर्य नहीं है कि इस उपन्यास की केंद्रीय समस्या अछूत समस्या है। अवश्य इस अछूत समस्या के साथ किसानों की समस्या भी संयुक्त है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में शहर के अछूतों तथा गाँव के अछूतों की समस्या को अलग-अलग कर के दिखलाया है। शहर के अछूतों की समस्या को उन्होंने मंदिर प्रवेश और कथा सुनने के अधिकार के रूप में अर्थात् नागरिक स्वतंत्रता के लिए युद्ध के रूप में दिखलाया है; किंतु गाँव के अछूतों की समस्या में उन्होंने इस समस्या के अंतर्निहित पहलू को भी स्पष्ट कर के दिखलाने की चेष्टा की है। एक उपन्यास की समालोचना में हमें इस विषय को विस्तारपूर्वक बताने की न तो जरूरत है और न अवसर ही है कि किस प्रकार अछूतों की समस्या मौलिक रूप से एक आर्थिक समस्या ही है, फिर भी इस बात को देखते हुए कि बहुत कम जानकार लोग भी इस समस्या के इस अंतर्निहित रूप को समझते हैं, हम कुछ तथ्यों को यहाँ पर पेश करेंगे।

पहले सब आर्य एक वर्ण थे। फिर ऐसा ज्ञात होता है ईरान में ही

आर्यों में किसी न किसी प्रकार की वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात हो चुका था, किंतु अनार्यों के संस्पर्श में आ कर शूद्रवर्ण की उत्पत्ति हुई। स्मरण रहे जब वर्णों का अच्छी तरह प्रस्तरीकरण हुआ, उस समय शूद्रों का काम सेवा करना बताया गया था। मनुस्मृति में हम शूद्रों को इसी रूप में चित्रित पाते हैं। प्राचीन आर्य समाज में शूद्र ही सबसे अधिक शोषितवर्ग थे। अवश्य बाद को कुछ शूद्र राजा भी हुए, किंतु साधारण शूद्रों की हालत इससे कुछ सुधरी नहीं। ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ आर्य भी आर्थिक कारणों से शूद्रत्व में जा गिरे। इसी प्रकार ऐतिहासिक रूप से यह भी देखा गया है कि कई जातियों के एक अंश को तो अछूत समझा गया, और दूसरे को उच्चवर्ण का मान लिया गया। इस प्रकार जो एक अंश को अछूत और दूसरे अंश को उच्चवर्ण का समझा गया, वह कोई आकस्मिक बात नहीं थी, बल्कि पता चला है कि जिस अंश के लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी रही, वह तो उच्च समझा गया, और दूसरा अंश नीच और छोटा समझा गया। ऐसी हालत में अछूत समस्या मूलतः एक आर्थिक समस्या है, अवश्य इतने सैकड़ों वर्ष से जो धारणाएँ समाज शरीर में घर कर गयी हैं, वे परिवार विशेष के आर्थिक उन्नयन से नष्ट नहीं हो जायेंगी, इसीलिए अछूतों के आर्थिक रूप से उन्नयन के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि विचारों की सतह पर भी उनका संग्राम चले, और वे इस बात को मनवा लें कि उनमें और सवर्ण हिंदुओं में कोई फर्क नहीं है। यदि पूछा जाय कि अछूत समस्या के समाधान के लिए आर्थिक उन्नयन अधिक जरूरी है या सवर्ण हिंदू तथा अछूतों के विचारों में परिवर्तन अधिक जरूरी है तो यह एक निरर्थक प्रश्न होगा। दोनों समस्याओं का अन्योन्याश्रय संबंध है।

गाँधी जी ने अछूतोद्धार का जो आंदोलन चलाया था, उसमें इन दोनों पहलुओं का ख्याल नहीं रखा गया था, इसलिए साधन बहुत ही कठिन है। गाँधी जी के अछूतोद्धार में मन्दिर प्रवेश और खानपान में छूत का दूरीकरण था, किंतु बेटी का लेनदेन नहीं था। कम से कम जब 'कर्मभूमि' की रचना हुई थी तब यही स्थिति थी। पर अछूतोद्धार आन्दोलन में आजन्म काम करने के बाद गाँधी जी ने यह अनुभव किया कि जात पाँत बिना मिटाये अछूत समस्या सुलझ नहीं सकती। ऐसा उन्होंने १९४६ में स्पष्ट लिखा। पर उस समय गाँधीवाद के अंतर्गत अछूतोद्धार का कार्यक्रम उसके सर्वांगीन सुधारवाद के दायरे में ही

रहता है, अवश्य इस क्षेत्र में भी मंदिर में अहिंसक रूप से प्रवेश करने की चेष्टा कर के सिर फुटवा कर, मार खा कर, जेल आदि जा कर मंदिर के मालिक के ऊपर दबाव डालने की व्यवस्था है। शेषोक्त उपाय के संबंध में यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के दबाव के लिए भी अछूतों को संगठित नहीं किया गया है। हम इससे अधिक ब्योरे में न जा कर इतना बतायेंगे कि कर्मभूमि का कर्मक्षेत्र अछूतोद्धार के इसी दायरे में अवस्थित है। अवश्य चमारों के गाँव में अछूतोद्धार की समस्या के साथ किसान-जमींदार की समस्या को जिस प्रकार ग्रथित दिखलाया गया है, उसमें प्रेमचंद गाँधीवाद से कछ आगे निकल गये हैं। अवश्य ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है कि ऐसा उन्होंने सचेत न हो कर किया, एक वस्तु अनुयायी कलाकार के नाते बहुत संभव है उनकी रचना में समस्या का यह रूप उनके बावजूद आ गया है। गाँधी कहीं भी यह नहीं कहते सुने गये कि मंदिरों में सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं, किंतु प्रेमचंद शांति कुमार की जबान से अछूतों को यह कहते हैं -- 'तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं.....।' थोड़े से शब्द हैं, किंतु इतने में सारी समस्या को कितना स्पष्ट कर दिया गया है। भगवान भी दो हैं, एक तो सेठ महाजनों के, एक गरीबों के। सेठ महाजनों के भगवान ऊँचे मंदिरों में रहते हैं, हलुआ पूड़ी खाते हैं, तरह-तरह की दिव्य सुगंधियों से तथा मीठे तानों से उनकी आराधना होती है, और गरीबों के भगवान, उनका तो कोई स्थान ही नहीं है। जब अछूत — सबसे जटिल तरीके के गरीब और शोषित सेठ महाजनों के भगवान के पास फटकने की चेष्टा करते हैं, तो स्वाभाविक रूप से उनके भाड़े के टट्टू पंडे, पुजारी और ब्रह्मचारी उन पर जूते लेकर पिल पड़ते हैं। जब इसी अछूत आंदोलन के सिलसिले में डाक्टर शांतिकुमार का सिर फट जाता है तो वे राज्य का रूप भी बहुत अच्छी तरह समझ जाते हैं। 'पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाये रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। इसी का नाम गवर्नमेंट है — गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेंट का खातमा हो जाता है।' क्या कोई वैज्ञानिक तरीके से समाजवाद का समझनेवाला मार्क्सवादी इससे अच्छी तरह अपने विचारों को व्यक्त कर सकता है, किंतु इस क्षेत्र में यह केवल तजर्बे से उत्पन्न है।

इस उपन्यास के पात्रों में सलीम भी एक है, वह भी एक आवारा ही है।

वह पहले अपने वर्ग के मामूली नौजवानों की तरह केवल सुखान्वेषी तथा तितली प्रकृति था, किंतु अमरकांत, बल्कि समरकांत के कारण उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है, और वह एक जालिम हाकिम से जेल जानेवाले देशभक्त में परिणत हो जाता है। उसका यह हृदय परिवर्तन बिलकुल आकस्मिक तो नहीं है, इस दृष्टि से यह प्रेमचंद के ऐसे पात्रों से अच्छा ही है, किंतु फिर भी उसका हृदय जितनी आसानी से परिवर्तित हुआ है, उतनी आसानी से वास्तविक जीवन में परिवर्तन नहीं होते। लाला समरकांत का भी हृदय परिवर्तन हुआ है, किंतु उनके हृदय परिवर्तन को लेखक ने शायद सबसे अच्छी तरह निभाया है। उनके संबंध में यह कहा जा सकता है कि ऐसे कारण मौजूद थे जिनसे उनका हृदय परिवर्तन होना जरूरी था। नैना देवी की हत्या के बाद म्युनिसिपिलटी के मेंबरों का हृदय परिवर्तन होता है, यह हृदय परिवर्तन है, या जनता के दबाव के सामने नगर पिताओं का आत्मसमर्पण है, इसमें संदेह है। इस उपन्यास में और एक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन हुआ, वह है सकीना, यद्यपि उसकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती। अवश्य वह हृदय परिवर्तन दूसरी ही तरह का है। पहले वह अमरकांत पर आसक्त थी, किंतु बाद को यह दिखलाया जाता है कि वह सलीम की बीबी हो गयी। यह कैसे? लेखक ने सकीना के साथ इस संबंध में जो अन्याय किया है, उसकी तुलना नहीं है। यह बात सच है कि अमरकांत से मुलाकात होने से पहले वह एक मामूली भारतीय बल्कि पिछड़े हुए पुरुष-प्रधान समाज की एक मामूली लड़की थी। उसकी दादी चाहे जिससे उसका निकाह करवा सकती थी, किंतु अमरकांत के प्रेम ने उसके जीवन की अवरुद्ध धारा को मुक्त कर दिया, और वह धारा तब से अपनी एक स्वतंत्र गति से प्रवाहित होने लगी। अब वह उस लता की तरह नहीं रही जिसको चाहे जिस पेड़ पर चढ़ा दिया जाय, वह पुष्पित, पल्लवित होती। अब वह सोचने लगी थी। जिस समय अमरकांत सकीना को छाती से लगा लेने के लिए अपनी तरफ खींचता है, उस समय एकाएक द्वार खुलता है, पठानिन अंदर आती है। सकीना एक कदम पीछे जरूर हटती है, किंतु अमरकांत की तरह वह डरती नहीं है। जब अमर चला जाता है, तब वह साफ-साफ पठानिन से कह देती है—'अगर उनकी जिंदगी गारत हुई, तो मेरी भी गारत होगी, इतना समझ लो।' उसका जीवन अब अमर के जीवन से बँध चुका है।

वह इस बंधन को बराबर निभाती है। फिर एकाएक यह कैसे होता है कि वह अमर को छोड़कर सलीम से ब्याह कर लेती है। यहीं पर प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यास के अन्य पात्रों की जरूरत की वलिवेदी पर सकीना को बल्कि मनोविज्ञान को चढ़ा दिया। प्रेमचंद को सुखदा और अमर का मिलन कराना था, अमरकांत को एक मुसलमान लड़की के साथ शादी करने से बचाना था, फिर क्या था, सकीना का बलिदान हो गया। इस प्रकार 'असामाजिक' उपसंहारों से बचाने के लिए ही मुन्नी को अपने पति से मिलने नहीं दिया जाता। जब मुन्नी का पति उसे लेने के लिए तैयार है, उस हालत में एक गाँव की लड़की को इस दार्शनिक तवीयत का चित्रित करना कहाँ तक उचित हुआ है, यह विचार्य है। अवश्य मुन्नी कोई मामूली लड़की नहीं है, क्योंकि बलात्कृत होने के बाद से वह बराबर गोरों के खून की प्यासी होकर घूमती रही। नैना और सुखदा गौण पात्रियाँ हैं, औसत तरीके पर उनका चरित्र-चित्रण अच्छा ही रहा है। इस उपन्यास में कई पात्रियाँ हैं, और ये सब पात्रियाँ पात्रों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे अधिक ही महत्वपूर्ण हैं। मुन्नी तो एक बहुत ही विशिष्ट पात्री है। यह सब होते हुए भी इस उपन्यास को पढ़ कर यह खेद रह जाता है कि इसमें लेखक यथेष्टरूप से प्राण संचार करने में सफल नहीं रहे हैं। कहीं-कहीं कथानक का सूत्र बहुत उखड़ सा जाता है। शरत बाबू की पात्रियों की तरह ये पात्रियाँ हमारे मन पर कोई अमिट छाप नहीं छोड़ जातीं। मुन्नी ऐसी स्वतंत्र क्रियाशीला एक भी पात्री शरत साहित्य में नहीं है, किंतु फिर भी मुन्नी हमारे सामने सजीव नहीं हो पाती। कुछ ऐसा मालूम होता है कि उसका कोई स्वतंत्र जीवन नहीं है। वह एक कठपुतली मात्र है।

इस उपन्यास के दोनों भागों में सत्याग्रह की किस्म के आंदोलन होते हैं। लेखक ने यह दिखलाया है कि एक ओर तो मंदिराधिकारी के द्वारा मंदिर के खोल दिये जाने से इस आंदोलन का अवसान होता है, और दूसरी ओर सरकार के द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति से आंदोलन समाप्त होता है। क्या लेखक ने इस प्रकार के दबावमूलक आंदोलन की अंतिम परिणति क्या हो सकती है इस पर इस प्रकार एक फबती कस दी है, या एक वस्तु अनुयायी लेखक के नाते जो बात उन्होंने ऐसे आंदोलनों से होते देखी, उसे सच्चाई के साथ दिखा दिया। जो कुछ भी हो, इस उपन्यास को जिस माने में भी लिया जाय, यह सत्याग्रह

की परिणति का अच्छा चित्रण करता है। समालोचकों ने यह कहा है कि गोदान में चल कर प्रेमचंद एक नये मार्ग की ओर इंगित करते हैं, किंतु कर्मभूमि को ही यदि तार्किक रूप से समझा जाय, तो इसी में हम उस मार्ग की सूचना पा सकते हैं। अवश्य वह सूचना बहुत अस्पष्ट रूप में है, किंतु वह है, इसमें संदेह नहीं।

गोदान

इस उपन्यास का नायक होरी एक मामूली किसान है। चार-पाँच बीघे जमीन जोतता है। पुस्तक के द्वितीय पृष्ठ में ही प्रेमचंद जी किसान जीवन की सबसे बड़ी परेशानी को स्पष्ट कर देते हैं। 'चाहे कितनी ही कतरव्योंत करो, कितना पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।.....उसकी छह संतानों में अब केवल तीन जिंदा हैं, एक लड़का गोबर कोई सोलह साल का, और दो लड़कियाँ सोना और रूपा बारह और आठ साल की। तीन लड़के बचपन ही में मर गये। उसका मन आज भी कहता था, अगर उनकी दवादारू होती तो वे बच जाते, पर वह (होरी की स्त्री धनिया) एक धेले की भी दवा नहीं कर सकी थी।' होरी समय-समय पर एक व्यर्थ आशा के वशवर्ती हो कर अपने जमींदार रायसाहब के यहाँ सलाम बजाने चला जाता है। यह नहीं कि इस मिलने-जुलने से होरी को कोई फायदा ही नहीं था। जिस समय वह राय साहब के घर के लिए रवाना होता था, या वहाँ से वापस आता था, उस समय 'दोनों ओर खेतों में काम करनेवाले किसान उसे देखकर राम-राम करते, और सम्मान भाव से चिलम पीने का निमंत्रण देते।' होरी के मन में एक गाय अपने दरवाजे पर बाँधने का बड़ा शौक था। इसमें भी वह एक साधारण भारतीय किसान बल्कि सब देशों के किसानों की मनोवृत्ति को अभि-व्यक्त करता है। 'गऊ से ही तो द्वार की शोभा है, सबेरे सबेरे गऊ के दर्शन हो जायँ तो क्या कहना। न जाने कब यह साध पूरी होगी।'

जब होरी राय साहब के यहाँ जा रहा था, तो उससे उसी गाँव से मिले हुए एक छोटे गाँव के भोला नामक एक ग्वाले से भेंट हुई। होरी के मन में गऊ बाँधने की लालसा थी, और विधुर वृद्ध भोला के मन में फिर से शादी करने की इच्छा थी। होरी ने इसमें कोई बुराई नहीं देखी कि भोला का विवाह कराने का वादा कर दिया जाय, और उससे एक दूध देनेवाली गाय उधार में ले ली

जाय। होरी उधार को एक तरह से मुफ़्त समझता था।

राय साहब अमरपालसिंह होरी के जमींदार हैं। वे कांग्रेसी जमींदार हैं, वे न केवल एक व्यक्ति हैं, बल्कि वे अपने वर्ग के प्रतीक हैं। 'पिछले सत्याग्रह संग्राम में राय साहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेंबरी छोड़ कर जेल चले गये। तब से उनके इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी। ये नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या डाँड़ और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो, मगर, यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी। राय साहब की कीर्ति पर कोई कलंक नहीं लग सकता था।' प्रेमचंद जी ने यहाँ पर कांग्रेसी जमींदारों की बड़ी अच्छी मीठी चुटकी ली है। और सुनिए—'राय साहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेलजोल बनाये रखते थे। उनकी नजरें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली आती थीं।' उनके यहाँ अक्सर हाकिम हुक्काम निमंत्रित भी होते थे। साहब को इस समय पाँच-सात दिनों के अन्दर बीस हजार का प्रबंध करना था। उन्होंने होरी से इसके लिए कहा।

होरी का लड़का गोबर नयी पीढ़ी का है, वह यह नहीं समझ पाता कि उसका बाप अपनी खेती करता है, लगान देता है, फिर क्यों बड़े आदमियों की हाँ में हाँ मिलाने नियमपूर्वक पहुँचा रहता है। इस पर होरी उसे बताता है: 'जब सिर पर पड़ेगी तब मालूम होगा बेटा, अभी जो चाहे कह लो। पहले मैं भी यही सब बातें सोचा करता था, किंतु अब मालूम हुआ कि हमारी गर्दन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़ कर निर्वाह नहीं हो सकता।'

किसान स्वयं शोषित है, किंतु एक जगह पर अर्थात् स्त्री के प्रश्न पर वह भी अजीब शोषक का रूप धारण करता है। होरी को एक किसान कह रहा है—'बड़ी नाक़िस जात है, महतो, किसी की नहीं होती.........औरत को भगवान सब कुछ दें, रूप न दें, नहीं तो वह काबू में नहीं रहती।'

भोला ने होरी को एक गाय उधार पर दे दी। होरी श्रद्धाविह्वल नेत्रों से गाय को देख रहा था, मानो साक्षात् देवी ने घर में पदार्पण किया हो। गाय आने की बात गाँव में फैल गयी। सारा गाँव गाय देखने आया। नहीं आये तो शोभा और हीरा जो होरी के सगे भाई थे, और अब उससे न केवल अलग ही रहते थे, बल्कि एक तरह से बोलचाल तक बंद थी। होरी

चाहता था कि वे एक बार आ कर गाय को देख लेते, और प्रसन्न हो जाते, तो उसकी मनोकामना पूरी होती। होरी ने चुपके से अपनी छोटी लड़की रूपा को भाइयों के यहाँ भेज कर बुलाना चाहा, किंतु धनिया ने देख लिया, और वह बिगड़ कर बोली कि, 'बड़ा परेम है तो आप क्यों नहीं जाते ? अभी पेट नहीं भरा जान पड़ता है।' होरी को अपने भाइयों से सचमुच अभी तक बड़ा प्रेम था, किंतु स्मरण रहे इसी होरी ने पाँच रुपये के लिए भाइयों को धोखा देना चाहा था।

जब वह रूपा को भेजने में असमर्थ रहा तो वह खुद हीरा के घर चला, किंतु वहाँ पहुँचने के पहले ही उसने दोनों भाइयों को आपस में बात करते सुना, जिसका सारांश यह था कि हीरा कह रहा था कि पहले की कमाई से ही यह गाय आयी है, अर्थात् होरी ने अपने भाइयों से छिपा कर जो रुपये रख लिये थे, उन्हीं से यह गाय ली गयी है। केवल यही नहीं उसने एक भाई को यह भी कहते सुना कि 'बेइमानी का धन जैसे आता है, वैसे ही जाता है। भगवान चाहेंगे तो बहुत दिन गाय घर में न रहेगी।' होरी उल्टे पाँव लौट आया, और उस पर इस बातचीत के सुनने का यह असर हुआ कि गाय को जहाँ का तहाँ लौटा दें, किंतु धनिया बीच में पड़ी, और गाय लौटायी न जा सकी। यही नहीं, धनिया लड़ने के लिए हीरा के यहाँ पहुँच गयी कि क्यों वह ऐसा समझता है कि गाय धोखे से प्राप्त रुपये से खरीदी गयी। बड़ी मुश्किलों से झगड़ा खतम हुआ।

गाय लेने के लिए गोबर भी भोला के यहाँ गया था। इस लेन-देन के दौरान में भोला की विधवा लड़की झुनिया से उसकी जान-पहचान हो गयी। यहाँ से जो प्रेम का सूत्रपात हुआ, वह बढ़ता ही गया, किंतु समाज बीच में बाधक था। प्रेम ने गुप्त प्रणय का मार्ग ग्रहण किया।

एक दिन भीतर बहुत उमस हो रही थी, हवा बंद थी। एक पत्ती भी न हिलती थी। होरी ने गाय को बाहर बाँध दिया था। इन दिनों शोभा बीमार था, होरी उसे देखने गया था। जिस समय वह रात ग्यारह बजे घर लौट रहा था, उस समय उसने देखा कि गाय के पास कोई आदमी खड़ा है। पूछा, 'कौन है वहाँ खड़ा ?' हीरा बोला—'मैं हूँ दादा, तुम्हारे कौड़े में आग लेने आया था।' होरी जैसे कृतकृत्य हो गया। दोनों ने साथ चिलम पी, हीरा अपने घर गया, होरी अंदर भोजन करने गया। धनिया होरी से शिकायत करने लगी कि गोबर के

रंग-ढंग अच्छे नहीं हैं, वह झुनिया से फँसा ज्ञात होता है। इतने में गोबर ने आ कर घबड़ायी हुई आवाज में कहा —'दादा सुंदरिया (गाय) को क्या हो गया ?' थाली छोड़ कर होरी निकल आया। तीनों बाहर गये, चिराग लेकर देखा, सुंदरिया के मुँह से फिचकुर निकल रहा था। गाँव के पशु चिकित्सक पंडित दातादीन बुलाये गये। गाय को किसी ने कुछ खिला दिया, लक्षण स्पष्ट थे। साफ विष दिया गया था। आधीरात तक होरी के दरवाजे जमघट रहा। गोबर और दोनों लड़कियाँ रो-धो कर सो गयीं। हीरा कभी होरी के कौड़े में आग लेने नहीं आता था, स्पष्ट ही पकड़ जाने पर उसने यह बहाना किया था। उसने इस बात को गाँववालों से छिपाया, किंतु धनिया से यह वादा करा कर कह दिया कि वह किसी भी हालत में इस बात को किसी से न कहेगी। किंतु धनिया के पेट में यह बात नहीं पची, उसे बहुत जबर्दस्त क्रोध आया। उसने इसका हल्ला सारे गाँव में कर दिया। कई तरह से हीरा के अपराध के बात की तसदीक भी हो गयी। शोभा आठ दिन से शय्यागत था, किंतु उसने यह बतलाया कि 'कल शाम को हीरा मेरे घर खुरपी माँगने गया था, कहता था, एक जड़ी खोदना है।'

खबर थाने तक पहुँची। ऐसे ही मौकों पर तो पुलिस की बन आती है। हमारे ग्राम्य जीवन का एक बहुत बड़ा उपादान पुलिस के साथ संबंध तथा पुलिस है। दारोगा ने आ कर होरी से पूछा कि उसे किसी पर शुबहा है। होरी ने कहा नहीं। गाय अपनी मौत से मरी होगी। धनिया पीछे खड़ी थी, उसने कच्चा चिट्ठा खोल दिया। अब तो दारोगा जी की बन आयी। उसने फौरन यह कहा कि हीरा के घर की तलाशी ली जाय। हीरा लापता था। होरी सब कुछ जानते हुए भी कि हीरा ने ही गाय को जहर दे कर मार डाला है, यह समझता था कि जैसे हीरा के घर की तलाशी हुई, वैसे उसकी हुई। 'उसके पास रुपये होते तो इसी वक्त पचास रुपये ला कर दारोगा जी के चरणों पर रख देता।' होरी की इस कमजोरी का फायदा उठाने के लिए गाँव के बुजुर्गों में काना-फूसी होने लगी। तीस पर मामला तय हुआ। बीस रुपये दारोगा जी के और दस गाँव के पटवारी आदि को। यह तय हुआ कि होरी आज ही कागद लिख देगा, इस वादे पर उसे तीस रुपये मिले। होरी ने रुपये लिये, और अँगोछे के कोर में बाँधे प्रसन्न-मुख आ कर दारोगा जी की ओर चला।

सहसा धनिया झपट कर आगे आ गयी, और उसने एक झटके से सारे रुपये बिखरा दिये। नागिन की तरह फुफकार कर वह बोली, '........ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत, जिसके घर में चूहे लोटें वह भी इज्जत वाला है! दारोगा तलाशी ही तो लेगा। ले ले जहाँ चाहे तलाशी। एक तो सौ रुपये की गाय गयी, उस पर यह पलेथन! वाह री तेरी इज्जत।'

दारोगा जी इतनी जल्दी हार माननेवाले न थे। वे बोले—'ऐसा मालूम होता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिए खुद गाय को जहर दे दिया।' धनिया इस पर घबड़ायी नहीं, बल्कि हथकड़ियाँ पहनने को तैयार हो गयी और दारोगा जी से बोली—'देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारी अक़्ल की दौड़। ग़रीबों का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।' इस पर होरी उस पर लपका, किंतु गोबर बीच में पड़ा। धनिया भी तेज हो कर बोली कि, 'घर में तलाशी होने से इसकी इज्जत जाती है, किंतु अपनी मेहरिया को सारे गाँव के सामने लतियाने से इसकी इज्जत नहीं जाती।'

यों तो हम बाद को होरी के चरित्र का विश्लेषण करेंगे, किंतु यहाँ यह बता दिया जाय कि यह जो प्रेमचंद जी ने होरी को इतना बड़ा स्नेही भ्राता या आदर्शवादी बना दिया है कि उसकी गाय को जहर दे कर मारनेवाले भाई की 'इज्ज़त' को बचाने के लिए वह एक बड़ी रकम (उसके लिए बड़ी) ऋण लेने के लिए तैयार हो जाता है, अपराध को छिपाता ही नहीं, बल्कि उस पर मुलम्मा चढ़ा कर भाई की रक्षा करता है। यहाँ तक कि इस रहस्य को न छिपाने के कारण दारोगा के सामने स्त्री को मारने के लिए तैयार हो जाता है। यहीं पर प्रेमचंद जी वस्तुवाद से हट कर आदर्शवादी रूप में सामने आते हैं, और इस जगह पर यह कहना कुछ सही-सा ज्ञात होता है कि होरी प्रेमचंद जी का ही एक रूप मात्र है।

हीरा लापता हो गया। होरी ही उसके खेत पर खेती करता। वह अपने खेतों में धान न रोप सका, किंतु उसने हीरा की बीबी पुनिया के खेत में रात-रात तक काम कर के धान रोपे। होरी की इस प्रकार की उदारता के कारण उसकी स्त्री धनिया तथा उसके पुत्र गोबर ने उसका बायकाट-सा कर दिया। इस बीच में होरी बीमार पड़ा, और इस बीमारी के कारण फिर पति-पत्नी में मेल हो गया। एक दिन धनिया ने होरी से बताया कि गोबर ने सबके मुँह

में कालिख लगा दी। बात यह है, गोबर बार-बार अहिराने जाता था, और झुनिया को गर्भ रह गया था। जब गर्भ अधिक दिन का हो गया, तब झुनिया आ कर होरी के यहाँ खड़ी हो गयी। धनिया ने होरी को जब झुनिया के आने की खबर दी तो वह बहुत बिगड़ा और कहने लगा कि बात की बात में झुनिया को निकाल बाहर करूँगा, किंतु जब वह उस लड़की के सामने पहुँचा, तो उस लड़की ने ज्यों ही यह कहा कि, 'दादा, अब तुम्हारे सिवाय मुझे दूसरा ठौर नहीं है, मुझे दुरदुराओ मत।' त्यों ही होरी का दिल पसीज गया, और उसने उसे अभयदान दे दिया।

झुनिया तो इस प्रकार होरी के यहाँ आ कर रहने लगी, किंतु गोबर लापता हो गया। इस प्रकार बिना शादी के झुनिया को आश्रय देने के कारण गाँव का समाज होरी पर बहुत रुष्ट हुआ, किंतु धनिया की उग्रमूर्ति से घबड़ा कर चुप रहता था, किंतु कब तक ? अंत में पंचायत हुई, और पंचों ने यह तय किया कि होरी पर सौ रुपये तवान लगा दिया जाय। धनिया किसी प्रकार इस जुर्माने को अदा करने को तैयार न थी, किंतु होरी ने सब अनाज उठा कर दे दिया।

होरी सर्वहारा हो गया, उसके सामने मजूरी ही एकमात्र मार्ग रह गया। उस समय वह कहता है—'मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाय तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाय तो मजूर हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में न होता तो यह सब बिपत क्यों आती ? क्यों गाय मरती ? क्यों लड़का नालायक निकल जाता ?'

जब झुनिया होरी के घर आयी थी, तो उसी के साथ गोबर भी घर आ रहा था, किंतु बीच रास्ते में कुछ डर से और कुछ शर्म से वह फरार हो गया, और शहर में जाकर रहने लगा। उसने पहले महीने तो मजदूरी की, और आध पेट खा कर थोड़े से पैसे जमा कर लिये, फिर वह कचालू, मटर और दहीबड़े के खोंचे लगाने लगा। उसने अँगरेजी फैशन के बाल कटवा लिये, महीन धोती और पम्प शू पहन लिया, पान सिगरेट का भी शौकीन हो गया। थोड़े दिनों बाद उसने यह सोचा कि घर लौट चला जाय, और वहाँ से अपनी स्त्री को ले आ कर आराम से रहा जाय।

इस बीच में होरी मजूर हो चुका था। प्रेमचंद जी ने यह भले ही

दिखलाया हो कि होरी बहुत कुछ अपने आदर्शवाद के कारण एक किसान से खेतिहर मजूर हो गया, किंतु फिर भी उसका जीवन इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार आसानी के साथ निम्नमध्य-वित्तश्रेणी का व्यक्ति सर्वहारा श्रेणी में जा कर गिर पड़ता है। मजदूर अवस्था में भी होरी आदर्शवादी है, वह काम से जी नहीं चुराता। वह उन्मत्तों की भाँति सिर से ऊपर गड़ासा उठा-उठा कर ऊख के टुकड़ों के ढेर करता जाता था.....सिर में फिरकी-सी चल रही थी, फिर भी उसके देह से पसीने की धार निकल रही थी, मुँह से पिचकुर छूट रहा था, और सिर में धम-धम का शब्द हो रहा था, उस पर जैसे कोई भूत सवार हो गया हो। सहसा उसकी आँखों में निविड़ अंधकार छा गया, गड़ासा हाथ से छूट गया, और वह औंधे मुँह जमीन पर पड़ गया।

जब इस प्रकार दिन गुजर रहे थे, तो गोबर शहरी ठाठ-बाट के साथ घर पहुँचा। गोबर ने जब सब हाल सुना तो वह समझ न पाया कि कैसे बाकी रुपये के कारण घर के बैल खोल लिये गये, कैसे पंचायत हुई, डाँड़ लगे, इत्यादि। उसने अपने बच्चे को भी देखा। गोबर के सामने भी एक घटना हुई जो उसे बहुत नापसन्द आयी। दातादीन नामक एक ब्राह्मण से आठ-नौ साल हुए होरी ने तीस रुपये उधार लिये थे। अब दातादीन ने जो गोबर को देखा तो वसूल करने पर तैयार हो गया। गोबर ने जमीन पर ठीकरे से हिसाब लगा कर कहा—'दस साल में छत्तीस रुपये होते हैं, असल मिला कर छाछठ। उसके सत्तर रुपये ले लो। इससे बेसी एक कौड़ी भी न दूँगा।' दातादीन के हिसाब से रुपये दो सौ होते थे। गोबर इस बात को मानने पर तैयार न था, और कहा अदालत जाओ। तब दातादीन यह कह कर चले जाने पर तैयार हुए कि यदि वह ब्राह्मण है, तो अपने पूरे दो सौ रुपये ले कर दिखा देगा और होरी उसके द्वार पर हाथ बाँध कर आयेगा, और हाथ बाँध कर रुपये देगा।

अब यहाँ पर फिर होरी का आदर्शवाद सामने आता है। यहाँ धर्म रूप में यह आदर्शवाद विशेष कर जोर पकड़ता है। होरी के पेट में धर्म की क्रांति मच गयी। यदि ठाकुर या बनिये के रुपये होते तो उसे ज्यादा चिंता न होती, लेकिन ब्राह्मण के रुपये! उसकी एक पाई भी दब गयी तो हड्डी तोड़ कर निकलेगी। इस प्रकार होरी धर्म के कारण शोषण का पात्र होने पर

तैयार हो जाता है। इस स्थान पर प्रेमचंद जी ने बहुत ही वास्तविक चित्रण कर यह दिखला दिया कि धर्म किस प्रकार शोषण के हथियार के रूप में सिद्ध होता है।

इसी रुपये को भरने के संबंध में गोबर और होरी में मनमुटाव हो जाता है। वह अंत में यह कह कर पिता के सामने से अलग हो गया कि—'मेरा गदहापन था कि तुम्हारे बीच में बोला, तुमने खाया है तुम भरो! मैं क्यों अपनी जान दूँ।' उसने जा कर अपनी स्त्री से कहा—'मैं क्यों उनकी खोदी हुई खंदक में गिरूँ, इन्होंने मुझसे पूछ कर कर्ज नहीं लिया, न मेरे लिए लिया, मैं उसका देनदार नहीं हूँ।' गाँव के नेताओं ने यह षड्यंत्र किया कि गोबर को काबू में लाने के लिए होरी को और फँसाया जाय। तदनुसार उन्होंने होरी को बुलाया। जब होरी घर लौटा तो गोबर ने पूछा कि किस मतलब से कारिंदा उसे लेने आया था।

होरी ने भर्रायी हुई आवाज में कहा—मैंने पाई-पाई लगान चुका दिया। वह कहते हैं तुम्हारे ऊपर दो साल की बाकी है.........।

गोबर ने पूछा—तुम्हारे पास रसीद तो होगी?

'रसीद कहाँ देता है?'

'तो तुम बिना रसीद लिये रुपये देते ही क्यों हो?'

गोबर उसी समय नोखेराम की चौपाल पर गया, और उससे मनवा लिया कि लगान चुकता हो गया है, किंतु इन बातों से उसका जी गाँव से इतना ऊब गया कि वह फिर शहर जाने के लिए तैयार हो गया। उसने होरी को इतना लथाड़ा कि बेचारा स्वार्थभीरु बूढ़ा रुआसा हो गया। बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गयी, बीच में धनिया पड़ी। उसने माँ को यहाँ तक कह दिया—जब तक बच्चा था दूध पिला दिया, फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया वही मैंने खाया। मेरी जिंदगी तुम्हारा देना भरने के लिए नहीं है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं। धनिया सन्नाटे में आ गयी ..... उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। फिर भी उसने बेटे को दोषी न समझ कर पतोहू पर सारा दोष मन ही मन मढ़ दिया। वहीं बैठे-बैठे वह इसे मंतर पढ़ा रही है। यहाँ शौक सिंगार करने को नहीं मिलता, घर का कुछ न कुछ काम करना ही पड़ता है। वहाँ रुपये पैसे हाथ में आवेंगे, मजे से चिकना खायेगी, चिकना पहनेगी, और टाँग फैला कर सोयेगी.........

इत्यादि।' धनिया ने ऐसा कहा भी। नतीजा यह हुआ कि पतोहू के साथ भी झगड़ा शुरू हो गया। देखते ही देखते बिस्तर बँध गया। चलते समय होरी ने आर्द्र कंठ से कहा—बेटा तुमसे कुछ कहने का मुँह तो नहीं है, किंतु कलेजा नहीं मानता, क्या जरा जा कर अपनी अभागिन माता के पाँव छू लोगे, तो कुछ बुरा होगा? जिस माता की कोख से जन्म लिया, और जिसका रक्त पी कर पले हो, उसके साथ इतना भी नहीं कर सकते?

गोबर ने मुँह फेर कर कहा—मैं उसे अपनी माता नहीं समझता।

होरी ने आँखों में आँसू ला कर कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। जहाँ रहो सुखी रहो।

झुनिया ने सास के पास जा कर उसके चरण को आँचल से छुआ। धनिया के मुँह से आसीस का एक शब्द भी न निकला। उसने आँख उठा कर देखा भी नहीं। इस प्रकार यह ट्रेजडी संपूर्ण हो गयी। गोबर शहर में चला गया।

भोला ने अन्त में एक जवान स्त्री से शादी कर ली। उसकी घर में न पटी, और वह स्त्री को ले कर नोखेराम के आश्रय में पहुँच गया। नोखेराम से उसकी स्त्री का ताल्लुक हो गया, और नोखेराम के बदौलत वह अब अपने को गाँव की जमींदारिनी समझने लगी। यद्यपि नोखेराम स्वयं जमींदार का एक कारिंदा मात्र था। भोला ने चेष्टा की कि फिर घर लौटा लाय, किंतु उसकी स्त्री राजी नहीं हुई। इस प्रकार एक ही साथ वृद्ध विवाह तथा कारिंदों के कारनामे का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है।

सोना ने जब सुना कि उसके ब्याह के लिए दो सौ रुपये उधार लिये जा रहे हैं तो वह उस पर खुश नहीं हुई। अंत में भोला की स्त्री केवल अपनी नामवरी के लिए यह रुपया देने पर तैयार हो गयी। इस रुपये के लिए होरी ने जिस प्रकार ठकुरसुहाती कही है, वह भी वस्तुवादी कला की जीत का एक नमूना है। होरी प्रत्येक गाँववाले की तरह अच्छी तरह जानता था कि भोला की स्त्री किस प्रकार अपने पति के बुढ़भस का फायदा उठा कर नोखेराम से फँसी हुई है, फिर भी उसने उस औरत की कैसी खुशामद की है, यह देखने योग्य है। उस स्त्री ने कहा कि वे कभी लड़कों के साथ रहने की सोचते हैं, कभी लखनऊ जाकर रहने की सोचते हैं, नाक में दम कर रखा है मेरे।

होरी ने ठकुरसुहाती की—'यह भोला की सरासर नादानी है। बूढ़े हुए,

अब तो उन्हें समझ आनी चाहिए।

गोबर जब शहर में आया तो उसे ज्ञात हुआ कि जिस अड्डे पर वह खोंचा लगाता था, वहाँ दूसरे ने अपना खोंचा लगाना शुरू कर दिया है। गाहक उसे भूल गये हैं। इस बीच में उसका लड़का भी मर गया। गोबर ने शक्कर के मिल में मजदूरी कर ली। यहाँ पर प्रेमचंद जी मजदूर जीवन का चित्रण यों करते हैं कि गोबर को वहाँ बड़े सबेरे जाना पड़ता, और दिन भर के बाद जब वह दिया जले पर घर लौटता, तो उसकी देह में जरा भी जान न होती। 'घर पर भी उसे इससे कम मेहनत न पड़ती थी, लेकिन वहाँ उसे जरा भी थकान न होती थी। बीच-बीच में वह हँस बोल भी लेता था। फिर, उस खुले हुए मैदान में उन्मुक्त आकाश के नीचे जैसे उसकी क्षति पूरी हो जाती थी। वहाँ उसकी देह चाहे जितना काम करे मन स्वच्छंद रहता था। यहाँ देह की उतनी मेहनत न होने पर भी जैसे उस कोलाहल, उस गति और तूफानी शोर का उस पर बोझ-सा लदा रहता था। यह शंका भी बनी रहती थी कि न जानें कब डाँट पड़ जाय। सभी श्रमिकों की यही दशा थी। सभी ताड़ी या शराब में अपनी दैनिक थकान और मानसिक अवसान को डुबाया करते थे। गोबर को भी शराब का चस्का पड़ा। घर आता तो नशे में चूर, और पहर रात गये। और आकर कोई न कोई बहाना खोज कर झुनियाँ को गालियाँ देता, घर से निकालने लगता, और कभी-कभी पीट भी देता।'

प्रेमचंद के इस वर्णन में मजदूर जीवन की वास्तविकता है, किंतु साथ ही मजदूर जीवन की जो परोपकारी गाँधीवादी समालोचना है, उसकी भी झलक स्पष्ट है। हमने इस समालोचना को गाँधीवादी बतलाया, इससे शायद कुछ गलतफहमी हो, इसलिए स्पष्ट कर दिया जाय कि गाँधी जी के एक सौ वर्ष पहले भी लोग मजदूर जीवन की इस प्रकार स्वाप्निक और परोपकारी समालोचना करते थे। इन आलोचनाओं को पढ़ने से यह ज्ञात होता है, मानों मिलों में ही खराबी है, और यह धारणा बिल्कुल गलत है। गलती मिलों में नहीं बल्कि मिलों की वर्तमान पद्धति में है, जिसमें उत्पादन तो सामाजिक है किंतु मिल्कियत तथा उत्पादन के साधन वैयक्तिक हैं।

प्रेमचंद ने गोबर के जीवन के सिलसिले में मजदूरों की हड़ताल का भी जिक्र किया है। बेकारी इतनी अधिक है कि कम्पनी के डाइरेक्टर कभी-कभी स्वयं ही यह चाहते हैं कि मिल में हड़ताल हो। हड़ताल हो जाने में ही

उनका हित होता। इसके आधे वेतन पर ऐसे ही आदमी आसानी से मिल सकते हैं। मजूर चाहते थे कि ऐसे समय हड़ताल हो जब माल थोड़ा रह जाय, और माँग की तेजी हो, किंतु मिल के मालिकों ने पहले हमला बोल दिया। एकाएक एक दिन जब मजूर लोग शाम को छुट्टी पा कर चलने लगे तो मजदूरी घटाने के संबंध में डाइरेक्टरों का ऐलान सुना दिया गया। उसी वक्त पुलिस भी आ गयी। मजूरों को अपनी इच्छा के विरुद्ध उसी वक्त हड़ताल करनी पड़ी। उस समय गोदाम में इतना माल भरा हुआ था कि बहुत तेज माँग होने पर भी छह महीने से पहले न लौट सकता था। हड़तालियों की एक न चली। नये मजूरों का टिड्डीदल मिल के द्वार पर डट गया। उनमें अधिकांश ऐसे भुखमरे थे जो इस अवसर को किसी तरह भी छोड़ना नहीं चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि पुराने मजदूरों और नये मजदूरों में फौजदारी हो गयी। गोबर बुरी तरह घायल हुआ। उसके हाथ की एक हड्डी टूट गयी, सिर खुल गया, और अंत में वहीं ढेर हो गया। गोबर की मरहम पट्टी कर घर पहुँचा दिया गया। बड़ी सेवाओं से वह ठीक हुआ।

मालती के रूप में प्रेमचंद एक तितलीनुमा स्त्री की सृष्टि करते हैं, जो गोदान के कई पात्रों को उँगुलियों पर नचाती फिरती है। बाद को चल कर प्रेमचंद इसी स्त्री को बहुत ही बदले हुए रूप में दिखलाते हैं। अब उसमें वह तितलीपना नहीं है, वह सेवा मार्ग को अपनाती है। इसी संबंध में मेहता नामक एक व्यक्ति इस उपन्यास में आता है, जो एक ग्रंथकीट और साथ ही बहुत सच्चरित्र व्यक्ति है। एक दिन ये दोनों सेवा के उद्देश्य से घूमते - घामते होरी के गाँव में पहुँचे। होरी के गाँव में पहुँच कर मेहता पुरुषों से बातचीत करते रहे, और मालती स्त्रियों के रोजमर्रे की जरूरत की बातें — जैसे शिशुपालन आदि के संबंध में बातचीत करती रही।

मालती ने स्त्रियों के साथ जो बातचीत की है, उसमें समस्याओं के प्रति कोई क्रांतिकारी दृष्टिकोण नहीं, बल्कि एक परोपकारी सुधारवादी मनोवृत्ति का ही परिचय मिलता है। होरी की स्त्री ने उसे अपने अनजान में इस संबंध में टोक भी दिया। जब मालती ने सफाई आदि की बात बहुत कही तो धनिया ने कहा — 'यहाँ सब सफाई और संजम कैसे होगा, सरकार! भोजन तक का टिकाना तो है ही नहीं।'

मेहता और मालती के प्रेम को दिखलाने में भी प्रेमचंद जी आर्शवादी धारा से काम लेते हैं। 'ज्यों - ज्यों वह मालती को निकट से देखते थे, उनके मन में आकर्षण बढ़ता जाता था। रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर नहीं कर सकता था। यह गुण का आकर्षण था।' इसके बाद प्रेमचंद जी एक ऐसी बात कहते हैं जिसका मतलब समझना कठिन है। वे कहते हैं, 'यह वह (मेहता) जानते थे। जिसे सच्चा प्रेम कहते हैं, केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है।' यहाँ पर प्रेमचंद जी का इशारा हिंदु विवाह से तो नहीं है? वे आगे लिखते हैं 'इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्ति मात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं, मगर इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थर साहचर्य के खराद पर चढ़ेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या नहीं।' इस प्रकार प्रेमचंद जी कुछ हद तक कोर्टशिप की ओर भी इशारा करते हैं, और इस प्रकार उनका दृष्टिकोण सनातन समाज के मुकाबिले में कहीं प्रगतिशील है।

जब गोबर अच्छा हुआ तो वह मालती के यहाँ पंद्रह रुपये महीने पर माली हो गया। उसका लड़का बीमार था, मालती की देख-रेख में वह भी स्वस्थ हो गया।

पंडित मातादीन ने सिलिया नामक चमारिन को रख लिया था। बाद में पंडितों की व्यवस्था पर उन्होंने सिलिया को त्याग दिया। तब सिलिया को होरी के यहाँ आश्रय मिला। होरी के घर में रहते समय सिलिया को एक लड़का हुआ, बात यह है कि वह गर्भवती अवस्था में आयी थी। 'मातादीन को कई सौ रुपये खर्च करने के बाद अंत में काशी के पंडितों ने फिर से ब्राह्मण बना दिया था। उस दिन बड़ा भारी हवन हुआ, बहुत से ब्राह्मणों ने भोजन किया, और बहुत से मंत्र और श्लोक पढ़े गये। मातादीन को शुद्ध गोबर और गोमूत्र खाना-पीना पड़ा। गोबर से उसका मन पवित्र हो गया। मूत्र से उसकी आत्मा के असुचिता के कीटाणु मर गये.........हवन के प्रचंड अग्निकांड में उसकी मानवता निखर गयी और हवन की ज्वाला के प्रकाश में उसने धर्म स्तंभों को अच्छी तरह परख लिया। उस दिन से उसे धर्म के नाम से चिढ़ हो गयी। उसने जनेऊ उतार फेंका, और पुरोहित को गंगा में डुबो दिया। अब वह पक्का खेतिहर था। उसने यह भी देखा कि यद्यपि विद्वानों ने उसका ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया, लेकिन जनता अब भी उसके हाथ का पानी

नहीं पीती। उससे मूहूर्त पूछती है, साइत और लगन का विचार करवाती है, उसे पर्व के दिन दान भी दे देती है, पर उससे बर्तन नहीं छुआती।' जब उसने अपने पुत्र के जन्म की बात सुनी तो उसे बहुत खुशी हुई, गर्व से उसकी छाती तन गयी, और उँगलियाँ बार-बार मूछों पर पड़ने लगीं। अंत में वह बच्चे को देखने पहुँचा। यह बच्चा अंत में मर गया। मातादीन उस दिन खुल पड़ा। उसने शव को दोनों हथेलियों पर उठा लिया और अकेला नदी के किनारे तक ले गया, जो एक मील का पाट छोड़ कर एक पतली-सी धार में समा गयी थी। आठ दिन में उसके हाथ सीधे न हो सके। किसी ने कुछ कहा भी नहीं, बल्कि सभी ने उसके साहस और दृढ़ता की तारीफ की। अंत में प्रेमचंद जी ने यह दिखलाया है कि वह ढोंगी और लम्पट मातादीन एकदम सुधर गया, और वह सिलिया के साथ फिर से खुल्लम-खुल्ला रहने को तैयार हो गया।

सिलिया ने पूछा — और तुम्हारा खाना कौन पकायेगा?

'मेरी रानी सिलिया।'

'तो बाम्हन कैसे रहोगे?'

'मैं बाम्हन नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले, वही बाम्हन है, जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।'

सिलिया ने उसके गले में बाहें डाल दीं। इस प्रकार सिलिया और मातादीन की कहानी भी समाप्त हो गयी; यदि देखा जाय तो होरी की कथा से इस कथा को जबरदस्ती जोड़ा गया है, नहीं तो यह एक बिलकुल स्वतंत्र कहानी है।

होरी की हालत गिरते-गिरते यह नौबत पहुँची थी कि अब उसका खेत बेदखल होने जा रहा था। ऐसे समय पंडित दातादीन ने उसे आ कर यह सुझाया कि रूपा का ब्याह रामसेवक नामक एक अधेड़ से कर दे तो सारा काम बन जाय। रामसेवक होरी से दो ही चार साल छोटा था, कहाँ फूल-सी रूपा, और कहाँ वह बूढ़ा ठूँठ। जीवन में होरी ने बड़ी-बड़ी चोटें सही थीं, मगर यह चोट सबसे गहरी थी। आज उसके ऐसे दिन आये हैं कि उससे लड़की बेचने की बात कही जाती है, और उसमें इनकार करने का साहस नहीं है।' धनिया ने इस ब्याह का विरोध किया, किंतु आफत के मारे उसका पल्ला हल्का होता जाता था। चौथे दिन रामसेवक महतो खुद आ पहुँचे। रामसेवक बड़ी ठाठ-बाट से

आया था। अंत में विवाह का मुहूर्त ठीक हो गया। विवाह के लिए गोबर को भी बुलाया गया, और वह आया। गोबर ने पहुँच कर जो घर की दशा देखी तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त यहाँ से लौट जाय। गोबर का जी उचाट था। अब इस घर के सम्हलने की क्या आशा है। इस अवसर पर प्रेमचंद जी मजदूर और किसान दोनों के जीवन की बड़ी सुंदर तुलना करते हैं, यह तुलना किताबी सैद्धांतिक तुलना नहीं है, यह गोबर और होरी के जीवन की तुलना है, करीब छह सौ पृष्ठ तक इन दोनों के जीवन को दिखाने के बाद ही वे यह तुलना करते हैं। यह क्रमशः सामंतवादी-पद्धति का तथा पूँजीवादी-पद्धति के शोषितों का तुलनात्मक वर्णन है—'वह गुलामी करता है, लेकिन भर पेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो वही रोब जमाता है; गुलामी है, पर सूखी। मेहनत करके अनाज पैदा करो, और जो रुपये मिलें, वह दूसरों को दे दो। आप बैठे राम-राम करो।' इसमें सबसे ध्यान योग्य बात यह है कि गाँधीवादी आदर्शों के प्रति द्रष्टृगत रूप से झुके होने पर भी प्रेमचंद ने इस पुस्तक में अपनी वस्तुवादी कला की अपरिहार्यता के कारण चीजों का सही चित्रण कर यह बतला दिया है कि मजदूर का जीवन किसान के जीवन से अच्छा है, और इस प्रकार इस बात की ओर इशारा हो जाता है कि समाधान किस दिशा में है—अधिकतर औद्योगीकरण में या गाँवों में लौट चलो, नारे में है।

गोदान के अंतिम पृष्ठों में प्रेमचंद जी इंगित से कहीं आगे जाते हैं।—'गोबर ने राजनैतिक जलसों में पीछे खड़े हो कर भाषण सुने, और उनसे अंग अंग बिंधा है। उसने सुना है, और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने नहीं आवेगी.........दुख ने तुम्हें एक सूत्र में बाँध दिया है, बंधुत्व के इस दैवी बंधन को क्यों अपने तुच्छ स्वार्थों से तोड़ डालते हो? अवश्य जैसा कि अंतिम वाक्यों में ज्ञात होता है, समाधान सही हो कर भी फिर उसमें कुछ आदर्शवाद का पुट आ ही जाता है।

रूपा का विवाह हो गया। जिस समय गोबर चलने लगा, उस समय होरी ने धनिया के सामने कहा—'बेटा, मैंने जमीन के मोह से पाप की गठरी सिर पर लादी। न जाने भगवान् मुझे इसका क्या दंड देंगे!' मजे की बात यह है कि

रूपा अपनी ससुराल में खुश थी। जिस दशा में उसका बालपन बीता था, उसमें पैसा सबसे कीमती चीज थी। मन में कितनी साधें थीं, जो मन में ही घुट-घुट कर रह गयी थीं। वह अब उन्हें पूरा कर रही थी। रामसेवक अधेड़ हो कर भी जवान हो गया था। रूपा के लिए वह पति था, उसके जवान, अधेड़ या बूढ़े होने से उसकी नारी भावना में कोई अंतर न आ सकता था। उसकी यह भावना पति के रंगरूप या उम्र पर आश्रित न थी, उसकी बुनियाद इससे बहुत गहरी थी।.....किसी तरह की अपूर्णता का भाव उसके मन में न आता था। अनाज से भरे हुए बखार और गाँव के सिवान तक फैले हुए खेत और द्वार पर ढोरों की कतारें और किसी प्रकार की अपूर्णता को उसके अन्दर आने ही नहीं देती थी, और उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा थी, अपने घरवालों को सुखी देखना।' यह जो रूपा एक अधेड़ के साथ शादी होते हुए भी खुश ही हुई, और सुखी हुई, यह हमें आश्चर्य में डालने के बजाय स्वाभाविक ज्ञात होता है। रूपा का यह समझ न पाना कि एक अधेड़ के साथ उसकी शादी कर उसके साथ अन्याय किया गया है, उसके सुख में कुछ कमी की गयी है, यही तो इस ट्रेजडी की सबसे बड़ी बात है, और प्रेमचंद ने इसका जो इस रूप में चित्रण किया है, इससे उनमें वस्तुवादी कला की विजय ही सूचित होती है।

बहुत दिनों बाद हीरा लौट आया। वह गऊ मारने के कारण एक तरह से पागल हो गया। वह गऊ हर समय उसके सामने खड़ी ज्ञात होती, सोते-जागते कभी आँखों से ओझल नहीं होती। वह पागल हो गया था, और पाँच-सात पागलखानों में रहा था, वहाँ से निकले छह महीने हुए थे। माँगता-खाता फिरता रहा। यहाँ आने की हिम्मत न पड़ती थी। संसार को मुँह कैसे दिखाता। आखिर जी न माना, कलेजा मजबूत करके चला आया। दोनों भाइयों में खूब मिलन हुआ।

होरी को लू लग गयी थी। देह भीतर से झुलसी जाती थी। कै हुई हाथ-पाँव ठंडे होने लगे। उसकी आँखें बन्द हो गयीं, और जीवन की सारी स्मृतियाँ सजीव हो कर हृदय-पट पर आने लगीं, लेकिन बेक्रम, आगे की पीछे, पीछे को आगे, स्वप्न चित्रों की भाँति बेमेल, विकृत और असंबद्ध। वह सुखद बालपन आया, जब वह गुल्लियाँ खेलता था और माँ की गोद में सोता था। फिर देखा जैसे गोबर आया है, उसके पैरों पर गिर रहा है, फिर दृश्य बदला, धनिया दुलहिन

बनी हुई, लाल चुनरी पहने उसको भोजन करा रही थी, फिर एक गाय का चित्र सामने आया। इत्यादि। धनिया पहुँच गयी। होरी ने कहा—'मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी। अब तो यहाँ के रुपये क्रिया-कर्म में जायेंगे। रो मत धनिया, कब तक जिलायेगी? सब दुर्दशा तो हो गयी। अब मरने दे।' होरी को उठा कर घर ले जाया गया। चारों तरफ से आवाज आ रही थी—'गोदान करा दो, अब यही समय है।' धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रख कर सामने खड़े दातादीन से बोली—महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा, यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।

और पछाड़ खा कर गिर पड़ी।

गोदान पर विचार

'गोदान' प्रेमचंद का अंतिम उपन्यास है। इसके बाद उन्होंने 'मंगल सूत्र' नामक एक उपन्यास लिखना शुरू किया था, किंतु वे उसे संपूर्ण न कर पाये। गोदान एक वृहदाकार उपन्यास है, किंतु रंगभूमि से कहीं छोटा है, और 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' के साथ करीब-करीब उसका आकार बराबर है; फिर भी इस उपन्यास का सामाजिक कैनवास इतना बड़ा है, जितना उनके लिखे हुए किसी भी उपन्यास का नहीं है। सच बात तो यह है, इसमें भारतीय शहरी और ग्राम्य जीवन की सभी परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ किसी न किसी रूप में आ जाती हैं। शरत् या रवीन्द्र के भी किसी उपन्यास का क्षेत्र इतना विशाल नहीं है, यद्यपि उनकी रचनाओं में हम गोदान के आकार के उपन्यास कई पाते हैं। गोदान में हम पचास साल के भारतीय इतिहास को जिस खूबी से वर्णित पाते हैं, वह लेखक की महान् रचनाशक्ति का परिचायक है। भारतवर्ष में भी अब इधर Trilogy लिखने की प्रथा चल पड़ी है, किंतु छह-सात सौ पृष्ठ के अंदर जिस प्रकार प्रेमचंद ने गागर में सागर भर दिया, वह उस समय तक भारतीय साहित्य में अभूतपूर्व रहा।

कहीं इतिहास शब्द के व्यवहार से कुछ भ्रम न हो, इसलिए बता दिया जाय कि गोदान में जो इतिहास वर्णित है, उससे हम क्या समझते हैं। पारिवारिक क्षेत्र में सामंतवादी युग की द्योतक संयुक्त परिवार प्रथा का भंग हो

जाना, किसानों में से एक हिस्से का जमीन पर अत्यधिक दबाव के कारण मजदूर होते चले जाना, इस प्रकार सामंतवादी जुए से किसान की मुक्ति होना और फिर मजदूर के रूप में मिल मालिक के अधीन हो जाना, पुरातन विवाह-प्रथा में घुन लगना, और उसका बिखरते चला जाना, साहूकार और जमींदार की चक्की में किसान का पिसना—ये कुछ बातें हैं जो इतिहास की बहुत बड़ी घटनाएं हैं। इन बातों को समझाने के लिए तथा इनकी प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराने के लिए वृहदाकार ग्रंथ लिखे गये हैं। मार्क्स ने केवल इसके आर्थिक पहलू को समझाने के लिए तीन भागों में एक वृहत ग्रंथ लिख डाला। प्रेमचंद गोदान में सामंतवाद के बिखरने की प्रक्रिया को, साथ ही पूँजीवाद के शोषण को बहुत स्पष्ट करके इस उपन्यास में दिग्दर्शन कराते हैं। इसके अलावा वे और भी बहुत कुछ करते हैं।

होरी सामंतवाद के अधीन शोषित है। वह कोई दूध का धुला व्यक्ति नहीं है, किंतु फिर भी वह अपने शोषकों से कहीं अच्छा है। वह चंद रुपयों के लिए अपने भाई को धोखा देने पर तैयार हो जाता है, किंतु उसके जमींदार उससे अच्छे कहाँ हैं? लगान चुकता कर दिये जाने पर भी रसीद न देने का जो तरीका है, उसका फायदा उठा कर वह पूरे लगान का दावा करने पर तैयार तो नहीं हो जाता, जैसा कि उसके जमींदार उसके साथ करते हैं। फिर वह अगर भाई को धोखा देने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसी की गाय मार कर जब उसका भाई फरार हो जाता है, और पुलिस भाई के घर की तलाशी लेने आती है, तो वह उधार ले कर घूस दे कर भाई की मरजाद को बचाने के लिए तैयार हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह वर्षों तक अपने भाई की स्त्री का पालन करता है। होरी और कई मौकों पर छोटा-मोटा झूठ बोलता है, धोखा देता है, बल्कि देना चाहता है, ठकुरसुहाती कहता है, किंतु उसने जो कुछ किया हो, उसे ऐसा कहने की नौबत कभी नहीं आयी जैसे खन्ना कहते हैं—'आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धांतों की कितनी हत्या की है, कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं, किसानों को ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाँट रखे।' होरी आदर्श व्यक्ति नहीं था, किंतु वह अपने जमींदारों से, महाजनों तथा पूँजीपतियों से कहीं अच्छा था। प्रश्न व्यावहारिक है, कागजी या स्वाप्निक नहीं। इनमें से किसको वरण किया

जाय ? होरी को या उसके मालिकों को, मालिकों को इसलिए कि उसके कई मालिक हैं। जिसकी जमींदारी में वह है, वह उसका मालिक है। जिसका वह कर्जदार है, वह साहूकार उसका मालिक है। जमींदार जब चाहे तब उसे बेदखल कर दे। साहूकार जब चाहे तब दाखिल हवालात कर दे। और हाँ, हम पुलिसवालों को तो भूल ही गये। पुलिसवाले भी उसके मालिक हैं। एक बहाना भर चाहिए, बस जो चाहें सो कर डालें। नाम सरकार का किंतु असली राज पुलिसवालों का। इसके अतिरिक्त जाति की पंचायत के रूप में तथा अन्य अनेक रूपों में पुरोहित, पंडे, ग्राम समाज के स्तंभ उसके मालिक हैं। होरी अपने छोटे-मोटे झूठ, ठकुरसुहाती, खुशामदीपन के बावजूद अपने इन सभी मालिकों से सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतर है।

सबसे बड़ी बात यह है कि ये सब मालिक हरामखोर हैं, शोषक हैं, लुटेरे हैं, दिन दहाड़े डाका डालनेवाले हैं। किसी ने किसी बात की आड़ ले रखी है, तो किसी ने किसी की। जमीन इनकी है, रुपये इनके हैं, पुलिस इनकी है, अदालत इनकी है, धर्म इनका है, इहलोक तो इनका है ही, परलोक भी है। ये इहलोक के मालिक हैं, चाहें तो परलोक में भी गारत करके छोड़ दें। होरी भारतीय किसान वर्ग का प्रतीक है। वह अपनी जीवन डोंगी खेता है, एक तो यों ही तरंगें उसकी दुश्मन हो रही हैं, तिस पर सर्वत्र न मालूम कितने बड़े-बड़े जहाज, मगरमच्छ, ग्राह और न मालूम क्या-क्या विपदाएँ इस सागर में हैं। इन विपत्तियों के बीच से हो कर वह अपनी छोटी-सी डोंगी खेते हुए चलता है। हर समय उसके डूबने का भय रहता है। न मालूम कब किससे टक्कर लग जावे, और डोंगी की भवलीला समाप्त हो जाय। इसलिए गोदान एक व्यक्ति के, और चूँकि वह व्यक्ति भारत का वृहत्तम वर्ग है, इसलिए सारे किसान वर्ग के जीवन संग्राम का इतिहास है। किस प्रकार होरी इतनी विपत्तियों और इतने शत्रुओं के बीच से होते हुए चलता जाता है, इसी की epic कहानी गोदान में हम देखते हैं। होरी को हमने भारतीय किसान वर्ग का प्रतिनिधि-पात्र या प्रतीक कहा है, किंतु यह स्मरण रहे कि होरी के पास चार-पाँच बीघे जमीन है। इसलिए वह उन करोड़ों खेतिहर मजदूरों से खुशहाल है, जिनके पास कोई जमीन नहीं है, और जिनको दूसरों की जमीन पर मजदूरी करते हुए जीवन के दिन काट देने पड़ते हैं। चार-पाँच बीघे

जमीन के तथा हल-बैल के मालिक होते हुए भी होरी पर जैसी-जैसी मुसीबतें आती हैं, उससे हम इसका अनुमान कर सकते हैं कि उन लाखों किसानों की क्या हालत होगी जिनके पास जमीन नहीं है। अवश्य स्वयं होरी खेतिहर मजदूर हो जाने पर मजबूर हो गया है, यह भी इस उपन्यास में दिखा दिया गया है। इस प्रकार हम यह भी देख रहे हैं कि किस तरह बराबर मामूली किसान सर्वहारा वर्ग में गिरते चले जा रहे हैं। गोदान में यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि जमीन पर दबाव कम किया जाय। इसका एक मात्र तरीका यह है कि देश का औद्योगीकरण हो। इस बात से गाँधीवादी (स्मरण रहे स्वयं गाँधीवाद में इस संबन्ध में बहुत परिवर्तन हो चुका है, गाँधी जी ने १६०८ लिखित हिंद स्वराज्य में मिलों की इतनी निंदा की थी कि उन्होंने यह कहा था कि बंबई में कपड़ों की मिल खोलने के बजाय यह अच्छा होगा कि हम मैनचेस्टर से अपने कपड़े बुनवा कर मँगवायें, ऐसी हालत में हम केवल धन ही खोयेंगे, किंतु यदि भारत में मिलें खुल गयीं, तब तो हम नैतिक रूप से पतित हो जायेंगे) भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, किंतु गोदान के वस्तुवादी लेखक ने यह दिखलाया है कि जमीन पर दबाव घटने में ही कल्याण है। गोबर जब बाप-दादों की जमीन छोड़ कर शहर में जा कर रोजगार करने लगता है, तो उसकी हालत सुधरती है, न कि बिगड़ती है। जो लोग केवल कल्पना को पूँजी बना कर आदर्श छाँटा करते हैं, गोदान के लेखक उनमें से नहीं हैं। उन्होंने जीवन में जैसा देखा, वैसा उसे चित्रित किया। किसानों का मिल मजदूर हो जाना, उनकी उन्नति है, न कि अवनति इसे हम गोदान में देखते हैं।

हमने यह बताया कि गोदान में हम होरी के जीवन संग्राम के एपिक इतिहास को पढ़ सकते हैं, किंतु यह संग्राम किस लिए है? यह संग्राम केवल इसलिए है कि होरी किसी प्रकार अपने सिर को पानी से ऊपर रख सके, किसी प्रकार अपने अस्तित्व को कायम रख सके। यह किसी बड़े या महान आदर्श के लिए संग्राम नहीं है, सच्चे मानों में यह केवल जीवन संग्राम है। होरी के लिए अपने जीवन को कायम रखना ही इतनी बड़ी समस्या है, और उसके प्रतिकूल इतनी शक्तियाँ हैं कि उसे दुनिया को बेहतर बनाने के लिए लड़ने की फुरसत नहीं है। यह सवाल ही उसके लिए नहीं उठता। इतना बड़ा एपिक संग्राम,

इतने घात प्रति-घात, इतनी कुर्बानियाँ और इसका कोई ढंग का उद्देश्य नहीं ? यह एक ट्रेजेडी है, किंतु यह ट्रेजेडी आज सारे भारतवर्ष के बल्कि सारी दुनिया के अभी तक शोषितों की ट्रेजेडी है। गोदान इसी ट्रेजेडी की गुत्थियों को हमारे सामने स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। जब हम इस दृष्टिकोण से गोदान को देखेंगे, तभी हम इसकी महत्ता को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे। होरी की यह ट्रेजेडी किस प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं, झगड़ों को ले कर खुलती गयी है, उसमें आर्थिक कारणों के साथ-साथ अन्य द्वितीय कारण कैसे काम करते हैं, तथा किस प्रकार Climax या अंतिम परिणाम तक पहुँचने में मदद देते हैं, यह एक देखने की वस्तु है।

'गोदान' उपन्यास में प्रेमचंद गाँधीवाद से निस्संदेह रूप से हटे हुए ज्ञात होते हैं। इस उपन्यास में किसानों की हमदर्दी करने के लिए, उनके नेता बनने के लिए प्रेमशंकर, चक्रधर, अमरकांत आदि कोई व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता। गोदान में तो होरी अपनी नाव आप ही खेता है। अवश्य अभी उसकी पतवार आत्मसंवृत, सजग, आत्मज्ञान संपन्न नहीं हुई है। उसे न तो अपने गंतव्य स्थान का पता है, न पथ का ज्ञान है, किंतु अब प्रेमचंद यह नहीं दिखा रहे हैं कि प्रेमशंकर आदि व्यक्तियों से किसानों की भलाई होगी। किसान अभी नहीं जानता कि कैसे उसका उद्धार होगा, किंतु अब उसे इन सत्य के साथ प्रयोग-कारियों पर विश्वास नहीं है। वह उनकी तरफ अपने उद्धार के लिए नहीं ताकता, जैसे प्रेमाश्रम, कायाकल्प या कर्मभूमि के किसान ताका करते थे। श्री जनार्दन झा ने अपनी प्रेमचंद संबंधी पुस्तक में यह जो लिखा है कि 'गोदान को प्रेमाश्रम का परिवर्तित और कुछ-कुछ परिष्कृत रूप समझना चाहिए क्योंकि इसमें कोई नवीन समस्या, कोई नूतन संदेश नहीं परिलक्षित होता,' यह बिल्कुल बचपन भरी बात है, और इससे झा जी की सारी समालोचना ही गलत प्रमाणित होती है। वे इतनी मोटी सी बात को भी समझ नहीं पाये कि दोनों में युगों का अंतर है, यह आश्चर्य की बात है। किस अर्थ में वे यह कहते हैं कि यह उपन्यास प्रेमाश्रम का ही परिवर्तित और कुछ-कुछ परिष्कृत रूप है, यह समझ में नहीं आता। गोदान में न तो भावुकतावादी प्रेमशंकर ही है, और न काल्पनिक आदर्श जमींदार मायाशंकर ही है। यों तो दोनों उपन्यासों में शहर और गाँव के चित्र हैं किंतु इतने ही से इन दोनों को अभिन्न कहा जाय तो फिर तो दुनिया के

सभी उपन्यास अभिन्न हो जायँ। झा जी का यह कहना कि 'श्रमजीवियों तथा सुखसेवियों के जीवन संग्राम का वर्णन इसमें भी प्रायः उसी ढर्रे पर किया गया है जो प्रेमाश्रम के आकर्षण का केन्द्र है,' यह बिल्कुल अस्पष्ट है। पहली बात तो यह है कि दोनों उपन्यासों में एक ही ढर्रे पर वर्णन किया गया है, यह गलत है। क्यों हम ऐसा समझते हैं यह आगे स्पष्ट हो जायगा। यहाँ यह भी बतला दिया जाय कि सभी बुद्धिमान आलोचक यह समझते हैं कि गोदान में प्रेमचंद जी ने यह नया रुख लिया है। यह रुख किसी को पसंद न आवे, यह बात दूसरी है। मनुष्यों का रुख अपने-अपने वर्ग-स्वार्थों से संबद्ध होता है, किंतु यह कहना कि गोदान तथा अन्य उपन्यासों में कोई फर्क नहीं है, यह बिल्कुल गलत है। गोदान में प्रेमचंद ने कोई मार्ग नहीं दिखलाया है, उन्होंने केवल सामाजिक शक्तियों के रुख को दिखला दिया है। यह भला श्री हरिभाऊ उपाध्याय और अवध उपाध्याय ऐसे लोगों को कैसे पंसद आ सकता था। उन्हें तो प्रेमचंद की अन्य रचनाएँ पसंद हैं। तभी तो हरिभाऊ जी लिखते हैं—'गोदान मैंने उनकी अंतिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा, पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु न मिली, जो रंगभूमि में मिली थी। रंगभूमि में गरीब अंधे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण जागृति और आंदोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता था, इसका वह नमूना था। गोदाग में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता। उनके दूसरे उपन्यासों से वह जुदे प्रकार का है, यह यथार्थ-वादी है।' हरिभाऊ जी ने गोदान को इसलिए भी नापसंद किया कि इसमें कोई हल किसी तत्त्व या व्यक्ति के रूप में पेश नहीं किया गया है, फिर भी वे मानते है कि 'जहाँ तक समाज की इन दो श्रेणियों का यथार्थ चित्रांकन से संबंध है वहाँ तक गोदान में प्रेमचंद जी बहुत सफल हुए हैं।' फिर हरिभाऊ जी को और क्या चाहिए था ? वे यथार्थवाद से क्यों घबड़ाये हुए हैं ? यदि यही सत्य है कि धीरोदात्त पात्र अपने त्याग और आत्मबल से किसी का उद्धार नहीं कर सकते, तो इसे वे सीधे से मान क्यों नहीं लेते। हरिभाऊ जी यथार्थवाद से नाराज हैं, वे मानते हैं 'मुझे यथार्थवादी चित्रांकन से तृप्ति नहीं होती। जो कुछ समाज में है और हो रहा है, उसे हम देखते और जानते भी हैं। पुस्तक में उन्हें पढ़ने और देखने से कई चित्रों का और कई दृश्यों का एक साथ एक जगह सम्मिलित रूप में अवलोकन हो जाता है,

और उसका कुछ विशेष परिणाम मन पर जरूर होता है, परंतु सर्वसाधारण को उससे कोई मार्ग नहीं दिखाई देता।' यह हरिभाऊ जी की अजीब जिद है कि समाधान यथार्थता में नहीं है। यथार्थता में ही क्यों न हल ढूँढ़ा जाय? क्या हल उतना ही यथार्थ नहीं है, जितनी समस्या यथार्थ है, फिर हम घबड़ा कर यूटोपिया में क्यों बहक जायँ, और कृत्रिम तथा काल्पनिक हल ढूँढ़ें। यथार्थता के अन्दर ही हल निहित है। गोदान के लेखक ने कोई हल पेश नहीं किया, सही है, किंतु क्या हल हो सकता है, इसे हम उस यथार्थ चित्र से ही क्यों न ढूँढ़ें? क्यों हम एक पूर्वाग्रह ले कर चलें? फिर प्रेमचंद ने पंद्रह साल तक धीरोदात्त पात्रों के प्रयोगों को तो खूब देख लिया था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे गोदान में जिस रूप में आये हैं, उसी रूप में आते।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क भी कुछ इसी प्रकार के मंतव्य करते हैं। उनका कहना है कि यदि 'हमारे जमींदारों में एक भी मायाशंकर निकलता, तो प्रेमचंद को अपनी जीवन संध्या में निराश हो कर 'गोदान' न लिखना पड़ता।' वे इस प्रकार यह मानते हैं कि अब तक प्रेमचंद ने जिस बेताल अगिया को आदर्श के रूप में अपनाया था, वह स्वाप्निक था—एक यूटोपिया था, जिसका वास्तविक जगत में कोई अस्तित्व नहीं था। फिर भी जब प्रेमचंद जी का गोदान सामने आता है, तो अश्क जी उस पर अश्रुपात करने लगते हैं। वे बड़े ही दीर्घरूप में इस बात का वर्णन करते हैं कि प्रेमचंद जी की रचना में केवल गोदान ही है, लोग ऐसा न समझें। 'प्रेमचंद की आँखों के सामने सदैव तारीकी ही तारीकी रही है, उन्होंने गिरते, धँसते और विनाश की ओर शीघ्रता से अग्रसर होने वाले गाँव ही देखे हैं, ऐसा नहीं। उन्होंने आदर्श गाँव का स्वप्न भी देखा है, और उस स्वप्न की सत्यता आपको प्रेमाश्रम के लखनपुर में दृष्टिगोचर होगी। मायाशंकर के उस भाषण में जो उसने तिलकोत्सव पर किया, इस आदर्श की झलक मिलती है।.........व्यापक दरिद्रता और दीनता को देख कर माया का कोमल हृदय तड़प कर रह गया था, और उसने कम से कम अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया था।.........' तिलकोत्सव के अवसर पर वह जमींदारी त्याग देता है, और उसकी घोषणा के फलस्वरूप 'हम प्रेमाश्रम के अंतिम पृष्ठों में स्वतंत्र और संपन्न लखनपुर की तस्वीर देखते हैं।..................मायाशंकर ने देहातियों की जो दशा स्वयं देखी थी, और जो दशा बाद को हुई उसमें कितना अंतर है! यह है देहातियों का वह स्वर्ग जिसके

स्वप्न प्रेमचंद देखते थे।'

अश्क जी को इस स्वप्न के टूट जाने पर बहुत अफसोस है, ऐसा उनके वर्णन से मालूम होता है, किंतु तथ्य बड़े क्रूर होते हैं। करीब बीस वर्ष तक प्रेमचंद जी इस स्वप्न के द्वारा परिचालित हो कर साहित्य सृष्टि करते रहे, अब यदि इतने दिनों के बाद भी उनका स्वप्न सत्य नहीं हुआ, और उनकी कला में यह भ्रांति भंग प्रतिफलित हुआ, तो इसमें दुख की कौन-सी बात है? जो प्रवृत्ति प्रेमचंद की कला की प्रगतिशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण है, अश्क जी को उसी पर अफसोस है। हम तो इसके विपरीत यह समझते हैं कि इससे उनके क्रांतिकारित्व का परिचय मिलता है। एक लेखक भी जब एक लीक में पड़ जाता है, तो उसके लिए उससे मुक्त हो जाना बहुत कठिन हो जाता है, किंतु फिर भी प्रेमचंद अपनी सारी परंपरा से अलग हो कर आगे की ओर बढ़ सके, यह बहुत ही अभिनंदनीय है।

फिर भी गोदान में प्रेमचंद अपनी पुरानी परंपरा से अपने को संपूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर पाये। यदि वे और जीवित रहते तो संपूर्ण रूप से अपने को परंपराओं से मुक्त कर लेते, इसमें संदेह नहीं, किंतु गोदान में उनका old love—पुरानी परंपरा कुछ न कुछ चल रही है। इसी का फायदा उठा कर श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर न मालूम क्या-क्या कह जाते हैं। वे कहते हैं—

'गोदान में प्रेमचंद के विचार परिबद्ध हुए दिखाई देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गाँधी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुये भी प्रेमचंद सर्वत्र सेवा और त्याग पर जोर देते दिखाई दे रहे हैं। चित्र की उच्च-नीच वृत्तियों को बेनकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छंद विचरण करने देना आप नारीत्व और नरत्व के पूर्ण विकास में बाधक समझ रहे हैं।.........प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अंध विश्वास और मानवत्व में ईश्वर को प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय पारिवारिक जीवन और बाप-दादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना, इन विचारों का सम्मिश्रण गोदान में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र गोदन में क्रमशः विकसित हो रहा है, पर दुर्भाग्यवश पूर्ण विकास नहीं हो पाता, और प्रेमचंद जी हमें मँझधार में छोड़ कर सहसा अंतर्धान

हो जाते हैं।' श्री पराड़कर ने गोदान में प्राच्य और पाश्चात्य आदर्शों का सँघर्ष देखा है, यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। मेहता के कुछ व्याख्यानों तथा तौर तरीकों से उन्हें ऐसा भ्रम हुआ है, किंतु अव्वल तो मेहता इस उपन्यास का कोई मुख्य पात्र नहीं है, दूसरे उनके व्याख्यानों में भी कोई ऐसी बात नहीं है, जिसे प्राच्य की बपौती कही जा सके। मेहता के संबन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि मेहता अज्ञेयवादी है, और यहीं पर पराड़कर जी का सिद्धान्त बिल्कुल खतम हो जाता है। प्राच्य और पाश्चात्य आदर्शों के संघर्ष की बात जल्पना मात्र है। आमतौर से ऐसी धारणा राममोहन राय से ले कर राधाकृष्णन तक के प्रचार-कार्य से हो गयी है, कि भारतीय सभ्यता अध्यात्मवादी है, और पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवादी। यह धारणा सत्य से कोसों दूर है। सच बात तो यह है कि पाश्चात्य देशों के निवासी (रूस को इस श्रेणी से निकाल देना पड़ेगा) उतने ही अध्यात्मवादी हैं, जितने भारतीय बतलाये जाते हैं। पाश्चात्य देशों में बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जो भौतिकवादी हैं, अवश्य जागरूक मजदूर वर्ग में भौतिकवादियों की संख्या बढ़ रही है, किंतु ऐसे लोगों को पाश्चात्य के विचार नेतागण अपवाद के रूप में ही लेते हैं, न कि नियम के रूप में। इस प्रसंग में इस विषय पर इससे अधिक आलोचना संभव नहीं है। यहाँ तो केवल प्रश्न यह है कि क्या गोदान में पाश्चात्य और प्राच्य आदर्शों का संघर्ष दिखलाया गया है या नहीं। इसके उत्तर में यह तो हम बता ही चुके कि पाश्चात्य और प्राच्य आदर्शों में विरोध की बात कपोल कल्पना मात्र है। भौतिकवाद अथवा अध्यात्मवाद—केवल यही नहीं, अध्यात्मवाद की विभिन्न किस्मों के संबन्ध में जैसे बहुदेववाद, एकदेववाद, पुनर्जन्मवाद, कर्म आदि के संबन्ध में बहुत अच्छी तरह यह दिखलाया जा सकता है कि समाज के उस विशेष विकास-सोपान से उसका सबन्ध है जिनमें वे उद्भूत हुए अथवा पनपे। ऐसी हालत में यदि भारतीयों की विचारधारा में और यूरोपियनों की विचारधारा में (यहाँ धार्मिक आध्यात्मिक विचारों का ही विशेषकर उल्लेख किया जा रहा है) यदि कुछ प्रभेद है तो वह इस कारण है कि भारतवर्ष अभी यूरोप के मुकाबिले में पिछड़ा हुआ है और बहुत कुछ उसकी आत्मा अब भी, इस घोर पूँजीवाद के युग में, सामंतवाद के युग में भटक रही है। गाँव को लौटो, प्रत्येक गाँव की आत्मयथेष्टता, चरखा इत्यादि नारे साथ ही पिछड़े हुए धर्म में आस्था ये सब

बातें भारत की पिछड़ी हुई आर्थिक सामाजिक अवस्था की ही सूचना करती हैं। अवश्य इस दृष्टि से देखने पर भी पाश्चात्य के आगे बढ़े हुए विचारों के साथ यहाँ के अपेक्षाकृत पिछड़े हुए विचारों का कुछ संघर्ष बराबर रहा, यह मानना पड़ेगा, यह संघर्ष मोटे तौर पर उन्नत किंतु ह्रासशील पूँजीवादी तथा समान रूप से म्रियमाण सामंतवाद के विचारों का संघर्ष है। किसी भी प्रकार इस संघर्ष को अध्यात्मवाद और भौतिकवाद या भारतीय संस्कृति तथा यूरोपीय संस्कृति का संघर्ष नहीं कहा जा सकता। फिर जिस वस्तु को हम भारतीय सँस्कृति का नाम देते हैं; उसमें से बहुत कुछ विश्लेषित होने पर महज एक पिछड़ी हुई आर्थिक सामाजिक पद्धति को हिंदू विचार प्रधान संस्कृति निकलेगी। यदि किसी प्रकार इसे गोदान से हानि पहुँची है, तो इसमें हमें कोई दुख करने की बात दिखाई नहीं देती।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने गोदान की विस्तृत समालोचना लिखी है। उनका कहना है, 'आर्यसमाज की जाग्रति से पूर्व के सामाजिक जीवन से चल कर गाँधी युग की कांग्रेस तक पहुँच कर गोदान में प्रेमचंद फिर उस करुण गृहस्थी में लौट गये जहाँ से वे बाहर चले थे। एक विकल विहग की भाँति जीवन के संबल की खोज में सार्वजनिक जगत के विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने यात्रा की थी, किंतु जब फिर अपने बसेरे की ओर लौटे तो देखा कि बाहरी दुनिया की इतनी हलचलों के बावजूद भी इस गृहस्थी में अभाव ही अभाव है। जाग्रति दिवस का स्वर्णप्रकाश प्रासादों के शिखरों को झिलमिलाता हुआ, होरी की कुटिया में अंधकार (पूँजीभूत ट्रेजडी) ही छोड़ता चला गया है।' शांतिप्रिय जी ने इतने शब्दाडंबर के साथ जो कुछ कहा है, उसका यदि यह मतलब है कि गोदान में प्रेमचंद चीजों तथा घटनाओं को सामूहिक दृष्टि से देखना छोड़ कर बिलकुल वैयक्तिक तथा गृहस्थी की दृष्टि से देखते हैं तो यह बिल्कुल गलत है। अब तक प्रेमचंद गाँधीवाद के स्वर्णिम स्वप्न के आवेश में थे, किंतु गोदान में उनका स्वप्न भंग हो चुका है। इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि वे अब गृहस्थी के उपन्यासकार हो चुके हैं। यह तो शांतिप्रिय जी भी मानते हैं कि एक तरफ प्रासादों की जगमगाहट और दूसरी तरफ कुटियों का पूँजीभूत अंधकार है, क्या यह दृष्टिकोण गृहस्थी का दृष्टिकोण है? क्या यह सूचित करता है कि प्रेमचंद अब सामूहिक जीवन से अलग हो कर अपनी लेखनी को चला रहे हैं? अब तक वे जिन काल्पनिक

डैनों के सहारे अपने आकाश में उड़ान भर रहे थे, उन्होंने देख लिया है कि वे डैने कहीं ले जाने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए वे अपने वास्तविक जगत में लौटकर अपने पैरों पर खड़े हो कर आकाश की ओर देख रहे हैं। उन्होंने उन आलंकारिक डैनों को गोदान में त्याग दिया है, किंतु उनको अपने ही शरीर के अंग रूप में स्थित उन वास्तविक डैनों का भी कुछ बल्कि बहुत अधिक आभास हो चुका है, और वे जीवन संग्राम के क्षेत्र में इन पक्षों से सशस्त्र हो कर उतरने ही वाले हैं। यह दृश्यमान शांति आँधी के पहले की गुमसुम है। इसे गृहस्थी में लौटना समझना गलत है। यह वृहत्तर संग्राम की तैयारी मात्र है। गोदान में अवश्य ही एक बड़ी हाय है किंतु यह पराजयवादी की हाय नहीं, बल्कि इतने दिनों तक जिस आदर्श को कामधेनु समझ कर अपनाया गया, उसकी व्यर्थता की अनुभूति की हाय, किंतु साथ ही इसमें नवीन वास्तविक मार्ग को अपनाने का बहुत बड़ा इंगित भी है।

हमने यह कहा है कि प्रेमचंद गोदान में संपूर्ण रूप से अपने पूर्व संस्कारों से मुक्त न हो सके, हमारे इस कथन को कुछ और प्रमाण पुष्ट करने की आवश्यकता है। मेहता इस उपन्यास के मुख्य पात्रों में न होने पर भी प्रेमचंद उसे एक आदर्श-चरित्र व्यक्ति के रूप में दिखलाते हैं, यहाँ तक आदर्श-चरित्र कि उसके संसर्ग में आ कर तितली स्वभावा मालती भी एक समाज सेविका हो जाती है, इसलिए मुख्य पात्र न होने पर भी उसके विचारों से प्रेमचंद के सामाजिक विचारों का पता लगता है। स्त्रियों के संबन्ध में इस व्यक्ति के विचार औसत दर्जे के समाज-सुधारक के विचार हैं। स्त्रियों के लिए यह व्यक्ति बताता है कि इनका जीवन इनका घर है, यहीं इनकी सृष्टि होती है, यहीं इनका पालन होता है, यहीं जीवन के सारे व्यापार होते है। मेहता यह नहीं चाहते कि स्त्रियाँ दफ्तरों, अदालतों में जायँ, वोटों के लिए आन्दोलन करें, इत्यादि। संक्षेप में मेहता स्त्रियों को गृहलक्ष्मी के रूप में देखना चाहते हैं। निस्संदेह ये विचार प्रगति-विरोधी हैं, क्यों ऐसा है, इसके बारे में यहाँ जानने की आवश्यकता नहीं है। जब तक स्त्रियाँ उत्पादन के क्षेत्र में पुरुष के मुकाबिले में पिछड़ी हुई रहेंगी, तब तक यह संभव नहीं कि वे समाज में पुरुषों के साथ बराबरी का दर्जा हासिल करें। जिन युगों में स्त्रियाँ उत्पादन के क्षेत्र में पुरुषों के बराबर या पुरुषों से ऊँची सतह पर रही हैं, उन युगों में स्त्रियाँ संपूर्ण रूप से स्वतंत्र रही

हैं। जो कुछ भी हो, मेहता के ये विचार गोदान में आते हैं, और डाक्टर राम-विलास ऐसे लेखक यह मानते हैं कि मेहता का समाजशास्त्र प्रेमचंद का समाज-शास्त्र है। मेहता के चरित्र में कुछ सत्याग्रह या रामकृष्ण मिशन किस्म की चीजों की बू आती है। फिर भी प्रेमचंद की सफाई में यह कहा जा सकता है कि गोदान में मेहता का चरित्र इसलिए आया है कि समाज में इस तरह के विचार हैं, मेहता उन्हीं विचारों के प्रतीक के रूप में सृष्ट है।

गोदान में ग्राम-समाज का जो चित्र है, वह कवित्वपूर्ण नहीं वल्कि अत्यंत वस्तुवादी है। दातादीन, पटेश्वरी, झिंगुरीसिंह, अनोखे राम ग्राम्य-समाज के स्तम्भ हैं, किन्तु कितने सड़े-गले स्तंभ हैं। इब्सन ने 'समाज के स्तम्भ' नामक जो नाटक लिखा है, उसे वस्तुवादी होने के नाते वहुत सराहा गया है, किंतु ग्राम-समाज का जो चित्र प्रेमचंद गोदान में हमें देते हैं, वह उससे कुछ कम प्रशंसनीय नहीं है। शरत् बाबू ने अपने 'पल्ली-समाज' में ग्राम-जीवन के इस पहलू को कदाचित् समान सफलता के साथ चित्रित किया है, किंतु पल्ली-समाज के चित्र से इस चित्र का फर्क यह है कि प्रेमचंद ग्राम-समाज के निम्नतर स्तर का चित्र देते हैं। इसके अतिरिक्त शरत् बावू ग्राम-समाज के चित्र पेश करते हुए धर्म को तो नहीं भूलते, उस पर वे भी खूब फब्तियाँ कसते हैं, किंतु पुलिस को वे बिल्कुल भूल जाते हैं। अवश्य इसके लिए यह कहा जा सकता है कि बंगाल में पुलिस का प्रभाव उतना नहीं था, जितना प्रेमचंद के प्रांत में था, किंतु फिर भी इस चित्र में पुलिस का न आना बहुत खटकता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद का यह चित्र अधिकतर सर्वांग सुन्दर और निर्भीक है। प्रेमचंद अपने प्रथम प्रकाशित उपन्यास सेवासदन के प्रथम दृश्य से ले कर बराबर पुलिस को कभी नहीं भूलते। गोदान में भी वे पुलिस की खूब खबर लेते हैं, और यह स्पष्ट कर देते हैं कि गाँववालों की मुसीबत यदि जमींदार और उनके कारिंदों के कारण है, उनकी आपसी फूट तथा गंदगी के कारण है, तो साथ ही उनके जीवन को नरक बनाने में पुलिस का बड़ा भारी हाथ है।

छापेखानों के प्रवर्तन के साथ-साथ भारतवर्ष में अखबारों की स्थापना और उन्नति हुई। ये अखबार यदि एक तरफ जनता को ऊपर उठाने के उद्देश्य से तथा मूक जनता को वाणी देने के उद्देश्य से निकाले गये, और एक निस्वार्थ

लेखक श्रेणी का उद्भव हुआ, तो दूसरी तरफ उन्हीं की बदौलत एक ऐसे हरामखोरवर्ग का उदय हुआ जो जनता के रक्षक का बाना पहिन कर उसका भक्षक बन गया। ओंकारनाथ इसी प्रकार के हरामखोर लेखकों की श्रेणी में है। वह लेखक कम और ब्लेक-मेलर या धमकी दे कर रुपये वसूल करने वाला है। पत्रकार कला की वृद्धि के साथ-साथ इस प्रकार के लोगों के लिए गुंजाइश बढ़ती गयी है, और आज तो ऐसे लेखकों की भरमार है जो पूंजी के इशारे पर सब कुछ लिखने और कहने के लिए तैयार हैं। ऐसे एक टाइप को भला प्रेमचंद की तीक्ष्ण दृष्टि कैसे छोड़ देती? मातादीन पहले के युग का परोपजीवी है, उसका टाइप बहुत पुराना है, किंतु ओंकारनाथ का टाइप ताजा है। प्रेमचंद के लिए यह बहुत प्रशंसा की बात है कि वे अपने पुराने टाइपों को ही नये-नये उपन्यासों में दिखाते नहीं रहे, बल्कि जीवन से नये-नये टाइप लेते रहे।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने गोदान के संबंध में लिखा है—'गोदान चित्र की भाँति असमाप्त और कालप्रवाह के समान थोड़ा-बहुत अनिर्दिष्ट है।' उनके मतानुसार 'सेवासदन' की सुसंपूर्णता और सुसंबद्धता (complete causal wholeness) गोदान में नहीं है। पिछली रचनाएँ पहले की भाँति नैतिक उद्देश्य के ढँकने से ढकी सुरक्षित और बंद नहीं हैं, मानों कहीं अनढकी और खुली रह गयी हैं—इसका कारण यही है। नैतिक उद्देश्य से कहाँ तक गोदान ढका है या नहीं है, इसकी हम पहले ही आलोचना कर चुके हैं। अवश्य इसका अर्थ यदि यह है कि गोदान में 'art for art's sake—कला कला के लिए' वाले सर्वथा लचर नुस्खा को अपनाया गया है, तो वह ख्याल गलत है। अवश्य ही गोदान में लेखक कोई ready made solution ले कर सामने नहीं आते। वे मार्ग नहीं बताते, किंतु गोदान को पढ़ कर कौन यह कह सकता है कि उसमें मार्ग का कोई निर्देश नहीं है। एंगेल्स ने एक उपन्यासकार यश-प्रार्थिनी काउटस्की को सलाह देते हुए यह बताया था कि 'लेखक के मत का प्रकाश खुद-बखुद परिस्थिति और कार्य के जरिये से होना चाहिए, उस पर विशेष जोर नहीं देना चाहिए, और लेखक पर इस बात की कोई मजबूरी नहीं है कि वह जिन सामाजिक संघर्षों का चित्रण कर रहा है, उनका एक बना बनाया ऐतिहासिक समाधान दे दे।' राल्फफाक्स ने इसी को दूसरे शब्द में यह कहा है कि 'दृष्टिकोण

को प्रचार कार्य के रूप में रखने की जरूरत नहीं है, परिस्थितियों तथा चरित्रों से यह बिल्कुल स्वाभाविक रूप से निसृत हो, तभी कला की बड़ाई है।' (The Novel and the People, p. 91.) । इसलिए जैनेन्द्र जी ने जिसे अनढका बतलाया है, कला की दृष्टि से केवल वही ढका है, बाकी जिनको उन्होंने ढका बतलाया है, वे अनढके हैं।

रहा यह उपन्यास पूर्ण रूप से सुसंबद्ध नहीं है, यह बात सही है। अवश्य सभी बड़े उपन्यास सुसंबद्ध होते हों ऐसी बात नहीं, किंतु बड़े उपन्यासों में ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है।

सब त्रुटियों के बावजूद, और बड़ी से बड़ी रचना में कुछ त्रुटियाँ होती ही हैं, गोदान भारतीय साहित्य की एक अमर कृति है। प्रेमचंद यदि केवल इसी पुस्तक को लिख जाते, तो अमर रह जाते। क्या गोदान एक समाजवादी उपन्यास है ? हाँ, जितना कि एक असमाजवादी समाज में हो सकता है। गोदान से हमें समाजवादी परिणाम निकालना पड़ेगा। यही इसका समाजवाद है। अवश्य यहाँ पर स्मरण रहे कि समाजवादी दृष्टि से गोदान में एक बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि समाधान की ओर बहुत ही दबा इंगित होने पर भी इसमें किसानवर्ग को वर्गरूप में संघर्ष करता हुआ नहीं दिखलाया गया है। होरी के जीवन से किसानवर्ग के अपरिसीम दुख का चित्र हमारे सामने आ जाता है। होरी संग्रामशील भी है, किंतु वह अभी अपनी समस्या को अपने वर्ग की समस्या के एक अंग के रूप में नहीं देख रहा है। वह संग्राम करता है, उसमें अपरिमित साहस, अभिनिवेश तथा कर्मशक्ति है, किंतु उसमें वर्ग चेतना कतई नहीं है। इस दृष्टि से बल्कि प्रेमाश्रम का बलराज उससे कहीं श्रेष्ठ है। इस बहुत बड़ी कमी के होते हुए कदाचित् यह कहा जाय कि इस उपन्यास को सर्वहारा साहित्य के अंतर्गत नहीं माना जा सकता! जैसा हम बता चुके, एक हद तक ऐसा कहनेवाला सही होगा, किंतु फिर भी इस पुस्तक का रुख प्रायः समाजवादी कहला सकता है, इसमें संदेह नहीं। गोदान हमें इस नतीजे पर पहुँचने के लिए विवश करता है कि इस समाज का आमूल परिवर्तन परमावश्यक है, तथा ऐसा किसी सुधारवादी उपाय से नहीं होगा।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एच० लेवी ने कला पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था : 'दो युगों के बीच के परिवर्तनकालीन युग में कलाकारों और लेखकों

के कंधों पर एक विशेष जिम्मेदारी रहती है। उन्हीं पर इस बात का कर्त्तव्य भार रहता है कि वे भविष्य की आहट लें, उन मान्यताओं और मूल्यों को ह्रास से बचावें जो मनुष्य के लिए कल्याणकारी हैं, इन मान्यताओं को अपनी रचनाओं में व्यक्त करें, भूतकाल की अच्छी से अच्छी वस्तु को भविष्य के निर्माण में लगावें।' (Philosophy for a Modern Man, पृ० २३६)। इस दृष्टि से देखने पर गोदान में प्रेमचंद ने एक तरफ गाँधीवादी और उसके बाद आनेवाली वर्गसंग्राम की तीव्रता की वृद्धि पर आधारित कर्म-पद्धति तथा दूसरी तरफ विषमतामूलक वर्तमान समाज-पद्धति और आगामी समाज-पद्धति जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण असंभव हो जायेगा — इन दोनों तरह की कर्म-पद्धति तथा समाज-पद्धति के प्रति अपना कर्त्तव्य बहुत अच्छी तरह निभाया है। पहले की कर्म पद्धति तथा समाज-पद्धति को उन्होंने मृत्युदंड दिया है, और आगामी कर्म-पद्धति तथा आगामी समाज को उन्होंने एक कलाकार का आशीर्वाद दिया है। अभी हमारे इतिहास में जो युग आगामी था, १९४२ में नहीं १९३५ में ही उसकी आहट सुन लेना, और उसको अपनी कला में प्रतिफलित कर दिखलाना, यह एक बहुत ही विराट शक्ति का परिचायक है। प्रेमचंद का गोदान इस दृष्टि से हमारी राजनीति से आगे बढ़ गया। गोदान आगामी युग का पेशखेमा था, अवश्य साथ ही साथ वह पहले के युगों का मुकुर भी है। सच बात तो यह है कि गोदान में यही दिखलाया गया है कि पहले के युगों में ही आगामी युग अन्तर्निहित है, वह आ रहा है, उसे कोई रोक नहीं सकता। सहस्र वज्रों तथा ऐटम वमों की तरह उसकी शक्ति है, म्रियमाण तथा ह्राससील समाज-पद्धतियाँ और विचारधाराएँ उसकी जययात्रा को रोक नहीं सकतीं। वह युग आ कर ही रहेगा। इसी में गोदान की श्रेष्ठता है, इसी में उसका अमरत्व है, इसी कारण और कलाकृतियों के मुकाबिले में उसकी श्रेष्ठता है।

प्रेमचंद का असमाप्त उपन्यास 'मंगल सूत्र'

जिस समय प्रेमचंद का देहांत हुआ उस समय वे 'मंगल सूत्र' नाम का एक उपन्यास लिख रहे थे, पर अकाल मृत्यु के कारण वे उसे समाप्त नहीं कर सके। अब यह अधूरा उपन्यास 'मंगल सूत्र' नाम से ही बनारस के हिंदुस्तान-पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित हुआ है। पहले यह खबर मिली थी कि प्रेमचंद जी के सुपुत्र श्री अमृतराय जी इस अधूरे उपन्यास को पूरा कर रहे हैं, और वह संपूर्ण हो कर ही प्रकाशित होगा। इस संबंध में कुछ लोगों की राय थी कि इस प्रकार प्रेमचंद के एक उपन्यास को पूरा करके जनता के सामने रखना धोखेबाजी होगी, पर मैं बराबर यह मानता रहा कि इस उपन्यास के इस प्रकार पूर्ण हो कर प्रकाशित होने में उस दशा में तो कोई हानि नहीं, यदि प्रकाशकों की तरफ से यह साफ-साफ बता दिया जाय कि उपन्यास का इतना अंश प्रेमचंद का लिखा हुआ है, और इतना दूसरे का। साहित्य के इतिहास में कई बार ऐसा हो चुका है। अस्तु।

इस बीच में क्या हुआ, पता नहीं। हो सकता है कि ऊपर बतायी खबर ही गलत रही हो। पर अन्त तक जितना अंश प्रेमचंद ने स्वयं लिखा था, उतना ही प्रकाशित हुआ है।

'मंगल सूत्र' जिस रूप में प्रकाशित हुआ है, उसे एक उपन्यास न कह कर एक ऐतिहासिक आलेख या Document कहना ही अधिक उचित होगा। इसको तो वे ही लोग पढ़ेंगे जो प्रेमचंद-साहित्य के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं, या जो यह जानना चाहते हैं कि अपने अंतिम दिनों में उस महान् कलाकार की विचार-धारा किधर को बह रही थी, तथा उसकी कला परिष्कृत किस प्रकार हुई। आलेख के रूप में ही महत्त्वपूर्ण होने के कारण इसमें उनकी पत्नी तथा पुत्रों का इससे संबन्धित कोई वक्तव्य जोड़ दिया जाता तो अच्छा रहता।

जब यह पुस्तक मेरे सामने आयी तो मुझे तो यह भी पता नही चला कि इसमें केवल उतना ही अश है जितना प्रेमचद ने लिखा था या कुछ जोडा भी गया है। जब मैने इस सबव मे प्रेमचद के सुपुत्र श्री श्रीपतराय से पत्र लिख कर पूछा तभी मुझे पता लगा कि केवल उतना ही अश छापा गया है जितना प्रेमचद ने लिखा था।

'मगल सूत्र' जिस रूप मे प्रकाशित हुआ है, इसमे मुश्किल से तेरह हजार शव्द होगे। सक्षेप मे इसका कथानक यो है—

बडे बेटे सतकुमार को वकील बना कर, छोटे बेटे साधुकुमार को बी ए की डिग्री दिला कर और छोटी लडकी पकजा के विवाह के लिए स्त्री के हाथो मे पॉच हजार रुपये नकद रख कर, साहित्यिक देवकुमार ने ईश्वर-चितन मे सारा समय बिताने का विचार किया। पर साहित्यिक के नाते उनमे एक अकड भी थी और वे चाहते थे कि राजा और रईस उनके द्वार पर आये और उनकी खुशामद करे, जो एक अनहोनी बात थी। पहले वे साहित्य-अनुशीलन मे अपना सारा समय बिताते थे, किंतु इधर उन्हे साहित्य से कुछ अरुचि हो गयी थी।

देवकुमार ने इस प्रकार अपने को धनोपार्जन से पृथक् कर लिया, यह बात बडे बेटे सतकुमार को पसद नही थी और वह खुल कर इसका प्रतिवाद कर रहा था। देवकुमार ने अपने यौवन मे बाप-दादो की जायदाद का बहुत वडा हिस्सा भोग-विलास मे फूँक दिया था, उन्होने जिस जमीन को मामूली दाम पर बेचा था, अब उसका दाम लाखो पर पहुँच चुका था। सतकुमार को इस बात पर भी वडी चिढ थी और वह हर समय इस चिता मे घुला करता था कि वह जायदाद किसी प्रकार मुकदमा आदि करके वापस मिले। पर मुकदमे के लिए पैसो की आवश्यकता थी, और वह पैसा उसके पास था नही।

सतकुमार इस प्रकार के स्वभाव का था। पर उसका छोटा भाई साधु-कुमार बराबर पिता का ध्यान रख कर चलता था। देवकुमार की पत्नी शैव्या यो तो देवकुमार के यौवन के कारनामो से सुखी नही थी, पर सतकुमार जैसे हर समय अपने पिता के पीछे हाथ धो कर पडा रहता था, वह उससे सहमत नही थी। सतकुमार इस सबन्ध मे जब अति कर जाता था, तो वह उसे डाँट भी देती थी।

संतकुमार केवल पिता पर ही खड्गहस्त रखता हो, ऐसी बात नहीं। वह अपनी पत्नी पुष्पा पर भी नाराज रहता था। पुष्पा बिलकुल फूल-सी सुंदर, नाजुक, हल्की-फुलकी थी। वह आत्माभिमानिनी थी। जब वह पति से नाराज होती थी, तो भी घर के काम-काज पहले की भाँति करती रहती थी पर पति की ओर कभी ताकती नहीं थी। यही उसका अस्त्र था।

एक बार पुष्पा नाराज हो गयी तो संतकुमार ने मना लिया। फिर भी यह मनाना ऊपर से था। पुष्पा संधि-पत्र पर हस्ताक्षर-स्वरूप पान का एक बीड़ा लगाकर संतकुमार को देती हुई बोली—"अब कभी वह बात मुँह से न निकालना। अगर मैं तुम्हारी आश्रित हूँ तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे घर में जितना काम करती हूँ, इतना ही काम दूसरों के घर में करूँ तो निर्वाह कर सकती हूँ या नहीं, बोलो?"

संतकुमार ने कड़ा जवाब देने की इच्छा को रोक कर कहा, "बहुत अच्छी तरह।"

"तब मैं जो कुछ कमाऊँगी वह मेरा होगा। यहाँ मैं चाहे प्राण भी दे दूँ पर मेरा किसी चीज पर अधिकार नहीं। तुम जब चाहो मुझे घर से निकाल सकते हो।"

"कहती जाओ, मगर उसका जवाब सुनने के लिए तैयार रहो।"

"तुम्हारे पास कोई जवाब नहीं है, केवल हठधर्मी है। तुम कहोगे, यहाँ तुम्हारा जो सम्मान है वह न रहेगा; वहाँ कोई तुम्हारी रक्षा करनेवाला न होगा, कोई तुम्हारे दुख-दर्द में साथ देनेवाला न होगा। इसी तरह की और भी कितनी ही दलीलें तुम दे सकते हो। मगर मैंने मिस बटलर को आजीवन क्वाँरी रह कर सम्मान के साथ जिंदगी काटते देखा है। उनका निजी जीवन कैसा था, यह मैं नहीं जानती। संभव है, वह हिंदू गृहिणी के आदर्श के अनुकूल न रहा हो, मगर उनकी इज्जत सभी करते थे, और उन्हें अपनी रक्षा के लिए किसी पुरुष का आश्रय लेने की कभी जरूरत नहीं हुई।"

संतकुमार मिस बटलर को जानता था। वह नगर की प्रसिद्ध लेडी डाक्टर थी। पुष्पा के घर से उसका अपनापन सा हो गया था। पुष्पा के पिता डाक्टर थे और एक पेशे के व्यक्तियों में कुछ घनिष्ठता हो ही जाती है। पुष्पा ने जो समस्या संतकुमार के सामने रख दी थी उस पर मीठे और निरीह

शब्दों में कुछ कहना उसके लिए कठिन हो रहा था और चुप रहना उसकी पुरुषता के लिए उससे भी कठिन था।

वह दुविधा में पड़ कर बोला, "मगर सभी स्त्रियाँ मिस बटलर तो नहीं हो सकतीं?"

पुष्पा ने आवेश के साथ कहा, "क्यों? अगर वह डाक्टरी पढ़ कर अपना व्यवसाय कर सकती है, तो मैं क्यों नहीं कर सकती?"

"उनके समाज में और हमारे समाज में बड़ा अंतर है।"

"अर्थात् उनके समाज के पुरुष शिष्ट हैं, शीलवान् हैं, और हमारे समाज के पुरुष चरित्र-हीन हैं, लम्पट हैं, विशेष कर जो पढ़े-लिखे हैं।"

"यह क्यों नहीं कहती कि उस समाज में नारियों में आत्मबल है, अपनी रक्षा करने की शक्ति है और पुरुषों को काबू में रखने की कला है।"

"हम भी तो वही आत्मबल, शक्ति और कला प्राप्त करना चाहती हैं लेकिन तुम लोगों के मारे जब कुछ चलने पावे? मर्यादा और आदर्श और जाने किन-किन बहानों से हमें बचाने की और हमारे ऊपर अपनी हुकूमत जमाये रखने की कोशिश करते रहते हो।"

× × × × ×

पर संतकुमार इस समय लड़ना नहीं चाहता था। वह चाहता था कि पुष्पा अपने पिता से दस हजार रुपये दिलाये, जिससे वह मुकदमा लड़ कर देवकुमार की बेची हुई जायदाद वापस ले सके। पर पुष्पा पिता को यह बात लिखने पर राजी नहीं हुई। इस पर संतकुमार ने होंठ चबा कर कहा "जरा-सी बात तुमसे नहीं लिखी जाती, उस पर दावा यह है कि घर पर मेरा भी अधिकार है!"

पुष्पा ने जोश के साथ कहा, "मेरा अधिकार तो उसी क्षण हो गया जब मेरी गाँठ तुमसे बँधी।"

संतकुमार ने गर्व के साथ कहा, "ऐसा अधिकार जितनी आसानी से मिल जाता है उतनी ही आसानी से छिन भी जाता है।"

पुष्पा को ये बातें बुरी लगीं, पर ये थे संतकुमार। हाँ, पुष्पा का मन अपने देवर साधुकुमार से बहुत बहलता था क्योंकि वह बुद्धिमान् और विचार-शील था। धन को ही वह एक-मात्र काम्य वस्तु नहीं समझता था।

सतकुमार को मिस्टर सिनहा का साथ मिल गया था, जो बडे कुशल वकील थे। उनका पेशा था मुकदमे बनाना। जैसे कवि एक कल्पना पर पूरा काव्य लिख डालता है, उसी तरह सिनहा साहब भी कल्पना पर मुकदमो की सृष्टि कर डालते थे। न जाने कवि क्यो नही हुए ? मगर कवि हो कर वे भी साहित्य की चाहे जितनी श्री-वृद्धि कर सकते, अपना कुछ उपकार नही कर सकते थे। कानून की उपासना करके उन्हे सभी सिद्धियाँ मिल गयी थी। शानदार बँगले मे रहते थे, बडे-बडे रईसो और हुक्कामो से दोस्ती थी, प्रतिष्ठा भी थी, रौब भी था। कलम मे ऐसा जादू था कि मुकदमे मे जान डाल देते। ऐसे-ऐसे प्रसग सोच निकालते, एसे-ऐसे चरित्रो की रचना करते कि कल्पना सजीव हो जाती थी। बडे-बडे घाघ भी उसकी तह तक न पहुँच सकते। सब-कुछ इतना स्वाभाविक, इतना सम्बद्ध होता था कि उस पर मिथ्या का भ्रम तक न हो सकता था। वे सतकुमार के साथ के पढे हुए थे। दोनो मे गहरी दोस्ती थी। सतकुमार के मन मे एक भावना उठी, और सिनहा ने उसमे रग-रूप भर कर जीता-जागता पुतला खडा कर दिया, और मुकदमा दायर करने का निश्चय कर लिया गया।

सिनहा ने सतकुमार से कहा कि मुकदमा बन सकता है, और देवकुमार की जायदाद वापस मिल सकती है। बस इतना साबित करना था कि देवकुमार का मस्तिष्क विकृत था। सिनहा ने सतकुमार से यह भी कहा कि वह जज पर असर डालने के लिए जज की लडकी 'तिब्बी' पर डोरे डालना शुरू करे। तिब्बी रूपवती थी, प्रसाधन भी खूब करती थी, पर उसके मन मे पुरुषोको आकर्षित करने की भावना जरा भी नही थी। वह स्वय अपने रूप मे मग्न थी।

फिर भी मुहासिरा शुरू हो गया। मुकदमा जो जीतना था। यद्यपि अन्य युवक तिब्बी की अवज्ञा स निराश होकर लौटते थे, पर सतकुमार के सयम और विचारशीलता के कारण उनकी ओर वह खिचती थी। सतकुमार ने उसके निकट अपने को अनमेल विवाह का शिकार बताया था। तिब्बी मे वे सब अवगुण थे, जो धनियो मे पाये जाते है, जैसे नौकरो को बिना कारण डाँटना इत्यादि। सतकुमार ने चालाकी से तिब्बी को अपने वश मे कर लिया। पर

वह खतरनाक हद तक न तो गया, और न जाना चाहता था, क्योंकि उसके सामने उद्देश्य स्पष्ट थे।

सिनहा के कहने से संतकुमार देवकुमार को इस बात पर राजी करना चाहता था कि वे अपने-आपको इस मुकदमे के अनुसार बना लें। पर देवकुमार राजी नहीं हुए। बोले कि वे थोड़े से रुपयों के लिए अपनी आत्मा को बेचने को तैयार नहीं हैं। प्रश्न तो केवल दो लाख का था, पर उन्होंने कहा कि दस लाख पर भी वे आत्मा बेचने को तैयार नहीं होंगे।

संतकुमार ने तीखे स्वर में कहा, "अगर आप इसे आत्मा का बेचना कहते हैं, तो बेचना पड़ेगा। इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है। और आप इस दृष्टि से इस मामले को देखते ही क्यों हैं? धर्म वह है जिससे समाज का हित हो। अधर्म वह है जिससे समाज का अहित हो। इससे समाज का कौन-सा अहित हो जायगा, यह आप बता सकते हैं?"

देवकुमार ने सतर्क हो कर कहा, "समाज अपनी मर्यादाओं पर टिका हुआ है। उन मर्यादाओं को तोड़ दो और समाज का अंत हो जायगा।"

दोनों तरफ से शास्त्रार्थ होने लगे।

संतकुमार बहुत बिगड़े, पर काम न बना। सिनहा ने समझाया, "धैर्य से काम लो, काम बनेगा। तुम क्या जानो, बाप को बेटा कितना प्यारा होता है। नालिश दायर हो जायगी, तो देखना, तुम्हारे पिता क्या करते हैं।" देवकुमार बोले, "मुझे अपना धर्म, पत्नी और पुत्र से प्यारा है।"

अन्त में दोनों मित्र उठ खड़े हुए। देवकुमार सोच में पड़ गये। उधर संतकुमार पिता पर बहुत नाराज हुआ। बोला, "जी चाहता है इन्हें गोली मार दूँ। मैं इन्हें बाप नहीं, शत्रु समझता हूँ।"

देवकुमार को धमकियों से झुकाना असंभव था, मगर तर्क के सामने उन की गरदन आप-ही-आप झुक जाती थी। इन दिनों वे यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है? कर्म और संसार का आश्रय ले कर वे कहीं नहीं पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिंदगी भर बड़ी-से-बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव

न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है, या घोर अनात्म ? बुद्धि जवाब देती, 'यहाँ सभी को अपनी शक्ति और साधनों के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है।' मगर शंका पूछती, 'सबको समान अवसर कहाँ है ? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे, वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सबका बराबर का अधिकार कैसे माना जाय ? इस तरह का आत्म-मंथन उनके जीवन में कभी नहीं हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से संतुष्ट तो हो ही नहीं सकती थी, पर मन के सामने अभी तक ऐसी कोई गुत्थी नहीं आयी थी जो प्रश्न को वैयक्तिक अंत तक ले जाती। इस समय उनकी दशा उस आदमी की-सी थी जो रोज मार्ग में ईंटें पड़ी देखता है, और बच कर निकल जाता है। रात को कितने लोगों को ठोकर लगती होगी, कितनों के हाथ-पैर टूटते होंगे, इसका ध्यान उसे नहीं आता। मगर एक दिन जब वह खुद रात को ठोकर खा कर अपने घुटने फोड़ लेता है तो उसकी निवारण-शक्ति हठ करने लगती है, और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटाने पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वहीं ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय ? कहाँ है ? एक गरीब आदमी किसी खेत में बालें नोच कर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँध कर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमा कर उन्हें गुलाम बना लेते हैं। वे लगान, टैक्स और महसूल तथा अन्य कितने ही नामों से उन्हें लूटना शुरू करते हैं, और आप लम्बे-लम्बे वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रँगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ?

वे सोचते रहे, और अंत में उनकी शंकाओं को इस धारणा से तसकीन हुई कि इस अनीति-भरे संसार में धर्म-अधर्म का विचार गलत है, आत्मघात है और जुआ खेल कर या दूसरों के लोभ और आसक्ति से फायदा उठाकर सम्पत्ति खड़ी करना उतना ही बुरा या अच्छा है, जितना कानूनी दाँव-पेच से। बेशक वह महाजन के बीस हजार के कर्जदार हैं। नीति कहती है कि उस जायदाद को बेच कर उसके बीस हजार दे दिये जायँ।

बाकी उन्हें मिल जाय।

देवकुमार इन्हीं विचारों के वश में सेठ गिरधरदास के पास पहुँचे। ये सेठ जी वही थे, जिनको जायदाद बेची गयी थी। भला सेठ जी जायदाद क्यों लौटाते ? वहाँ खासा गाली-गुफ्ता हुआ। देवकुमार भरे हुए लौटे।

उसी रात को सिनहा और संतकुमार ने एक बार फिर देवकुमार पर जोर डालने का निश्चय किया। दोनों आ कर खड़े ही हुए थे कि देवकुमार ने प्रोत्साहन के भाव से कहा, "तुम लोगों ने अभी तक मुआमला दायर नहीं किया ? नाहक क्यों देर कर रहे हो ?"

संतकुमार के सूखे हुए निराश मन में उल्लास की आँधी-सी आ गयी। क्या सचमुच कहीं ईश्वर है जिस पर उसे कभी विश्वास नहीं हुआ ? जरूर कोई दैवी शक्ति है। भीख माँगने आये थे, वरदान मिल गया।

पर रुपयों की आवश्यकता थी। इसी समय भाग्य से देवकुमार के भक्तों ने प्रस्ताव किया कि देवकुमार की साठवीं सालगिरह धूम-धाम से मनायी जाय और उन्हें मोटी थैली भेंट की जाय। एक राजा साहब इस कमेटी के सभापति बन गये। कुछ ही दिनों में थैली एकत्र हुई, और देवकुमार को भेंट की गयी। उनके मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।

यहीं पर प्रेमचंद का 'मंगल सूत्र' रुक जाता है। कहानी की गति से ही स्पष्ट है कि यह पुस्तक अधूरी भी नहीं हो पायी—वास्तव में अभी तो इसका प्रारंभ ही हुआ है। पता नहीं, पात्र-पात्रियों को लेखक कहाँ ले जाता। कहानी के केवल इतने भाग को देख कर यह कहना भी कठिन ही ज्ञात होता है कि कहानी किधर को जाती। इस पुस्तक का नाम 'मंगल सूत्र' रखा गया था। इससे इतना अनुमान करना तो असंगत न होगा कि वे इस कहानी को मानसिक रूप से अंत तक बना चुके थे और सारी कहानी ऐसी थी कि उस पर 'मंगल सूत्र' नाम लागू हो सकता था। कई लेखक ऐसे होते हैं जो कहानी की एक मोटी-सी कल्पना बनाने के बाद लिखते हैं। और कई ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें कलम पकड़ने के समय तक यह भी पता ही नहीं होता कि वे क्या लिखने जा रहे हैं। एक ही लेखक कभी पहले प्रकार से और कभी दूसरे प्रकार से भी लिख सकता है। इस पुस्तक का नामकरण हो चुका था, इससे यह अनुमान

करना शायद अनुचित न होगा कि प्रेमचंद जी कल्पना में 'मंगल-सूत्र' के मोटे-मोटे सूत्र तो अवश्य ही वना चुके थे, नहीं तो वे इसका नामकरण कैसे कर लेते ?

अव रही यह वात कि केवल 'मंगल सूत्र' नाम से इस संवंध में अनुमान किया जा सकता है या नहीं, कि इस कहानी का अंत किस प्रकार होता ? इस संवंध में मेरा वक्तव्य इतना ही है कि केवल नाम से कहानी की परिणति के संवंध में १०० में ९९ संभावनाएँ गलत हो सकती हैं और फिर ऐसे अटकलपच्चू अनुमानों से कोई उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता। पर इस विषय में कौतूहल होना स्वाभाविक है। इसी कौतूहल के वशवर्ती हो कर मैंने प्रेमचंद के सुपुत्र श्री श्रीपतराय को पत्र लिखा था, जिसके उत्तर में उन्होंने १८-५-५० को लिखा था—

"उन्होंने अपने अंतिम दिनों में अपने अंतिम और असमाप्त उपन्यास की आलोचना मेरे साथ की थी। वे 'गोदान' की तरह इसे बहुत-कुछ आत्मकथा-मूलक वनाना चाहते थे, पर 'गोदान' में जहाँ वातावरण दूसरा है, इसमें वह शहराती होता। इसमें वे अपने मानदंडों के अनुसार यह दिखाना चाहते थे कि सफलता के लिए चालाकी (craft) अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है। वे इस उपन्यास से यह दिखाना चाहते थे कि एक ईमानदार, परिश्रमी और सीधा-सादा आदमी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकता है जिसे देख कर लोग ईर्ष्या करें, और यह जगत् सुरुचिपूर्ण मान्यताओं के संपूर्ण विरुद्ध नहीं है। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे ऐसा समझते थे कि उन्हें अपने जीवन में सफलता प्राप्त हुई है, और ऐसा वे उचित कारणों से ही समझते थे, ऐसा मेरा अनुमान है। उनका जीवन ईमानदारी का एक मूर्त रूप था, जिसे युगों तक लोग याद करेंगे। इसे सभी मानते हैं और एक जीवन के लिए उन्होंने बहुत-कुछ किया यह भी निःसंदेह है।"

मेरे मित्र श्री श्रीपतराय के उक्त पत्र से 'मंगल सूत्र' के संवंध में दो निश्चित वातों का पता लगता है—

१. 'मंगल सूत्र' 'गोदान' की तरह आत्मकथामूलक होता।

२. उसका वातावरण ग्राम्य न हो कर शहरी होता।

जहाँ तक दूसरी बात का संवंध है उसका अनुमान तो 'मंगल सूत्र' का जितना भाग लिखा जा चुका है, उसी से किया जा सकता है। तो भी केवल

इन पृष्ठों को देख कर निश्चयपूर्वक कहना शायद ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रेमचंद ने 'गोदान' में ही शहर से गाँव और गाँव से शहर जाने का क्रम अनुसरण किया था। 'मंगल सूत्र' के पहले सौ पृष्ठों के शहरी जीवन से संबंधित होने पर भी प्रेमचंद बाद में किसी बहाने ग्राम्य जीवन में जा सकते थे।

रही 'मंगल सूत्र' के 'गोदान' की तरह आत्मकथा-मूलक होने की बात, सो इससे भी कुछ विशेष स्पष्टीकरण नहीं होता। क्या 'गोदान' आत्मकथा मूलक है? ऐसा किस अर्थ में कहा जा सकता है? ऐसे तो सभी उपन्यास अपने प्रणेता की आत्मकथा होते हैं, क्योंकि उपन्यास को उपन्यास बनाने के लिए यह जरूरी होता है कि उपन्यासकार उसे जी चुका हो। और काँटे की बात तो यह है कि उपन्यास के केवल एक पात्र या पात्री का नहीं, बल्कि सारे पात्रों तथा पात्रियों का जीवन जीना पड़ता है। यदि इस प्रकार के विस्तृत अर्थ में 'मंगल सूत्र' को उस महान् कलाकार की आत्मकथा कहा जाय, तो बात भली-भाँति समझ में आती है, पर इससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

इन कारणों से अनुमानों में न जा कर, जितना उपन्यास हमारे सामने है, उस पर थोड़े से शब्द कह देना अधिक युक्तियुक्त होगा। यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'मंगल सूत्र' में प्रेमचंद की कला अपने सर्वश्रेष्ठ निखार पर है। प्रेमचंद के उपन्यासों में (इनमें 'गोदान' को बहुत-कुछ अपवाद गिना जा सकता है) बहुत-से अंश ऐसे आते हैं, जिन्हें काट कर निकाल दिया जाय, तो कला में किसी प्रकार की कमी आने के बजाय वह निखरती है, पर 'मंगल सूत्र' में ऐसा एक भी वाक्य नहीं है।

एक तरह के वे उपन्यासकार होते हैं जो अपनी पहली ही रचना में कला के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए मालूम देते हैं, जैसे शरत्चंद्र। पर प्रेमचंद की कला में बराबर विकास होता रहा है। 'मंगल सूत्र' के उपलब्ध अंश में उनकी कला अपने सारे क्लेशों तथा आवर्जनाओं को हटा कर अलग कर चुकी है। इसी कारण उनकी मृत्यु पर और भी दुःख होता है। अस्तु!

ऐसा मालूम होता है कि इस उपन्यास में प्रेमचंद मध्यम तथा उच्च-

वर्ग का बहुत बड़े पैमाने पर पर्दा-फाश करने पर तुले हुए थे। दांपत्य प्रेम, वकालत, पिता-पुत्र का संबंध, साहित्यकार, धर्म और दर्शन किस प्रकार इस समाज में केवल क्रय-विक्रय के पण्य हैं, किस प्रकार सारे आदर्श-वादों के पीछे केवल जघन्य धन-पिपासा है, और इस कारण किस प्रकार यह समाज सड़ गल चुका है, इसे वे इस उपन्यास में दिखाने पर तुले हुए थे।

दुःख की बात है कि यह काम अधूरा ही रह गया, और इस 'मंगल सूत्र' का सूत्र बीच में ही टूट गया।

प्रेमचंद की कहानियाँ

प्रेमचंद ने अपने जीवन-काल में २५० के करीब कहानियाँ लिखीं, इसलिए कहानी लेखक के रूप में उनका महत्त्व उपन्यासकार के रूप में उनके महत्त्व से कम नहीं है। जैसे हमने उनके उपन्यासों के संबंध में यह किया कि प्रत्येक उपन्यास से पाठक का परिचय कराया, और उनकी समालोचना की, वैसा इन कहानियों के संबंध में करना न तो संभव ही है, और न वांछनीय ही है। इसलिए हम उनकी कुछ चुनी हुई कहानियों से ही पाठक का परिचय करायेंगे। स्वयं प्रेमचंद ने अपने मराठी अनुवादक को पत्र लिखते हुए (११-१-१९२८ को तथा फिर ४-४-१९२८ को) यह बतलाया था कि हमारी अमुक कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। यह जरूरी नहीं है कि प्रेमचंद स्वयं जिन कहानियों को अपनी कहानियों में सर्वश्रेष्ठ समझते थे वे ही वास्तव में सर्वश्रेष्ठ हों। रवीन्द्रनाथ ने जब अपनी कविताओं का चयन कराया था, तो यह देखा गया था कि कवि की अपनी कविताओं में कौन-सी कवितायें सर्वश्रेष्ठ हैं, इस संबंध में उनमें और उनके बहुत विद्वान् पाठकों में मतभेद है। जो कुछ भी हो रवीन्द्रनाथ के क्षेत्र में भी यह मालूम हुआ था कि कवीन्द्र के मत में तथा सुज्ञ पाठकों के मत में प्रभेद होते हुए भी वह प्रभेद बहुत अधिक नहीं है। इसलिए वर्तमान आलोचना में हम मुख्यतः प्रेमचंद ने जिन कहानियों को सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ बतलाया है, उन्हीं तक अपनी आलोचना को सीमित रखेंगे।

जिन कहानियों को प्रेमचंद अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी समझते थे, उनमें राजा हरदौल, रानी सारंधा, तथा शतरंज के खिलाड़ी भी हैं। हमने जो इन तीन कहानियों को अन्य सर्वश्रेष्ठ कहानियों से अलग करके गिनाया है इसका कारण यह है कि ये कहानियाँ एक बीते हुए युग के—ह्रासशील सामन्तवाद के युग के पात्रों तथा पात्रियों को ले कर लिखी गयी हैं। प्रेमचंद ने इसी युग को ले कर मर्यादा की वेदी, पाप का अग्निकुंड, जुगुनू की चमक, कामनातरु,

सती आदि कहानियाँ भी लिखी हैं। ये कहानियाँ बहुत कुछ रोमान्टिक ढंग पर लिखी गई हैं, अद्भुत वीरता, राजपूत की टेक (जो चंद्र टर जाय, सूर्य टर जाय, सारा जगत व्यवहार टर जाय, फिर भी नहीं टरती) प्रेम, सतीत्व आदि पर लिखी गयी हैं, और अद्भुत घटनावलियाँ इनके प्राण हैं। इन कहानियों की जाँच करते समय हम केवल एक ही कसौटी अपने सामने विशेष करके रख सकते हैं, वह यह है कि क्या प्रेमचंद इस ह्रासशील सामंतवादी वर्ग के प्रेम-विरह, मित्रता-विग्रह, सुख-दुख, मान-अपमान, आनवान, शंका तथा आशाओं को चित्रित करने में तथा उस युग को मूर्त करके हमारे सामने रखने में समर्थ हुए हैं या नहीं ? इस संबंध में एक बात यह स्मरण रहे कि हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि प्रेमचंद ने सज्ञान रूप से इस ह्रासशील सामंतवादी वर्ग के चित्रण करने की चेष्टा की है। हम समझते हैं, सत्य इससे कहीं दूर है, किंतु एक बहुत कुछ वस्तुवादी कलाकार के नाते, कहानी लिखने के आनंद में वे उस युग के संबंध में लिख गये हैं, और वस्तुस्थिति स्वयं ही उनमें आती गयी है। प्रेमचंद केवल कहानी लिख रहे थे, किंतु कलाकार की तीक्ष्ण दृष्टि के अधिकारी होने के कारण उनकी आँखें उस युग की सफेदी और स्याही पर लगी हुई थीं, इसलिए सज्ञान रूप से न लिखते हुए भी वे इस युग को अपनी इन कहानियों में रखने में समर्थ हुए हैं। हमें यह देखना है कि वे कहाँ तक इसमें सफल रहे हैं।

१—राजा हरदौल

'राजा हरदौल' बुंदेलखंड के संबंध में एक कहानी है। शाहजहाँ जिस समय दिल्ली के बादशाह थे उस समय खाँ जहाँ लोदी ने बलवा किया तो ओरछा के राजा जुझारसिंह ने दिल्दी के बादशाह की मदद की। इस सहायता के कारण जुझारसिंह को बादशाह ने दक्षिण का शासन भार सौंपा। दक्षिण की यात्रा के पहले राजा ने अपने छोटे भाई हरदौल को राजपाट सौंप दिया। उनकी रानी भी ओरछा में ही रह गयी। विदाई बहुत करुण रही। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी, किंतु हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था, सब मित्र ही थे। सारी प्रजा उन पर मुग्ध थी। होली आयी, इन्हीं दिनों दिल्ली का नामवर फेकैत कादिरखाँ ओरछा में आया। उसने लोगों को सूचना दी कि खुदा

का शेर, दिल्ली का कादिरखाँ, ओरछा आ पहुँचा है, जिसे अपनी जान भारी हो आ कर अपने भाग्य का निपटारा कर ले। ओरछे के बुंदेले सूरमा यह घमंडभरी वानी सुन कर गरम हो उठे।

राजा हरदौल स्वयं मैदान में उतरे। तलवार टूटने का डर था, इसलिए उन्होंने अपनी भाभी रानी कुलीना से तलवार माँगी। इस तलवार के लिए जुझारसिंह की आज्ञा थी कि किसी दूसरे की परछाई भी इस पर न पड़े, किंतु हरदौल के अनुरोध पर रानी ने तलवार दे दी। इस तलवार को ले कर राजा हरदौल युद्ध क्षेत्र में उतरे और उन्होंने कादिरखाँ को हरा दिया।

राजा जुझारसिंह लौट कर अपने राज्य में वापस आ रहे थे, वे रास्ते में विश्राम कर रहे थे, इतने में हरदौल के साथ बहुत से योद्धा शिकार करते हुए, उधर आ निकले। जुझारसिंह अकेले बैठे थे, किसी ने उनको देखा नहीं। थोड़ी देर में हरदौलसिंह की आँख उधर गयी तो घोड़े से कूद पड़े, और भाई को प्रणाम किया। राजा ने उठ कर हरदौल को छाती से लगाया, पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्ष्या ने घेर ली थी, और केवल इसलिए कि हरदौल दूर से नंगे पैर उनकी तरफ न दौड़ा। दोनों भाई राजमहल में गये। कुलीना ने स्वयं भोजन बनाया था, स्वयं थाल परोसे थे, और स्वयं ही सामने लायी थी, पर दिनों का चक्र कहो, या भाग्य के दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया, और चाँदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया। वह वर्ष भर से सोने के थाल में खाते-खाते उसका आदी हो गया था, पर जुझारसिंह तिलमिला गये। रात के समय कुलीना और राजा की भेंट हुई। दूर ही से रानी ने ताड़ लिया कि राजा क्रोध में है। कुलीना ने अपने अपराध की क्षमा माँगी, किंतु राजा ने कहा कि इसका प्रायश्चित्त करना होगा।

कुलीना — क्योंकर ?

राजा — हरदौल के खून से।

रानी बहुत उधेड़-बुन में पड़ गयी कि निर्दोष का क्योंकर वध किया जाय, वह बोली — मेरे खून से दाग न मिटेगा ?

राजा — तुम्हारे खून से और पक्का हो जायगा।

रानी — और कोई उपाय नहीं है ?

राजा –– नहीं।

अब एक दासी ये सब बातें सुन रही थी। उसने जा कर हरदौल को पूरा विवरण बता दिया। उसने यह तय कर लिया कि वह आत्म-दान करेगा। जुझारसिंह के सामने ही उन्होंने विष मिश्रित पान का बीड़ा खा लिया। सच बात तो यह है कि जुझारसिंह ने ही यह बीड़ा स्वयं उठा कर भाई को दिया था। यह पान कंठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गयी, और आँखें बुझ गयीं। जुझारसिंह अपनी जगह से जरा भी न हिले। उनके चेहरे पर ईर्ष्या से भरी हुई मुस्कराहट छायी हुई थी, पर आँखों में आँसू भर आये थे। उजेले और अँधेरे का मिलाप हो गया था।

२ —रानी सारंधा

यह कहानी भी बुंदेलखंड की ही है। अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत थे। उनकी बहिन सारंधा थीं।

यथासमय सारंधा की शादी ओरछा कुलतिलक राजा चंपतराय से हुई। राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं। घटनाचक्र से चंपतराय मुगल बादशाह के आश्रित हो गये। जब औरंगजेब गद्दी का मालिक हुआ उसने राजा चंपतराय को बारहहजारी मन्सब दे दिया।

परन्तु रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्यपद और राज्यसम्मान सब हाथ से खोया, और केवल इतना नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोये।

इसके बाद चंपतराय ओरछा में लौटे, किंतु वहाँ भी उन्हें शांति न मिली। साथियों में बहुतों ने उन्हें छोड़ दिया, दगा कर गये, यहाँ तक कि उन्हें ओरछा छोड़ देना पड़ा, और सघन पर्वतों में छिपे रहे। अंत में बादशाही सेना ने भी उन पर हमला बोल दिया। राजा चंपतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित थे। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी थी। उन्हें देख कर लोगों को कुछ ढारस रहता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे किले में नैराश्य छाया हुआ था। रानी ने सलाह दी कि किला छोड़ कर चल दिया जाय, किंतु राजा ने कहा जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारधा—लेकिन यहाँ रह कर हम उनकी कुछ मदद भी तो नही कर सकते।

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते है।

सारधा ने लज्जित हो कर सिर झुका लिया, और सोचने लगी, अपने प्रिय साथियो को आग की आँच मे छोड कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। अत ने उसने राजा से कहा—यदि आपको विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तब तो चलने मे कोई बाधा न होगी।

राजा—(सोच कर) कौन विश्वास दिलायेगा?

सारधा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञा-पत्र।

रानी ने छत्रसाल को बुलाया और बादशाह के सेनापति के पास भेज दिया। अत मे वह प्रतिज्ञा-पत्र मिल गया, किंतु छत्रसाल के दामो पर। चपतराय वहाँ से निकल गये तो बीच रास्ते मे बादशाह की सेना ने उनकी डोली घेर ली। राजा बीमार होते हुए भी तलवार लेकर झपटे किंतु गिर पडे। चपतराय यह नही चाहते थे कि गिरफ्तार हो कर दिल्ली के कैदखानो मे सडे, उन्होने रानी से कहा—तुमने मेरी बात कभी नही टाली।

सारधा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अंतिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारधा यह समझी कि राजा यह कह रहे है कि वह (सारधा) आत्महत्या कर ले। राजा ने कहा—मै तुमसे एक बरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिए।

राजा—यह मेरी अंतिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो तुमने वचन दिया है, इनकार न करना।

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती मे चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बादशाह के सिपाही राजा की तरफ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खडी रही। फिर सारधा ने दामिनी की भाँति लपक कर अपनी

तलवार राजा के हृदय मे चुभा दी। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शांति छायी हुई थी। बादशाही सिपाहियों के सरदार ने आगे बढ कर कहा — रानी साहबा, खुदा गवाह है, हम सब आप के गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे बसरो चश्म बजा लायेगे।

सारधा ने कहा — अगर हमारे पुत्रो मे से कोई जीवित हो, तो ये दोनो लाशे उसे सौप देना।

यह कह कर उसने वही तलवार अपने हृदय मे चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी, तो उसका सिर राजा चपतराय की छाती पर था।

३ — मर्यादा की वेदी

इस कहानी को प्रेमचद जी ने या किसी भी समालोचक ने सर्वश्रेष्ठ कहानियो मे नही लिखा है। इसलिए हम इस कहानी के सबध मे बहुत सक्षेप मे केवल इतना ही कह देगे कि इस कहानी मे भी सामतवाद के युग का एक पहलू चित्रित है। इस कहानी का कथानक यो है कि झालावाड की राजकुमारी प्रभा का विवाह मदार के राजकुमार के साथ तय हुआ था। राजकुमारी इस राजकुमार से प्रेम भी करने लगी थी। विवाह की सब तैयारियाँ हो चुकी है, इतने मे चित्तौड के राणा आते है, और आ कर राजकुमारी को हरण करके ले जाते है। प्रभा चित्तौड मे उदास रहती थी। राणा भी उसे उदास देख कर उसके पास नही आते थे। इतने मे एक दिन मदार के राजकुमार किसी प्रकार मौका लगा कर राजमहल मे घुस आये और उन्होने राजकुमारी से अनुरोध किया कि मेरे साथ चलो, किंतु प्रभा ने ऐसा करने से इनकार किया। प्रभा का कहना यह था कि ससार की दृष्टि मे वह चित्तौड की रानी हो चुकी है, अब राणा जिस भाँति उसे रखेगे, उस भाँति रहेगी। वह अत समय तक उनसे घृणा करेगी, जलेगी, कुढेगी, जब जलन न सही जायगी, विष खा लेगी, या छाती मे कटार मार कर मर जायगी, किंतु इसी भवन मे। वह इस घर से बाहर कदापि पैर न रखेगी। अब राजकुमार ने जो ये बाते सुनी तो वह आपे से बाहर हो गये, और उन्होने उग्रभाव से कहा कि यदि मै तुम्हे यहाँ से उठा ले जाऊँ। प्रभा बोली — तो मै वही करूँगी, जो ऐसी अवस्था मे क्षत्राणियाँ किया करती है,

या तो अपने गले में छुरी मार लूँगी, या तुम्हारे गले में।

राजकुमार ने इस पर ताना देते हुए कहा कि जिस समय राणा तुमको उठा लाये थे, उस समय यह छुरी कहाँ गयी थी? प्रभा को यह कटुवचन बहुत बुरा लगा, और उसने बताया—उस समय छुरी के एक वार से खून की नदी बहने लगती। मैं नहीं चाहती थी कि मेरे कारण मेरे भाई-बंधुओं की जान जाय। इसके सिवाय मैं कुँवारी थी। मेरी मर्यादा के भंग होने का कोई भय नहीं था.....

बात-बात में बात बढ़ गयी, और राजकुमार ने तलवार खींच ली, और प्रभा की तरफ़ लपके, इतने में पीछे से राणा लपक कर आये। दोनों में युद्ध हुआ, प्रभा बीच में आ गयी, राणा की तलवार का पूरा हाथ उसके कंधे पर पड़ा, रक्त की फुहार छूटने लगी। "प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण हुए राजकुमार प्रभा पर तलवार ले कर झपटा था। उसके खून का प्यासा था। ईर्ष्या की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी, वह रुधिर की धारा से शांत हो गयी। कुछ देर तक वह अचेत बैठा रोता रहा। फिर उठा, और उसने तलवार उठा कर जोर से अपनी छाती में चुभो ली। फिर रक्त की फुहार निकली, दोनों धाराएँ मिल गयीं और उनमें कोई भेद नहीं रहा। प्रभा उसके साथ चलने पर राजी न थी। किंतु वह प्रेम के बंधन को तोड़ न सके। दोनों उस घर ही से नहीं संसार से एक साथ सिधारे।"

४—पाप का अग्निकुंड

पाप का अग्निकुंड भी इसी पहलू की एक कहानी है। कुँवर पृथ्वीसिंह महाराज जसवंतसिंह के पुत्र थे, इनकी एक बहिन राजनन्दिनी भी भाई की तरह सर्वगुण संपन्न थी। इसका ब्याह कुँवर धर्मसिंह से हुआ। पृथ्वीसिंह की स्त्री दुर्गा कुँवारी बहुत सुशीला और चतुरा थी। ननद-भावज में बहुत सद्भाव था। एक दिन जब पृथ्वीसिंह और धर्मसिंह महाराज के साथ अफगानिस्तान की मुहोम पर गये थे, उस समय व्रजविलासिनी नामक एक विदुषी स्त्री से राजनन्दिनी और दुर्गा कुँवारी की मुलाकात हुई। यह स्त्री गुप्त रूप से एक व्रत धारण किये हुए थी। उसके व्रत का उद्भव यों हुआ था कि एक दिन वह अपने द्वार पर खड़ी थी, इतने में उसकी प्यारी गाय मोहिनी जंगल से लौटी, तो वहाँ उसका बच्चा एक सजीले राजपूत से टकरा गया। गाय उस

राजपूत पर झपटी। राजपूत ने शायद सोचा कि यदि भागता हूँ तो कलंक का टीका लगता है, तुरन्त तलवार म्यान से खींच ली और गाय पर झपटा। राजपूत ने उस गाय को जान से मार डाला। इतने में व्रजविलासिनी के पिता वहाँ पर आये, और उन्होंने गाय को मरी हुई पाया तब बहुत झल्ला गये। तथा उस राजपूत से लड़ते हुए घायल हुए। अन्त समय व्रजविलासिनी के पिता ने अपनी बेटी से कहा कि चूँकि उनका कोई बेटा नहीं है, इसलिए इसका बदला लेने का भार उसी पर है, उन्होंने अपनी तलवार देते हुए कहा—'यह मेरी तलवार लो, जब तक तुम यह तलवार उस राजपूत के कलेजे में भोंक न दो तब तक भोग-विलास न करना।' यह कह कर पिता तो चल बसे, और व्रजविलासिनी उस राजपूत को ढूँढ़ने लगी। इसी हालत में वह इन राजकुमारियों के पास पहुँची थी।

राजकुमारियों ने व्रजविलासिनी के साथ हमदर्दी जाहिर की। बहुत दिनों बाद धर्मसिंह और पृथ्वीसिंह मुहीम से लौटे। उनका स्वागत हुआ, अब व्रजविलासिनी ने देखा तो धर्मसिंह ही वे राजपूत निकले। इधर पृथ्वीसिंह की स्त्री ने पृथ्वीसिंह को व्रजविलासिनी की टेक के संबंध में बताया और उनसे प्रतिज्ञा करा ली, कि यदि वह दुष्ट राजपूत मिल गया तो वे उससे बदला लेंगे, उसे मालूम नहीं था कि धर्मसिंह ही वह व्यक्ति है, जिसकी तलाश व्रजविलासिनी कर रही थी। धर्मसिंह और पृथ्वीसिंह अफगानिस्तान से लौटने के दूसरे दिन शिकार पर गये, वहाँ पृथ्वीसिंह ने अपने साथी को यह बतलाया कि उन्होंने तय कर लिया है कि वे उस दुष्ट का वध करेंगे जिसने व्रजविलासिनी को सताया है। धर्मसिंह ने पूछा कि यदि वह तुम्हारा कोई नातेदार हो तो भी इस प्रतिज्ञा को निभाओगे, पृथ्वीसिंह ने कड़क कर कहा—'कोई हो, यदि वह मेरा भाई भी हो तो भी जीता चुनवा दूँ।' अंत में धर्मसिंह ने यह बताया कि वह स्वयं ही वह व्यक्ति है। पृथ्वीसिंह ने घबड़ा कर कहा—ऐं, तुम ?—मैं।

धर्मसिंह—राजपूत, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो।

इतना सुनते ही पृथ्वीसिंह ने बिजली की तरह कमर से तेगा खींच लिया, और उसे धर्मसिंह के सीने में चुभो दिया। धर्मसिंह जमीन पर गिर कर धीरे से बोले —'पृथ्वीसिंह, मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, तुम सच्चे वीर हो। तुमने पुरुष का कर्त्तव्य पुरुष की भाँति पालन किया। पृथ्वीसिंह यह सुन कर ज़मीन पर बैठ गये और रोने लगे। राजनंदिनी अपने पति के साथ सती होने को तैयार हो गयी।

कुँवर पृथ्वीसिह हाथ जोडकर सती से अपने अपराध की क्षमा माँगने लगे, किंतु सती ने उत्तर दिया — 'क्षमा नहीं हो सकती। तुमने एक नौजवान राजपूत की जान ली है, तुम भी जवानी मे मारे जाओगे।' बाद को सती का यह वचन पूरा हुआ। इस पर प्रेमचद जी अत मे कहते है — 'पाप की आग कैसी तेज होती है? एक पाप ने कितनी जान ली? राजवश के दो कुमार और दो कुमारियाँ देखते-देखते इस अग्निकुड मे स्वाहा हो गयी। सती का वचन सच हुआ, और सात ही सप्ताह के भीतर पृथ्वीसिह दिल्ली मे कत्ल किये गये, और दुर्गाकुमारी सती हो गयी।'

५ — जुगनू की चमक

पजाब के सिह राजा रणजीतसिह के मरने के बाद उनका सुन्दर किंतु खोखला भवन अब नष्ट हो गया था। कुँवर दिलीपसिह अब इगलैड मे थे और रानी चद्रकुँवारी चुनार के दुर्ग मे कैद थी। कथा केवल इतनी है कि वे एक दिन मोका पाकर चुनार के दुर्ग से भाग निकली, और भिखारिन के भेष मे इधर-उधर घूमने लगी। एक जगह उनसे नैपाल के एक सरदार की भेट हो गयी, और उन्होने उनसे कहा कि वे चल कर नैपाल के राजा के यहाँ आश्रय ले। रानी ने आश्चर्य से कहा कि नैपाल कब हमारा मित्र रहा है, वही जग-बहादुर तो है जो अभी-अभी हमारे विरुद्ध लार्ड डलहौजी को सहायता देने पर उद्यत था। इस पर उस नैपाली ने कहा — 'तब आप महारानी चन्द्रकुँवारी थी, आज आप भिखारिणी है। ऐश्वर्य के द्वेषी और शत्रु चारो ओर होते है, लोग जलती हुई आग को पानी से बुझाते है, पर राख माथे पर चढायी जाती है।'

महारानी ने जा कर नैपाल मे आश्रय लिया, किंतु राजसभा मे इस पर बडा झगड़ा मचा। बहुतो ने आपत्ति की कि अँगरेज सरकार हमारी मित्र सरकार है, अतएव उसके शत्रु को आश्रय देना उचित न होगा। अत मे राणा जगबहादुर ने शरणागत पालन धर्म के अनुसार लोगो को समझाया, और लोगो ने आपत्ति वापिस ले ली। राणा ने अपनी राज-सभा को यह विश्वास दिलवाया कि रानी यहाँ पर एक व्यक्ति की तरह रहेगी न कि षड्यत्रकारिणी की तरह। नेपाल की राजसभा ने पचीस हजार रुपये से महारानी के लिए एक उत्तम भवन बनवा दिया, और उनके लिए दस हजार रुपये मासिक नियत कर दिया। पोलिटिकल रेजिडेंट ने गवर्नमेंट को रिपोर्ट दी, इस बात की शका की थी कि गवर्नमेंट

आफ इंडिया और नेपाल के बीच कुछ खिंचाव हो जाय, किंतु गवर्नमेंट को राणा जंगवहादुर पर पूर्ण विश्वास था, और जब नेपाल की राज-सभा ने विश्वास और संतोष दिलाया कि महारानी चंद्रकुँवारी को किसी शत्रु भाव के प्रयत्न का अवसर न दिया जायेगा, तो भारत सरकार को भी संतोष हो गया। इस घटना को भारतीय इतिहास की अँधेरी रात में 'जुगनू की चमक' कहना चाहिए।

६ — शतरंज के खिलाड़ी

शतरंज के खिलाड़ी नामक कहानी को स्वयं प्रेमचंद जी ने अपनी उत्कृष्टतम कहानियों में गिना है, और इसमें संदेह नहीं कि वह एक बहुत अच्छी कहानी है। जिस प्रकार की कहानियों के संबंध में अब तक हमने आलोचना की है, उन कहानियों में यह कहानी सर्वश्रेष्ठ है। इस कहानी में ह्रास-शील सामंतवाद का इतना सुन्दर चित्र खींचा गया है कि बहुत बड़ी पुस्तक लिख करके भी इस मरणशीलता को इतना मूर्त नहीं किया जा सकता था। जिस समय सामंतवाद का उदय हुआ था, तथा जिस समय वह एक प्रगतिशील सामाजिक शक्ति थी, उस समय उसका रंग ही कुछ और था। किंतु अब उसकी अमावस्या आ चुकी है। प्रेमचंद इस कहानी में इतने सफल हैं कि वे एक सज्ञान कलाकार के रूप में हमारी आँखों के सामने आते हैं। डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने इस कहानी के संबंध में यह जो लिखा है कि 'मीर और मिर्जा तो केवल निमित्त मात्र हैं, कहानी का प्रधान उद्देश्य तो शतरंज की लत का कलापूर्ण चित्रण है'[1] यह बिलकुल गलत है। डाक्टर साहब ने इस प्रकार प्रेमचंद की कला को समझा ही नहीं और उसे बिलकुल ही छोटा कर दिया। अवश्य ही शतरंज की लत दिखाना लेखक का उद्देश्य है, किंतु उन्होंने इस लत के जरिये से कुछ दूसरी ही बातें दिखलायी हैं, जिनको डाक्टर साहब समझने में संपूर्णरूप से असमर्थ रहे। केवल यही नहीं जो बात इस कहानी का सबसे बड़ा गुण है—और वह है एक पूरे युग के सागर को एक कहानी के छोटे से गागर में भरकर पेश कर देना, उसी को डाक्टर साहब ने इस कहानी का अवगुण बताया है। उन्होंने लिखा है—'प्रेमचंद के शतरंज के खिलाड़ी को ले लीजिए। लेखक ने पहले वाजिदअली

[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३३६।

शाह के समय में लखनऊ के विलासमय जीवन का सुंदर चित्र खींचा है। इस वातावरण ने कहानी को अनुरंजित अवश्य कर दिया, परंतु इससे कथानक के विकास में सहायता नहीं मिलती। कथानक का विकास तो शतरंज खेलने के अपूर्व आनंद की भावना से होता है। कहानी के पात्र तो केवल निमित्त मात्र हैं।' यह कहना कि इस कहानी में वातावरण से कथानक के विकास में सहायता नहीं मिलती, तथा कथानक की सारभूत बात शतरंज खेलने का आनन्द है, लालबुझक्कड़ी की हद है। हमें आश्चर्य है कि डाक्टर साहब ने इतनी भारी गलती कर डाली। विशेषकर आश्चर्य इसलिए है कि स्वयं प्रेमचंद इस कहानी में पाठक का हाथ पकड़ कर और उसकी आँखों में उँगली डाल कर बता देते हैं कि वे क्या दिखाने जा रहे हैं। इस कहानी में प्रेमचंद एक बहुत ही सज्ञान कलाकार के रूप में प्रकट होते हैं, और किसी भी प्रकार इस संबंध में गलती नहीं हो सकती थी कि उनका अभिप्राय क्या है। शुरू से आखिर तक यह कहानी उस समय के समाज के चित्रण से भरी हुई है। जैसे एक कार्टूनिस्ट अपनी विषय-वस्तु को चित्रित किसी व्यक्ति की नाक बड़ी करके या कान बड़ा करके या अन्य किसी प्रकार से स्पष्ट करता है, जैसे कोई हास्यरस का लेखक समाज के किसी दुर्गुण को लेकर उसका मजाक बना कर उसकी ओर दृष्टि आकर्षित करता है, उसी प्रकार प्रेमचंद जी ने शतरंज की लत को अपनी कला के वाहन के रूप में चुना है, इसलिए उस लत को ही इस कहानी का सर्वस्व समझ लेना या यह समझ लेना कि प्रेमचंद का उद्देश्य केवल शतरंज की लत पर फब्तियाँ कसना है, यह बिल्कुल ही उसकी कला को न समझना है, तथा उसका अपमान करना है। क्या कोई कलाकार ऐसा कहेगा कि मैं यह कहना चाहता हूँ, मेरा यह उद्देश्य है, मेरे व्यंग का निशाना अमुक गुण है? कभी नहीं। फिर भी इस कहानी में प्रेमचंद जी ने कला के दायरे में रहते हुए जितनी भी स्पष्टता के साथ अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया जा सकता था, उन्होंने किया है। हम इस कहानी की तथा पतनशील सामंतवाद के संबंध में उनकी जिन कहानियों के साथ हमने पाठक का परिचय कराया है, उनकी विस्तृत समालोचना करेंगे, किंतु ऐसा करने के पहले हम अपने नियमानुसार शतरंज के खिलाड़ी का संक्षिप्त विवरण पाठक के सामने पेश करेंगे। इस कहानी की उत्कृष्टता के कारण हम अन्य कहानियों के मुकाबिले में कुछ तफसील में इसका सारसंकलन करेंगे, विशेष-

कर हम उस हिस्से को ज्यों का त्यों उद्धृत करने की चेष्टा करेंगे जो पतन शील सामंतवाद के चित्र को हमारे समाने मूर्त करता है।

यह कहानी लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिदअली शाह के समय को चित्रित करती है। 'लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक के मजे लेता था।' स्मरण रहे यहाँ पर प्रेमचंद जी ने छोटे-बड़े, अमीर-गरीब शब्द का प्रयोग किया है, वह सामंत-वादीवर्ग में छोटे-बड़े तथा अमीर-गरीब का अर्थ रखता है, इससे उन अर्द्ध-गुलामों का मतलब नहीं लेना चाहिए, जिनकी हड्डियों के ढेर पर यह विलासिता का दौरदौरा चल रहा था। 'जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन विभाग में, साहित्यक्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कलाकौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुर्मे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज-गार करने में लिप्त थे।' समाजवादी साहित्य की भाषा में सभी श्रम इस समय विलासिता के द्रव्यों के उत्पादन में लगा हुआ था।

'सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली वदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है, पौबारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है।' यहाँ पर डाक्टर श्रीकृष्णलाल को देख लेना चाहिए कि शतरंज की अधिकता केवल समाज के रोगों में से एक रोग था, रहा यह कि प्रेमचंद जी ने शतरंज को ही अपनी कला का वाहन क्यों बनाया यह समझना कोई कठिन नहीं है। शतरंज सर्वजनबोध्य खेल होने के कारण तथा उसके जरिये से रस का परिपाक अधिक अच्छी तरह हो सकता है, इस कारण प्रेमचंद जी ने एक कलाकार की पैनी दृष्टि से इसी को अपना वाहन बनाया। आगे प्रेमचंद जी लिखते हैं—'राजा से रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न खाकर अफीम खाते या मादक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचारशक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें

ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं।' संक्षेप में यह कि लोगों ने अपनी अकर्मण्य आदतों के समर्थन में उसी के अनुरूप विचारधारा भी उत्पन्न की थी।

आगे कहानी यह है कि मिर्जा सज्जादअली और मीर रोशन अली अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे। दोनों के पास मौरूसी जागीरें थी, जीविका की कोई चिंता न थी, घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। दोनों मित्र मुँह अँधेरे घर से निकल खड़े होते, बगल में एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती पार की एक पुरानी मसजिद में चले जाते, और वहाँ पर शतरंज की चालें होतीं। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जा कर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पी कर फिर संग्राम क्षेत्र में डट जाते। इसी तरह चलता रहा। एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खंडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे, मीर साहब की बाजी कुछ कमजोर थी। मिर्जा साहब उन्हें किश्त पर किंश्त दे रहे थे। इतने में गोरी फौज दिखाई दी जो लखनऊ पर आक्रमण करने जा रही थी।

मीर साहब बोले — अँगरेजी फौज आ रही है, खुदा खैर करे।

मिर्जा — आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त।

मीर — जरा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिर्जा — देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त।

मीर — तोपखाना भी है, कोई पाँच हजार आदमी होंगे, कैसे जवान हैं, लाल बंदरों के से मुँह हैं, सूरत देखकर खौफ मालूम होता है।

मिर्जा — जनाब हिल्ले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा — यह किश्त।

मीर — आप भी अजीब आदमी हैं, यहाँ तो शहर पर आफत आयी हुई है, और आप को किश्त की सूझी है। कुछ इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया तो घर कैसे चलेंगे?

मिर्जा—जब घर चलने का वक्त आयेगा तो देखा जायगा, यह किश्त। बस, अब की शह में मात है।

फौज निकल गयी। फिर बाजी बिछी। मीर साहब इस बात के लिए व्याकुल थे कि बदला लिया जाय। यह बाजी रात को दस बजे शुरू हुई। अबकी खेलते-खेलते रात खतम होने लगी। इस अवसर का वर्णन प्रेमचंद ने

बहुत ही मार्मिक शब्दों में यों किया है — 'चार का गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न कोई मार-काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। अब तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था जिस पर बड़े से बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनैतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।'

यह कहानी यहीं खतम हो सकती थी किंतु प्रेमचंद को यह भी दिखलाना था कि वैयक्तिक रूप से लोग बिल्कुल बुजदिल हो गये हों, ऐसी बात नहीं थी, किन्तु नवाब के लिए तथा नवाबी के लिए उनके दिल में कोई स्थान नहीं था। एक दिन मिर्जा जी की हार पर हार हो रही थी। दोनों में चोंचें होने लगीं। मोहरा उठाने पर झगड़ा हो गया। एक ने कहा चाल हो गयी, दूसरे ने कहा नहीं। तकरार बढ़ने लगी। 'दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी जमाना था, सभी तलवार, पेशकब्ज, कटार वगैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे, पर कायर न थे। उनमें राजनैतिक भावों का अधःपतन हो गया था — बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें? पर व्यक्तिगत वीरता का भाव कम न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाजें आयीं। दोनों जख्म खा कर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्होंने शतरंज के वजीर की रक्षा में प्राण दे दिये।'

× × ×

यों तो हम प्रेमचंद की सब कहानियों की एक साथ आलोचना करेंगे, किंतु यहाँ पर सामंतवादी युग के पतनकाल की जिन छः कहानियों का सार संकलन कर हमने पाठकों के सम्मुख रखा उनके संबन्ध में हम सामूहिक रूप से दो-चार शब्द कहेंगे।

हमने जिन छः कहानियों को विशेष समालोचना के लिए इस संबंध में चुना है, उनमें से शतरंज के खिलाड़ी को छोड़ कर सभी कहानियाँ नवनिधि

नामक गल्प-संग्रह में प्रकाशित हुई हैं।

किसी प्राचीन युग को मूर्त कर देना, उसके कंकाल में रक्त मांस का संचार कर उसकी धमनियों में जीवन की धारा बहा देना, यह बहुत ही कठिन बात है, कम से कम वर्तमान युग जिसमें हम जी रहे हैं, उसको मूर्त करने से यह काम कहीं अधिक कठिन है, यह हम मानते हैं। ऐतिहासिक कहानी तभी खच्चर हो जायेगी जब लेखक जिस युग का तथा जिस समाज का चित्रण कर रहा है, उसको चित्रित करने में वर्तमान युग का पुट उसमें डाल दे, तथा उस पर वर्तमान युग की भावनाओं का आरोप करे; और हम जानते हैं कि कलाकार कितना भी वस्तु तांत्रिक हो, वह एक हद तक ऐसा करेगा ही, क्योंकि कहानी जिस जनता के लिए लिखी जाती है, उसके लिए वह तव तक दुर्बोध्य रहेगी, जब तक उसे कुछ हद तक वर्तमान का जामा पहना कर पेश न किया जाय। फिर भी जैसा कि हम देखेंगे इस बाधा के बावजूद प्रेमचंद इन कहानियों में बड़ी हद तक सफल रहे हैं।

रहा एक समालोचक ने यह जो लिखा है कि ऐतिहासिक चरित्रों को ले कर कहानीकार अपनी सब स्वतंत्रता खो देता है, क्या यह बात उसी हद तक वर्तमान युग के चरित्रों के लिए लागू नहीं है। आखिर जिस स्वतंत्रता के खो जाने की बात इस संबंध में कही गयी है, उसका स्वरूप क्या है ? किसी भी हालत में लेखक जिस युग, जिस समाज तथा जिस टाइप की सृष्टि कर रहा है, उससे बँधा तो रहेगा ही। इसके लिए भूतकाल और वर्तमान काल की कोई बंदिश नहीं है। कलाकार स्वतंत्र तभी हो सकता है जब वह कला का गला घोट दे अन्यथा नहीं। कलाकार को जो कुछ स्वतंत्रता है, वह केवल यही है कि वह अपने व्यक्तियों, टाइपों, समाज तथा युग को चुने। कलाकार को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह एक विशेष पहलू को, या कई पहलुओं को दिखलावे, किंतु उसे यह स्वतंत्रता कदापि नहीं है कि वह अपने पात्रों से मनमानी करवाये। कलाकार व्यक्ति, समाज, युग के नियमों को जान कर ही उनका प्रयोग कर सकता है, उन नियमों को बना या बिगाड़ नहीं सकता है। इसलिए जो स्वतंत्रता उसे है ही नहीं उसके लिए विलाप करना व्यर्थ है।

प्रेमचंद ने स्वयं ही यह लिखा है— 'किसी ने बहुत ठीक कहा है कि कहानी में नाम और सन् के सिवाय सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवाय

कुछ भी सत्य नहीं है।' गाँकुर्त बंधु ने इसी से मिलती-जुलती एक बात कही है 'Lhistoire est du roman qui a ete, le roman est de l' histoire qui aurait pu etre अर्थात् इतिहास एक ऐसा उपन्यास है जो कभी हो चुका है, और उपन्यास एक ऐसा इतिहास है जो हो सकता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस हद तक उपन्यास लेखक को स्वतंत्रता है, और किस हद तक उसे स्वतंत्रता नहीं है। उपन्यासकार को ऐतिहासिक उपन्यास की रचना में उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी वर्तमान-कालीन उपन्यास की रचना में है, हाँ केवल फर्क यह है कि वह अपने समय से अधिक परिचित होने के कारण इसमें अधिक अच्छी तरह विचरण कर सकता है, इसके अतिरिक्त कोई और विशेषता नहीं है।

प्रेमचंद की ऐतिहासिक कहानियों तथा कर्बला नाटक को जब हम देखते हैं तो उन्हें संपूर्णरूप से साम्प्रदायिकता से दोपमुक्त पाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद बंकिम आदि से आगे के युग के कथाकार हैं। जबकि बंकिम-रमेश की रचनाओं को आगामी अखिल भारतीय राष्ट्रीयता (वह चाहे लोकतांत्रिक राष्ट्रीयता हो या समाजवादी राष्ट्रीयता हो) में कोई प्रत्यक्ष स्थान नहीं मिलेगा, हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि प्रेमचंद की ऐतिहासिक कहानियों को आगामी युग में भी स्थान प्राप्त होगा। रही इन कहानियों की कला, सो इस पर हम आगे विचार करते हैं।

राजा हरदौल कहानी में हम सामंत सरदारों की बहादुरी को हरदौल में मूर्त पाते हैं, किंतु इस बहादुरी पर स्पष्ट ही सामंतवाद के युग का ठप्पा लगा हुआ है। हरदौल जब देखते हैं कि कादिरखाँ के सामने ओरछा का कोई सूरमा टिक न सका, तो वह स्वयं ताल ठोक कर सामने आते हैं। हरदौल और जुझारसिंह के संबंध में हम उस युग के सामंतवादियों में भाइयों में जैसा बर्ताव होता था, उसे मूर्त देख सकते हैं। एक तरफ तो इतना प्रेम कि राज्य सौंप गये, दूसरी तरफ केवल नंगे पाँव आगे बढ़ कर अगुवानी न करने के लिए भाई पर शक किया जाता है, और उसे मार डालने की इच्छा प्रकट की जाती है। हरदौल खुशी से विष का बीड़ा खा लेता है; वीरता है, किंतु कितनी सड़ी-गली किस्म की वीरता है कि जिससे न तो कोई समाज को ही फायदा है, और न उस वर्ग को ही फायदा है जिसका वह सदस्य है, बल्कि ऐसी वीरताओं से

वह वर्ग और भी कमजोर पड़ा।

यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचंद ने यह जो कहानी लिखी है, यह कपोलकल्पित नहीं, बल्कि वास्तविक ऐतिहासिक नामों तथा उपकरणों को ले कर लिखी गयी है। Modern Review की मई १६४५ की संख्या में श्री अम्बिकाप्रसाद दिव्य ने बुंदेलखंड के एक लोकगीत की आलोचना की है, उससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि प्रेमचंद ने केवल एक पुरानी कहानी को एक नया रूप दिया है। अवश्य जैसा कि हम देखेंगे इस नये संस्करण में उस कहानी का रूप बिल्कुल बदल गया है। जहाँ मौलिक कहानी में केवल थोड़ी-सी घटनाएँ हैं वहाँ प्रेमचंद के हाथों में इस कहानी ने एक जटिल रूप धारण किया है। श्री वर्मा के अनुसार लोकगीतों में इस कहानी का रूप यों था—'जुझारसिंह का हरदौल नामक एक भाई था। जुझारसिंह की स्त्री महारानी का हरदौल के प्रति मातृ-स्नेह का व्यवहार था, और वह अक्सर हरदौल से मिला करती थी। कुछ दुष्टों ने इस संबंध का अपर्थ लगाया, और इस संबंध में महाराजा के कानों में कुत्सा पहुँचायी। जुझारसिंह को रानी पर शक हो गया, और उन्होंने रानी के सामने एक बड़ी भारी परीक्षा रख दी। महारानी से यह कहा गया कि वह हरदौल को खाना खाने बुलावें, और उसे खाने के साथ विष खिला दें। महारानी ने बहुतेरा अपने निर्दोष होने की बात कही, किंतु राजा ने एक न सुनी। अंत में उन्हें पति का आदेश मान कर हरदौल को विष दे कर मारना पड़ा। हरदौल पहले ही से राजा के मन की बात जान गये थे, और एक 'शहीद की तरह' मृत्यु प्राप्त की।' संभव है इसी प्रकार रानी सारंधा आदि कहानी भी ऐतिहासिक उपकरणों पर लिखित हों, किंतु उनका पता हमें न लग सका।

प्रेमचंद ने बहुत संभव है इन कहानियों में ऐतिहासिक नाम और घटनाओं पर अपनी कहानियों को आधारित रखा है, किंतु ऐतिहासिक कहानी या उपन्यास लिखने के लिए यह जरूरी नहीं है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं को ले कर ही ये उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी जायँ। ऐतिहासिक उपन्यास तथा कहानी के लेखक के लिए केवल एक बात अत्यावश्यक है कि वह अपने युग अर्थात् जिस युग का वह वर्णन कर रहा है, उसके प्रति अर्थात् उस समय के सामाजिक संबंधों के प्रति सच्चा रहे। ऐसा रहने के बाद उसका मन चाहे तो बिलकुल ही काल्पनिक व्यक्तियों को ले कर अपनी रचना तैयार कर

सकता है, अवश्य यहाँ काल्पनिक व्यक्ति से अर्थ ऊलजलूल चरित्र से नहीं है, क्योंकि किसी भी हालत में उस चरित्र को समय के तथा युग के प्रति सच्चा तो रखना ही पड़ेगा। इसलिए वह केवल इस अर्थ में ही काल्पनिक हो सकता है कि वह अनैतिहासिक है, किंतु फिर भी वह उस युग की दृष्टि से असंभव चरित्र नहीं है।

रानी सारंधा कहानी में रानी का चरित्र बहुत वीरतापूर्ण दिखलाया गया है, किंतु इस वीरता में भी कोई तुक नहीं है। शरणागत पालन के नाम पर अपने पूर्व मित्र की विरुद्धता विना कारण करना कहाँ तक वीरता है और कहाँ तक विश्वासघात है, यह विचार्य है। फिर विपत्ति के समय रानी बल्कि राजा के मुकाबिले में कायर सिद्ध हुई। रानी सारंधा की वीरता के संबंध में जो धारणा है, वह स्वस्थ नहीं है, और अजीब तरीके से उसमें उतार-चढ़ाव होता रहता है। बिना कारण लड़ जाना, फिर बिना कारण आत्म-समर्पण कर देना, ये सब सामंतवाद की विशेषताएँ इस कहानी में देख सकते हैं। कुछ समालोचकों ने रानी सारंधा को वीर करके दिखाने की कोशिश की है, किंतु जैसा कि हम देख चुके सारंधा की वीरता रोगयुक्त वीरता है। इस वीरता की तुलना बल्कि पागल के हाथ-पैर फेंकने से की जा सकती है, न कि सच्ची वीरता से। इस कहानी में अलौकिक घटनाओं का समावेश इस माने में है कि कई बार घटनाएँ बिल्कुल धारा बदल देती हैं। अध्यापक भटनागर ने इन कहानियों की समालोचना में यह कहा है—'शरणागत की रक्षा के लिए वे सदा तत्पर रहते थे, फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्तियाँ हुआ करती थीं, अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुए पति के लिए उनके द्वार बंद थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो, और चाहे कहानी दुखांत हो, परंतु भौतिक सुख के आगे आध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकती। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम, असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचंद का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र भी है।' (प्रेमचंद : एक अध्ययन, पृ० २००)।

अध्यापक भटनागर ने यह जो लिखा है कि असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता इन कहानियों में स्थापित की गयी है, यह केवल

अत्युक्ति है तथा एक पूर्वाग्रह ज्ञात होता है। राजा हरदौल कहानी में हम तो यही देखते हैं कि हरदौल को अपने स्वार्थी तथा बिना कारण ईर्ष्या करने वाले भाई जुझारसिंह के मुकाबिले में जीवन संग्राम से इस्तीफा देते हुए ही दिखलाया गया है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि हरदौल मर गये सही, किंतु नैतिक विजय उन्हीं के हाथों रही, इसका कोई अर्थ नहीं होता, व्यावहारिक विजय तो जुझारसिंह की रही। फिर रानी सारंधा कहानी में भी अंत तक रानी सारंधा को तथा उसके पति को बादशाह के सिपाही के सामने पराजित होते ही दिखाया गया है, अवश्य इस क्षेत्र में भी नैतिक विजयवाली बात कही जा सकती है। रानी सारंधा ने सारा झगड़ा एक घोड़े के पीछे अर्थात् शान के पीछे मोल लिया, क्या यह उचित था ? एक घोड़े के लिए — सो भी लूट में पाये हुए घोड़े के लिए — इतना झगड़ा मोल लेना कहाँ तक वीरता है और कहाँ तक झूठी शांन है ? यदि यह कहा जाय कि घोड़े की बात नहीं थी बल्कि आन की बात थी, तो उस समय के कानून को देखते हुए भी छीन सकने के कारण घोड़ा रानी का हो गया था, फिर जब वली बहादुर ने उस घोड़े को छीन लिया तो वह घोड़ा फिर उसका हो गया, फिर इस पर इतने झगड़े की जरूरत क्या थी ? हमें तो सारंधा इस युग की एक प्रतिनिधि स्त्री के रूप में दिखायी देती है। हमें यह भी नहीं ज्ञात होता कि किसी भी तरह उसकी नैतिक विजय हुई। यह बात सच है कि उसने शत्रु के हाथ में बंदी बनने के बजाय, अपने पति के हृदय में तलवार चुभो दी, और स्वयं भी आत्महत्या कर ली, किंतु इसके लिए उसकी वीरता को दाद देते समय हम यह भूल नहीं सकते कि इसी स्त्री ने अपने सैकड़ों सिपाहियों को अपनी तथाकथित आन की रक्षा के लिए कटवा दिया। अध्यापक भटनागर को भ्रम है कि इस प्रकार की कहानियों में भारतीय संस्कृति का चित्रण हो रहा है, जिस संस्कृति का इन कहानियों में चित्रण है, वह सामंतवादी, विशेषकर हिंदू सामंतवादी संस्कृति है, इस संस्कृति में भले ही कुछ बातें गौरव की हों, और हैं, किंतु इस संस्कृति की नींव मालिक की कथित आन पर कट मरने वाले सिपाहियों के खून पर है।

मर्यादा की वेदी भी इसी प्रकार की एक कहानी है, जिसमें हम कन्या-हरण से ले कर प्रेमिका के अनुगमन करने तक की सब बातों को मूर्त देख सकते हैं। भारतीय संस्कृति को इस क्षेत्र में घसीट कर लाते हुए हमें यह स्मरण

रखना चाहिए कि इस प्रकार इच्छा के विरुद्ध कन्या को हरण कर लाना भी उसमें सम्मिलित है। हम यह नहीं कहते कि हरण-प्रथा केवल भारतवर्ष में ही थी, हम तो इसको उस दृष्टि से देखते ही नहीं, हम तो हरण-प्रथा को पुरुषप्रधान वर्गमूलक समाज मात्र की विशेषता मानते हैं, इस मामले में हमारे निकट भारतीय-अभारतीय का कोई भेद नहीं है। जहाँ तक सत्य और प्रेम की जय की बात है, हम इस कहानी में दोनों की हार ही देखते हैं। सत्य तो यह है कि राजकुमारी प्रभा और मंदारकुमार में प्रेम था, सत्य तो यह था कि राणा इस प्रेम के बीच एक डाकू की तरह कूद पड़ा था, किंतु अंत में दोनों प्रेमिक-प्रेमिका की बहुत दुखद हालत में मृत्यु होती है, और राणा जीवित रह जाते हैं। क्या इसी को जय कहते हैं? क्या यही प्रेम की विजय है? स्पष्ट बात तो यह है कि इस कहानी में प्रेम की हार ही हुई है। अवश्य यहाँ पर स्मरण रहे कि हम प्रेम को किसी अतीन्द्रिय पारलौकिक गुण के रूप में नहीं, बल्कि शारीरिक-मानसिक सुख के एक साधन के रूप में ही ले रहे हैं। इस कहानी में सबसे बड़ी ट्रेजडी यह है — और यह अध्यापक भटनागर की कथित भारतीय संस्कृति की ही उपज है कि केवल हरण किये जाने के ही कारण प्रभा अपने को राणा की स्त्री समझती है, कम से कम वह यह समझती है कि वह अब किसी दूसरे की स्त्री नहीं हो सकती, चाहे वह दूसरा उसका परमप्रिय प्रेमिक ही क्यों न हो। इस कहानी में हम इस युग के प्रेम तथा विवाह-संबंधी धारणा के कई पहलुओं को देख सकते हैं, और यही इस कहानी की विशेषता है।

पाप का अग्निकुंड तो दूसरे शब्दों में सामंतवाद की चिता है। इस जलती हुई चिता के अंदर हम इस सड़ी-गली हुई पद्धति की सारी बातें देख सकते हैं। सत्य पालन और टेक के नाम पर मूर्खताओं का दौरदौरा है। एक गाय के पीछे एक स्त्री इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करती है कि उसके घातक को वध करेगी तब दम लेगी। फिर पृथ्वीसिंह इसी कथित वचन के पीछे बिना कारण अपने बहनोई धर्मसिंह की हत्या करता है, फिर धर्मसिंह के मरने पर उसकी स्त्री सती होती है। सती मरते समय शाप देती है, और वह पूर्ण भी होता है, यहाँ पर प्रेमचंद जरा हद से बाहर चले गये। अंत में पृथ्वीसिंह भी मरते हैं और उनकी स्त्री भी सती होती है। यहाँ पर यह जो प्रेमचंद ने स्वयं कहा है कि 'पाप की आग कैसी तेज होती है? एक पाप ने कितनी जानें लीं?',

इसमें यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह पाप कौन-सा था ? क्या गाय को मारना इतना बड़ा पाप था। जिन परिस्थितियों में धर्मसिंह के हाथों से गाय का मारा जाना दिखाया गया है, उन परिस्थितियों में भले ही यह एक अवांछित उद्दंडता ज्ञात हो, किंतु पाप यह किस माने में है ? यदि यह गाय न हो कर कोई और जानवर जैसे कुत्ता होता, तो शायद यह पाप न होता ? यहाँ पर हिंदू जहनियत स्पष्ट है, और गोहत्या से होनेवाले अनर्थों के रूप में सनातन-धर्मी इस कहानी का अपने प्रचार में अच्छा इस्तेमाल कर सकते हैं। तर्क के लिए यदि मान भी लिया जाय कि पाप हुआ, तो एक के पाप के लिए चार-चार व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो जाना, यह कहाँ तक धर्म का तकाजा है, और कहाँ तक न्याय की जय है ? हमें तो इस प्रकार का न्याय अन्याय से बदतर ज्ञात होता है। जो कुछ भी हो इस कहानी में इस पापवाली बात के अतिरिक्त प्रेमचंद अपनी वस्तुवादी कला के प्रति वफादार रहे हैं, और इस युग के लोगों तथा विचारों का यह कहानी एक सुंदर चित्र है, इसमें संदेह नहीं।

'जुगनू की चमक' का स्थान इन कहानियों में निम्नतम है, असल में यह कोई कहानी ही नहीं हुई। बहुत कहा जाय तो इसे यही कहा जा सकता है कि इसमें केवल एक रानी के भाग कर अन्य एक राजा के यहाँ आश्रय प्राप्त करने की बात बिना कारण बढ़ा-चढ़ा कर कही गयी है। यह भी समझना मुश्किल है कि किस माने में यह घटना भारतीय इतिहास की अँधेरी रात में जुगनू की चमक है। नैपालराज ने महारानी चन्द्रकुँवारी को खूब तौल कर ही आश्रय दिया था, एक तरह से वह वहाँ एक प्रतिष्ठित बंदिनी हो गयी, ऐसी हालत में चमक कहाँ है ? फिर भी नैपाल के दरबार का जो चित्रण किया गया है, वह ऐसी रियासतें, जो अँगरेज सरकार की मित्र बन कर रहना चाहती थीं, उनका एक अच्छा शब्दचित्र है। बस यहीं तक इसमें कहानीत्व नहीं आ पाया।

'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में प्रेमचंद बहुत निखरे हुए रूप में हमारे सामने आते हैं। यह उस समय का चित्र है जिस समय यहाँ का सामंतवादी संपूर्णरूप से उत्पादन की प्रक्रिया से अलग ही नहीं हो चुका है, बल्कि उसके ऊपर एक भारस्वरूप है। रईसों और सामंतों के लिए विलासिता और नशे के

द्रव्यों के उत्पादन में ही समाज की उत्पादन-शक्ति का एक बड़ा भारी हिस्सा व्ययित नहीं, बल्कि अपव्ययित हो रहा है। यह देखने की बात है कि शिकार आदि जो बहादुराना खेल या शौक हैं, उनका भी प्रेमचंद ने इस वर्ग में इस समय अभाव बताया है। ये लोग खेलते भी हैं तो शतरंज, ताश, गंजीफा इत्यादि। इस सिलसिले में इन खेलों से बुद्धि बढ़ती है, इस प्रचलित धारणा की ओर दृष्टि हम पहले ही आकर्षित कर चुके हैं। इस कहानी में जो दो स्त्रियाँ आती हैं (यों तो हिरिया नौकरानी का भी नाम है) वे भी अपने युग की प्रतिनिधि हैं। मिर्जा साहब की बेगम एक फूहड़ स्त्री के रूप में दिखायी गयी है जो बैठे-बैठे अपने पति पर झीका करती है, और नौकरों पर अपना गुस्सा उतारती है। वह अवसर खोज-खोज कर पति को शतरंज की चाट के लिए लताड़ती थी। उधर मीर साहब की बेगम तो और भी आगे बढ़ी हुई है, वह एक सवार से फँसी हुई है, और इस सवार से षड्यंत्र कर पति को ऐसी परिस्थिति में डाल देती है कि वह मजबूरन जा कर गोमती के उस पार शतरंज जमाते हैं, और इस प्रकार बेगम के लिए पथ बिल्कुल उन्मुक्त रहता है कि वह चाहे जो कुछ करे। मीर साहब को इन बातों की कानोंकान खबर भी नहीं, और उनके नौकर-चाकर में से कोई भी उन्हें इस बात से आगाह भी नहीं करता।

सबसे जो मार्के की बात प्रेमचंद ने इस कहानी में दिखलायी है, वह यह है कि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि लोगों में बहादुरी का अभाव नहीं था, बल्कि लोग अपने सामंतप्रभु के साथ कोई एकता का अनुभव नहीं करते थे। यही तो पतनशील सामंतवाद का सबसे बड़ा लक्षण है। अँगरेज ऐसी ही हालत में भारतवर्ष में आये और इसमें आश्चर्य नहीं कि उन्होंने बहुत आसानी से भारतवर्ष को जीत लिया।

ऊपर जो कुछ इस कहानी के संबंध में बतलाया गया, उसके अतिरिक्त इस कहानी में प्रत्येक पात्र-पात्री का निर्वाह बहुत अच्छी तरह हुआ है। यह किसी समाज शास्त्री के द्वारा लिखित एक युग का बहुत मार्मिक चित्रण नहीं है, यह एक कलाकार द्वारा तैयार की हुई एक कलापूर्ण कहानी है। इस कहानी की खूबी यह है, और यही सब अच्छी कहानियों की खूबी है कि स्कूली बच्चे से ले कर साधारण से साधारण पाठक, ऐसे पाठकों में हम डाक्टर

श्रीकृष्णलाल को भी गिनते हैं, निर्मल कहानी का आनंद प्राप्त कर सकता है, साथ ही गहरे से गहरे समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक के लिए भी इसमें सोचने-समझने के लिए खुराक है। प्रेमचंद की कहानियों में इस कहानी का क्या स्थान है, यह हम बाद को फिर देखेंगे, किंतु यहाँ पर यह बता दिया जाय कि यदि केवल डाक्टर लाल की ऐसी दृष्टि से भी देखी जाय — उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की सफलता को छोड़ भी दिया जाय, तो भी केवल परिहासरसिकता तथा सजीव चित्रण की दृष्टि से इस कहानी को चेकाफ की अच्छी से अच्छी कहानियों के साथ स्थान मिल सकता है।

७ — आत्माराम

प्रेमचंद के अपने निर्वाचन के अनुसार आत्माराम उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। बेंदोग्राम में महादेव सोनार को सभी जानते थे। अपने सायबान में सबेरे से शाम तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ, खट-खट किया करता था। लोग इसको सुनने के इतने आदी हो गये थे कि जब किसी कारण से यह खट-खट बंद हो जाती तो जान पड़ता कोई चीज गायब हो गयी है। उसके तीन पुत्र, तीन बहुएँ, दर्जनों नाती-पोते थे। कोई भी लड़का उसके काम में जरा भी मदद नहीं देता था। ग्राहकगण उसे चोर और बेईमान समझते थे। यदि उसके जीवन में दिलचस्पी का केन्द्र कोई था तो वह एक तोता था, जिसे वह 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' पढ़ाया करता था। एक दिन संयोगवश किसी ने तोते के पिंजड़े के द्वार को खोल दिया, तोता उड़ गया। अब महादेव उसकी तलाश में दूकान छोड़ कर इधर-उधर घूमने लगा। अंत में एक खपरैल पर तोता बैठा हुआ दिखाई पड़ा। महादेव ने उस तोते को पिंजड़ा दिखा कर बुलाया, किंतु लोगों ने हल्ला कर दिया, और वह उड़ गया। शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। रात हो गयी। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़ कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम नहीं लेता। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया। महादेव दिन

भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रह कर झपकियाँ ले लेता था, किंतु एक क्षण में फिर चौंक कर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज सुनाई देती —सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।

आधी रात गुजर रही थी सहसा वह कोई आहट पा कर चौंका। देखा एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तम्बाकू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्चस्वर से बोला — 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला, किंतु जिस प्रकार बंदूक की आवाज सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वे सबके सब उठ कर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। एकाएक उसे ध्यान आ गया कि ये सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा —'चोर चोर, पकड़ो पकड़ो।' महादेव दीपक के पास गया तो उसे एक मोहर का कलसा मिला। उसने तुरंत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया, और पेड़ के नीचे छिप कर बैठ गया। जिस समय महादेव कलसा ले कर चलने का इरादा कर रहा था, उस समय उसके कानों में आवाज आयी—

सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।

ये शब्द उसको आज दूसरे ही रूप में सुनाई पड़े। अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित हो कर दौड़ा, और उस तोते को पिंजड़े में रख लिया। उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी।

महादेव वहाँ से घर पहुँचा, घर में कलसे को छिपा कर वह पंडित के यहाँ दौड़ा, और बोला कि आज हमारे यहाँ सत्यनारायण की कथा होनी चाहिए। पंडित जी चकराये। जिन गाँववालों को न्यौता मिला, वे तो और भी ताज्जुब में रहे कि रेत में दूब कैसे जमी। जब संध्या समय सब लोग कथा सुनने आये, तो महादेव ने खड़े हो कर सबको संबोधित करते हुए यों कहा — 'भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में बीत गयी। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितना खरे को खोटा किया। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके

चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आ कर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर यहाँ कोई न आ सका हो तो आप लोग उससे जा कर कह दीजिए। कल से एक महीने तक जब जी चाहे आवें, और अपना हिसाब चुकता कर लें। गवाही-साखी का कोई काम नहीं।'

सब लोग सन्नाटे में आ गये। किसी ने कुछ दावा न किया, केवल पुरोहित जी ने यह कहा कि मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था, और तुमने कई मासे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा?

पुरोहित—पचास से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहित जी के सामने रख दीं। पुरोहित की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं—यह बेईमानी है, बहुत होगा दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये ऐंठ लिये। इसके बाद महादेव एक महीने तक लेनदारों की राह देखता रहा, किंतु कोई नहीं आया। अब वह अतिथि अभ्यागत सबका प्रेमपूर्वक सत्कार करता था। जब एक भी आदमी हिसाब लेने नहीं आया तो महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद् व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है, अच्छों के लिए अच्छा।

यहीं पर कहानी खतम हो जाती है, इसके बाद लेखक केवल यह जिक्र कर देते हैं कि यद्यपि उस तोते को कोई बिल्ली खा गयी किंतु उसके संबंध में तरह-तरह की किंबदंतियाँ मशहूर हुईं, कोई कहता है, उसका रत्नजटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है वह सत्तगुरुदत्त कहता हुआ अंतर्ध्यान हो गया। तोते के मर जाने के बाद महादेव कई सन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौट कर नहीं आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

× × ×

इस कहानी में एक व्यक्ति का चरित्र बल्कि हृदय परिवर्तन कैसे हुआ, यही दिखलाना लेखक का अभीष्ट ज्ञात होता है। पहले यही व्यक्ति महादेव अत्यंत सूम था किंतु बाद को शाहखर्च हो जाता है, जो बेईमानियाँ उसने पहले की थीं, उसके कारण जिनको क्षति पहुँची थी, उनकी क्षतिपूर्ति करने को तैयार हो जाता है, और कहाँ तो अतिथि-अभ्यागत उससे भागते थे, और वह उनसे

भागता था, और अब वह उनका सत्कार करने लगा। किंतु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच इस व्यक्ति का कुछ हृदय-परिवर्तन हुआ? ऊपर से तो उसके व्यवहार में परिवर्तन हुआ, इसमें संदेह नहीं। जो व्यक्ति पराया धन ले कर—चोरों से प्राप्त धन भी इस श्रेणी में आ जाता है, दबा जाय, और चूँकि वह धन बहुत अधिक है, इसलिए खर्च में उदार हो जाता है, क्या हम उसके संबंध में यह कह सकते हैं कि उसका हृदय-परिवर्तन हुआ। इस संबंध में एक संभावना सोची जाय। यदि मोहरों के कलसे के बजाय महादेव को केवल सौ-पचास रुपये मिल जाते, तो क्या वह इस प्रकार उदार हो जाता? स्पष्ट ही इसका उत्तर ना में देना पड़ेगा। उसने इतना धन प्राप्त कर लिया कि उसने सोचा जीवन भर के लिए यह काफी है, इसीलिए वह उदार हो गया, और एक ठाकुर-द्वारा और तालाब बनवा दिया। इस प्रकार जहाँ तक हृदय-परिवर्तन है, न तो वह हुआ ही है, और न ऐसा लेखक ने दिखाया ही है।

अब प्रश्न यह है कि हृदय-परिवर्तन तो नहीं हुआ, किंतु व्यवहार में परिवर्तन जो हुआ, और उसका जो चित्रण हमारे सामने पेश है, क्या हम उसे एक कहानी कह सकते हैं? हमारा विचार यह है कि जिस प्रकार यह लिखा गया है इसे हम कहानी नहीं कह सकते, भले ही हम इसे एक शब्द-चित्र कहें, क्योंकि अच्छी कहानी, बल्कि प्रत्येक सफल कहानी के अंत में कोई ऐसी बात होनी चाहिए—वह नाटकीय न हो, कुछ विचित्र अवश्य होगी—जिससे यह ज्ञात हो जाय कि कहानी यहाँ समाप्त हो गयी। इस कसौटी पर कसे जाने पर आत्माराम कहानी ही नहीं हो पाया। रहा महादेव सोनार का चित्रण, सो प्रेमचंद ने खूबी के साथ किया है।

८—दुर्गा का मंदिर

प्रेमचंद जी के निर्वाचन के अनुसार दुर्गा का मंदिर भी उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। बाबू ब्रजनाथ दो बच्चों के बाप हो चुके थे, किंतु वे कानून भी साथ-साथ पढ़ते जाते थे। एक दिन वह रास्ते से चले जा रहे थे कि उन्होंने घास पर कागज की एक पुड़िया देखी। जो खोला तो उसमें आठ सावरेन मिले। उन्होंने सोचा कि थाने में इत्तला कर दूँ, जिसके होंगे वह आप ले जायेगा।

व्रजनाथ थाना जाने के लिए तैयार हो रहे थे कि इतने में उनके मित्र मुंशी गोरेलाल आ कर दुखड़ा रो कर कहने लगे कि अभी हमें तीस रुपये दो, बहुत सख्त जरूरत है, कल शाम को दूँगा। व्रजनाथ ने आठ गिन्नियों में से दो गिन्नी निकाल कर गोरेलाल को दे दीं और कहा, ये अमानत की गिन्नियाँ हैं, कल जरूर वापस करना। गोरेलाल ने गिन्नियाँ लीं, मन में कहा—अमानत स्त्री के सिवाय किसकी होगी, और गिन्नियाँ जेब में रख कर घर की राह ली।

दूसरे दिन नियमित समय पर ब्रजनाथ गोरेलाल का इंतजार करते रहे कि ये हजरत आवें, तो फौरन थाने में चलूं, किंतु गोरेलाल नहीं आये। तब वे गोरेलाल के मकान की तरफ चले। इधर झाँका, उधर झाँका, किंतु हिम्मत न हुई कि गोरेलाल को पुकारें। घर लौटते समय एक दफे और झाँका। द्वार पर कान लगा कर सुना, कुछ बातचीत की भनक कान में पड़ी। गोरेलाल की स्त्री कह रही थी—रुपये तो सब उठ गये, ब्रजनाथ को कहाँ से दोगे ? गोरेलाल ने उत्तर दिया—ऐसी कौन सी उतावली है, फिर दे देंगे। आज दरख्वास्त दे दी है, कल मंजूर हो ही जायेगी। तीन महीने के बाद लौटेंगे, तब देखा जायेगा।

ब्रजनाथ को ऐसा जान पड़ा, मानों किसी ने मुँह पर तमाचा मार दिया, वे लौट पड़े। रात भर करवटें बदलते रहे। कभी गोरेलाल की धूर्तता पर क्रोध आता था। कभी अपनी सरलता पर। अब ब्रजनाथ ने यह सोचा कि सावरेन तो जमा करना ही है, अदालत के अनुवादक का काम करूँ तो शायद महीना भर में काम पूरा हो। तदनुसार सबेरे कानून के लेक्चर में सम्मिलित होते, संध्या को कचहरी से तजबीजों का पुलिंदा घर लाते, और आधी रात तक बैठे अनुवाद करते। कभी एक-दो भी बज जाते। नतीजा यह हुआ कि उसका स्वास्थ्य खराब हो चला। तीन सप्ताह में २५ रु० हाथ आ गये। ब्रजनाथ सोचते थे दो-तीन दिन में बेड़ा पार है, लेकिन इक्कीसवें दिन उन्हें प्रचंड ज्वर चढ़ आया, और तीन दिन में भी उतरता न मालूम हुआ। भामा ने पति के स्वास्थ्य का जो यह हाल देखा तो वह पूजा-पाठ अधिक करने लगी। वह मंदिर में बैठी देवी से प्रार्थना कर रही थी कि पति अच्छा हो जाय, इतने में एक दूसरी स्त्री को वहाँ पर देखा। वह शोक और नैराश्य की साक्षात् मूर्ति मालूम होती थी। उसने भी देवी के सामने सिर झुकाया, और दोनों हाथों से आँचल फैलाकर बोली—देवी, जिसने मेरा धन लिया हो, उसका सर्वनाश करो।

भामा को यह प्रार्थना खटकी, उसने उस बुढ़िया से पूछा तो मालूम हुआ कि रुपये इसी के खोये हैं। भामा ने एक पड़ोसी के हाथ अपने कानों के झुमके बेच कर रुपये जुटाये। जब ब्रजनाथ ने आठों गिन्नियाँ उसे दिखायी थीं, उसके हृदय में एक गुदगुदी सी हुई थी, लेकिन यह हर्ष मुख पर आने का साहस न करता था। आज उन गिन्नियों के हाथ से जाते हुए उसका हार्दिक आनंद आँखों में चमक रहा था, होठों पर नाच रहा था, कपोलों को रंग रहा था, और अंगो पर किलोल कर रहा था। उस वृद्धा ने रुपये पा कर आशीर्वाद दिया था। आज पूरे तीन सप्ताह के बाद ब्रजनाथ तकिये के सहारे बैठे। गोरेलाल आये तो बहाने बताने लगे, और कहने लगे—आपकी बीमारी का समाचार सुन कर आज भागा चला आ रहा हूँ, यह लीजिये, रुपये हाजिर हैं, इस विलंब के लिए अत्यंत लज्जित हूँ। गोरेलाल बिदा हो गये तो ब्रजनाथ रुपये लिये हुए भीतर आये और भामा से बोले—ये लो अपने रुपये, गोरेलाल दे गये।

भामा ने कहा—ये मेरे रुपये नहीं, तुलसी के हैं, एक बार पराया धन ले कर सीख मिल गयी।

ब्रजनाथ—लेकिन तुलसी के तो पूरे रुपये दे दिये गये ?

भामा—दे दिये गये तो क्या हुआ ? यह उसके आशीर्वाद की न्योछावर हैं।

ब्रजनाथ—कान के झुमके कहाँ से आवेंगे ?

भामा—झुमके न रहेंगे, न सही, सदा के लिए 'कान' तो हो गये।

× × ×

इस कहानी में लेखक ने ब्रजनाथ के मानसिक द्वंद्वों का अच्छा चित्रण किया है। एक तरह से सब परिस्थितियाँ उसके विरुद्ध पड़ती हैं, किंतु फिर भी वह सावरेनों को उनके असली मालिक को दिलाने की टेक पर डटा रहता है। उसकी स्त्री भी इस मत की है कि सावरेन न दिये जायँ, और उसके गुलूबंद बना लिये जायँ। गोरेलाल ऋण ले कर चले जाते हैं, किंतु इस परि-स्थिति से भी ब्रजनाथ का जोश ठंडा नहीं होता, वह रात जग कर कमाई से उस क्षति की पूर्ति करने पर जुट जाता है। ब्रजनाथ को हम समाज के प्रति-निधि के रूप में नहीं देखते, बल्कि वे केवल अपनी 'टाइप' के प्रतिनिधि हैं। ब्रजनाथ के ज्वर आ जाने तक इस टाइप का अच्छा निर्वाह होता है, किंतु

उसके बीमार पड़ने तथा अच्छे हो जाने की घटना को जिस प्रकार प्रेमचंद जी ने दिखलाया है, उसमें वे साफ जबर्दस्ती धर्म की जय कराने पर तुले हुए मालूम होते हैं। व्रजनाथ का तो बिल्कुल यह इरादा नहीं था——कम से कम लेखक ने तो यही दिखाया है कि रुपये मार लिए जायँ, फिर उसकी बीमारी के साथ सावरेन न देने को, तथा उसके अच्छे हो जाने को बुढ़िया के आशीर्वाद के साथ जोड़ा गया है, यह कुछ वास्तविकता से हटी हुई बात ज्ञात होती है। नित्य प्रति सैकड़ों लोग जानबूझ कर बेईमानी करते हैं, किंतु वे बीमार कब पड़ते हैं, और उनकी बीमारी को अच्छी करने के लिए उन बेईमानियों को वापस लेने की जरूरत कब पड़ती है। सच बात तो यह है कि शताब्दियों से हमारी समाज-पद्धति एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण पर, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर किये गये अत्याचारों पर निर्भर रही है। समाज का ताना-बाना शोषण और उत्पीड़न रहा है, फिर इस प्रकार दैव हस्तक्षेप की कल्पना करना केवल काल्पनिकता ही नहीं, रोगग्रस्त काल्पनिकता है। अवश्य इस त्रुटि के बावजूद भामा जो अंत में पति के बीमार होते ही जल्दी से जल्दी सावरेन वापस करने पर तैयार हुई है, यह भामा की तरह कुसंस्कारग्रस्त हिंदू स्त्री के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है। इस दृष्टि से दुर्गा के मंदिर वाले दृश्य की उपयोगिता है, किंतु जैसा कि हम बता चुके बीमारी के अच्छे होने के बाद सावरेन के दे देने का संबंध जोड़ना बिल्कुल गलत है। इस त्रुटि के कारण इस कहानी का स्थान अच्छी कहानियों में होना संभव नहीं है, इसके कारण यह कहानी बहुत कुछ कथाच्छल से बालकों को नीति कथन के रूप में हितोपदेश सा हो कर रह जाती है।

९—बड़े घर की बेटी

यह कहानी भी प्रेमचंद जी द्वारा निर्वाचित सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। कहानी का कथा भाग बहुत ही मामूली है। गौरीपुर गाँव के जमींदार और नंबरदार बेनीमाधवसिंह के बड़े लड़के श्रीकंठ सिंह बी० ए० पास हैं, एक दफ्तर में नौकर हैं, किंतु उनके छोटे भाई लालबिहारीसिंह की पढ़ाई अधिक न हो सकी किंतु वे बहुत तंदुरुस्त हैं। श्रीकंठसिंह की बीबी आनंदी बड़े घर की बेटी है। एक दिन दोपहर के समय लालबिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया

और भावज से बोला—जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है। आनंदी भोजन बना कर उसीकी राह देख रही थी। अब वह नया व्यंजन बनाने बैठी। हांडी में देखा तो घी पाव भर से अधिक नहीं था। बड़े घर की बेटी किफायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा तो दाल में घी न था। बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा ?

आनंदी ने बता दिया कि सब घी मांस में पड़ गया, लालबिहारी को इस पर ताज्जुब हुआ क्योंकि अभी परसों ही घी आया था। इस घर में जहाँ आनंदी पाव भर डालनें की आदी थी, वहाँ छटाँक भर में काम चलाया जाता था। लालबिहारी बिगड़ गया। बात में बात बढ़ी, तिनक कर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो।

जब इधर से वार हुआ तो आनंदी ने भी कह दिया कि वहाँ इतना नित्य नाई-कहार खा जाते हैं। अंत में लालबिहारी ने थाली उठा कर पटक दी, और जीभ खींच लेने की बात कही। इस पर फिर तर्क बढ़ा, और लालबिहारी ने जाते समय खड़ाऊँ फेंककर आनंदी की ओर मारा। आनंदी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया, पर उँगली में बड़ी चोट आयी।

श्रीकंठसिंह शनिवार को घर आया करते थे। वृहस्पति को यह घटना हुई। आनंदी ने दो दिन तक कुछ खाया पिया नहीं। लालबिहारी ने पहले ही भाई से शिकायत की। अंत में आनंदी पूछी गयी और उसने पूरा-पूरा सब हाल बता दिया। श्रीकंठ की आँखें लाल हो गयीं। बोले—यहाँ तक हो गया। इस छोकरे का यह साहस !

आनंदी रोने लगी। श्रीकंठसिंह पिता के पास पहुँचे और उनसे कहा कि या तो वे लालबिहारी को रखें या उन्हें, अब इस घर में दोनों का निर्वाह नहीं हो सकता। पिता ने बहुत समझाया किंतु वे अपनी बात पर डटे रहे। दरवाजे की चौखट पर खड़े-खड़े लालबिहारी ने ये सब बातें सुनीं। वह अपने बड़े भाई का बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस नहीं हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले या पान खा ले। दोनों भाइयों में हार्दिक स्नेह था। उसने जब श्रीकंठ की बातों को सुना तो घर लौटा। कोठरी में जा कर कपड़े पहने, आँखें पोंछी जिसमें कोई न समझे कि रोता था। तब आनंदी के द्वार पर आ कर बोला—भाभी, भइया ने निश्चय किया है

कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह न देखेंगे। इसलिए मैं अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।

इसी समय श्रीकंठसिंह आँखें लाल किये बाहर से आये और भाई की तरफ जरा भी न देख कर अपने कमरे में चले गये। आनंदी ने लालबिहारी की शिकायत की थी, किंतु अब वह पछता रही थी। जब लालबिहारी ने क्षमा माँगी तो उसका रहा सहा क्रोध भी जाता रहा। वह भी रोने लगी। श्रीकंठ को देख कर आनंदी ने कहा—लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ—तो मैं क्या करूँ ?

आनंदी—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे! मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकंठ—मैं न बुलाऊँगा।

श्रीकंठ नहीं उठे। इतने में लालबिहारी ने कहा—भाभी, भइया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह देखना नहीं चाहते, इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें नहीं दिखाऊँगा।

यह कहकर वह चलने लगा। आनंदी ने उसे रोका। लालबिहारी ने कहा, जब तक भइया का दिल मेरी तरफ से साफ न होगा तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनंदी—मैं ईश्वर की साक्षी दे कर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला, उन्होंने बाहर आ कर लालबिहारी को गले लगा लिया। बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनंद से पुलकित हो गये। बोल उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं, बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसीने इन शब्दों में आनंदी की उदारता को सराहा—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।

× × × ×

सभी समालोचक इस कहानी को उच्चकोटि की मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह कहानी आदर्शवादी ढंग की एक अच्छी कहानी है। अवश्य आदर्शवादी होने के कारण इस कहानी में हितोपदेश के प्रति रुख बहुत स्पष्ट

है। सामंतवादी समाज के टूटने विखरने का एक लक्षण यह भी है कि संयुक्त परिवार-प्रथा भंग हो रही है, इस कहानी में उसीके विरुद्ध क्रूसेड करते हुए हम प्रेमचंद जी को देख सकते हैं, किंतु उनके द्वारा सहारा दिये जाने पर भी जो बात जिस युग की है, वह उस युग के साथ जा ही रही है, और जायेगी; उसे कोई रोक नहीं सकता। जिस समय जमीन ही उत्पादन का साधन थी, और परिवार के सबकी आय का उत्सस्थल जमीन थी, उस युग में संयुक्त परिवार-प्रथा एक स्वाभाविक संस्था थी, किंतु जिस युग में लोगों की जीविका का मुख्य साधन जमीन नहीं रह गया है, नौकरी तथा अन्य धंधे होने लगे हैं, उस युग में भावुकता मंडित महिमा के बावजूद संयुक्त परिवार-प्रथा समाप्त होने के लिए बाध्य है। खड़ाऊँ मारने की घटना हो या लड़कों में तथा बहुओं में आपस में झगड़ा होने का बहाना हो, किसी भी बहाने को ले कर नये युग की यह प्रवृत्ति अपने को सामने लायेगी हीँ। आर्थिक शक्तियाँ काम करती हैं, किंतु वे सीधे-सीधे काम नहीं करतीं, वे बहुत घुमाव-फिराव के साथ, अप्रत्यक्ष रूप से काम करती हैं। एक कलाकार की सफलता इसीमें है कि वह इन ऊपरी कारणों से द्वंद्ववाद को स्पष्ट कर कहानी को अपने अंतिम Denoüement या ग्रंथिमोचन तक ले जाय। बड़े घर की बेटी में जो विशेष परिस्थितियाँ चित्रित हैं, उसमें भाई-भाई का फिर से मेल हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि अभी तक दोनों भाई जमीन से बँधे हुए हैं, फिर सामाजिक नियम तो औसत के नियम होते हैं। यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक क्षेत्र में जो औसत के नियम के रूप में सामाजिक नियम हो कर सामने आता है, वही प्रत्येक व्यक्ति के क्षेत्र में भी सही उतरे। फिर भी इस कहानी में प्रेमचंद जी ने अपनी कला का--अवश्य आदर्शवादी तरीके से ही — अच्छा निर्वाह किया है।

१०—डिक्री के रुपये

'डिक्री के रुपये' भी प्रेमचंद द्वारा चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। नईम और कैलाश में इतनी मित्रता थी जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। कालेज से निकलने के बाद नईम को सरकारी नौकरी मिल गयी, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था, किंतु कैलाश को वर्षों एड़ियाँ रगड़ने, खाक

छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला। विवश हो कर उसको अपनी कलम का आश्रय लेना पड़ा, और उसने एक समाचारपत्र निकाला। दोनों मित्रों में पत्र-व्यवहार रहता था, किंतु दोनों की स्थिति में बहुत फर्क था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का मैनेजर अपने बँगले में ठीक दोपहर के समय सैकड़ों आदमियों के सामने कत्ल कर दिया गया था। कुँअर साहब अभी बालिग़ नहीं हुए थे, उनसे मैनेजर से अनबन रहती थी, उन्होंने ही मैनेजर को कत्ल करा दिया था। कुँअर साहब पर जिला मैजिस्ट्रेट को शक था, किंतु पुलिस कर्मचारी द्वारा इस मामले की जाँच कराने में कुँवर साहब के अपमान का भय था, इसलिए इस संबंध में जाँच-पड़ताल करने के लिए मिर्जा नईम नियुक्त हुए। मिर्जा अपना जीवन बनाना चाहते थे, कोई त्यागी व्यक्ति न थे, इस कारण उनको यह मौका बहुत अच्छा ज्ञात हुआ। कुँअर साहब की माँ ने आ कर नईम से इस मामले में अपने बेटे के साथ रियायत किये जाने की सिफारिश की, साथ ही २० हज़ार की थैली भेंट हुई।

इन्हीं दिनों कैलाश नईम से मिलने आया। नईम ने विष्णुपुर का पूरा वृत्तांत अपने मित्र को सुनाया। कैलाश को इस प्रकार पूरा कच्चाचिट्ठा ज्ञात हो गया कि किस प्रकार मामले की जाँच हो रही है। नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिए पूरा एक महीना व्यतीत किया। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो राजनैतिक क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के संदेह की पुष्टि हुई। कैलाश के सामने अब यह जटिल समस्या उपस्थित हुई कि अब भी चुप रहें, या जो बातें मित्रता के नाते ज्ञात हुईं उन्हें पत्र में प्रकाशित कर दें। अंत में कैलाश ने यह निश्चय किया कि नईम मेरा मित्र है, किंतु जातिसेवा का तकाजा कहीं बहुत बड़ा है। उसने एक लेखमाला में सारी बात प्रगट कर दी। उसने वह वार्तालाप अक्षरशः प्रकाशित कर दिया जो उसके और नईम के बीच में हुआ था। शासकों को कभी ऐसी मुँह की नहीं खानी पड़ी थी। आखिर उन्हें अपनी मानरक्षा के लिये इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरजा नईम को कैलाश पर मानहानि का अभियोग चलाने के लिए विवश करें। कैलाश पर इस्तगासा दायर हुआ। अदालत ने नईम को २० हजार रुपयों की

डिक्री दे दी। कहानी का आखिरी हिस्सा यह है कि नईम कैलाश के घर आता है, और २० हजार रुपये की भरपाई लिख देता है।

× × ×

यह कहानी आदर्शवादी ढंग की है। कैलाश और नईम का संबंध उस समय तक बिलकुल समझ में आता है, जब तक कि कैलाश पर मुकदमा चल कर डिक्री हो जाती है, किंतु उसके बाद नईम का इस प्रकार उदार हो कर २०००० रु० की भरपाई लिख कर कैलाश को महान विपत्ति से बचा लेना कुछ समझ में नहीं आता। यह बिलकुल मनोविज्ञान के नियमों से गलत ठहरता है। अवश्य मनुष्य के चरित्र में भयंकर परिवर्तन नहीं होते ऐसी बात नहीं, चोर साव हो जाते हैं, साव चोर हो जाते हैं, किंतु एक उपन्यास, कहानी या नाटक लेखक को इस प्रकार के परिवर्तन दिखाते समय उसकी चारों तरफ की परिस्थिति को ऐसा बना देना या दिखाना चाहिए जिससे यह ज्ञात हो कि इस प्रकार का परिवर्तन अवश्यंभावी है। दुःख है प्रेमचंद इस कहानी में इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते। नतीजा यह है कि यह कहानी एक बहुत ही निम्न कोटि की कहानी हो कर रह गयी।

फिर भी इस कहानी का सामाजिक पहलू बहुत साफ है। रियासतों में किस प्रकार कुँवर, राजा और नवाब बात की बात में खून करवा देते हैं, किस प्रकार रुपयों के जोर पर इन कुकृत्यों को दबा दिया जाता है, सरकारी तहकीकात की क्या पोल है, सरकार जान कर भी कैसे अपने अन्यायी अफसरों की रक्षा करती है आदि बातें बहुत स्पष्टता के साथ आ गयी हैं, और यह कोई छोटी बात नहीं है। फिर भी जैसा कि बताया गया एक कहानी तभी सर्वांग-सुंदर कही जा सकती है, जब उसकी घटनाएँ तथा व्यक्ति अपने अपने आंतरिक नियमों से परिचालित होते हुए भी एक समग्रत्व की सृष्टि करें। नहीं तो एक कहानी का उद्देश्य ही नहीं, बल्कि उसका ढाँचा प्रगतिशील होते हुए भी वह कहानी न होगी।

११—पंच परमेश्वर

यह कहानी पहली बार १६१६ में सरस्वती की जून संख्या में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी को स्वयं प्रेमचंद अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में समझते थे।

जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। इस मित्रता का सूत्रपात बचपन में ही हुआ था। जुम्मन शेख की एक बूढ़ी खाला थी। इस खाला के पास कुछ थोड़ी सी मिल्कियत थी। जुम्मन ने लंबे-चौड़े वादे कर के उस मिल्कियत को अपने नाम लिखवा लिया था। जब तक दानपत्र की रजिस्ट्री न हुई थी तब तक खालाजान का कुछ आदर-सत्कार किया गया। ज्यों ही रजिस्ट्री हो गयी त्यों ही जुम्मन की पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी निठुर हो गये। खालाजान परेशान हो गयीं और अंत में उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि बेटा, तुम्हारे साथ निर्वाह न होगा, तुम मुझे रुपये दे दिया करो, मैं अपना पका खा लूँगी। जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया — रुपये क्या यहाँ फलते हैं?

खाला बिगड़ गयीं और उन्होंने पंचायत की धमकी दी। जुम्मन हँसा, क्योंकि वह समझता था कि पंचायत अवश्य उसके पक्ष में राय देगी। बूढ़ी खाला हाथ में एक लकड़ी लिये आस-पास के गाँव में दौड़ती रही। वह अलगू चौधरी के पास भी गयी। कई दिन दौड़-धूप के बाद एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले ही से फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू आदि का प्रबंध भी किया था। पंचायत शुरू हो गयी। पंच लोग बैठ गये, तो बूढ़ी खाला ने उनसे बिनती की कि 'जुम्मन ने मुझे रोटी-कपड़ा देना कबूल किया था, साल भर मैंने रो-धो कर काटा, अब मैं चाहती हूँ कि माहवार खर्चा दिया जाय।' इसके उत्तर में जुम्मन ने यह कहा कि इस जमीन से इतनी आमदनी नहीं है कि खाला को माहवार खर्च दिया जाय। अलगू चौधरी सरपंच के स्थान पर थे। उन्होंने कहा — 'शेख जुम्मन, हम और तुम पुराने दोस्त हैं। जब काम पड़ा तुमने हमारी मदद की है, और हम भी जो कुछ बन पड़ा तुम्हारी सेवा करते रहे हैं, मगर इस समय तुम और बूढ़ी खाला, दोनों हमारी निगाह में बराबर हो। तुमको पंचों से जो कुछ अर्ज करनी हो करो।'

जुम्मन ने उन्हीं बातों को कहा। अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता था, अतएव वह पूरा कानूनी आदमी था। उसने जुम्मन से खूब जिरह की। एक एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौड़े की चोट की तरह पड़ता था। अंत में अलगू चौधरी ने फैसला सुना दिया, और यह कहा कि खालाजान को माहवार खर्च दिया जाय, क्योंकि 'हमारा विचार है कि खाला की जायदाद से

इतना मुनाफा अवश्य होता है कि माहवार खर्च दिया जा सके।' फैसला सुनते ही जुम्मन सन्नाटे में आ गये, इसके बाद से जुम्मन और अलगू चौधरी में मनमुटाव हो गया।

इसके थोड़े दिन बाद अलगू चौधरी के पास जो बढ़िया बैल की गोई थी, उसमें से एक मर गया। अलगू चौधरी को संदेह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दिला दिया है। चौधराइन ने भी जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोपण किया। अब अकेला बैल किस काम का अतएव उन्होंने बाकी बचे हुए बैल को समझू साहु के हाथ बेच दिया। समझू साहु ने नया बैल पाया तो लगे उसे रगेदने। एक महीने में दाम चुकाने का वादा ठहरा। समझू साहु ने बैल को जब धूप में दौड़ा दिया, और उस पर अनाप-सनाप बोझे लादे, तो वह एक दिन कलेजा तोड़कर रह गया। अब इस बात पर समझू साहु ने पंचायत बुलायी कि बैल के दाम के रुपये दिये जायँ या नहीं। समझू ने जुम्मन शेख को सरपंच चुना। अलगू से पूछा गया कि उसे कोई आपत्ति है या नहीं, तो उसने निराश होकर कहा — नहीं, मुझे क्या उज्र है।

पंचों ने दोनों पक्षों से सवाल-जवाब किये। बहुत देर तक दोनों दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। अंत में जुम्मन ने फैसला सुनाया —— अलगू चौधरी और समझू साहु! पंचों ने तुम्हारे मामले पर अच्छी तरह विचार किया। समझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दे। जिस वक्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिये जाते तो आज समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम लिया गया। और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबंध नहीं किया गया।

इसके बाद यह कहानी समाप्त हो जाती है, और लोग पंच परमेश्वर की जय करते हुए पंचायत से चल देते हैं।

इस कहानी में प्रेमचंद जी फिर हितोपदेश देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जिस बात को वे जैसी चाहते हैं उस को बहुत कुछ जबर्दस्ती उस प्रकार के रंग में रंग कर दिखलाते हैं। उनका वक्तव्य यह है कि पंच में परमेश्वर वास करते हैं, इसलिए पंच के पद पर बैठ कर कोई अन्याय कर ही नहीं सकता। यह धारणा कितनी गलत है, इसको सभी अनुभवी तथा भुक्त-भोगी व्यक्ति

जानते हैं। प्रेमचंद भी इस तथ्य से बेखबर हैं ऐसी बात नहीं क्योंकि उन्होंने पहले मौके पर, खालाजान के मामले के तसफिये के लिए जो पंचायत बैठी थी, उस अवसर का वर्णन करते हुए, यह लिखा है कि शेख जुम्मन ने पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू आदि का प्रबंध किया था, एक कोने में आग सुलग रही थी, नाई तावड़तोड़ चिलम भर रहा था, इत्यादि। प्रेमचंद जी इस बात को भलीभाँति समझते हैं कि पंचों पर प्रभाव डाला जाता है, और वह प्रभाव काम भी करता है फिर भी उन्होंने यह जो दिखलाया कि बदले की भावना से जर्जरित होने पर भी जुम्मन ने न्याय पक्ष लिया, यह गलत ही नहीं, सरासर तथ्य के साथ जबर्दस्ती करना है। इस प्रकार से पंचायतों में जो विश्वास उन्होंने उत्पन्न करने की कोशिश की है, और पंचों को जो उपदेश दिया है, उसके रुख की सदाकत में कोई संदेह न होते हुए भी वह स्वाप्निक है, इसमें कोई संदेह नहीं। उन्होंने इसी कहानी में एक सार्वदेशिक सत्य को मानो कहते हुए, यह लिखा है—'अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है, जब हम राह भूल कर भटकने लगते हैं तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथप्रदर्शक बन जाता है।' कहना न होगा कि यह केवल कपोल कल्पना है, हम नित्य प्रति यह देखते हैं कि वर्तमान समाज-पद्धति में लोग बिल्कुल इसके विपरीत आचरण करते हैं, और गरीब की सुनाई बहुत कम होती है। इसी कहानी के अंत में जुम्मन ने अलगू के पक्ष में फैसला देने के बाद अलगू से यह जो कहा—'आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन, न्याय के सिवाय उसे और कुछ नहीं सूझता, आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जबान से खुदा बोलता है।' यह बिल्कुल ही रोजमर्रे की अभिज्ञता के विपरीत जाती है। इन्हीं बातों का नतीजा यह है कि इस कहानी में घटनाओं की परंपरा अपेक्षा-कृत रूप से अच्छी होने पर भी यह कहानी हवा में उड़ती हुई रह गयी और किसी भी हालत में यह कहानी के रूप में एक अच्छी कहानी नहीं कही जा सकती।

१२—शंखनाद

शंखनाद कहानी का कथानक बहुत ही मामूली है। गाँव के मुखिया भानु चौधरी के तीन लड़के हैं। उनमें से दो कामकाज करते हैं, किंतु तीसरा

पुत्र आवारा तो नहीं है, किंतु किसी प्रकार घर के काम-काज में हाथ नहीं बटाता। कहीं कुश्ती लड़ता, कसरत करता, रामायण और भजन गाता, सिल्क का कुरता और साफा झाड़ कर इधर-उधर मटरगश्ती करता। यही उसका काम था। भावजें ताना देतीं, बूढ़े चौधरी पैंतरे बदलते रहते, और भाई लोग तीखी नजर से देखा करते, किंतु उस पर कोई असर नहीं करता। वह उन लोगों के बीच से इस तरह अकड़ता चला जाता, जैसे कोई मस्त हाथी कुत्तों के बीच से निकल जाता है। पिता ने तथा भाइयों ने उसे बदलने की बहुत कोशिश की, किंतु वे उसमें सफल नहीं हुए, किंतु एक दिन जब एक खोन्चा-वाला आया, और उसके बच्चे को कुछ न मिला, और बाकी सब बच्चे कुछ न कुछ ले कर चले, उल्टा उसकी माँ ने उसे मारा तो उसकी आँखें भर आयीं, वह सचेत हो गया। उसने जा कर बच्चे को गोद में उठा लिया, और अपनी पत्नी से करुणोत्पादक स्वर में बोला—बच्चे पर इतना क्रोध क्यों करती हो? तुम्हारा दोषी मैं हूँ.........परमात्मा ने चाहा तो कल से लोग इस घर में मेरा और मेरे बाल-बच्चों का भी आदर करेंगे। तुमने आज मुझे सदा के लिए इस तरह जगा दिया, मानों मेरे कानों में शंखनाद कर मुझे कर्म-पथ में प्रवेश करने का उपदेश दिया हो।

× × ×

डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने इस कहानी के संबंध में यह लिखा है कि चरित्र परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इस कहानी में मिलता है, हम संपूर्ण रूप से इस कथन से सहमत हैं। यों तो प्रेमचंद का पूरा साहित्य अद्भुत रूप से चरित्र परिवर्तन से भरा पड़ा है, किंतु इसी कहानी में उन्होंने उन परिस्थितियों को दिखलाया है जिनके कारण चरित्र परिवर्तित हो सकते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों को बिना दिखाये चरित्र परिवर्तन चित्रित करना एक तरह का तिलस्म हो जाता है, और न तो मनोवैज्ञानिक रूप से और न सामाजिक रूप से ही उस कहानी में कोई तत्व रह जाता है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त इस कहानी की समालोचना दूसरी ही दिशा से करते हैं। उनके अनुसार 'शंखनाद कहानी में ग्राम्य जीवन का विशद वर्णन है, पात्रों के नाम तक में ग्रामीणता भरी है। उनके कामों से हमें काफी संतोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचने वाला गुरदीन, गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दंगल में भाग लेना।

इस ग्राम्य जीवन के चितेरे में अवश्य ही देवीशक्ति है। (हंस, प्रेमचंद अंक, मई, १६३७।) इसमें संदेह नहीं कि इस कहानी में ग्राम के खाते-पीते मध्यवित्तवर्ग का अच्छा चित्र खींचा है। भानु चौधरी का बड़ा मान था, किंतु प्रेमचंद बड़ी सफाई से इस मान का स्पष्टीकरण यों कर देते हैं कि दारोगा जी उन्हें टाट बिना जमीन पर बैठने न देते। इस कहानी में इसी प्रकार गाँव की टूटती हुई संयुक्त परिवार प्रथा की बात को हम देखते हैं। 'बड़े घर की बेटी' में प्रेमचंद जिस प्रकार इस संयुक्त परिवार प्रथा के पक्ष में अपना वजन डालते हैं, उसी प्रकार इस कहानी में भी वे गुमान का चरित्र-परिवर्तन करा कर संयुक्त परिवार प्रथा की रक्षा कर उसे कुछ और जीवन प्रदान करने की कोशिश करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

१३—सत्याग्रह

न तो स्वयं प्रेमचंद ने और न उनके समालोचकों ने इस कहानी को विशेष महत्त्व दिया है, फिर भी हमारी राय में यह कहानी उनकी श्रेष्ठ कहानियों में है। हिज एक्सलेन्सी वाइसराय बनारस आ रहे थे। सरकारी कर्मचारी उनके स्वागत की तैयारी कर रहे थे, उधर कांग्रेसवाले यह कोशिश कर रहे थे कि उस दिन हड़ताल रहे। मजिस्ट्रेट साहब और साथ ही शहर के तमाम खैरख्वाह इस बात की चेष्टा में लगे हुए थे कि स्वागत धूमधाम से हो, किंतु कांग्रेसवालों के सामने उनकी एक न चलती थी। अंत में राय साहब को यह युक्ति सूझी कि लोगों के धार्मिक कुसंस्कारों का फायदा उठाना चाहिए, और ऐसे विद्वान् धर्मकर्मरत ब्राह्मण से उपवास करवा देना चाहिए जिससे काम बन जाय। ढूँढ़ते-ढाँढ़ते इस काम के लिए पंडित मोटेराम शास्त्री तैयार किये गये। शास्त्री ने नकद सौ रुपया ले कर यह तय किया कि वह यह एलान कर उपवास करेंगे कि जब तक लोग हड़ताल की टेक न छोड़ेंगे तब तक वे उपवास करेंगे।

इस प्रकार मोटेराम शास्त्री ने अन्न-जल छोड़ दिया। कांग्रेसवालों ने बहुतेरा लोगों को समझाया कि यह सब अधिकारियों की चालाकी है, शास्त्री जी रुपया ले कर यह सब जाल रच रहे हैं, किंतु फिर भी कुछ धर्मभीरु लोगों में ढुलमुलयकीनी का वातावरण पैदा हो गया। इधर शास्त्री जी का

भी बुरा हाल था। रुपये के लोभ में उपवास का प्रण तो उन्होंने कर लिया, किंतु रात होते-होते उनका बुरा हाल हुआ। दूसरा दिन भी किसी तरह गुजरा, किंतु शाम तक सेठों में कुछ हलचल नजर आयी।

कांग्रेस के मंत्री जी ने देखा कि मामला विकट होता जा रहा है, तब वे सीधे बाजार गये। वे पुलिस विभाग में बहुत दिनों तक रह चुके थे, मनुष्य की कमजोरियों को खूब पहचानते थे। बाजार में पाँच रुपये की मिठाई ली। उसमें मात्रा से अधिक सुगंध डालने का प्रयत्न किया, चाँदी के वर्क लगवाये, एक झज्झर में ठंडा पानी लिया, और केवड़े का जल मिलाया। फिर वे शास्त्री जी के पास पहुँचे। मंत्री जी ने दोने की मिठाई सामने रख दी, और झज्झर पर कुल्हड़ औंधा दिया। इसके बाद उन्होंने समझाना-बुझाना शुरू किया, और बताया कि नगर में आपके उपवास की कोई भी चर्चा नहीं है। पंडित जी की आँखें दोने पर लगी हुई थीं। मंत्री जी ने कहा — आपका व्रत न होता तो दो-चार मिठाइयाँ आपको चखाता। पाँच रुपये सेर के दाम दिये हैं।

मोटेराम — तब तो बहुत ही श्रेष्ठ होगी, मैंने बहुत दिन हुए कलाकंद नहीं खाया।

मंत्री — आपने भी तो बैठे बिठाये झंझट मोल ले लिया। प्राण ही न रहेंगे तो धन किस काम आयेगा?

मोटेराम — क्या करूँ, फँस गया। मैं इतनी मिठाइयों का जलपान कर जाता। (हाथ से मिठाइयों को टटोलकर) भोला की दूकान की होंगी?

मंत्री — चखिए दो-चार।

मोटेराम — क्या चखूँ, धर्म संकट में पड़ा हूँ।

मंत्री — अजी चखिए भी। इस समय जो आनंद प्राप्त होगा, वह लाख रुपये में भी नहीं मिल सकता। कोई किसी से कहने जाता है क्या?

मोटेराम — मुझे भय किसका है? मैं यहाँ दाना-पानी बिना मर रहा हूँ, और किसी को परवाह ही नहीं, तो फिर मुझे क्या डर? लाओ, इधर दोना बढ़ाओ। जब किसी में धर्म नहीं रहा, तो मैंने ही धर्म का बीड़ा थोड़े ही उठाया है!

नतीजा यह हुआ कि पंडित जी ने दोना अपनी तरफ खींच लिया, और लगे बढ़-बढ़ कर हाथ मारने। मंत्री जी ने बाहर जो सेठ लोग प्रतीक्षा कर रहे थे उनको भी बुला लिया। इस कहानी को समाप्त कर फुटनोट में प्रेमचंद

इतना और लिखते हैं—

'हम यह कहना भूल गये कि मंत्री जी को मैदान में मिठाई लेकर आते समय पुलिस के सिपाही को चार आने पैसे देने पड़े थे, यह नियम विरुद्ध था, लेकिन मंत्री जी ने इस बात पर अड़ना उचित न समझा।'

× × ×

इस कहानी को 'शतरंज के खिलाड़ी' की श्रेणी में रखा जा सकता है। जैसा डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने शतरंज के खिलाड़ी की समालोचना में यह कहा कि उसमें शतरंज की लत को चित्रित किया गया है, वैसे ही इस कहानी के संबंध में यह कहा जा सकता है कि यह पेटूपन का मजाक मात्र है ; किंतु बात ऐसी नहीं है। इस कहानी में राष्ट्रीय और राष्ट्रविरोधी शक्तियों का दाँव-पेंच दिखलाया गया है, पेटूपन तो केवल एक ऊपरी आवरण मात्र है। इस कहानी में हम इस बात को देख सकते हैं कि किस प्रकार ब्रिटिश अधिकारी धर्म का उपयोग कर जनता के आंदोलन को दबाना चाहते हैं, और इसमें प्राचीनपंथी पंडितगण उनके सहायक हो जाते हैं। यों तो ये पुराने ढंग के पंडितगण जब देखो तब भारतीय संस्कृति का गुणगान करते हैं, किंतु ये लोग हमेशा राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने में सरकार के सहायक सिद्ध हुए हैं। यद्यपि ये लोग आत्मा को अमर मानते हैं, मृत्यु इनके अनुसार केवल जीर्णवसन छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण करना मात्र है, फिर भी इन पंडितों से बढ़ कर कायर और बुजदिल शायद ही कोई हो। बहुत कम पंडित ऐसे होंगे जो राष्ट्रीय आंदोलन में जेल गये होंगे, महामहोपाध्याय या उसके समकक्ष कोई पंडित तो कभी जेल गया ही न होगा। इस कहानी में मोटेराम का पेटूपन साथ ही धन का लोभ, ऐसी बातें हैं, जो इस पंडित समाज की विशेषता है। काशी निवासी होने के कारण प्रेमचंद को इन पंडित नामधारी महान मूर्खों का अच्छा ज्ञान रहा होगा। मोटेराम कितने असंयमी थे कि एक रात भी उनसे भूखे न रहते बना, यह भी इस पंडित समाज की विशेषता है। जिस प्रकार मोटेराम ने कुप्पी बुझा कर खोंचे का माल चुराया है वह शायद अत्युक्ति हो, किंतु जैसे कार्टून में एक अवगुण की अति दिखला कर ही चीज को स्पष्ट कर मूर्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार इस अवसर पर शास्त्री जी ने जिस लोभ का परिचय दिया है, वह कुछ अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी कला की दृष्टि से सही है। क्योंकि

इससे जिस अवगुण को स्पष्ट करना है, वह हमारे सम्मुख बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

मोटेराम ने सभा में जो भाषण दिया है, वह भी कोई कपोल कल्पना नहीं है, बल्कि पंडित समाज जब राजनैतिक रूप से सोचता है तो इसी प्रकार सोचता है। इनको न तो राष्ट्रीय परिस्थिति का ही कुछ ज्ञान होता है, न अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का कुछ ज्ञान होता है, न ये इतिहास ही जानते हैं, ऐसी हालत में इनके लिए यह सोचना बिल्कुल उचित था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों पर बहुत रहम कर रही है।

सिपाही और मोटेराम के बीच जो बातचीत हुई, वह भी बहुत वस्तुवादी है। फिर भी कहानी के अन्त में प्रेमचंद जी ने फुटनोट लगा कर यह जो दिखलाया है कि कांग्रेस के मन्त्री जी ने घूस दे कर अपना काम निकाला, यह उनका Master stroke है, और यह इस बात को दिखलाता है कि वे अपनी कला के प्रति कितने सच्चे थे कि जैसा देखते थे वैसा चित्रित करते थे। इस कहानी में कांग्रेस के मंत्री जी कोई आदर्श देवता नहीं, बल्कि एक व्यवहारकुशल, खुर्राट, मर्दुमशनास व्यक्ति के रूप में चित्रित हैं। इस कहानी को चेकाफ, मोपासाँ की कहानियों के साथ एक श्रेणी में रखा जा सकता है, और निस्संदेह प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में इसका स्थान है। किंतु जैसा कि हम 'शतरंज के खिलाड़ी' के विषय में बता चुके, इस कहानी को पढ़ कर एक स्कूली लड़का भी आनंद उठा सकता है, साथ ही एक समाजशास्त्री भी इसका आनंद लेगा। शास्त्री जी के पेटूपन को चित्रित करते हुए प्रेमचंद ने मनोविज्ञान का बहुत अच्छा ज्ञान प्रदर्शित किया है।

कुछ फुटकर कहानियाँ

नवनिधि की 'धोखा', 'अमावस्या की रात्रि', 'ममता' और 'पछतावा' नामक कहानियों की प्रशंसा की गयी है। हम संक्षेप में देखें कि ये कहानियाँ वास्तविक रूप से कुछ विशेषता रखती हैं या नहीं। स्वयं प्रेमचंद तो इन कहानियों को अपनी सर्वोत्तम कहानियों में नहीं समझते थे।

१४—धोखा

धोखा कहानी का कथानक बहुत ही मामूली है, और शायद प्रेमचंद

से पहले कई लेखकों ने इस कथानक का उपयोग किया है। राजकुमारी प्रभा अपनी सहेली के साथ बाग में टहल रही है, इतने में एक गवैया उधर से गाते हुए गुजरता है। यह गवैया योगी के रूप में है। गाने से प्रभा इतनी मुग्ध हो जाती है कि वह उसे बुलवा कर उसका गाना सुनती है। उसी दिन से वह भीतर ही भीतर उस योगी से प्रेम करने लगती है, किंतु ऐसा वह किसी से यहाँ तक कि अपनी सहेली से भी नहीं बताती। यथासमय राजकुमारी का विवाह नवगढ़ के युवक राजा हरिश्चंद्र से होता है। हरिश्चंद्र प्रभा पर जान देते हैं, किंतु राजकुमारी के मन में अभी तक वह योगी चोरी से मौजूद है, इसलिए प्रेम के आदान-प्रदान में कुछ कमी रहती है। एक दिन हरिश्चंद्र ने प्रभा को ले जा कर अपनी चित्रशाला दिखलायी। उसमें कृष्ण से ले कर स्वामी दयानंद तक बहुत से चित्र थे। साथ ही उस योगी का भी चित्र वहाँ दिखाई पड़ा। उस चित्र को देखते ही प्रभा सन्न से रह गयी। राजा हरिश्चंद्र ने उनसे पूछा कि इनको तो आपने देखा होगा। रानी ने जिन परिस्थितियों में उस योगी को देखा था, उसे बता दिया, किंतु प्रेम की बात नहीं बतायी। जो कुछ भी हो राजा हरिश्चंद्र ने यह प्रस्ताव किया कि यदि प्रभा चाहें तो उस योगी को बुलाया जाय। तदनुसार राजा उस योगी को बुलाने गये। मुश्किल से दस मिनट के अंदर वह योगी उसी मस्तानापन से उसी गाने को गाते हुए आता दृष्टिगोचर हुआ। प्रभा ने उसकी तरफ सहमी हुई आँखों से देखा। एकाएक उसका हृदय उछल पड़ा। उसकी आँखों के आगे से एक पर्दा हट गया, यह योगी तो राजा हरिश्चंद्र ही है। बात यह है हरिश्चंद्र अपनी भावी पत्नी को विवाह के पहले देखना चाहते थे, उसी लिए वे योगी का स्वाँग रच कर प्रभा को देखने गये थे, यह एक मामूली प्रेमकहानी है, ऐसी कहानियों में प्रेमिक-प्रेमिकाओं का ऐसा चित्रण किया जाता है कि मानो इनको न समाज से ही कोई मतलब है, और न समाज में होनेवाली किसी बात से कोई सरोकार है। इसी कारण ऐसी कहानियों में हम समाज का अथवा युग का पता नहीं पाते। हम यह नहीं कहते कि प्रेम का जीवन में कोई स्थान नहीं है, किंतु सामाजिक परिप्रेक्षित से बिल्कुल अलग हो कर या ऊपर उठ कर प्रेम करना केवल एक परोपजीवी वर्ग के सदस्यों के लिए ही संभव है, जिनको न रोटी की फिक्र है, न अन्य किसी प्रकार के सामाजिक उत्पादन से संबंध है। इस कोटि की कहानी

की दृष्टि से भी इस कहानी को ऊँचे दर्जे का नहीं कहा जा सकता, न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही इस कहानी में कोई विशेषता है, क्योंकि घटना परम्परा को मनोविज्ञान के तकाजे के अनुसार जिस प्रकार गूँथना चाहिए, उस प्रकार घटनाएँ एक के बाद एक इसमें आती दिखाई नहीं देतीं। प्रेमचंद की जो सबसे बड़ी महत्ता या विशेषता है कि वे हर समय समाज से बँधे हुए रूप में अपने पात्र-पात्रियों को दिखलाते हैं उस विशेषता का इस कहानी में सर्वथा अभाव है।

१५ — अमावस्या की रात्रि

'अमावस्या की रात्रि' में हम देखते हैं कि पंडित देवदत्त की पत्नी गिरिजा बहुत बीमार थी किंतु उसका ठीक-ठीक इलाज कराना उनकी सामर्थ्य के बाहर था।

दिवाली के दिन देवदत्त की पत्नी का बुरा हाल था। इतने में एक नवयुवक पंडित जी के पास पहुँचा और बोला कि मैं इसलिए आया हूँ कि अपने पूर्वजों ने आपसे जो ऋण लिया था, उसे चुकता करूँ। पंडित जी के पितामह ने नवयुवक ठाकुर के पितामह को पचीस सहस्र रुपये कर्ज़ दिये थे। ठाकुर अब गया में जा कर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहते थे, इसलिए जरूरी था कि उनके जिम्मे जो कुछ ऋण हो, उसकी एक एक कौड़ी चुका दी जाय। ठाकुर न केवल उन पचीस सहस्र रुपयों को वापस करने आये थे, बल्कि इस समय सूद दर सूद से वे रुपये पचहत्तर हजार हो चुके थे, उसे देने के लिए वे आये थे। रुपये पंडित जी को मिल गये। रुपये ले कर वे पत्नी के पास आये कि खबर सुना कर उसको खुश किया जाय। जब बार-बार पुकारने पर वह तनिक भी न मिनकी, तब उन्होंने चादर उठा दी, और उसके मुँह की ओर देखा, जो वस्तुस्थिति थी वह समझ में आ गयी। उसी हालत में वे उन रुपयों को ले कर वैद्य जी के यहाँ पहुँचे, और नोटों के पुलिन्दे को उनके आगे पटक कर कहा — वैद्य जी, ये पचहत्तर हजार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फीस है। आप चल कर गिरिजा को देख लीजिए, और ऐसा कुछ कीजिए कि वह केवल एक बार आँख खोल दे। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है — केवल एक दृष्टि पर। आपको रुपये मनुष्य की जान से प्यारे

हैं। वे आपके समक्ष हैं। मुझे गिरिजा की एक चितवन इन रुपयों से कई गुनी प्यारी है।

वैद्य जी लज्जित हुए, और कहा, मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ किंतु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल कदापि न होगी। मुझे शोक है, सचमुच महाशोक है।

ये बातें वैद्य जी के अंतःकरण से निकली थीं।

× × ×

इस कहानी में प्रेमचंद जी ने घुमाव-फिराव के साथ इस समस्या को उठाया है कि बहुत से लोग धनाभाव के कारण बिना इलाज के मर जाते हैं, किंतु इस समस्या की तह में जो शोषण-मूलक समाज-पद्धति है, प्रेमचंद उस तक न जा कर, घटनाओं को ऐसे सजाते हैं कि वैद्य जी का हृदय परिवर्तन हो जाता है। प्रेमचंद जी इसमें अपने आदर्शवादी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, वे समस्या को तो एक हद तक ठीक रख देते हैं, किंतु उसका जो हल पेश करते हैं, वह हृदयपरिवर्तन वाला हल है। इस से यह स्पष्ट नहीं होता कि वर्तमान समाज-पद्धति में यह बात अंतर्निहित है कि वैद्य और डाक्टरों की अलमारियों में दवाइयाँ सड़ती रहें, किंतु गरीब लोग बिना इलाज के मर जायँ। इस समस्या का समाधान समाज-पद्धति के आमूल परिवर्तन से ही हो सकता है, न कि छिट-फुट एकाध वैद्य के हृदय परिवर्तन से। जैसे समाजवादी समाज में प्रत्येक को श्रम करने का अधिकार है, अर्थात् यदि कोई बेकार रहता है, तो राष्ट्र उसके लिए जिम्मेदार है, उसी प्रकार बीमार होने पर इलाज यहाँ तक कि जरूरत पड़ने पर पहाड़ और समुद्र के किनारे जा कर रहने की सहूलियत प्राप्त करना समाजवादी राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। सामाजिक पहलू से उस कमी के अतिरिक्त भी देखा जाय तो इस कहानी में प्रेमचंद सफल नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे घटना विन्यास तथा मार्मिक भाषा के जरिये से पाठक के मन में गिरिजा की मृत्यु की दयनीयता को मूर्त नहीं कर पाते। यदि इस कहानी को पढ़ते-पढ़ते पाठक की आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती, साथ ही वैद्य जी पर और उसकी पृष्ठ-भूमि में स्थित समाज-पद्धति पर क्रोध का उद्रेक होता तभी वे इस कहानी में सफल कहे जा सकते। यों यह औसत कहानी है।

१६ — ममता

बाबू रामरक्षादास दिल्ली के एक प्रमुख धनी थे। लेन-देन का कारोबार होता था। उन्हीं के मुहल्ले में सेठ गिरधारीलाल रहते थे। उनके यहाँ लाखों का लेन-देन होता था। वे दूर के नाते बाबू रामरक्षा के साढ़ू होते थे। जब कभी उन्हें रुपयों की आवश्यकता होती, तो रामरक्षा सेठ गिरधारीलाल के यहाँ से बेखटके मँगा लेते। जब भी कोई जरूरत होती रुक्का जाता, और रुपया फौरन आ जाता। धीरे-धीरे कोई बीस हजार का मामला हो गया। जब दो-तीन साल हो गये, और रुपये नहीं मिले, तब सेठ गिरधारीलाल रामरक्षा के यहाँ रुपया माँगने गये। रामरक्षा किसी गार्डन पार्टी में सम्मिलित होने के लिए तैयार थे। बोले — 'इस समय क्षमा कीजिए। फिर देख लूँगा, जल्दी क्या है।' गिरधारीलाल को रामरक्षा की रुखाई पर क्रोध आ गया। अंत में सेठ जी ने रामरक्षा के विरुद्ध नालिश कर दी, और बीस हजार मूल और पाँच हजार ब्याज की डिग्री हो गयी। मकान नीलाम पर चढ़ा। मोटर बिक गयी। सारी संपत्ति उठ जाने पर भी कुल मिला कर सोलह हजार से अधिक रकम न खड़ी हो सकी। सारी गृहस्थी नष्ट हो गयी तब भी दस हजार के ऋणी रह गये।

इसके कुछ दिनों बाद सेठ गिरधारीलाल दिल्ली म्युनिसिपल्टी के चुनाव के लिए खड़े हुए। रामरक्षा ने विरोधी पक्ष का साथ दिया, और उन्हीं के कारण सेठ जी की हार हुई, किंतु सेठ जी के हाथ में दूसरी चाभी थी, उन्होंने फौरन महाजन के नाते रामरक्षा को दीवानी कैदी के रूप में गिरफ्तार करा लिया। रामरक्षा की पत्नी इस पर आगबबूला हो गयी और उसने सेठ जी को एक पत्र लिखा, जिसमें लिखा — 'अफसोस कि कल शाम को जब तुमने मेरे प्यारे पति को पकड़वाया है, मैं वहाँ मौजूद नहीं थी, नहीं तो अपना और तुम्हारा रक्त एक कर देती। तुम धन के मद में भूले हुए हो.....' इत्यादि। सेठ जी पर यह फटकार पड़ी तो और भी क्रुद्ध हुए।

एक दिन रामरक्षा की माँ आ कर सेठ जी से मिली, और पुत्र के प्रति दया की भिक्षा की। सेठ जी ने रामरक्षा की स्त्री के द्वारा लिखित उस पत्र को भी रामरक्षा की माँ को दिखलाया। उन्होंने उस पत्र को ले कर पढ़ा, तो

उनकी आँखों में आँसू भर आये। वे बोलीं—बेटा, उस स्त्री ने मुझे बहुत दुख दिया है.........इत्यादि। रामरक्षा की माँ ने सेठ जी को बंगाल बंकवाली अपनी पासबुक भी दे दी जिसमें उनके नाम से दस हजार रुपया जमा था। माँ के इस अथाह प्रेम ने सेठ जी को विह्वल कर दिया, पानी उबल पड़ा और पत्थर उसके नीचे ढक गया। अंत में जा कर रामरक्षा गिरधारीलाल की एक खास दूकान के मैनेजर हो गये, केवल मैनेजर ही नहीं बल्कि मैनेजिंग प्रोप्राइटर हो गये। दोनों में बहुत दोस्ती हो गयी। अंत में यह भी दिखाया गया कि यह सब हो गया, किंतु वह बात जो अब होनी थी, वह न हुई। रामरक्षा की माँ अब भी अयोध्या रहती है, और अपनी पुत्र-वधू की सूरत नहीं देखना चाहती।

× × ×

यह कहानी भी हृदय परिवर्तनमूलक है, इसमें भी प्रेमचंद हृदय परिवर्तन के लिए समुचित कारण चित्रित करने में असमर्थ रहे। कहानी का जो ढाँचा है उसमें रामरक्षा की स्त्री को क्यों घसीटा गया, यह पता नहीं चलता। शायद माँ के मुकाबिले में स्त्री की निकृष्टता दिखाना ही अभीष्ट हो, किंतु वह उद्देश्य भी पूर्ण हुआ, ऐसा नहीं जान पड़ता, क्योंकि स्त्री ने अपने पति के प्रति प्रेमवश ही सेठ जी को कटुवचन लिखे थे, अवश्य माँ ने जो कुछ किया, वह भी एक आदर्श ही है, किंतु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि स्त्री की निकृष्टता इस विशेष क्षेत्र में सिद्ध हुई या नहीं? इसका स्पष्ट उत्तर यह है, नहीं हुई। अंत में यह जो कहा गया है कि रामरक्षा की माँ अब भी अयोध्या में रहती है, और अपनी पुत्रवधू की सूरत नहीं देखना चाहती, यह एक बयान मात्र है, जिसे पाठक पढ़ लेगा, किंतु ऐसा होने के लिए कोई उचित कारण उसे दिखाई नहीं पड़ेगा। इस कहानी को औसत दर्जे की कहानियों में रखा जा सकता है।

१७—पछतावा

पंडित दुर्गानाथ बहुत ही ईमानदार नवयुवक हैं। वे कालेज से निकल कर एक संपत्तिशाली जमींदार कुँअर विशालसिंह के यहाँ नौकर हो गये। वे बन तो गये जमींदार के कारिंदा, किंतु उन्होंने निश्चय कर लिया था कि किसी प्रकार से कोई ज्यादती न करेंगे, और न किसानों से कोई बेगार आदि लेंगे। इस पर वे अटल रहे। उनके नीचेवाले उनसे बहुत बिगड़ते रहे, किंतु

वे अपने प्रण पर अटल रहे। जिस इलाके में वे नियुक्त थे, उसके असामी कुँअर विशालसिंह के यहाँ बीज आदि के संबंध में कर्जदार थे। उन्होंने एक दिन इन असामियों को बुला कर रुपये माँगे, इसमें गर्मागर्मी हो गयी। असामी भी बिगड़ खड़े हुए तो एक असामी पिटा। इस पर कुछ असामियों को गुस्सा आ गया, और उन्होंने पीटने वाले को पीट दिया।

अब पंडित दुर्गानाथ बुलाये गये। कुँअर साहब उन पर बहुत बिगड़े कि तुमने जो तरीके चलाये हैं उसीके कारण सब बखेड़े खड़े हो गये, और अब तुम्हें चाहिए कि इसका प्रतिकार करो। कुँअर साहब ने इसके प्रतिकार के लिए यह तजवीज बतायी कि यद्यपि उस इलाके में इस साल का लगान वसूल हो गया है, फिर भी इनपर बकाया लगान की नालिश कर दी जाय। बात यह है कि अभी लगान वसूली की रसीदें दी नहीं गयी थीं। दुर्गानाथ ने इसका विरोध किया, किंतु फिर भी कुँअर साहब ने नालिश कर दी। अदालत में दुर्गानाथ की गवाही हुई तो उसने जो बात सत्य थी उसे साफ-साफ कह दिया। नतीजा यह हुआ कि नालिश डिसमिस कर दी गयी, इसके बाद दुर्गानाथ वहाँ से इस्तीफा दे कर कारिंदागिरी से अलग हो गये।

इसके बाद यह दिखलाया गया है कि उस इलाके के किसानों ने स्वयं आ कर कुँअर साहब को अपने-अपने कर्जे की रकम वापस कर दी। इसमें किसी झंझट की जरूरत न पड़ी। कुँअर साहब सन्न हो गये, इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे, कितनी बार घरों में आग लगवायी। अनेक बार मारपीट की। कैसे-कैसे दंड दिये। और आज यह सब आपसे आप सारा हिसाब-किताब साफ कर गये। इसमें कोई जादू है। बस क्या था, कुँअर साहब के हृदयपरिवर्तन का सूत्रपात हुआ। उस इलाके के असामियों ने अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाया, किंतु अन्य इलाके वाले असामी उसी पुराने ही ढंग से चलते थे। कुँअर साहब का कोई लड़का नहीं था। बुढ़ापे में एक लड़का पैदा हुआ। अब उनका शरीर भी ढीला हो चला था। फिक्र यह लगी रहती कि कौन इस लड़के को मेरे बाद ढंग से पालेगा-पोसेगा। ऐसे समय उनको दुर्गानाथ याद आते, क्योंकि और कारिंदे तो महास्वार्थी थे, नाबालिग को मौका पाते ही लूट लेते। मृत्यु-शय्या पर उन्होंने अपनी स्त्री से कहा — मैं तुम्हें और बच्चे को पंडित दुर्गानाथ पर छोड़ जाता हूँ। वे जल्द

आवेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनके भेंट कर दिया, यह मेरी अंतिम वसीयत है।

× × ×

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस कहानी में हृदयपरिवर्तन दिखलाया गया है, किंतु इससे केवल कुँअर साहब का ही हृदयपरिवर्तन नहीं दिखलाया गया है, बल्कि पंडित दुर्गानाथ जिस इलाके में तैनात थे, उस चाँदपारा की रैय्यतों का भी हृदयपरिवर्तन दिखलाया गया है। चाँदपारा वालों के हृदयपरिवर्तन की ही बात को लिया जाय। उन पर झूठा मुकदमा चलता है, दुर्गानाथ की ईमानदारी के कारण वे इस मुकदमे में जीत जाते हैं, इसकी क्या मानसिक प्रतिक्रिया होनी चाहिए ? इसकी प्रतिक्रिया तो यही होनी चाहिए कि किसान जमींदार से और तन जाते। अवश्य ऐसा हो सकता है कि मुकदमे में जीत के बावजूद उनको यह ख्याल आया हो कि पानी में रह कर मगर से कब तक बैर चलेगा, फिर दुर्गानाथ चले गये, इसलिए डर कर उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। ऐसी हालत में उनके इस परिवर्तन को जो हृदयपरिवर्तन का रूप दिया गया है, वह घटनाओं से अनपेक्षित है। क्या डर से जो परिवर्तन होता है, वह हृदयपरिवर्तन कहा जा सकता है ? यह द्रष्टव्य है इस क्षेत्र में और किसी तरह से परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है।

प्रेमचंद ने इस कहानी में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यदि बेगार आदि न लिया जाय तो किसानों और जमींदारों में संबंध अच्छा हो सकता है, किंतु क्या यह बात सही है ? जमींदारों को कानूनन किसानों से जो कुछ मिलना चाहिए, क्या उसपर जमींदार का कोई हक है ? क्या वह अनुपार्जित आय नहीं है ? हम इसके ब्यौरे में न जायेंगे, केवल इतना ही बतला देंगे कि वह एक उदार या लिबरल विचार के पेटी बुर्जुआ की राय है। इससे समस्या का कोई मौलिक या क्रांतिकारी समाधान नहीं होता। पंडित दुर्गानाथ बहुत ईमानदार थे, किंतु आखिर वे कानूनी रकमों को वसूल तो करते ही थे, और यह समझ कर करते थे कि वे ऐसा कर सदाचरण कर रहे हैं, किंतु यह जो सत्य है, यह कोई निरवच्छिन्न सत्य नहीं, बल्कि एक वर्ग का सत्य है। कथित ईमानदारी और सचाई के नीचे यह वर्ग सत्य रहने पर भी नाखून से खोदने पर ही उसका असली रूप ज्ञात हो सकता है।

कुँअर साहब में दुर्गानाथ की तरफ से जो हृदयपरिवर्तन होता है, वह अपनी स्वार्थ दृष्टि से होता है, न कि दुर्गानाथ की गुण-मुग्धता के कारण। उनमें एकाएक यह जो एक सच्चे और ईमानदार (हम पहले ही देख चुके हैं कि दुर्गानाथ की सचाई और ईमानदारी में भी किस प्रकार केवल एक वर्ग के अनुकूल सचाई और ईमानदारी छिपी हुई है) व्यक्ति के लिए प्रेम उत्पन्न होता है, उनमें एकाएक यह जो गुण-मुग्धता दृष्टिगोचर होती है, यह कोई सत्य या ईमानदारी के प्रति अतिरिक्त भक्ति के कारण नहीं, बल्कि इस कारण उत्पन्न होती है कि वे मृत्यु के आमने-सामने खड़े हो कर यह समझते हैं कि बनिस्वत दूसरे कारिंदों के दुर्गानाथ ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके हाथों में रियासत की बागडोर जाने पर रियासत सुरक्षित रहेगी, रियासत के अंदर जो सामाजिक-साम्पत्तिक संबंध हैं वे सुरक्षित रहेंगे। इस प्रकार उनकी इस गुण-मुग्धता के पीछे हम केवल यही देखते हैं कि वे दुर्गानाथ की सचाई और ईमानदारी को अपने वर्ग स्वार्थ के जुए में जोत कर अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं यह धारणा है, न कि सचाई और ईमानदारी के प्रति कोई आंतरिक अनुराग। जिस समय दुर्गानाथ ने अदालत में खड़े हो कर किसानों के पक्ष में गवाही दी थी, और उसके फलस्वरूप कुँअर साहब की नालिश डिसमिस हो गयी थी, उस समय "उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गयी थी, उन्होंने पंडित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे थे—'नमकहराम, विश्वासघाती, दुष्ट। ओह, मैंने उसका कितना आदर किया किंतु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती है। अंत में विश्वासघात कर ही गया।" उस समय तो मैजिस्ट्रेट का फैसला सुनते ही पंडित दुर्गानाथ को मुख्तार आम की कुंजियाँ और काग़ज-पत्र सुपुर्द कर भागना पड़ा था, नहीं तो जैसा कि प्रेमचंद ने लिखा है, उनको इस कार्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता होती। इसलिए सचाई या ईमानदारी से कुँअर साहब को केवल वहीं तक प्रेम है, जहाँ तक सचाई और ईमानदारी उनके वर्ग तथा वैयक्तिक स्वार्थ को सिद्ध करती हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो जिसे प्रेमचंद जी ने हृदयपरिवर्तन के स्वरूप में रखने की कोशिश की है, वह हृदयपरिवर्तन नहीं है, बल्कि भिन्न परिस्थिति में एक भिन्न संतुलन मात्र है।

१८—शांति

'शांति' कहानी एक आत्मकथा के रूप में है। एक स्त्री की आत्मकथा है।

उसीके अपने वर्णन के अनुसार जिस समय वह ससुराल आयी, वह बिल्कुल फूहड़ थी। न पहनने-ओढ़ने का सलीका था, न बातचीत करने का ढंग, किंतु उसके पति को यह फूहड़पन पसंद न आता था, वे वकील थे। पति के असर से वह पढ़ने लगी। धीरे-धीरे स्त्री बहुत पढ़ गयी। अब वह पर्दे के बाहर स्वतंत्रता से घूमने लगी। यहाँ तक कि अन्य स्त्रियों तथा पुरुषों से टेनिस वगैरह खेलने लगी, और क्लब वगैरह में जाने लगी।

इस बीच में पति बीमार हुए, किंतु इस कहानी में यह दिखाया गया है कि पत्नी अब वह नहीं थी, बीमार पति को छोड़ कर ही टेनिस वगैरह खेलने चल देती। बीमारी घटी नहीं, एक महीना हो गया। अंत में एक दिन पति ने स्त्री से यह प्रस्ताव किया कि उन्हें अपनी अम्माँ के पास भेज दिया जाय। साफ-साफ बातें होने लगीं। बीमार पति कहने लगे—'जब मैं तुमसे अधिक शिक्षा प्राप्त, अधिक बुद्धिमान्, अधिक जानकार हो कर तुम्हारे लिए वह नहीं रहा, जो पहले था—तुमने चाहे इसका अनुभव न किया हो, परंतु मैं स्वयं कर रहा हूँ—तो मैं कैसे अनुमान करूँ कि उन्हीं भावों ने तुम्हें स्खलित न किया होगा? नहीं बल्कि प्रत्यक्ष चिह्न देख पड़ते हैं कि तुम्हारे हृदय पर उन भावों का और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। तुमने अपने को ऊपरी बनाव-चुनाव और विलास के भँवर में डाल दिया है। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि सभ्यता, स्वेच्छाचारिता का भूत स्त्रियों के कोमल हृदय पर बड़ी सुगमता से कब्जा कर सकता है। क्या अब से तीन वर्ष पूर्व भी तुम्हें यह साहस हो सकता था कि मुझे इस दशा में छोड़ कर किसी पड़ोसिन के यहाँ गाने-बजाने चली जातीं? मैं बिछौने पर पड़ा रहता, और तुम किसी के घर जा कर किलोलें करतीं.....। मैं सब कुछ स्वयं देखता और सहता हूँ।.....मैंने अपने को इस इंद्रजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है, जहाँ धन का नाम मान है, इंद्रिय-लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार स्वातंत्र्य।'

अंतिम दृश्य में हम यह देखते हैं कि 'बाबू जी ने बहुत सी पुरानी पोथियाँ अग्निदेव के अर्पण कर दीं। उनमें आस्कर वाइल्ड की कई पुस्तकें थीं! वे अब अँगरेजी पुस्तकें बहुत कम पढ़ते हैं। उन्हें कारलाइल, रस्किन और एमर्सन के सिवाय और कोई पुस्तक पढ़ते मैं नहीं देखती। मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत में

फिर वही आनंद मिलने लगा है। चर्खा अब पहले से अधिक चलाती हूँ, क्योंकि इस बीच में चर्खे ने खूब प्रचार पा लिया है।'

× × ×

यह कहानी एक तबके की मनोवृत्ति का परिचायक है। यह तबका अभी तक नहीं मरा है, इसलिए इस कहानी को बिल्कुल वस्तुवाद से अलग नहीं कह सकते, किंतु हमें इस पर जो कुछ आपत्ति है, वह यह नहीं है कि यह कहानी बिलकुल हवा में उड़ रही है, जीवन के किसी तथ्य पर इसका आधार नहीं है, बल्कि हमारी आपत्ति यह है कि एक तबके की मनोवृत्ति की परिचायक होते हुए भी इस कहानी में हम प्रेमचंद को इसके पैरोकार के रूप में देखते हैं, यह खेदजनक है। प्रेमचंद को यदि वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराना ही था, तो उन्हें चाहिए था कि इसे इस रूप में कहते कि वे स्वयं प्रतिक्रियावादियों की डफली बजाते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते।

१६—निमंत्रण

'निमंत्रण' कहानी प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है, यह हमारी सुचिंतित सम्मति है। इसमें भी हमें नायक के रूप में पंडित मोटेराम शास्त्री से साबका पड़ता है। श्रीमती शिवरानी जी ने प्रेमचंद के संबंध में संस्मरण लिखते हुए यह लिखा है कि पंडित मोटेराम शास्त्री के संबंध में कहानी लिखने के कारण उन पर मानहानि का मामला चला था। पता नहीं यह किस मोटेराम शास्त्री के सम्बन्ध में लिखा गया है, 'सत्याग्रह' कहानी के मोटेराम शास्त्री अथवा इस कहानी के मोटेराम शास्त्री। श्रीमती शिवरानी देवी ने इन शब्दों में इस मुकदमे का वर्णन किया है—

'सन् १६२६ की घटना है। आप (प्रेमचंद) माधुरी का संपादन करते थे। आप थे और पंडित कृष्णविहारी मिश्र थे। आपने मोटेराम शास्त्री नाम की एक कहानी लिखी। उस कहानी पर एक शास्त्री महाशय ने दोनों पर केस दायर किया। दोनों ने पाँच-पाँच सौ की जमानत दाखिल की। आप लोगों के साथ माधुरी के मालिक विष्णुनारायण जी भी थे। उस कहानी पर विष्णुनारायण जी भी खुश थे। तारीख के दिन दो बैरिस्टर देहरादून से आते थे, जो नौ-नौ सौ रोजाना लेते थे। मेरे भाई और बहनोई भी जाते थे। कानपूर के सारे वकील और बैरिस्टर आ

गये थे। कचहरी खचाखच भरी रहती। खैर, बहस वगैरह के बाद मजिस्ट्रेट ने हुक्म सुनाया। आप दोनों बरी हो गये। मजिस्ट्रेट साहब मोटेराम शास्त्री से बोले—आपको और कुछ कहना है? अब तो सबसे बेहतर यही है कि आप चुपके से खिड़की के बाहर निकल जाइए! जैसे ही मजिस्ट्रेट साहब ने यह कहा, दोनों आदमी मुस्करा दिये। इसके बाद माधुरी का वह अंक सबका सब बिक गया।'

इससे ज्ञात होता है कि अक्सर प्रेमचंद अपनी कहानियों के आधार के रूप में सत्य घटना लेते थे, जिसके कारण वे मानसिक रूप से आदर्शवाद की ओर झुके होने पर भी बरबस वस्तुवादी सतह के आसपास रहते थे।

यह कहानी हास्यरस संबंधी एक सफल कहानी है, इसकी भाषा भी बहुत ही मँजी हुई और सरस है। यों तो ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी 'सत्याग्रह' कहानी के मोटेराम की तरह इसके नायकों के जारिये से पेटूपन का मजाक उड़ाया गया है, किंतु व्यंग इससे कहीं गहरा है। सनातनी पंडित समाज पर यह एक बहुत मार्के की व्यंग-रचना है, विशेषकर यह ब्राह्मणों की उस श्रेणी का मजाक उड़ाता है जो इधर-उधर न्यौता खा कर ही अपना जीवन व्यतीत करता है। पंडित मोटेराम शास्त्री को एक रानी साहबा के यहाँ से निमंत्रण मिलता है, उनसे रानी साहबा यह भी कहती हैं कि चार-छह सद्ब्राह्मणों को और भी लेते आइएगा। पंडित मोटेराम घर आते हैं, तो सोचते हैं कि अपने ही लड़कों को क्यों न ले चलूँ और बता दूँ कि ये परिचित ब्राह्मण हैं। इसलिए वे पहले ही दृश्य में अपने लड़कों को तालीम देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। किस बात की तालीम? इस बात की कि वे पूछने पर बाप का अलग-अलग नाम बतावें। यह दृश्य खुद ही हास्यरस का एक बहुत ही सुंदर दृश्य है, क्योंकि बड़े लड़के तो बाप के फर्जी नाम को जल्दी याद कर लेते हैं किंतु छोटे लड़के उसे भूल जाते हैं, या अपने बाप के बजाय दूसरे के बाप का नाम बता देते हैं। मोटेराम केवल अपने लड़कों को ही तालीम दे कर निवृत्त नहीं होते, बल्कि वे अपनी स्त्री को भी मर्दाना भेष पहना कर ब्रह्मभोज में लिवा जाते हैं। जिस समय मोटेराम अपने लड़कों को फर्जी बापों के फर्जी नामों के संबंध में तालीम दे रहे थे, उस समय चिंतामणि नामक एक दूसरे पंडित वहाँ एकाएक आ जाते हैं, और अचानक एक वाक्यांश को सुन कर उनके मन में संदेह हो जाता है कि हो न हो आज कहीं निमंत्रण है,

किंतु यह मुझसे छिपा रहा है। चिंतामणि-लड़कों से अलग असली बात का पता लगाने की चेष्टा करता है, किन्तु मोटेराम ताड़ जाता है, और वह इस काम में बाधा पहुँचाता है। होते-होते चिंतामणि और मोटेराम में मारपीट की नौबत आती है। चिंतामणि के घर में इसकी खबर पहुँचती है। चिंतामणि जी तीन महिलाओं के स्वामी थे। उन्होंने उनके नाम बहुत ही रसीले रखे थे। इस स्थान पर प्रेमचंद वर्णन में कमाल कर देते हैं। यहाँ पर वे संस्कृत मूलक साथ ही मुहाविरेदार हिंदी की संभावनाओं को परिपूर्णता तक पहुँचा देते थे। वे लिखते हैं, 'बड़ी स्त्री को अमिरती, मझली को गुलाबजामुन, और छोटी को मोहनभोग कहते थे। पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप से कम न थीं। घर में नित्य आँसुओं की नदी बहती रहती। खून की नदी तो पंडित जी ने भी कभी नहीं बहायी, अधिक से अधिक शब्दों की ही नदी बहायी थी, पर मजाल न थी कि बाहर का आदमी किसी को कुछ कह जाय। संकट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह पंडित जी के नीति चातुर्य का सुफल था, ज्यों ही खबर मिली कि पंडित चिंतामणि पर संकट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोषी की भाँति कुपित हो कर घर से निकलीं, और उनमें जो अन्य दोनों जैसी मोटी नहीं थीं, सबसे पहले समरभूमि के समीप जा पहुँची। पंडित मोटेराम जी ने उसे आते देखा, तो समझ गये कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ा कर बगटुट भागे। पीछे फिर कर भी न देखा। चिंतामणि जी ने बहुत ललकारा, पर मोटेराम के कदम न रुके।'

इसके बाद मोटेराम यथा समय दावत खाने पहुँचे, किंतु नहीं, वे दावत खाने तभी पहुँचे जब फिर से रानी के यहाँ से एक आदमी उन्हें बुलाने आया। निमंत्रण था, इसलिए दौड़े हुए चले गये. यह बात नहीं। मोटेराम की ही जबानी सुनिए— 'तुम नहीं समझ सकतीं कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हें ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है लोभी है, भुक्खड़ है। इसलिए चतुर लोग विलंब किया करते हैं, जिसमें यजमान समझे कि पंडित जी को इसकी सुध ही नहीं है, भूल गये होंगे, बुलाने को आदमी भेजें। इस प्रकार जाने में जो मान महत्व है, वह मरभुखों की तरह जाने में क्या कभी हो सकता है ? मैं बुलाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' इस प्रकार यजमानी का भी एक व्यावसायिक रहस्य है, इसकी भी एक कला है कि यजमान को कैसे धोखा दिया जाय, और यही पुरोहित वर्ग हमारे समाज का स्तंभ है।

जब मोटेराम अपनी स्त्री तथा बेटों के साथ रानी के यहाँ पहुँचे तो उन्हें यह इच्छा हुई कोई ऐसा भी होता जिसके साथ होड़ कर खाना खाया जाता। इसमें भी हम इस न्यौताखोर ब्राह्मण समाज के पतन का पता पाते हैं कि एक तो परलोक का हौआ खड़ा कर यजमान के यहाँ माल मारना, तिसपर इतना खाने की कोशिश करना कि उसका दिवाला पिट जाय। अंत में मोटेराम को इजाजत मिल गयी, और वे चिंतामणि को ले आने दौड़े। जब चिंतामणि और मोटेराम दोनों आने लगे तो रास्ते में चिंतामणि ने यह सोचा कि क्यों न हम पहले रानी साहबा के पास पहुँच कर अपना रंग जमावें। इस प्रकार इस पंडित समाज के आपस में कुत्ते की तरह लड़ने और ईर्ष्या करने की बात भी इस कहानी में आ गयी। चिंतामणि हलके थे इसलिए पहले रानी साहबा के यहाँ पहुँच गये, पहुँचते ही उन्होंने रानी साहबा से बतलाया कि मोटेराम तो मेरा शिष्य है। अंत में मोटेराम का पर्दाफाश हो गया, और चिंतामणि ने रानी को चुपके से बता दिया कि ये जो लड़के हैं, ये कौन हैं। रानी साहबा ने जानबूझ कर टामी कुत्ते को बुला लिया, नतीजा यह हुआ कि अंत में मोटेराम को सपरिवार बिना खाये वहाँ से चले जाना पड़ा।

× × ×

यों तो हम इस कहानी का सारसंकलन करते समय ही उस पर अपनी राय दे चुके हैं, इतना और बता दें कि इस प्रकार हास्यरस के जरिये से उन्होंने पंडित समाज का जो चित्र हमारे सामने रखा है, उससे यह ज्ञात होता है कि हमारे समाज का वह कितना सड़ा-गला अंश है, उसमें कितने ढोंग हैं और बेइमानी है। यह खूब समझ में आ जाता है कि क्यों इस परोपजीवी वर्ग को नष्ट करना चाहिए, और क्यों वह नष्ट होगा। सचमुच यह वर्ग हमारी हर तरह की प्रगति में बाधास्वरूप है। इस वर्ग की एक उपयोगिता यह हो सकती थी कि यह समाज के अन्न-जल से पुष्ट हो कर कम से कम संस्कृत में जो विद्या है, उसीकी रक्षा करते, उसे समझते और उसकी छानबीन करते; किंतु इनसे यह भी नहीं हुआ है। आज भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य दर्शन आदि को समझने तथा समझाने में इन पंडितों का स्थान नगण्य है, यह काम भी भंडारकर, राधाकृष्णन्, भगवानदास, अरविंद ऐसे व्यक्ति इनसे अच्छा करते थे। इन पंडितों की पढ़ाई में इतनी भारी त्रुटि है कि उनको काल की तो कोई तमीज ही नहीं

है, यदि ये कुछ पढ़ेंगे भी तो यह नहीं बता सकते कि कौन-सा लेखक किस समय का है, कौन-सा साहित्य किस साहित्य के पहले है। उनके निकट तो सारा संस्कृत साहित्य मानो एक ही दिन में रचित हुआ। हम इस विषय पर अधिक न कहेंगे, इतना और कहेंगे कि इस पंडित समाज के होने से समाज की हानि ही हानि है।

२० — मंत्र

पंडित लीलाधर चौबे हिंदू सभा के प्रमुख नेता थे, शुद्धि के तो मानो वे प्राण ही थे। वे गर्मी के दिनों में किसी पहाड़ी इलाके की ओर जाने की तैयारी ही कर रहे थे कि इतने में खबर आयी कि मद्रास में हिंदुओं को बड़े पैमाने पर मुसलमान बनाया जा रहा है। बस क्या था, उन पर जोर पड़ा और वे पहाड़ी इलाके के बजाय मद्रास के उस इलाके के लिए रवाना हो गये। यहाँ पर पंडित जी की वक्तृता हो रही थी कि सहसा एक बूढ़े अछूत ने आ कर उनसे प्रश्न पूछना शुरू किया। पंडित जी यह कह रहे थे कि तुम उन्हीं ऋषियों की संतान हो जो आकाश के नीचे एक नयी सृष्टि की रचना कर सकते थे, जिनके न्याय बुद्धि, विचार शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है। उस बूढ़े ने पूछा — आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं, तो ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर — इसलिए कि हम पतित हो गये हैं — अज्ञान में पड़ कर उन महात्माओं को भूल गये हैं।

बूढ़ा — अब तो आपकी निद्रा टूटी है। हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर — मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा — मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?

लीलाधर — जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का संबंध नहीं कर सकते। मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम अच्छे वर्ण के हिंदुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा — हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं जो एक

अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह संबंध करने में आपको कदाचित् इन्कार न होगा.....। हिंदू समाज में रह कर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान हो जायँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। ...हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं जिसके माननेवाले, हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम संस्कार बदल कर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे, वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं।

लीलाधर—एक ऋषिसंतान के मुँह से ऐसी बात सुन कर हमें आश्चर्य हो रहा है। वर्णभेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं—तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीनेवालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं, लेकिन आप गोमांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसलिए न कि वे आपसे बलवान हैं? हम भी आज राजा हो जायँ तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है जो बलवान है, वही नीच है जो निर्बल है। यही आपका धर्म है।

यह कह कर बूढ़ा वहाँ से चला गया। बूढ़े के ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका कोई उत्तर नहीं है, और प्रेमचंद ने इनका कोई उत्तर पंडित लीलाधर से दिलाया भी नहीं है, स्पष्ट है कि वे यह समझते हैं कि इन प्रश्नों का उचित उत्तर हिंदू समाज के पास नहीं है, फिर भी वे कहानी के बाकी हिस्से में अंत तक जा कर पंडित लीलाधर की जीत करा देते हैं। तब लीगवाले पंडित जी को कत्ल कराने के लिए दो व्यक्ति भेज देते हैं, वे उन्हें मरा समझ कर छोड़ कर चले जाते हैं, बूढ़ा पंडित जी को उठा कर ले जाता है। धीरे-धीरे बूढ़े में और पंडित जी में दोस्ती बढ़ती है, और अंत में दोनों में इतनी दोस्ती होती है कि मुल्लाओं का रंग फीका हो जाता है। बिल्कुल साफ है कि प्रेमचंद ने इस कहानी में जिन समस्याओं को उठाया है, तथा जिन प्रश्नों को सामने रखा है, उनको वे सुलझाते नहीं हैं। न सुलझावें किंतु जिस बेजा पक्षपात से वे इस कहानी का अंत कर देते हैं, वह उनकी हिंदू मनोवृत्ति का परिचायक है। यहाँ पर वे कलाकार के आसन से उतर जाते हैं। पंडित लीलाधर की सेवाओं का क्या असर हुआ,

इसका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं — 'यहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर सकता था।' इसके बाद प्रेमचंद भद्दे बेतुकेपन से यह कहते हैं — 'मुल्लाओं के यहाँ यह सिद्धि कहाँ, यह विभूति कहाँ यह चमत्कार कहाँ? इस ज्वलंत उपकार के सामने जन्नत और आकबत की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं?........ अपना घर अँधेरा पा कर ही ये इस्लामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया तो दूसरे के यहाँ जाने की क्या जरूरत थी? सनातन धर्म की विजय हो गयी।'

सनातन धर्म की विजय तो हुई, किंतु कला के दामों पर हुई।

२१ — हिंसा परमोधर्मः

एक ओर प्रेमचंद की कहानियों में मंत्र जैसी कहानी है जिसमें प्रेमचंद कट्टर रूप में आते हैं तो दूसरी ओर हिंसा परमोधर्मः नामक कहानी जिसमें वे सभी धर्मों को व्यंग की दृष्टि से देखते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। एक गाँव का आदमी जिसका नाम जामिद था भटकते-भटकते शहर में आ गया। वह थक कर एक मंदिर के चबूतरे पर जा बैठा। मंदिर बहुत बड़ा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। संगमरमर का चौक था, मगर आँगन में जगह-जगह कूड़ा पड़ा था। जामिद को गंदगी से चिढ़ थी। इधर-उधर निगाह दौड़ायी कि कहीं झाड़ू मिल जाय तो साफ कर दूँ, पर झाड़ू कहीं नजर नहीं आयी। विवश हो कर उसने दामन से चबूतरे को साफ करना शुरू कर दिया। थोड़ी देर में भक्त आये, उन्होंने जो एक मुसलमान को ठाकुर जी का मंदिर साफ करते देखा तो समझा कि शायद यह शुद्ध होना चाहता है।

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनों वक्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ़ रहा था, तो क्या देखता है कि सामने सड़क पर एक बलिष्ठ युवक, माथे पर तिलक लगाये, जनेऊ पहने, एक बूढ़े दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बूढ़ा रोता है, गिड़गिड़ाता है, किंतु युवक को उस पर दया नहीं आती। जामिद ऐसा दृश्य देख कर कूद कर बाहर निकला, और युवक के सामने आ कर बोला — इस बूढ़े को क्यों मारते हो, भाई, तुम्हें इस पर ज़रा भी

दया नहीं आती ?

युवक— मैं मारते-मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ डालूँगा।

जामिद ने बहुत समझाया, किन्तु उस युवक ने कहा कि इसकी मुर्गी रोज हमारे घर में घुस आती है, आज मैं इसकी हड्डी तोड़ कर तब मानूँगा। यह कह कर उसने बूढ़े को फिर एक चाँटा जड़ दिया। अब जामिद उस पर पिल पड़ा, और दोनों में कुश्ती हो गयी। जामिद ने युवक को उठा कर पटक दिया। अब भक्तगण जामिद पर पिल पड़े। जामिद बेदम हो कर गिर गया। तब लोगों में बातें होने लगीं।

—दगा दे गया।

—धत् तेरी जात की। इन म्लेच्छों से भलाई की आशा करना बेकार है। कौवा कौवों के ही साथ मिलेगा।

जामिद रात भर वहीं पड़ा रहा। सबेरे मुसलमानों ने उसकी बड़ी आवभगत की। सब उसे घेरघार कर काजी के यहाँ ले गये।

अब मुसलमानों के यहाँ उसकी आवभगत होने लगी। जामिद ने काजी साहब से हदीस और कुरान पढ़ना शुरू किया। काजी साहब के बगल का कमरा उसे रहने के लिए मिला। वह सोने जा रहा था कि सहसा उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। जामिद ने सोचा कोई होगा। नीचे आया तो देखा—एक स्त्री ताँगे से उतर कर बरामदे में खड़ी है, और ताँगेवाला उसका असबाब उतार रहा है। महिला ने मकान को इधर-उधर देख कर कहा—'नहीं जी, मुझे अच्छी तरह खयाल है, यह उनका मकान नहीं है, शायद तुम भूल गये हो।' किसी तरह ताँगेवाले ने झाँसा दे कर उसे जीने तक पहुँचाया। औरत ने ज्यों ही छत पर पैर रखा कि काजी साहब के दर्शन हुए। वह तुरंत पीछे की तरफ मुड़ना चाहती थी कि काजी साहब ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया, और अपने कमरे में घसीट लाये। उसी बीच में जामिद और ताँगेवाला ये दोनों भी ऊपर आ गये थे। महिला ने ताँगेवाले की ओर खून भरी आँखों से देख कर कहा—तू मुझे यहाँ क्यों लाया ?

काजी साहब ने तलवार चमका कर कहा—पहले आराम से बैठ जाओ।..... हम तुमको अपने मजहब में शामिल करना चाहते हैं, बेआबरू नहीं करना चाहते। इस्लाम कबूल करने से आबरू बढ़ती है, घटती नहीं। इस्लाम औरतों

के हक का जितना लिहाज करता है उतना और कोई मजहब नहीं करता। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद को दिखा कर) तुम्हारे सामने खड़े हैं, इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा । बस, आराम से जिन्दगी के दिन बसर करना ।

बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गयी, औरत ने दरवाजे के पास जा कर कहा — मैं कहती हूँ दरवाजा खोल दो। जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्यों ही स्त्री दरवाजे की तरफ चली, और काजी साहब ने उसका हाथ पकड़ कर खींचा, जामिद ने तुरंत दरवाजा खोल दिया, और काजी साहब से बोला — इन्हें छोड़ दीजिए।

काजी — क्या बकता है ?

जामिद — कुछ नहीं। खैरियत इसीमें है कि इन्हें छोड़ दीजिए। अंत में जामिद ने जबरदस्ती उस स्त्री को छुड़ा दिया और उसको घर पहुँचा दिया।

स्त्री ने घर पहुँच कर अपने पति से सारा हाल सुनाया, और जामिद की तारीफ की। सारी कहानी सुन कर उस औरत के पति ने उसको रोक कर उसका आदर-सत्कार करना चाहा, किंतु जामिद न रुका। उसने कहा — जी नहीं, अब मुझे इजाज़त दीजिए।

पंडित — मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ ?

जामिद — इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा, मेरी आपसे यही दरख्वास्त है।

यह कह कर जामिद चल खड़ा हुआ।.....वह जल्द से जल्द शहर से भाग कर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ मजहब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गयी थी।

× × ×

इस कहानी में जो चित्र पेश किये गये हैं, उनमें सब धर्मों का थोथापन ही स्पष्ट होता है। यह ज्ञात होता है कि धर्म केवल दलबंदी का एक स्वरूप है, और धर्मध्वजी चाहे वे हिंदू हों, चाहे मुसलमान बिलकुल पेशेदार होते हैं, और अक्सर अपराधी की श्रेणी में आ जाते हैं। अवश्य इस कहानी में भी प्रेमचंद धर्म के वर्गचरित्र को स्पष्ट नहीं कर पाये ; किंतु फिर भी एक हद तक उन्होंने

धर्मों की असारता को प्रतिपादित किया है। 'मंत्र' और इस कहानी को एक साथ पढ़ने पर यह ज्ञात हो जायगा कि ये दोनों कहानियाँ विभिन्न mood में लिखी गयी हैं, और दोनों के रुख में बहुत अंतर है। 'मंत्र' में जहाँ कलाकार की वास्तविकता बल्कि वस्तुपरायणता से च्युत हो कर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ग्रहण करते हैं, वहाँ पर इस कहानी में वे एक वस्तुवादी कलाकार की तरह सब धर्मों की बुराई देखने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार स्वयं प्रेमचंद ही प्रेमचंद अर्थात् 'मंत्र' के प्रेमचंद से कहीं आगे बढ़े हुए ज्ञात होते हैं।

२२ — लांछन

मुन्शी श्यामकिशोर और उसकी स्त्री देवी में बहुत प्रेम था, देवी एक असामान्य सुन्दरी थी। झाड़ूवाला मुन्नू जो रजा मियाँ नामक एक आशिक-मिजाज व्यक्ति से मिला हुआ है, वह रोज गुसलखाने की सफाई के समय आ कर देवी से चिकनी-चुपड़ी बात करता है, और एक दिन वह कह देता है कि श्यामकिशोर बाबू तो अक्सर दालमंडी की हवा खाते हैं। इधर मुन्नू इस प्रकार की बात ही कर रहा था कि श्यामकिशोर ने उसकी बात का एक टुकड़ा सुन लिया। श्यामकिशोर को शक हो जाता है कि मुन्नू कुछ न कुछ ऐसी बात देवी से किया करता है जो उसे नहीं करना चाहिए। वह शक करता है, उसके शक की पुष्टि इस बात से होती है कि देवी उससे दालमंडी के विषय में पूछती है। किसी तरह यह मामला रफा होता है। मुन्नू अक्सर जो बात करता है, उसमें वह देवी के सौंदर्य की घुमाव-फिराव के साथ बहुत प्रशंसा करता है। उदाहरणार्थ वह कहता है—हुजूर के चेहरे-मोहरे की कोई औरत मैंने तो नहीं देखी।

देवी—चल झूठे, इतनी खुशामद करना किससे सीखा?

मुन्नू—खुशामद नहीं करता, सरकार, सच्ची बात कहता हूँ। हुजूर एक दिन खिड़की के सामने खड़ी थीं। रजा मियाँ की निगाह आप पर पड़ गयी। जूते की बड़ी दूकान है उनकी। अल्लाह ने जैसा धन दिया है, वैसा ही दिल भी। आपको देखते ही आँखें नीची कर लीं। आज बातों-बातों में हुजूर की शक्ल-सूरत को सराहने लगे। मैंने कहा जैसी सूरत है, वैसा ही सरकार को अल्लाह ने दिल भी

दिया है।

देवी — अच्छा, वह लंबा सा साँवले रंग का जवान ?

देवी इस बात को इससे आगे नहीं बढ़ाती, बल्कि वह निगोड़े की आँखें फूट जायँ वगैरह कह कर इस मामले को यहीं तक रखती है। फिर भी मुन्नू को वह रोटियाँ दे कर विदा करती है। जाते समय मुन्नू फिर बड़ी तारीफ करता है, और यह कहता है — 'सच कहता हूँ, हुजूर को देख कर भूख-प्यास जाती रहती है।' श्यामकिशोर इस समय आता है और बात का पिछला हिस्सा सुन लेता है। अब तो मियाँ-बीबी में झाँय-झाँय होती है। इसी बीच में एक दिन श्यामकिशोर अपनी स्त्री और लड़की को ले कर ताँगे पर थियेटर जा रहे थे, पीछे देखा तो रजा मियाँ का ताँगा चला आ रहा है, उसमें रजा और मुन्नू दोनों बैठे हैं। श्यामकिशोर को बड़ा क्रोध आता है, और वह अपना रास्ता छोड़ कर दूसरे रास्ते से जाता है, किंतु उसके पीछे वह ताँगा भी चलता है। बड़ी मुश्किल से उस ताँगे का पीछा छुटा। इस बीच में रजा देवी की लड़की शारदा के लिए खिलौने भी भेजता है, श्यामकिशोर इन खिलौनों को देख लेता है, और नाराज हो जाता है। श्यामकिशोर उस मकान को ही छोड़ देता है। वहाँ भी मुन्नू पहुँच कर लड़की शारदा को खिलौने देता है। श्यामकिशोर रास्ते में मुन्नू को लौटते देखते हैं, आ कर पत्नी से पूछते हैं कि मुन्नू आया था कि नहीं। देवी बता देती है कि आया था। उसको क्यों आने दिया गया, इस पर वे नाराज होते हैं। फिर खिलौनों को देख कर वे आगबबूला हो जाते हैं। किसी तरह मामला सुलझता है। शारदा इन खिलौनों को ले कर अपनी सहेलियों को दिखाने के लिए व्यग्र हो कर रास्ते से गुजरती है, इतने में एक मोटर आती है, और वह उसके नीचे दब कर मर जाती है। शारदा के मर जाने से मियाँ-बीबी में साम-यिकरूप से संधि हो जाती है और फिर वे यह समझते हैं कि आपस में बड़ा प्रेम है। इतने में फिर एक दिन मुन्नू आता है, और रजा मियाँ भी आते हैं, और लड़की की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हैं। वे इस ढंग से शोक प्रकट करते हैं कि श्याम-किशोर उन्हें जाते हुए देख लें। नतीजा यह है फिर मियाँ-बीबी में खटपट शुरू होती है, और अब की यह खटपट बहुत उग्र रूप धारण करती है। अब तो श्यामकिशोर देवी को मुँह पर हर्जाई कहता है, तथा उसको मारता-पीटता भी है। थप्पड़ और घूँसे खा कर वह न रोती है, न चिल्लाती है, केवल अर्धशून्य

नेत्रों से पति की ओर ताकती रही, मानो यह निश्चय करना चाहती थी कि यह आदमी है या कुछ और। श्यामकिशोर चला जाता है, देवी को ऐसा ज्ञात होता है कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही नहीं था। इस प्रकार के विचारों के वशवर्ती हो कर वह घर छोड़ने पर तैयार हो जाती है। इतने में गहरी रात में शराब पी कर श्यामकिशोर लौटता है, तब तो देवी घर छोड़ने के पक्ष में निश्चय कर लेती है, और चुपके से घर छोड़ कर स्टेशन पहुँचती है। वहाँ उसे यह नहीं सूझता कि कहाँ जावे, और क्या करे, इसलिए वह रजा मियाँ के यहाँ पहुँचती है। श्यामकिशोर जब यह माजरा देखता है तो वह आत्म-हत्या के लिए चल देता है।

× × ×

हमने अब तक प्रेमचंद की जिन कहानियों की समालोचना की उनमें से यह कहानी किसी कहानी की श्रेणी में नहीं आती। यह कहानी मोपाँसा के ढंग की है, इसमें ह्रासशील मध्यमश्रेणी के मौन जीवन का चित्र खींचा गया है। पति यदाकदा दालमंडी की सैर करते हैं। पत्नी अपने सौंदर्य की प्रशंसा ऐसे एक व्यक्ति के मुँह से सुनती है, जिसकी प्रशंसा का केवल एक ही अर्थ हो सकता है। रजा मियाँ और मुन्नू तो शोहदे हैं ही, और वे इसलिए और भी भयंकर शोहदे हैं कि वे अपने वर्ग के मनोविज्ञान को खूब अच्छी तरह समझते हैं, और यह जानते हैं कि किस तरह मियाँ और बीबी में खटपट करायी जाती है। मियाँ शक्की हैं, किंतु पत्नी भी ऐसे काम करती है जिससे खामखवाह शक पैदा हो। हमने अपने संक्षिप्त संकलन में यह नहीं बताया किंतु मूल कहानी में यह भी है कि रजा मियाँ जब खिलौने भेजता है तो वह अपनी बेटी से कहती है— 'ला बेटी, तेरे खिलौने रख दूँ, बाबू जी देखेंगे तो बिगड़ेंगे। कहेंगे रजा मियाँ के खिलौने क्यों लिये। तोड़-ताड़ कर फेंक देंगे। भूल कर भी उनसे खिलौनों की चर्चा न करना।'

इस संबंध में देवी के लिए सबसे अच्छा ढंग यह होता कि वह पूर्ण सत्य को पति के सामने रख देती, और फिर जैसा कि दोनों मुनासिब समझते वैसा किया जाता, किंतु वह तो अपने सौंदर्य की प्रशंसा में भूली हुई थी, वह समझती थी कि मेरी बड़ी कद्र हो रही है, उसने न केवल खुद इस चीज को छिपाया, बल्कि लड़की से भी इस बात को छिपाने के लिए कहा। मियाँ का भी दोष कम नहीं

है। जब शक का बहुत कम कारण था तभी वह इतना शक प्रकट करता है मानो देवी किसी के साथ फँस गयी हो। अंत में जो इसका परिणाम था, वह होता है, देवी रज़ा के जाल में फँसती है, और श्यामकिशोर को आत्महत्या करते हुए दिखाया जाता है। इस संबंध में एक बात और यह भी द्रष्टव्य है कि अंत में देवी का इरादा रजा के यहाँ जाने का नहीं था, किंतु जब वह सामने अँधेरा देखती है, साथ ही पीछे लौटकर श्यामकिशोर के घर में जाने को अकल्पनीय पाती है, तब वह रजा का आश्रय लेती है। इसके पीछे रजा के प्रति कोई प्रेम नहीं बल्कि मजबूरी है। यह मजबूरी उस सारे स्त्री-समाज की मजबूरी है जो रोटी-कपड़े के लिए अपने पतियों का मुहताज रहता है। यदि यह मजबूरी न होती तो शायद ही वह रजा के चंगुल में फँसती। वर्तमान समाज-पद्धति में स्त्रियों की सबसे बड़ी मजबूरी यही है। इसी मजबूरी के कारण पति अपनी पत्नियों को पीटते हैं, और उन्हें इसको सहन करना पड़ता है। इसी सहनशक्ति को मूर्खों ने सतीत्व के गुणों में से बता रखा है, किंतु असल में इस सहनशीलता का असली रूप मालिक और नौकर के बीच जो एकतरफा सहनशीलता रहती है, उससे कुछ भिन्न नहीं है।

यह कहानी सफल रही किंतु श्यामकिशोर से आत्महत्या करवायी है, वह शायद जरूरी नहीं था।

२३—कफ़न

झोपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए थे, और अन्दर बेटे की जवान बीबी बुधिया प्रसव वेदन से पछाड़ें खा रही थी, और रह-रह कर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देनेवाली आवाज़ निकल रही थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे।

घीसू ने कहा — मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन तड़पते हो गया, जा, देख तो आ।

माधो चिढ़ कर बोला — मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देख कर क्या करूँ?

चमारों का कुनबा था, और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधो इतना कामचोर था कि घंटे भर काम करता,

तो घंटे भर चिलम पीता। इसलिए इनको कोई नौकर नहीं रखता था। घर में मुट्ठी भर अनाज हो तब तो ये किसी भी प्रकार काम न करते। जब दो-एक उपवास हो जाते तो घीसू पेड़ों पर चढ़ कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधो बाजार से उन्हें बेच कर कुछ लाता और जब तक पैसे रहते तब तक वे दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फिर उपवास की नौबत आती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या कहीं मेहनत-मजदूरी करते। गाँवों में काम की कमी न थी, काश्तकारों का गाँव था, किंतु ये लोग काम करें तब न। घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवाय कोई चीज न थी। वे फटे-चिथड़ों से अपना गुजारा कर लेते थे। उन्हें बिल्कुल कोई चिंता न थी। वसूली की कतई आशा न होने पर भी लोग उनका बुरा हाल देख कर कभी-कभी कुछ न कुछ उधार भी दे देते थे। उधार चुका न पाने पर उन पर गालियाँ भी पड़ती थीं, किंतु इसका उन्हें कोई गम नहीं था। मटर या आलू की फसल में वे खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते, और भून-भून कर खा लेते, या दस-पाँच ऊख तोड़ लाते और रात को चूस कर सो रहते। घीसू ने इसी तरीके से साठ साल की उम्र काट दी, और माधो भी सपूत की तरह बाप का पदानुसरण कर रहा था, बल्कि उसका नाम और भी बढ़ा रहा था। इस समय भी दोनों अलाव के सामने बैठे हुए आलू भून रहे थे जो किसी के खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री तो न मालूम कब मर गयी थी, माधो की शादी पिछले साल हुई थी। जब से वह स्त्री आयी थी, तबसे वह पिसाई करके, घास छील कर सेर भर आटे का इंतजाम कर लेती थी, और इन दोनों बेशर्मों का पेट पालती थी। तबसे ये दोनों और विलासी और आलसी हो गये थे, बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई काम करने बुलाता तो बिल्कुल बे-फिक्री से दुगुनी मजदूरी माँगते जिससे कि काम करने की नौबत ही नहीं आती। वह स्त्री आज सबेरे से मरणासन्न थी, और ये दोनों शायद इसी प्रतीक्षा में थे कि वह मर जावे तो वे आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकाल कर छीलते हुए कहा—जा कर देख तो आ कि हालत क्या है।

किंतु माधो को यह डर था कि कहीं वह कोठरी में गया तो घीसू उसके हिस्से का आलू खा न जाय, इसलिए उसने कहा—मुझे डर लगता है।

— डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही।

— तो तुम्हीं जा कर देख न आओ।

— मेरी स्त्री जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला भी नहीं, और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं।.....

— मैं सोचता हूँ कि कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा, सोंठ, गुड़, तेल कुछ भी तो घर में नहीं है।

— सब कुछ आ जायगा। भगवान बच्चा दें तो जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वही तब बुला कर देंगे। मेरे नौ लड़के हुए। घर में कभी कुछ नहीं था, मगर हर बार इसी तरह काम चल गया।

जिस समाज में रात-दिन काम करनेवालों की हालत इनकी हालत से कुछ अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबिले में वे लोग जो किसानों की कमजोरियों से फायदा उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहाँ इस किस्म की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

दोनों आलू निकाल-निकाल कर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना धैर्य नहीं था कि उन्हें ठंडा हो जाने दें। कई बार दोनों की जीभें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का ऊपरी हिस्सा तो अधिक गरम न मालूम होता, किंतु दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जीभ, गला और तालू को जला देता था। दोनों कोशिश करते कि हम अधिक खा लें, और इस कोशिश में उन दोनों की आँखों से आँसू निकल रहे थे।

घीसू को इस वक्त एक ठाकुर की बारात याद आयी जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस अवसर पर उसने जो-जो माल खाये थे, और सो भी पेट भर वह फिर कभी नसीब नहीं हुआ। लड़कीवालों ने सबको पूड़ियाँ खिलायी थीं। और असली घी की पूड़ियाँ। चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, मिठाई। घीसू उस बारात की हाँकने लगा—महकती हुई कचौड़ियाँ बिना पूछे डाल देते थे, मना करने पर भी नहीं मानते थे।.......

माधो सुनता और हैरान होता। सोचता शायद बुड्ढा कुछ बना कर बातें कर रहा है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि ऐसा भी हो सकता है।

बूढ़ा बोला—अब कोई क्या खिलायेगा ? वह जमाना दूसरा था, अब तो सबको किफायत सूझती है। कहते हैं शादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो। पूछो गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे ? बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।

माधो अभी तक रायता, दही, चटनी की बातें सोच रहा था। उसे शायद दार्शनिकतापूर्ण टिप्पणी पसन्द न आयी, बोला—'तुमने एक बीस पूड़ियाँ खायी होंगी।'

'बीस से ज्यादा खायी थीं।'

'मैं पचास खा जाता।'

'पचास से कम मैंने भी न खायी होंगी, अच्छा पट्टा था। तू उसका आधा भी नहीं है।'

आलू खा कर दोनों ने पानी पी लिया, और वहीं पर धोतियाँ ओढ़ कर पड़ रहे। उधर बुधिया कराह रही थी।

सबेरे माधो ने कोठरी में जा कर देखा, तो उसकी स्त्री ठंडी हो गयी थी, उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथरायी हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधो भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोसियों ने यह रोना-धोना सुना तो दौड़े हुए आये, और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे। किंतु अधिक रोने-धोने का मौका नहीं था। कफन और लकड़ी की फिक्र करनी थी। घर से पैसा उस तरह गायब था जैसे चील के घोंसले से मांस। बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमींदार के पास पहुँचे। जमींदार दोनों की सूरत से नफरत करते थे। कई बार उन्हें अपने हाथों पीट चुके थे। किंतु जब यह सुना कि इनके घर में मौत हो गयी है, तो कुछ नरम पड़े, फिर भी बोले—चल दूर हो यहाँ से। लाश को घर में रख कर सड़ा। यों तो बुलाने पर भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी तो आ कर खुशामद कर रहा है। हरामखोर कहीं का, बदमाश।—यह मौका क्रोध का नहीं था, इसलिए बड़बड़ाते हुए उनकी तरफ दो रुपये निकाल कर फेंक दिये, किंतु उनकी तरफ ताका भी नहीं।

जब जमींदार ने दो दिये तो औरों ने भी कुछ दिये। किसी ने दो आने दिये तो किसी ने चार। एक घंटे में घीसू के पास पाँच रुपये की रकम हो गयी। किसी ने लकड़ी ही दी।

अब दोनों कफन लेने बाजार की ओर चले। बाजार में पहुँच कर घीसू बोला — लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गयी है, माधो।

माधो बोला — हाँ लकड़ी तो बहुत है। अब कफन चाहिए।

— तो कोई हल्का सा कफन ले लें।

— हाँ, और क्या। लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफन कौन देखता है।

— कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाकने को चिथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए .....।

—कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है।

—और क्या रखा रहता है, यही पाँच रुपये पहले मिलते तो कुछ दवा-दारू कर लेते।

दोनों एक-दूसरे के मन को टोह रहे थे। बाजार में इधर-उधर घूमते रहे, यहाँ तक कि संध्या हो आयी। दोनों अचानक एक शराबखाने के सामने आ पहुँचे, और मानो किसी तय किये हुए फैसले के अनुसार अंदर घुस गये। वहाँ जरा देर तक दोनों किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में खड़े रहे। फिर घीसू ने एक बोतल शराब ली, कुछ गजक ली, और दोनों बरामदे में बैठ कर पीने लगे।

कई कुज्जियाँ पीने के बाद दोनों नशे में हो गये। घीसू बोला—कफन लगाने से क्या मिलता ? आखिर जल ही तो जाता, कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधो आकाश की तरफ देखते हुए बोला — मानो देवताओं को अपनी निर्दोषिता का विश्वास दिला रहा हो — दुनिया का दस्तूर है! नहीं लोग ब्राम्हनों को हजारों रुपये क्यों देते हैं ? कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।

—बड़े आदमियों के पास धन है फूकें, हमारे पास फूकने को क्या है ?

—लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे ? पूछेंगे नहीं कफन कहाँ है ?

घीसू हँसा — अबे कह देंगे रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूँढा, मिले नहीं।

माधो भी हँसा—बड़ी अच्छी थी बिचारी, मरी भी तो खिला-पिला कर।

आधी बोतल से अधिक खतम हो गयी। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगवायीं,

गोश्त और सालन, और चटपटी कलेजियाँ और तली हुई मछलियाँ। शराबखाने के सामने दुकान थी। लपक कर दो पत्तो मे सारी चीजे ले आया। दोनो इस समय इस शान से बैठे हुए पूडियाँ खा रहे थे जैसे जगल मे शेर अपना शिकार उडा रहा हो। उन्हे कोई फिक्र नही थी, न जबाबदेही का डर था। घीसू दर्शनिक भाव से बोला—हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है तो क्या उसको पुन्न न होगा।

माधो ने श्रद्धा से सिर झुका कर तसदीक की—जरूर से जरूर होगा। भगवान, तुम अंतर्यामी हो। उसे ऊँची गत देना। हम दोनो हृदय से आसीस दे रहे हैं, आज जो भोजन मिला वह कभी उम्र भर न मिला था।

एक मूहूर्त के बाद माधो के दिल मे एक आतक पैदा हुआ, बोला—क्यो दादा, हम लोग भी तो एक न एक दिन वहाँ जायँगे ही।

घीसू ने इस बचपनभरे प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया, माधो की तरफ तिरस्कारभरी दृष्टि से देखता रहा।

—जो वहाँ हम लोगो से वह पूछेगी कि तुमने हमे कफन क्यो नहीं दिया, तो क्या कहोगे?

—कहेगे तुम्हारा सिर।

—पूछेगी तो जरूर।

—तू कैसे जानता है उसे कफन न मिलेगा? तू मुझे ऐसा गदहा समझता है? मैं साठ साल दुनिया मे क्या घास खोदता रहा हूँ? उसको कफन मिलेगा और बहुत अच्छा मिलेगा।

माधो को विश्वास न आया। बोला—कौन देगा? रुपये तो तुमने चट कर दिये।

घीसू गर्म हो कर बोला—मैं कहता हूँ उसे कफन मिलेगा, तू मानता क्यो नही।

—कौन देगा, बताते क्यो नही?

—वही लोग देंगे जिन्होने अब की दिया। हाँ अब की रुपये हमारे हाथ नही आयेंगे। (और अगर किसी तरह आ जायँ तो फिर हम इस तरह यहाँ बैठे पियेगे, और कफन तीसरी बार मिलेगा।)

ज्यो-ज्यो अँधेरा होता जाता था, त्यो-त्यो तारे निकलते जाते थे।

बाप-बेटे पीते रहे। खाने से छुट्टी पा कर माधो ने बची हुई पूडियो का पत्तल एक भिखारी को दे दिया। घीसू बोला — ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे। जिसकी कमाई है, वह तो मर गयी। बड़ी गाढी कमाई के पैसे हैं।

माधो ने फिर आसमान की तरफ देख कर कहा — वह बैकुठ जायेगी। दादा, वह बैकुठ की रानी बनेगी।

घीसू जैसे हर्ष की लहरो मे तैरते हुए बोला — हाँ बेटा, बैकुठ मे वह नही जायेगी तो क्या वे मोटे-मोटे लोग जायेंगे जो गरीबो को दोनो हाथ से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गगा नहाते हैं, और मदिरो मे जल चढाते है।

नशा चढ रहा था। माधो रोते हुए बोला — मगर दादा, बेचारी ने जिदगी मे बड़ा दुख भोगा। कितना दुख झेल कर मरी!

घीसू ने समझाया — क्यो रोता हे बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गयी। जजाल से छूट गयी। बडी भाग्यवान थी जो इतनी जल्द मायामोह के बधन तोड दिये।

और दोनो वही खडे हो कर गाने लगे —

ठगिनी क्यों नेना झमकावे, ठगिनी।

सारा शराबखाना इस समय मस्त हो रहा था, और ये दोनो शराबी नशे मे होते जाते थे। फिर दोनो नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी, गिरे भी, मटके भी, भाव भी बताये और आखिर नशे से बदमस्त हो कर वही पर गिर पडे।

× × ×

'कफन' कहानी प्रेमचद की कदाचित् सर्वोत्तम कहानी है। इसमे वे गरीबो के प्रति जिस असीम सहानुभूति के साथ हमारे सामने आते है, वह अतुलनीय है। इस कहानी की सबसे बडी बात यह है कि जिनको साधारणत: आवारा और कामचोर कह कर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, प्रेमचद ने यह दिखलाया है कि वे इसी विषमतापूर्ण पद्धति की उपज है। उन्होने कितने जोरो के साथ कहा है कि जिस समाज मे काम करनेवाले भी भूखो मरते है, और काम न करनेवाले भी (यहाँ उन परोपजीवियो से मतलब नही हे, जो अपनी जमीन या पूँजी की कमाई खाते है), उस समाज मे लोगो मे काम न करने की ओर प्रवृत्ति होगी, इसमे क्या आश्चर्य है। वस्तुस्थिति भी यही है। उन्होने बल्कि इससे भी जोरदार शब्दो मे अपने वक्तव्य को पेश करते हुए बतलाया हैं

कि ये कामचोर आवारे उन किसानों के मुकाबिले में अधिक दूरदर्शी थे क्योंकि जब तड़प-तड़प कर मरना ही है तो फिर काम क्यों किया जाय, और ज्ञान में जिन्दगी क्यों खपायी जाय।

इस कहानी में यह दिखलाया गया है कि यद्यपि माधो और घीसू कफन के लिए मिले हुए पैसे को शराब में उड़ा जाते हैं, किंतु फिर भी कम से कम माधो में अब भी मनुष्यता की चिनगारियाँ मौजूद हैं। दुख है कि इन चिनगारियों को अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिलीं, नहीं तो वे सामाजिक होमशिखा के रूप में जल उठतीं, और अपने इर्द-गिर्द के अंधकार को दूर करने में समर्थ होतीं, इसमें संदेह नहीं। इस प्रकार विषमतामूलक समाज-पद्धति के कारण समाज को कितनी हानि हो रही है इसे हम इस कहानी में देख सकते हैं। माधो अभी संपूर्ण-रूप से असामाजिक नहीं है। यद्यपि परिस्थितियों और अपने पिता के उदाहरण के कारण वह भी कामचोर है, फिर भी शराब के नशे में वह अपी स्त्री के संबंध में जो भाव व्यक्त करता है, उससे हम उसके हृदय को पढ़ सकते हैं। अवश्य घीसू घिस कर बहुत पक्का कामचोर हो चुका है, उसे किसी आदर्श पर विश्वास नहीं रह गया है, न उसे धर्म पर विश्वास है, न परलोक पर, किंतु जैसा कि हम बता चुके, उसने साठ साल तक घास नहीं खोदी, और अपने तजुर्बे से यह समझ चुका था कि सभी बातें ढकोसला हैं। घीसू की बातचीत के विश्लेषण से हम इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य हैं कि वह जैसा भी बना है उसके लिए समाज जिम्मेदार है। घीसू और माधो के अंतराल में जो स्त्री मर जाती है, और जो किसी भी हालत में कामचोर नहीं थी, उस पर भी दो शब्द। उसने मरने के दिन तक कुटाई-पिसाई की, किंतु इससे उसे क्या मिला? कुछ भी नहीं। ऐसी हालत में यह आशा करना कि उसकी श्रमशीलता का उसके पति या ससुर पर कोई असर पड़ता, गलत है।

कफन दो आवारों की और एक अच्छी औरत की कहानी नहीं है, बल्कि यह दुनिया के शोषितों की कहानी का एक ऐसा पहलू है जिस पर अक्सर कोई ध्यान नहीं देता। इस कहानी में इस बात की ओर भी इशारा किया गया है कि एक सही अपराध विज्ञान विशारद को किन दिशाओं में सोचना है, और अपनी सुधारक वृत्तियों को किन दिशाओं में ले जाना है। यह कहानी हमें बतलाती है कि कामचोरी की ओर प्रवृत्तिकी दवा work houses या

जेल नहीं हैं, जहाँ लोगों से मार-मार कर काम लिया जाता है, बल्कि इस विषमतापूर्ण शोषक-मूलक समाज-पद्धति का आमूल उत्पाटन है।

जब हम बारीकी से इस कहानी के ताने-बाने पर नजर डालते हैं तो हमें इसके अत्यंत उच्च शिल्प की प्रशंसा करनी पड़ती है। कहानी के प्रत्येक वाक्य को हम पढ़ते हैं तो हमें पहले हँसी आती है, किंतु चेहरा हँसी से खिल भी नहीं पाता कि रोना आ जाता है। यही इस कहानी की सबसे उच्च प्रशंसा है। चेकाफ इस तरह के लिखने में सिद्धहस्त थे। हमें एक छोटी सी बात याद आ रही है कि चेकाफ ने स्कूल मास्टर के जीवन का चित्रण एक छोटे से दृश्य में कर दिया। मरते समय स्कूल मास्टर प्रलाप बक रहा है, किंतु उसमें वह क्या कहता है। वह कहता है वोल्गा नदी अमुक पहाड़ से निकल कर अमुक-अमुक स्थान से होती हुई अमुक सागर में जा कर गिरती है। एक मरणासन्न व्यक्ति के मुँह में ये बातें कितनी हास्यजनक हैं, किंतु साथ ही कितनी करुण हैं। इस मास्टर ने बीसियों वर्ष तक सैकड़ों छात्रों के सामने इसी वाक्य की पुनरावृत्ति की होगी, और अब वह उसी को कह रहा है। इसी प्रकार 'कफन' में जब बाप-बेटा आलू छीलते समय यह कोशिश करते हैं कि एक दूसरे से अधिक खावें और इस कोशिश में उनकी जीभ और तलुआ जल जाते हैं, तो हमें हँसी आती है, किंतु साथ ही रोने को भी जी चाहता है कि इतनी गरीबी। हमें इन पर पहले-पहल कुछ क्रोध भी आता है कि ये लोग काम क्यों नहीं करते किंतु जब प्रेमचन्द आँखों में उँगली डाल कर हमें खुद बतला देते हैं कि इस समाज में काम करने से कुछ फायदा नहीं है, तो हमारा क्रोध लुप्त हो जाता है, अर्थात् हमारा क्रोध उस समाज-पद्धति पर जा कर पड़ता है जिसमें इस तरह की बेहूदगी संभव है, बल्कि आम है। इसी क्रोध को भड़का सकने के कारण प्रेमचन्द इस कहानी में यदि शिल्प की दृष्टि चेकाफ हैं, तो अन्य दृष्टि से गोर्की की श्रेणी में आते हैं। इस कहानी में उनकी कला आत्मप्रबुद्ध रूप में सामने आती है। अब उनकी कला में कोई झिझक नहीं है। वे जानते हैं कि उन्हें क्या करना है। जब वे घीसू से कहलाते हैं—कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढकने को चिथड़े भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए तो किस पाठक का हृदय टुकड़ा-टुकड़ा नहीं हो जाता है। यह केवल बुधिया की बात नहीं है बल्कि यह भारत के सब गरीबों की कहानी है कि जीते जी उनको इलाज के लिए

रुपये नही मिलते, किंतु मरने के बाद धर्मोपजीवी तथा अन्य परोपजीवी अपना टैक्स लेने मे नही चूकते। इस कहानी मे भी प्रेमचद धर्म को आडे हाथो लेने से नही चूकते। इसमे सदेह नही कि यह कहानी विश्वसाहित्य की एक अमरकृति है। धूर्जटी बाबू ने जो इसे रत्न कह कर स्मरण किया है यह उचित ही है और उन्होने जितना रत्न समझ कर प्रशसा की है, उससे यह कही बडा रत्न है। यह केवल साहित्य नही बल्कि हमारे सग्राम मे काम आनेवाला एक उच्चकोटि का हथियार है।

प्रेमचंद के नाटक

विविध रचनाएँ : प्रेमचंद ने अपने जीवनकाल में साहित्य संबंधो बहुत से प्रयास किये, जिनमें नाटक रचना भी है। वे स्वयं जानते थे कि नाटक रचना उनका क्षेत्र नहीं है, फिर भी कथानक की मजबूरी के कारण वे नाटक लिखने पर बाध्य हुए। उनके दिमाग में कुछ कथानक ऐसे आये जिन्हें वे उपन्यास अथवा कहानी का रूप नहीं दे सकते थे। श्री रामचंद्र शुक्ल ने उनके संबंध में लिखते हुए यह राय दी है कि हिंदी के कुछ कवियों और उपन्यासकारों ने भी (यहाँ अन्य लेखकों के साथ प्रेमचंद का नाम है) नाटक की ओर हाथ बढ़ाया, पर उनका मुख्य स्थान कवियों और उपन्यासकारों के बीच ही रहा।

संग्राम की भूमिका : इस संबंध में 'संग्राम' की भूमिका में प्रेमचंद ने जो कुछ लिखा वह द्रष्टव्य है —

"आजकल नाटक लिखने के लिए संगीत का जानना जरूरी है, कुछ कवित्व शक्ति भी होनी चाहिए। मैं इन दोनों गुणों से असाधारणतः वंचित हूँ, पर इस कथा का ढंग ही ऐसा था कि मैं उसे उपन्यास का रूप नहीं दे सकता था। यही इस अनधिकार चेष्टा का मुख्य कारण है।"

नाटक के गाने भी लिखे : उनको यह आशा थी कि उनके नाटक रंगभूमि पर खेले जा सकते हैं। अवश्य वह यह समझते थे कि स्टेज मैनेजर उनके नाटक में कहीं-कहीं काट-छाँट करेंगे। यद्यपि वे संगीत नहीं जानते थे, फिर भी उन्होंने नाटक के गाने भी खुद ही लिखे।

कर्बला

कर्बला मुस्लिम इतिहास की एक बहुत प्रसिद्ध घटना को ले कर लिखा गया है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, और इसमें उस घटना को चित्रित

किया जाता है जो मुस्लिम पुराण में हजरत मुहम्मद के समय के बाद की सबसे प्रसिद्ध घटना मानी जाती है । इस घटना को अपने नाटक के कथानक के रूप में चुन कर प्रेमचंद ने मानो अपने माथे पर असफलता का टीका खुद ही लगा लिया। हिंदू पाठकों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे इस घटना की सारी पृष्ठभूमि को जानें, और मुसलमान कट्टर होने के कारण इस बात को पसंद ही नहीं करते कि एक गैर मुसलमान उनकी सबसे प्रसिद्ध पौराणिक घटना को ले कर कोई नाटक लिखे।

कर्बला पर मुसलमान आलोचक : सचमुच मुसलमान समालोचकों ने यह बात कही भी। प्रेमचंद को यह बात कुछ पसंद नहीं आयी क्योंकि उनका उद्देश्य किसी को छोटा करके देखना नहीं था बल्कि गौरवमंडित करना ही था। पर जब आलोचकों ने ऐसी बात कही तो प्रेमचंद को बहुत ठेस पहुँची और उन्होंने अपने एक मित्र को अपने पत्र में साफ-साफ लिख दिया कि जब हसन निजामी कृष्ण की जीवनी लिख सकते हैं, और मुसलमान उसे पसंद कर सकते हैं तो क्या कारण है कि 'कर्बला' पर लिखे हुए नाटक को ले कर मुसलमान समालोचना कर रहे हैं। उनको इस संबंध में काफी दुःख रहा।

संग्राम

उनका दूसरा नाटक 'संग्राम' है, जिसके संबंध में मेरी यह राय है कि वह मजे में उपन्यास के रूप में लिखा जा सकता था। कथानक भी वही पुराने ढंग का है, जैसा कि नीचे लिखे हुए उसके सार से ज्ञात होगा।

संग्राम : ठाकुर सबलसिंह एक उदार जमींदार के रूप में मशहूर थे। वे किसानों की हालत जानने के लिए शहरवासी होते हुए भी अपने इलाके का चक्कर लगाते थे, और किसानों से मेलजोल बढ़ाते थे। उन्होंने किसानों की भलाई को ध्यान में रख कर बेगार आदि का अंत कर दिया था। उनका भाई कंचनसिंह साहूकारी करता था, और आसामियों से कस कर सूद वसूल करता था।

हलधर सबलसिंह के गाँव मधुबन का किसान था। हाल ही में उसका गौना हुआ था। उसकी स्त्री राजेश्वरी सुंदरी, बुद्धिमती और सुशीला थी। उसके इन्हीं गुणों के कारण ठाकुर साहब उस पर रीझ गये, और उसे प्राप्त करने के उपाय करने लगे। एक दिन मौका पा कर उन्होंने राजेश्वरी के प्रति अपना प्रेम

निवेदन भी किया, पर वे विवेकशीला राजेश्वरी से फटकार खा गये। फटकार खा कर भी उनका अनुराग कम नहीं हुआ।

हलधर ने यह देखा कि अब की बार फसल अच्छी होने जा रही है। इसलिए उसने पिता की बरसी, स्त्री के गहनों आदि के लिए कंचनसिंह से बहुत अधिक सूद पर २०० रु० ऋण लिये, पर अकस्मात् ओले पड़ गये, और सारी फ़सल नष्ट हो गयी। सबलसिंह इस समय तक अपने उद्देश्य के लिए सब कुछ करने को उतारू हो गये। उनके मत की पुष्टि बाबा चेतनदास नामक एक माने हुए संन्यासी ने भी कर दी। हलधर की विपत्ति से उन्होंने फायदा उठाया। वाहवाही लूटने के लिए उन्होंने और किसानों का तो लगान माफ़ करवा दिया, पर हलधर को हिरासत में भिजवा दिया। हलधर के गायब हो जाने के बाद राजेश्वरी बहुत चिंतित रहने लगी, पर बहुत विचार करने के बाद उसने सबलसिंह के पास जा कर बदला लेने का इरादा किया। वह सबलसिंह के पास शहर में गयी, और उनके द्वारा किराये पर लिये गये एक मकान में रहने लगी। यहीं उसे सबलसिंह से मालूम हुआ कि उसके घर की देख-रेख गाँव के वृद्ध फत्तू मियाँ कर रहे हैं। राजेश्वरी और सबलसिंह का यह संबंध उनके घरवालों को मालूम हो गया और एक दिन राजेश्वरी के घर से निकलते समय उनके भाई कंचनसिंह ने उन्हें देख लिया।

इधर गाँव में फत्तू मियाँ ने कानपुर, बंबई आदि औद्योगिक शहरों का चक्कर लगाया, पर वे हलधर को न खोज सके। अंत में कुछ सुराग़ पा कर उन्होंने गाँववालों से मिल कर हलधर का कर्ज चुकाया, और उसे जेल से छुड़ाया। हलधर के छूटने की खबर पा कर सबलसिंह ने राजेश्वरी के साथ मंसूरी यात्रा करने का निश्चय किया। उन्होंने घर में कहा कि वे अकेले ही सफर करेंगे। जब वे किसी तरह समझाने पर नहीं माने तो कंचनसिंह उन्हें रोकने के लिए राजेश्वरी के पास गये, पर वे भी राजेश्वरी के प्रेम की उपासना करने लगे।

स्वामी चेतनदास सबलसिंह की स्त्री ज्ञानी को प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने बड़े-बड़े जाल फैलाये। वे मधुवन गये, और उन्होंने सारा भेद हलधर को बता दिया। हलधर यह हाल सुन कर सबलसिंह के खून का प्यासा हो गया। इसी बीच उसने देखा कि तीन डाकुओं ने ज्ञानी को अकेली पा

कर उस पर हमला किया। उसने डाकुओं को पीट कर ज्ञानी की रक्षा की।

सबलसिंह ने जब यह देखा कि कंचनसिंह राजेश्वरी से प्रेम करता है, तो वे उसकी जान के गाहक हो गये। वे उसे मारने के लिए आधी रात के समय उसके कमरे में जा रहे थे। इतने में उनकी हत्या करने के लिए हलधर उनके पास पहुँचा। पर सबलसिंह ने उसे समझाया कि असली दुश्मन कंचनसिंह है। वह कंचनसिंह की टोह में गंगातट पर पहुँचा, पर कंचनसिंह उसी समय आत्महत्या करने के लिए गंगा में कूद रहा था। हलधर उसे आत्म-हत्या करते देख कर नदी में कूद पड़ा, और उसने कंचन को डूबने से बचा लिया।

इधर पुलिसवाले बेगार आदि न मिलने के कारण सबलसिंह पर नाराज थे। गाँववालों को डरा-धमका कर उनसे जबर्दस्ती बयान लिये गये। जब सब मसाला तैयार हो गया, तो उन्होंने सबलसिंह के मकान पर धावा कर दिया। उस समय सबलसिंह के यहाँ कंचनसिंह को गंगा-स्नान से लौटता न देख कर शोक का वातावरण था। वहाँ उनकी हवेली की तलाशी ली गयी, और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इसी समय स्वामी चेतनदास ने प्रवेश किया, और उन्हें जमानत दे कर छुड़ा लिया। इसके बाद जब ज्ञानी स्वामी चेतनदास की कुटिया पर पहुँची, तो स्वामी जी ने उसे अपमानित करना चाहा, पर वह सम्हल गयी, और कुटिया छोड़ कर चली गयी।

सबलसिंह फिर राजेश्वरी के पास पहुँचे। भाई की हत्या के ख्याल से वे अर्ध विक्षिप्त से हो गये थे, और आत्महत्या करने की सोच रहे थे। राजेश्वरी ने जब उन्हें इस दशा में पाया, तो उसके घातक भाव लुप्त होने लगे। सबल-सिंह ने राजेश्वरी से जब कहीं दूर चलने के लिए कहा तो उसने साफ इन्कार कर दिया। उसने यह भी कह दिया कि वह सबलसिंह के पास अपने अपमान का बदला लेने आयी थी।

इधर कंचनसिंह ने जब यह देखा कि हलधर उसके भाई की हत्या करने को तैयार है, तो उसने अपनी सारी दस्तावेजें हलधर को देने का प्रलोभन दिया, पर हलधर अपने निश्चय से नहीं डिगा। सबलसिंह पश्चात्ताप की भावना से आत्महत्या करनेवाले ही थे कि हलधर उनके पास पहुँचा, और उन्हें आत्महत्या नहीं करने दी। वह उन्हें कंचनसिंह के पास ले गया।

ज्ञानी सबलसिंह को खोजते-खोजते राजेश्वरी के पास पहुँची। जब वह उन्हें वहाँ भी न पा सकी, तो उसने हताश हो कर आत्महत्या करने के लिए अँगूठी चाट ली। राजेश्वरी ने जब ज्ञानी को आत्महत्या करते देखा, तो उसने भी रस्सी से फाँसी लगा ली। जब वह लटक ही रही थी कि हलधर वहाँ पहुँचा, और उसे मरने से बचा लिया। जब हलधर राजेश्वरी को ताने दे ही रहा था, कि ज्ञानी को कुछ होश आया, और वह राजेश्वरी की निर्दोषिता और कलंकहीनता प्रमाणित कर मर गयी। उसके मरने के पहले चेतनदास भी वहाँ पहुँचा, और उससे क्षमायाचना की। ज्ञानी ने उसे मरते समय क्षमा कर दिया।

स्वामी चेतनदास ज्ञानी की आत्महत्या के बाद विक्षिप्त से हो गये, और उसी अवस्था में वे नदी में डूब गये। सबलसिंह ने सारी तकलीफों और ज्ञानी की आत्महत्या का जिम्मेदार संपत्ति और धन को ठहराया। उन्होंने अपनी जमींदारी आदि का परित्याग कर दिया। उनकी कोठी धर्मशाला बना दी गयी, और विलास-सामग्री के मूल्य तथा नगदी आदि को मिला कर जो एक लाख रुपये जमा थे, उनसे ठाकुरद्वारा बनवा दिया गया। हलधर और राजेश्वरी फिर से अपने गाँव पहुँच गये। वहाँ राजेश्वरी की बहुत आवभगत हुई।

संग्राम और प्रेमाश्रम : ऊपर इस नाटक का जो सार दिया गया है, उससे केवल उसके कथानक का ही अंदाज लगता है, और नाटक में कथानक ही सब कुछ नहीं है। कथानक के संबंध में यह तो स्पष्ट है कि वह उनके किसी उपन्यास के ही कथानक की तरह है। इस नाटक का भी अंत एक आदर्शवादी परिस्थिति में होता है। जैसे 'प्रेमाश्रम' के मायाशंकर ने अपनी सारी जमींदारी दान में दे दी, इसी प्रकार 'संग्राम' के सबलसिंह में जब चैतन्य का उदय होता है, और वह अपने पापों के लिए पछताता है, तब वह अपनी सारी जमींदारी दे देता है।

संग्राम की कुछ विशेषताएँ

हम सारे प्रेमचंद साहित्य में जिन उपादानों को पाते हैं, यदि गहराई के साथ संग्राम नाटक पर विचार किया जाय, तो उसमें भी उन्हीं का समावेश दृष्टिगोचर होता है। पुलिस का चित्रण हमेशा काले रूप में हुआ है। पहले अंक

मे यह दिखलाया गया है कि थानेदार साहब गाँव मे चोरी के माल की तफ्तीश के लिए आये हुए है। 'कई कान्सटेबिल वर्दी पहने हुए खडे है, घरो मे खाना-तलाशी हो रही है। घर की सब चीजे देखी जा रही है। जो चीज जिसको पसद आती है उठा लेता है। औरतो के बदन पर के गहने भी उतरवा लिये जाते है।'

इस प्रकार तलाशी की पोल दिखायी गयी है। तलाशी नहीं, लूट है। फत्तू कहता है—'इन जालिमो से खुदा बचाये,' और हलधर कहता है—'खानातलाशी काहे की, लूट है।'

तीसरे अक मे डाकू हलधर से कह रहे हैं—'यार, दस हजार से कम का माल नही है, ऐसा अवसर फिर न मिलेगा। थानेदार को एक सौ रुपये, दो सौ रुपये दे कर टिरका देगे। बाकी सारा अपना है।'

तो यह रहा डाकू की आँखो मे पुलिस का चित्र। बृटिश युग की पुलिस, सरकार के सबध मे जो धारणा रखती थी, उसका भी एक अच्छा चित्र चौथे अक मे है। इसमें इन्सपेक्टर आ कर गाँववालो को डरा धमका कर सबल सिंह के विरुद्ध गवाहियाँ एकत्र कर रहा है। वह कह रहा है—'अच्छा उस गाँव मे शराब की दूकान थी, वह किसने बद करायी ?'

मानो यह कोई बुरी बात हो।

फिर वह पूछता है—'अच्छा उन्होने तुम लोगो से कहा था न कि सरकारी अदालतो मे जाना पाप है ?'

फिर पूछता है—'सबल सिंह ने यह नही कहा था कि किसी हाकिम को बेगार मत दो ?'

इन प्रश्नो के उत्तर मे मँगरू नामक एक ग्रामीण बडे जोर से हाँ, हाँ कहता जाता है। यद्यपि जो बाते उसने कही थी, वे सब झूठ थी। इस पर इन्सपेक्टर उपस्थित सारे लोगो को उपदेश देते हुए कहता है—'सच्चा बयान देना, जैसे मँगरू ने दिया है, वर्ना तुम जानोगे।'

पुलिस की धारणा मे सच्चाई क्या है, इसका अच्छा वर्णन है। स्पष्ट है कि पुलिस अपने को जनता का सेवक नही बल्कि कुसस्कारो और कुरीतियो की रक्षक समझती है। इसी प्रसग मे इन्सपेक्टर चलते समय कान्सटेबिलो से कहता है—'देखो, बकरे हो तो दो पकड लो।'

इस पर सिपाही कहता है — 'बहुत अच्छा हुजूर, दो नहीं, चार।'
दारोगा कहता है — 'एक पाँच सेर घी भी लेते चलो।'
सिपाही कहता है — 'अभी लीजिए सरकार।'

इस प्रकार बृटिश पुलिस का सच्चा हाल समाने आ जाता है, प्रेमचंद ने इन बातों को आँखों से देखा होगा, तभी ये बातें लिखी हैं। पाँचवें अंक में हलधर कहता है — 'इस मुहकमेवालों को हया नहीं होती, तुरंत हाथ फैला दिये।'

जिस सरकार की पुलिस ऐसी है, उस सरकार का क्या कहना। प्रेमचंद ने सरकार का भी चित्रण काले रंग से किया है। फत्तू कहता है — 'कुरान शरीफ में नसा हराम लिखा है, और सरकार चाहती है कि देश नसेबाज हो जाय। सुना है साहब ने आज कल हुकुम दे दिया है कि जो लोग खुद अफीम, शराब पीते हों और दूसरों को पीने की सलाह देते हों, उनका नाम खैरखाहों में लिख लिया जाय।'

जनता और सरकार में जो खाई है, इसका चित्रण एक पात्र के शब्दों में यों है — 'सिपाहियों को कूच के लिए हवागाड़ी चाहिए। जो खाना यहाँ रईसों को मयस्सर नहीं होता वह सिपाहियों को खिलाया जाता है। साल में छह महीने सब बड़े-बड़े हाकिम पहाड़ों की सैर करते हैं। देखते तो हो छोटे-छोटे हाकिम भी बादशाहों की तरह ठाट से रहते हैं, अकेली जान पर १०-१५ नौकर रखते हैं, एक पूरा बँगला रहने को चाहिए। जितना बड़ा हमारा गाँव है उससे ज्यादा जमीन एक बँगले के हाते में होती है। सुनते हैं सब १०-२० रुपये बोतल की शराब पीते हैं। हमको तुमको भरपेट रोटियाँ नहीं नसीब होतीं, वहाँ दिन रात रंग चढ़ा रहता है। हम तुम रेलगाड़ी में धक्के खाते हैं। एक-एक डिब्बे में जहाँ दस की जगह है, वहाँ २०-२५-३०-४० ठूँस दिये जाते हैं। हाकिमों के वास्ते सजायी गाड़ियाँ रहती हैं, आराम से गद्दी पर लेटे हुए चले जाते हैं।'

संग्राम नाटक में चेतनदास नाम का एक साधू आता है, वह बड़ी-बड़ी बातें करता है, पर वह भी एक बदमाश के रूप में चित्रित है। वह ज्ञानी देवी पर मोहित है और उसी पर अपना जादू चलाना चाहता है, वह कह रहा है — 'मैं उसे मोम की भाँति जिधर चाहूँ फेर सकता हूँ, केवल इसको मुझ पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा, श्रद्धा, श्रद्धा, यही अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति

का मूलमंत्र है। श्रद्धा से ब्रह्म मिल जाता है। पर श्रद्धा उत्पन्न कैसे हो ? केवल बातों ही से श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। वह कुछ देखना चाहती है। बोलो क्या दिखाऊँ ? तुम दोनों मन में कोई बात ले लो। मैं अपने योग बल से अभी बतला दूँगा।'

चेतनदास का चरित्र शुरू से आखीर तक एक ढोंगी का जीवन है। पर वह बार-बार आध्यात्मिक बातें करता है।

प्रेमचंद साहित्य की उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त इस नाटक में भी हिंदुओं और मुसलमानों में प्रेमभाव दिखलाया गया है। फत्तू अपने मित्र हलधर के लिए अपने तीनों शीशम के पेड़ बेचने पर तैयार हो जाता है, इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी उसे हिंदुओं का साथी और मित्र दिखलाया गया है, बस वह अल्लाह, कुरान-शरीफ आदि शब्द प्रयोग में लाता है, पर हर अवसर पर वह अपने पड़ोसी हिंदुओं के साथ है।

प्रेमचंद ने इस नाटक में भूदान का विचार भी सामने रखा है। सबल सिंह की सारी जमींदारी किसानों की हो जाती है और हलधर कहता है—अब तो हम आप ही जमींदार हैं, मालगुजारी सरकार को देंगे।

यह केवल जबानी दान नहीं था, बल्कि रजिस्ट्री भी हो चुकी थी। हम यहाँ इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि भूदान से समाज की सारी समस्याएँ सुलझती हैं या नहीं और भूदान कहाँ तक व्यावहारिक है।

नाटककार के रूप में असफलता

क्या बात है कि प्रेमचंद एक सफल नाटककार नहीं हो सके ? यहाँ यह बता दिया जाय कि वे स्वयं यह समझते थे कि उन्होंने एक हद तक अनधिकार चेष्टा की है, फिर भी उन्होंने भूमिका में लिखा था कि यह नाटक 'रंगभूमि पर खेला जा सकता है। हाँ रसज्ञ स्टेज मैनेजर को कहीं-कहीं कुछ काट-छाँट करनी पड़ेगी। मेरे लिए नाटक लिखना ही कम दुस्साहस का काम न था, उसे स्टेज के योग्य बनाने की धृष्टता अक्षम्य होती।'

प्रेमचंद सफल नाटककार इस कारण नहीं हो पाये कि उन्हें रंगमंच का ज्ञान नहीं था, इसीलिए उन्होंने कई ऐसी घटनाओं का चित्रण किया है, जो रंगमंच पर दिखायी नहीं जा सकतीं। जैसे पहला ही दृश्य ले लीजिए : 'खेतों में

हरियाली छायी हुई है, कहीं-कहीं सरसों भी फूल रही है, शीतलविन्दु पौधों पर चमक रहे हैं।' इतना ही नहीं 'वृक्षपुंजों में पक्षियों का कलरव हो रहा है।' इन सारी बातों को रंगमंच पर दिखाना असंभव नहीं है, पर कठिन है। इसी अंक में सबल सिंह घोड़े पर आ कर खड़ा हो जाता है, फिर एक अंक में ज्ञानी देवी जब चेतन का असली रूप देख कर निकलती है तो वह कुटी से बाहर निकल कर गाड़ी में बैठ जाती है, कोचवान भी है और गाड़ी भी है।

पात्रों के संभाषण भी बहुत लंबे हैं और आप ही आप यानी स्वगत भाषण भी बहुत लंबे हैं। दूसरे दृश्य में तो सबल सिंह आप ही आप बहुत लंबे भाषण करता है।

कर्बला और संग्राम के अतिरिक्त प्रेमचंद 'प्रेम की वेदी' नामक एक और नाटक भी लिखा था, पर वह उतना प्रसिद्ध नहीं है।

प्रेमचंद् का बाल साहित्य

प्रेमचंद ने कुछ बाल साहित्य का भी सृजन किया, जिसमें उनकी 'कुत्ते की कहानी' नामक रचना सबसे प्रमुख है। इस कहानी की भूमिका में उन्होंने (१४ जूलाई १९३६ को) लिखा था — 'तुम सभी देखोगे कि यह कुत्ता बाहर से कुत्ता हो कर भी भीतर से तुम्हारे ही जैसा बालक है, जिसमें वही प्रेम और सेवा और साहस और सच्चाई है जो तुम्हें इतनी प्रिय है।' इसमें संदेह नहीं कि यह कहानी बाल मनोविज्ञान के आधार पर प्रस्तुत की गयी है।

यह एक कुत्ते सो भी मामूली कुत्ते की कहानी है। केवल मनोरंजन के लिए लिखी गयी है, पर इसमें भी खोजने पर जहाँ तहाँ अन्य तत्त्व मिलते हैं। पहले ही एक प्रसंग आता है, जिसमें बनिये के यहाँ ब्राह्मण भोजन था। सैकड़ों आदमी जमा थे, दूर से एक कुतिया निकल गयी, इसी पर लोगों ने पत्तल छोड़ दी ओर उठ खड़े हुए। कुछ लोग कहने लगे, इसमें दोष ही क्या है, कुतिया ने पत्तलों में मुँह तो डाला नहीं, पर जो बहुत कुलीन ये, वे कुतिया का बीच से निकल जाना ही भोजन को भ्रष्ट करने के लिए काफी समझते थे। आखिर इन्हीं कुलीनों की जीत हुई। इस प्रकार से कुत्ते की कहानी में भी छुआछूत पर चोट की गयी है।

आगे एक प्रसंग यह दिखाया गया है कि पंडित जी चूहों का उपद्रव यह कह कर सहन करते थे कि चूहे गणेश जी के वाहन हैं, इन्हें तकलीफ न देनी चाहिए..... इनके खाने से कितना अनाज कम हो जायगा। उनका विश्वास था कि चूहे जितना गल्ला नुकसान करते हैं, उसका चौगुना श्री गणेश जी की दया से उपज में बढ़ जाता है, इसलिए जब वे किसी को चूहेदानी लगाते देखते तो उसे पचासों बातें कहते। लोग इस पर पंडित जी की बड़ी तारीफ करते कि कैसे सज्जन हैं, इतना नुकसान सहने पर भी चूहों को नहीं मारते। पर जब इन्हीं

चूहो ने पडित जी के जाडो के कपडे काट डाले, तब पडित जी ने एक बिल्ली पाली और तीन चार चूहेदानियाँ मँगवायी।

इसके बाद के प्रसग का वर्णन मूल रचना के अनुसार यो है—'फिर क्या था, रोजाना चूहे फँसने लगे। मुझे विनोद का मसाला मिल गया। यो तो मैं सच्चा हिंदू और पूरा ब्राह्मण हो गया था क्योकि विशेष कर ब्राह्मण ही का अन्न जल खाना पीना पड़ता था।' यही कुत्ता अन्यत्र अपने सगे भाई के सबध मे कहता है—'मगर भाई जकिया पक्का मुसलमान था। रोज मास खाता।'

इस प्रकार बच्चो की इस कहानी मे भी प्रेमचद ने जहाँ तहाँ प्रचलित कुसस्कारो की चुटकी ली है। हमारे किसानो मे कथित जीवदया के नाम पर बदरो, चूहो, चिडियो के प्रति जो सहनशील भावना है, उसके विरुद्ध लडने मे आज के विकास कार्यकर्त्ताओ को बडी आफत हो रही है। यद्यपि जब यह रचना प्रस्तुत की गयी थी, तब इस प्रकार का कोई प्रचार नही था, फिर भी आज हम इसमे लडाई के लिए जरूरी तत्त्व पाते हैं, चूहा गणेश जी का वाहन और बदर रामचद्र की सेना का सदस्य है। आज यह धारणा चूहो या बदरो की रक्षा मे सहायक नही हो सकती, कम से कम होना नही चाहिए, यह किसान बच्चो के मन मे गुम्फित कर देना जरूरी है। साम्यवादी चीन मे तो चूहो और नुकसान पहुँचानेवाली चिडियो आदि के विरुद्ध राष्ट्रीय पैमाने पर आदोलन हो रहा है।

'कुत्ते की कहानी' मे प्रचुर मात्रा मे ऐडवेचर तत्त्व है। समुद्रयात्रा, जहाज का टूट जाना, फिर जगलियो के टापू मे फँसना आदि आदि सब तरह के तत्त्व लाने की चेष्टा की गयी है, साथ ही उसे हवाई जहाज के युग तक भी लाया गया है। पुस्तक का एक रगीन चित्र शोभित सस्करण निकालना चाहिए।

प्रेमचंद लिखित जीवनियाँ

प्रेमचद ने समय-समय पर बालक बालिकाओ के लिए बहुत से महा-पुरुषो की जीवनियाँ लिखी है, ये जीवनियाँ स्पष्टत बाल साहित्य के रूप मे तो हैं ही साथ ही इनमे जहाँ तहाँ प्रेमचद के विचार मिल जाते है और ऐसे विषयो पर विचार मिलते है, जो दूसरी पुस्तको मे दुर्लभ हैं। बद्रुद्दीन तैयबजी की जीवनी लिखते हुए वे जातीय पहनावे के सबध मे कुछ बाते कहते है, जो द्रष्टव्य

हैं : 'हिंदुस्तान में उस समय भी अँगरेजी फैशन चल पड़ा था और आज तो वह इतना व्यापक है कि किसी कालिज या दफ्तर में चले जाइए, आपको एक सिरे से अँगरेजी फैशनवाले लोग दिखाई देंगे। उनकी बातचीत भी अधिकतर अँगरेजी में होती है। उन्हें न जातीय भाषा से कोई प्रेम है, न जातीय पहनावे से, न जातीय शिष्टाचार से। वे तो जातीय आचार व्यवहार का विरोध करने में ही अपने सुधार का उत्साह प्रदर्शन करते हैं। सम्भवतः उनका मन यह सोच कर प्रसन्न होता है कि कम से कम पहनावा, पोशाक और तौर तरीके में तो हम भी अँगरेजों के बराबर हैं। जातीय पहनावा उनके विचार पुराण पूजा में प्रमाण है। पर जस्टिस बद्रुद्दीन ने हाईकोर्ट की जजी के उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने और अँगरेजी की ऊँचे दरजे की योग्यता रखने पर भी अपनी चाल ढाल नहीं बदली। अदालत की कुर्सी पर हों या मित्रों की मंडली में, वही पुराना अरबी पहनावा बदन पर होता था।'

हम यह नहीं कहते कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह अंतिम है, पर इससे इतना तो मालूम ही होता है कि वे हर विषय पर विचार करते थे और अपनी एक राय रखते थे जिसमें राष्ट्रीयता का बहुत जबर्दस्त पुट होता था। यहाँ मैं इस तर्क में नहीं पड़ूँगा कि यह मत कहाँ तक ग्राह्य है। राष्ट्रीय पहनावा ठीक है, पर क्या हमारा कोई राष्ट्रीय पहनावा था? प्रान्तीय पहनावे थे, सो भी अलग-अलग वर्गों के अलग-अलग। अब तो अंतर्राष्ट्रीय पहनावा भी क्षेत्र में है, जिसे विदेशी करके दुरदुराना शायद संभव नहीं।

सर सैयद अहमद खाँ की जीवनी लिखते हुए उन्होंने इसका एक अच्छा-सा उदाहरण पेश किया है कि किस प्रकार लोग इतिहास को अपने मतानुसार ढालने का प्रयत्न करते हैं। प्रेमचंद लिखते हैं—'दो साल बाद सैयद अहमद खाँ ने 'असबाबे बग़ावते हिंद' नाम की पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने तथ्यों और तर्कों से सिद्ध किया कि यह गदर न राष्ट्रविप्लव था, न आजादी की लड़ाई और न किसी तरह की साजिश, किंतु केवल सरकारी सिपाहियों ने अपने अफसरों की अवज्ञा की और वह भी अज्ञान और अंधविश्वासवश। चूँकि सरकार का यह ख्याल था कि इसको उभारनेवाले मुसलमान हैं, इसलिए इस पुस्तक का उद्देश्य यह भी था कि मुसलमानों के सिर से यह इलज़ाम दूर कर दिया जाय, और इसमें संदेह नहीं कि सैयद अहमद खाँ को इसमें सफलता मिली। उन्होंने इस पुस्तक को भारत सरकार और पार्लियामेंट में भेजा और चूँकि सरकार को उनकी राजभक्ति और शुभचिंतना पर

भरोसा था, इसलिए उसने उनके दिखाये हुए कारणों और दलीलों पर ठंडे दिल से विचार किया और जो शिकायतें उसे ठीक मालूम हुईं, उनको दूर करने का वचन भी दिया।'

फिर भी प्रेमचंद सैयद अहमद खाँ के इस कार्य में क्या उद्देश्य था, उसे देख कर कहते हैं—'सैयद अहमद खाँ के इस नैतिक साहस की किन शब्दों में बड़ाई की जाय। जिस समय सरकार का रुख सख्ती करने का था और किसी की जबान खोलने की हिम्मत न होती थी कि कहीं उस पर भी बगावत का संदेह न किया जाने लगे, उस समय सरकार के रुख की आलोचना करना और उसकी भूलों का भंडाफोड़ करना देश और जाति की बहुमूल्य सेवा थी।'

इसी जीवनी में वे कुछ बातें ऐसी कह जाते हैं, जो सुभाषित के रूप में याद रखने लायक हैं—'हिंदू मुसलमान दोनों ही अशिक्षा और अज्ञान के कारण शास्त्र वचनों और धर्म के साधारण विधि-निषेधों को आँख मूँद कर मानते थे। उन वचनों की युक्ति संगत व्याख्या तो वह क्या करते, उनके मन में कोई शंका ही न उठती थी, क्योंकि शंका तो शिक्षा और जिज्ञासा का सुफल है। वह लोग अपने पुरखों के पदानुसरण करने में ही संतुष्ट थे। धर्म एक रूढ़ि मात्र बन गया था, मानो प्राण निकल गया हो, देह पड़ी हो। इसी कारण हिंदू मुसलानों की आस्था अपने धर्म से हटने लगी थी।'

सर सैयद ने १८५७ की जो व्याख्या की थी, उसके लिए प्रेमचंद ने उनका उद्देश्य देखते हुए उनकी सराहना की है। सर सैयद की जीवनी के बाद के हिस्सों से पता चलता है कि उस दायरे में यह उचित ही था। सर सैयद ने 'तबसीरुल कुरान' नामक एक पुस्तक लिखी, जिससे नवयुवक मुसलमानों के मन में धर्म के विषय में उठनेवाली शंकाओं के समाधान की चेष्टा की गयी, पर मुसलमान इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही सर सैयद के ऊपर कुफ्र का फतवा लेकर दौड़े—'उन पर नास्तिक, अनेकेश्वरवादी और प्रकृति-पूजक होने का दोष लगाया। देश में एक सिरे से दूसरे तक आग लग गयी और जवाबी किताबों का सिलसिला शुरू हुआ। लेखक पर तरह-तरह के अनुचित और असंगत आरोप किये जाने लगे।'

विश्वसाहित्य में उपन्यासकार प्रेमचंद

उपन्यास, पूँजीवादी युग और छापेखाने की उपज

उपन्यास कला का जन्म —कम से कम आधुनिक अर्थों में उपन्यास का जन्म पूँजीवाद के साथ-साथ हुआ है। जिस युग में केवल नकलों के जरिये से साहित्य का प्रचार होता था, उस युग में उपन्यास कला का न तो जन्म ही संभव था, और यदि किसी भी प्रकार उसका जन्म हो जाता तो वह पनप नहीं सकता था। अवश्य अलिफ लैला इस नियम का अपवाद कहा जा सकता है, किंतु स्मरण रहे कि अरब में लोग इन कहानियों को पढ़ते नहीं थे, बल्कि सुनते थे। अति आधुनिक काल तक मध्यपूर्व के देशों में इस प्रकार कहानियों को आम जनता को सुना कर गुजारा करनेवाले लोग मौजूद थे, और संभव है कि यह पेशा अब भी उन स्थानों में प्रचलित हो। जो कुछ भी हो, आधुनिक उपन्यास छापेख़ानों की गोदों में पला हुआ लड़का है।

उपन्यास का क्षेत्र सारा जीवन

नाटक, उपन्यास की तुलना में प्राचीनतर है, किंतु उपन्यास का क्षेत्र नाटक से कहीं बृहत्तर है। जीवन का दायरा जितना विस्तृत है, उपन्यास का दायरा भी उतना ही विस्तृत है। उपन्यास में सारा आधुनिक जीवन आ जाता है। यदि हम अच्छे से अच्छे उपन्यासकारों को देखें, तो हमें ज्ञात होगा कि उनका उद्देश्य यह था कि सारे जीवन को चित्रित किया जाय।

उपन्यास की विस्तृति के संबंध में प्रेमचंद सज्ञान

स्वयं प्रेमचंद भी यह जानते थे कि उपन्यास का क्षेत्र बहुत विराट होता है। वे लिखते हैं:—

"उपन्यास का क्षेत्र अपने विषय के लेहाज से दूसरी ललित कलाओं से कहीं

अधिक विस्तृत है। वाल्टर वेसेंट ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किये हैं : 'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसके संबंध में चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकाश उपन्यास के मुख्य विषय हैं।' इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्त्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है तो आप उपन्यास में महान दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व-शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता, लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बंधन नहीं।" (कुछ विचार, पृ० ६४)।

यंत्रयुग में कविता का स्थान है, किंतु उपन्यास का क्षेत्र विशालतर

उपन्यास का क्षेत्र जीवन की तरह विशाल है, इसमें कोई संदेह नहीं। कविता से उपन्यास का क्षेत्र कहीं विशालतर है, इस पर तो शायद ही कोई तर्क हो। सच बात तो यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग के उद्भव के साथ-साथ यह समझा गया था कि कविता के लिए इस युग में कोई गुंजाइश नहीं है। विज्ञान के युग के साथ-साथ गजमुक्ता, स्वाति की बूँद, सर्प की मणि, चंद्रमा पर बैठ कर कातनेवाली बुढ़िया, राहु और केतु का एक पुरातन कलह के वशवर्ती हो कर कभी चंद्र और कभी सूर्य को ग्रसना, मेघ को दूत बना कर भेजना इत्यादि बातें असंभव और अवास्तविकता के रंग में रँगी हुई हो गयीं, लोगों को जितना जानना चाहिए, उससे वे अधिक जान गये, इसलिए यह कहा गया कि अब कविता के लिए कोई स्थान न रहा। किंतु वास्तविकता इसके विरुद्ध प्रमाणित हुई। यह देखा गया कि ज्योतिषियों ने कविता की मृत्यु के संबंध में जो भविष्यवाणी की थी, वह गलत साबित हुई। कविता न केवल इस नये वातावरण में अपने को जैसे-तैसे जीवित रखने में समर्थ हुई, बल्कि उसने नये युग से नयी-नयी बातें लीं। जिस यंत्रयुग के कारण समझा गया था कि

लोग बहुत वस्तुमात्रसंवल हो जायँगे, देखा गया कि कविता ने उन्हीं यंत्रों से अपने लिए नये-नये रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा ढूँढ़ निकालीं। अवश्य ही इस नये युग में कविता को बहुत कुछ बदलना पड़ा, कविता को अब बहुत कुछ दार्शनिकता का लिबास पहिनना पड़ा, किंतु यह लिबास उसके लिए कदर्य सिद्ध न होकर उसके जोबन में इसने चार चाँद लगा दिये, और उस पर खूब खिला। नयी कविता के रूप में हम उसी का एक विकास देख सकते हैं। इसमें कितना स्थायी होगा, कितना अस्थायी यह प्रश्न हमारे निबटाने का नहीं है। यह बात सच है कि आधुनिक कविता विशेष कर सही तरीके की प्रगतिशील कविता जनगण—विपुल जनगण के दुख, कष्टों, संग्रामों के प्रति उदासीन नहीं है, किंतु उपन्यास इन्हीं बातों को जिस ब्यौरे में चित्रित कर सकता है, कविता के के लिए वह कहाँ संभव है। यही कारण है कि सभी आधुनिक भाषाओं में पद्य के बनिस्वत गद्य की विशेष कर उपन्यास की अधिक उन्नति हुई है। प्राचीन हिंदी-साहित्य भी कवितामय है, आधुनिक साहित्य अर्थात् अँगरेजों के भारत-वर्ष में आने के बाद से ही हिंदी गद्य की उन्नति बल्कि सृष्टि हुई। आधुनिक भाषाओं में यदि इस संबंध में कोई भाषा अपवाद है, तो वह शायद उर्दू है। उर्दू में अब भी पद्य पुस्तकें काफी छपती हैं। उर्दू में उपन्यास की जो उन्नति नहीं हुई, वह भी उसके पिछड़ेपन के कारण ही है। पर पाकिस्तान बनने के बाद उर्दू में गद्य और पद्य का तारतम्य शायद कुछ बदला।

उपन्यास, नाटक तथा चित्रपट की तुलना

उपन्यास को मेरीयन क्रेफोर्ड ने पाकेट थियेटर नाम से अभिहित किया है। इसका अर्थ यह है कि जैसे मामूली थियेटर पर नाटक देखने के लिए नियमित समय पर नियमित स्थान में हाजिरी देनी पड़ती है, उपन्यास में इस प्रकार की कोई बंदिश नहीं है। जब चाहे तब जेब में हाथ डाल दिया, और पुस्तक निकाल कर पढ़ने लगे, और मानों पढ़नेवाले के लिए नाटक ही होने लगा। स्मरण रहे कि नाटक पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि अभिनीत होने के लिए लिखे जाते थे। इ० ट्रसचन्को ने यह दिखलाया है कि मार्क्स नाटकीय साहित्य को अधिक पसंद करते थे, यह कोई आकस्मिक बात है। 'समाज के विशेष संधि-क्षणों में नाटक का उदय होता है, जिसमें क्रियाशील व्यावहारिक उपादान

अभिव्यक्त होते हैं तथा उस युग का वादविवाद-मूलक चरित्र सामने आ जाता है।.........यह एक लोकतांत्रिक कला है, एक सार्वजनिक कला है जिसमें जनता को प्रभावित करने की बहुत अधिक शक्ति है।' (Lenin on Art and Literature, पृ० ८८)।

अवश्य ऐसे नाटक भी लिखे जाते हैं, जो पढ़े जाने के लिए ही लिखे जाते हैं। शेषोक्त किस्म के नाटक कथोपकथन के रूप में एक तरह के उपन्यास ही हुए, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यद्यपि इस युग में यंत्रविद्या तथा कलाकौशल, विशेष कर रोशनी डालने की कला की बहुत उन्नति हुई है, और यद्यपि अब ऐसे बहुत से नाटक खेले जा सकते हैं जो पहले खेले नहीं जा सकते थे, या जिन्हें खेलने के लिए कुछ बदलना पड़ता था, उदाहरणार्थ महाकवि गेटे की सर्वोत्कृष्ट कृति फाउस्ट को ही लिया जाय, फिर भी मनुष्य जीवन के लाखों दृश्य तथा परिस्थितियाँ हैं जो नाटक में प्रत्यक्ष नहीं करायी जा सकतीं, और न शायद आगे कभी प्रत्यक्ष करायी जा सकें। इस कारण स्वाभाविक रूप से इस वृद्धिशील साक्षरता तथा छापेखानों, साथ ही कम फ़ुर्सत के युग में उपन्यास का अधिक प्रचार हुआ और उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा। यंत्र विद्या और कला-कौशल की परमोन्नति के युग में भी यह संभव नहीं है कि दर्शक को यह दिखलाया जा सके कि सबमेरीन के अंदर काम करने-वाले सैनिक का जीवन कैसा होता है, किंतु उपन्यास और कहानी इसे बहुत अच्छी तरह चित्रित कर सकती है। अवश्य यहाँ पर यह बात मानती पड़ेगी कि थियेटर के ही एक रूप सिनेमा में यह संभव है कि आकाशगामी वायुयान पर बैठे हुए व्यक्ति से ले कर ईरान की खाड़ी में मोतियों के लिए डुबकी लगाने वाले गोताखोर के सामुद्रिक जीवन को प्रत्यक्ष कराया जाय। इस दृष्टि से देखने पर चाहे खेला जानेवाला नाटक हो या पढ़ा जानेवाला नाटक हो, वे कभी उपन्यास के खतरनाक प्रतिद्वंद्वी नहीं हो सकते। यदि कोई ऐसा हो सकता, तो वह चित्रपट जगत ही है, किंतु इस क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि उपन्यास को कुछ ऐसी जन्मगत सुविधाएँ प्राप्त हैं, जिनके कारण वे चित्रपट जगत के आगे न तो गच्चा खा सकते हैं और न नीचा ही देख सकते हैं। वे सुविधाएँ यह हैं कि उपन्यास सस्ता पड़ता है, उसका उत्पादन सस्ता है, और इस सार्वजनिक पुस्तकालयों के युग में वह करीब-करीब मुफ़्त पड़ेगा। अवश्य

यदि उत्पादन के साधनों में इतनी उन्नति हो जाय कि राष्ट्र या राष्ट्र के बाद समाज अपने प्रत्येक सदस्य को मुफ्त में सिनेमा दिखला सके तो उस समय उपन्यास का क्षेत्र खतरे में पड़ जायगा, किंतु नहीं, हम इसमें बिल्कुल भूल रहे हैं क्योंकि उपन्यासों के कथानकों को आधार बना कर ही चित्र तैयार किये जाते हैं। यह दूसरी बात है कि ऐसे आधारभूत बहुत से कथानक स्टूडियो के अभिनेताओं तक ही रह जाते हैं। वे अलग छप कर पाठक के सामने क्वचित् ही आते हैं। जो कुछ भी हो, उपन्यास के लिए यह खतरा बहुत दूर का खतरा है, इस समय के उपन्यास की परिस्थिति की आलोचना करते हुए, हम इस खतरे की संपूर्णरूप से अवज्ञा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस संबंध में हडसन के ये वचन भी ध्यान देने योग्य हैं—'यह एक सर्वजन विदित तथ्य है कि एक नाटक लिखने के लिए रंगमंच कला का संपूर्ण ज्ञान तथा उस संबंधी यंत्र विद्या में दीर्घकाल तक प्राथमिकरूप से ही सही शिक्षा लेनी पड़ती है। इसके विपरीत उपन्यास लिखने का तो यह हाल है कि जिसके पास कलम, स्याही और कागज हो, और थोड़ा धैर्य और अवसर हो, वह उपन्यास लिख सकता है।' (An Introduction to the Study of Literature, पृ० १३०)।

जीवन - संग्राम में प्रेमचंद की कला की परिष्कृति

प्रेमचंद ने इस प्रकार क्यों उपन्यास कला को अपनाया यह समझना कठिन नहीं है। उपन्यास जीवन का जितना वृहद मुकुर हो सकता था, उतना और कुछ नहीं। अवश्य यह कहना बिल्कुल हास्यास्पद होगा, और ऐसी प्रशंसा केवल व्यंग में ही की जा सकती है कि प्रेमचंद ने शुरू से ही उपन्यास कला को किसी महान उद्देश्य से अपनाया। सच बात तो यह है कि उन्होंने लिखने को एक पेशे की तरह अपनाया, अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि यह उनका hobby था, किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि ज्यों-ज्यों वे आत्म सचेतन होते गये, त्यों-त्यों उनकी कला की अंतर्गत वस्तु के साथ ही साथ उनका सारा परिप्रेक्षित और उसकी बौद्धिक पृष्ठभूमि बदलती गयी। यह कहना कि उन्होंने या किसी अन्य कलाकार ने एक पेशे के तरीके पर प्रारंभ में किसी कला को अपनाया यह किसी प्रकार कलाकार की निंदा नहीं है, बल्कि यह दिखलाता है कि उनकी कला का विकास हाथी दाँत के मीनार पर बैठ कर कमल-चर्वण

करते-करते नहीं हुआ, बल्कि जीवन के कठोर संग्राम के दौरान में उसका विकास हुआ। इससे उनकी कला में भले ही वह रेती से साफ़ का हुई परिष्कृति नहीं आयी हो, किंतु उसमें जीवन की तड़पन और शोणित का प्रवाह खूब आया।

प्रेमचंद की विस्तृत कला में उनका युग प्रतिफलित

यदि प्रेमचंद और अधिक दिन जीवित रहते तो अवश्य ही उनका साहित्य और भी सुदूर विस्तृत होता, किंतु जैसा कि वह है, वह भी कुछ कम विस्तृत नहीं है। बालजाक की तरह उनके उपन्यासों में दो हजार विशिष्ट चरित्र तो नहीं आते, और न उनके उपन्यासों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उनके चरित्र सर्वथा नये हैं — कई बार तो उनके कई उपन्यासों के मुख्य चरित्र एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं, किंतु फिर भी उनकी रचनाओं में न तो विशिष्ट चरित्रों का ही अभाव है, और न घटनाओं का ही। कायाकल्प का चक्रधर, प्रेमाश्रम का प्रेमशंकर, कर्म-भूमि के अमरकांत को कई अर्थों में तीन व्यक्ति न कह कर एक व्यक्ति, कम से कम एक टाइप कहना ही अधिक उचित होगा। इस दृष्टि से देखने पर ये तीन उपन्यास एक ही प्रधान नायक के इर्दगिर्द विवर्तित होते हैं। रंगभूमि का विनय भी उल्लिखित तीन नायकों में बहुत कुछ मिलता है। ये सबके सब समाज का कल्याण करना चाहते हैं, एक बड़ी हद तक त्यागी भी हैं, किंतु समाज के रोग के निदान से अपरिचित होने के कारण वे कुछ अधकचरे सुधारवादी प्रयास कर रह जाते हैं। ये लोग सभी उस तरह के समाज-सेवक हैं, जिनको मोटे तौर पर गाँधीवादी कहा जा सकता है। यहाँ इस बात का उल्लेख किसी प्रकार प्रेमचंद के मूल्य में बट्टा लगाने के लिए नहीं किया जा रहा है। जब युग ही एक बड़ी हद तक गाँधीवाद का था, और उसी मतवाद की छत्रछाया से देश का सामाजिक राजनैतिक आंदोलन परिचालित हो रहा था, तो यह तो एक उपन्यासकार का कर्त्तव्य था कि वह उसे अर्थात् इस तरह के टाइपों को चित्रित करें। यदि साहित्य जीवन का मुकुर है, जिसमें जीवन अपना मुँह देख कर उसे ठीक कर सकता है, तो एक भारतीय लेखक जिसने मुख्यतः १६१६ से १६३५ तक उपन्यास लिखे, वह कैसे गाँधीवादी टाइप से बेखबर रह सकता था। प्रेमचंद

की कला का यह गुण ही है कि उसमें हम उस युग को प्रतिफलित देख सकते हैं, जिसमें इस कला की रचना हुई है।

टाइप पर अधिक जोर, व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं

कायाकल्प, प्रेमचंद, रंगभूमि, कर्मभूमि के नायक बहुत कुछ एक टाइप के होने पर भी वे व्यक्तित्वहीन हो गये हों, ऐसी बात नहीं। उनकी सबकी अपनी-अपनी कमजोरियाँ, खामख्यालियाँ तथा गुण अवगुण मौजूद हैं। वह उपन्यासकार जो केवल टाइपों को तो पकड़ पाता है, किंतु एक ही टाइप के विशेष चरित्रों को अलग करके दिखा नहीं पाता, उसे सफल उपन्यासकार नहीं माना जा सकता। प्रेमचंद के उल्लिखित नायकों में अपना-अपना व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है, किंतु इस बात को मानने के साथ ही यह मानना पड़ेगा कि वे इनके व्यक्तित्वों को बहुत स्पष्ट नहीं कर पाते, और वे बहुत कुछ टाइप के ही दायरे में रह जाते हैं। उस हद तक वे अपने युग के प्रतीक होते हुए भी संपूर्णरूप से उसे कला में सजीव नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ हम शरत् बाबू के उपन्यासों में भी कई बार एक तरह के नायकों को पाते हैं। शरत् बाबू के उपन्यासों के नायक गौरवान्वित आवारागर्द मात्र थे। 'चरित्रहीन' का सतीश, 'श्रीकांत' का श्रीकांत, 'पल्ली-समाज' का रमेश, 'बड़ी दीदी' का सुरेन्द्र, 'देवदास' का देवदास, 'गृहदाह' के सुरेश और महिम, यहाँ तक कि 'पथेरदावी' के डाक्टर किसी न किसी प्रकार के मध्यवित्तवर्ग के आवारागर्दमात्र हैं। उनमें से किसी को भी रोटी की फिक्र नहीं है। फिर भी जिन्होंने इन उपन्यासों को पढ़ा है, वे इनके एक-एक के व्यक्तित्व को बिलकुल अलग पायेंगे। इसी अर्थ में कहा जाता है, और करीब-करीब सभी समालोचक इस विषय में सहमत हैं कि मनोविज्ञान की दष्टि से प्रेमचंद कुछ कमजोर पड़ते हैं। अस्तु।

प्रेमचंद के उपन्यासों में अनेक चरित्र

ऊपर गिनाये हुए उपन्यासों के नायकों के अतिरिक्त प्रेमचंद के उपन्यासों के बाकी नायक, नायिकाएँ, उपनायक, खलनायक सभी करीब-करीब अलग-अलग टाइप के हैं, यद्यपि बहुत बारीकी से देखने पर बहुत से नायक तथा खलनायक भी एक टाइप के अंतर्भुक्त किये जा सकते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में धर्मवादी ढोंगियों, बेईमान पुलिसवालों, लुटेरे जमींदारों, बदकार कारिंदों के

जो चित्र हैं, उनको शायद खींचातानी करने पर एक-एक टाइप में लाया जा सकता है, किंतु फिर भी बहुत खींचातानी करनी पड़ेगी, इसमें संदेह नहीं। प्रेमचंद के उपन्यासों में सती स्त्री (उदाहरणार्थ कायाकल्प की लौंगी), वेश्या (उदाहरणार्थ सेवासदन की भोली), ज्योतिषी (कायाकल्प का बना हुआ ज्योतिषी), पक्का गाना गानेवाला (कायाकल्प का वज्रधर), घूसखोर दरोगा (सेवासदन का कृष्णचंद्र), ऐयाश महंत (सेवासदन के महंत रामदास), कायर शरीफ आदमी (सेवासदन का पद्मसिंह), उदारवादी समाज-सुधारक (सेवासदन के विट्ठलदास), दगाबाज भाई (प्रेमाश्रम का ज्ञानशंकर), पुराने ढर्रे का दब्बू किसान जो बाद को विद्रोही हो जाता है (प्रेमाश्रम का मनोहर), नये खून का किसान (प्रेमाश्रम का बलराज), खुदमुख्तार धनी विधवा (प्रेमाश्रम की गायत्री), जालिम कारिंदा (प्रेमाश्रम का गौस खाँ), काल्पनिक टाइप का आदर्शवादी जमींदार जैसा कि गाँधी जी जमींदारों को देखना चाहते थे (प्रेमाश्रम का मायाशंकर), हिंदू सभाई (कायाकल्प का यशोदानंदन), पतित आदर्शवादी राजा (कायाकल्प का राजा विशालसिंह), प्रेम में निराश आदर्शवादी स्त्री (कायाकल्प की मनोरमा), पहले लोगी फिर इत्तहादी मुस्लिम नेता (कायाकल्प का ख्वाजा), कांग्रेसी जमींदार (गोदान का अमरपालसिंह), मामूली मध्यम किसान (गोदान का होरी), स्वार्थी पत्रकार (गोदान का ओंकारनाथ), समाज का स्तंभ किंतु खुद मक्कार और बेईमान (गोदान का झिंगुरीसिंह), मिलमालिक (गोदान का मिस्टर खन्ना) आदि कितने ही चरित्र हैं। अपनी लगभग तीन सौ कहानियों में उन्होंने जो सैकड़ों खंड चरित्र पैदा किये, उनको तो हम इस गिनती में ले ही नहीं रहे हैं।

भारतीय साहित्य में प्रेमचंद अद्वितीय

एक दूसरे मापदंड से नापने पर भी प्रेमचंद की रचनाएँ बहुत विस्तृत ठहरती हैं। वह मापदंड यह है कि क्या उनके उपन्यासों को पढ़ने से समसामयिक हिंदी-हिंदुस्तानी भाषी लोगों का एक खाका हमारी आँखों के सामने खिंच जाता है या नहीं ? इसका उत्तर हाँ में देना ही पड़ेगा। सच बात तो यह है कि किसी भी एक भारतीय उपन्यासकार ने — हम इनमें रवीन्द्रनाथ और शरत्-

चंद्र को भी गिन रहे हैं, समसामयिक भारतीय जीवन, उसकी समस्याओं तथा संग्रामों का इतना व्यापक चित्रण नहीं किया है। रवीन्द्रनाथ और शरत् बाबू में तो हम एकाध अपवाद के अतिरिक्त भारत के राजनैतिक संग्राम का कुछ भी पता नहीं पाते। अवश्य रवीन्द्रनाथ के नाटक 'अचलायतन', 'रक्तकरवी' तथा उपन्यास 'घरे-बाहरे', 'गोरा' और 'चार अध्याय' को समसामयिक राजनैतिक आंदोलनों के साथ संयुक्त किया जा सकता है, उनके भौतिक आधार तो ये आंदोलन हैं, इसमें संदेह नहीं, किंतु इनकी राजनीति व्यावहारिक राजनीति से बहुत—इतना दूर है कि पाठक यदि चाहे तो इसे भुला सकता है कि इनका राजनीति के साथ कोई संबंध भी है। इसी प्रकार शरत् बाबू पथेरदावी के अतिरिक्त कहीं भी राजनीति के पास नहीं फ़टकते। यह बात आश्चर्यजनक है क्योंकि जिस समय असहयोग आंदोलन चला था, उस समय शरत् बाबू भी व्यावहारिकरूप से इस आंदोलन में कूद पड़े थे किंतु उनके उपन्यासों में इस युग का कहीं पता ही नहीं है। शरत् बाबू के सैकड़ों नायक-नायिकाएँ अपने युग में चलनेवाले इन संग्रामों तथा आंदोलनों से बिल्कुल बेखबर हैं, यहाँ तक कि ये आंदोलन परोक्ष में रहते हुए भी उन पर कोई प्रभाव डालते हुए मालूम नहीं देते। देवदास ने जिस प्रकार जा कर ऐन पार्वती के किवाड़ों के सामने चुपचाप जान दे दी, सुरेन्द्र ने जिस प्रकार घर से भागकर मास्टरी की, तथा एक और उदाहरण लिया जाय पल्ली-समाज के रमेश ने जिस प्रकार जाकर गाँव में जीवन व्यतीत किया, उसमें यदि बीस क्यों पचास साल का या उससे भी अधिक फर्क कर दिया जाय, तो पता नहीं चलेगा। जो बातें रवीन्द्र और शरत् के संबंध में कही गयीं वे ही प्रेमचंद के अन्य समसामयिकों के भी विषय में कमोवेश कही जा सकती हैं। अवश्य उल्लिखित लेखकों ने जैसे शरत् बाबू ने जिस पहलू को लिया है, उसको चूडांत तक पहुँचा कर छोड़ दिया है। इनके लिखने के बाद शायद ही उस संबंध में कोई और वक्तव्य रह गया हो, किंतु यहाँ तो विस्तृति की बात हो रही है, न कि घनत्व की। विस्तृति की दृष्टि से विशेषकर राजनैतिक संग्राम के चित्रण की दृष्टि से प्रेमचंद भारतीय साहित्य में अपराजेय रहे हैं। अवश्य थोड़े दिनों से बँगला तथा प्रेमचंदोत्तर हिंदी साहित्य में कुछ ऐसे उपन्यासकारों का आविर्भाव हुआ है, जो इस ओर काफी आगे निकल गये हैं।

जिस जीवन को चित्रित किया उससे प्रेमचंद बखूबी परिचित थे ; फिर भी कुछ गलतियाँ

प्रश्न यह है कि प्रेमचंद ने जो इतने विस्तृत जीवन का चित्रण किया है, क्या वे उसके ब्यौरे से परिचित थे ? क्या उनकी रचना में उनकी इस संबंध में विशेषज्ञता झलकती है ? प्रेमचंद स्वयं देहात में पैदा हुए, बहुत गरीबी में पले, और उनके उपन्यासों में मुख्यतः देहाती जीवन का ही चित्रण है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपने तजर्बे से बाहर कलम उठायी। अवश्य उनकी रचनाओं में शहरी जीवन का भी चित्रण है, किंतु प्रेमचंद जैसे गाँव के अधिवासी थे, वैसे शहर के भी अधिवासी थे, और अपने जीवन के विभिन्न समय में उन्हें उत्तर प्रदेश के सब बड़े शहरों में तथा बम्बई में रहने का मौका मिला, इसलिए उनके उपन्यासों में शहर तथा शहरियों का भी सुंदर चित्रण है। यदि उनके उपन्यासों को शहरी जीवन और देहाती जीवन के चित्र करके दो हिस्सों में बाँटा जाय तो उनके कई उपन्यास तो मुख्यतः देहाती जीवन के ही वर्णन के रूप में वर्गीकृत होंगे। गोदान को ही लिया जाय, यद्यपि इसमें यत्र-तत्र शहरी जीवन की झलक आती है, किंतु यह उपन्यास मुख्यतः देहात तथा देहाती जीवन के ही संबंध में है। अन्य उपन्यासों में गबन, प्रतिज्ञा, वरदान, निर्मला, सेवासदन मुख्यतः शहरी जीवन को ले कर ही चलते हैं। अवश्य इनमें भी देहात की झलक कहीं-कहीं आ जाती है, यह स्वाभाविक ही है। बाकी उपन्यास मिश्रित कहे जा सकते हैं, किंतु देहाती जीवन प्रधान है।

प्रेमचंद बहुत कम अवसरों पर अपने तजर्बे के दायरे के बाहर गये हैं। अवश्य ऐसा कई बार हुआ है कि एक लेखक को एक विषय का बिल्कुल व्यक्तिगत तजुर्बा नहीं है, किंतु फिर भी वह सफलतापूर्वक उस विषय का चित्रण कर ले जाता है। बँगला के लेखक प्रभातकुमार ने अपनी एक पुस्तक में इसी प्रकार काश्मीर यात्रा का चित्रण किया, जिसे पढ़ कर रवीन्द्रनाथ ने भी दाँतों तले अँगुली दबा ली। ऐसे ही कहा जाता है राबिन्सन क्रूसो के लेखक कभी अपने जीवन में किसी एकांत द्वीप में नहीं रहे, यहाँ तक कि उन्होंने कभी समुद्र का दर्शन भी नहीं किया, फिर भी वे इस पुस्तक में समुद्र-यात्रा का जो वर्णन

करते हैं, उसमें अच्छे से अच्छे नाविक कोई त्रुटि नहीं निकाल सके।

इसी तरह हडसन ने दिखलाया है कि अंथानी ट्रलाप ने शिकार का चित्रण किया है, यद्यपि उन्होंने स्वयं कभी शिकार नहीं किया। ब्रेटहार्ट ने कैलिफोर्निया के सोने की खानों का चित्रण किया, स्टीवेन्सन तथा क्लार्क रसेल ने समुद्र के रोमेन्स का वर्णन किया, यद्यपि न तो हार्ट ने सोने की खान देखी, और न उल्लिखित दो अन्य उपन्यासकारों ने कभी समुद्र यात्रा की। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं कि उपन्यासकारों ने भद्दी गलतियाँ कर डाली हैं। डिकेन्स ने अपने पिकविक पेपर्स (अध्याय ७) में क्रिकेट खेलने का वर्णन किया है, उस पर उनकी खूब हँसी उड़ायी गयी है। बात यह है डिकेन्स महाशय ने न तो कभी यह खेल खेला, और न इसे ध्यान से देखा। इसी प्रकार स्टीवेन्सन जहाँ तक समुद्र-यात्रा का संबंध है, उसे निभा ले जाने पर भी समुद्र यात्रा सम्बन्धी गणित में गड़बड़ा जाते हैं। (An Introduction to the Study of Literature, पृ० १३५-६)। प्रेमचंद भी इसी प्रकार अपनी रचनाओं में एकाध भद्दी गलती कर डालते हैं, जैसा कि उन्होंने गबन के मुखबिर के हाथों में पिस्तौल दिला कर किया, किंतु अवश्य ही ऐसी गलतियाँ बहुत कम हैं। जीवन के जितने विस्तृत क्षेत्र को उन्होंने लिया है, उसको देखते हुए उनकी ये बहुत ही छोटी गलतियाँ कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। ब्यौरे में एकाध बिंदु पर गलती कोई ऐसी बात नहीं है। असली प्रश्न तो यह है कि जिस क्षेत्र के जीवन को उन्होंने चित्रित किया है, उसे वे सफलतापूर्वक चित्रित कर पाये या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में हमें यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने भारतीय जीवन का बहुत सुंदर चित्र अपनी रचनाओं में पेश कर दिया है।

प्रेमचंद के उपन्यासों के मूल में जीवन के तजुर्बे

यद्यपि हमें ज्ञात नहीं है किंतु प्रेमचंद के उपन्यास जीवन से लिये हुए हैं। प्रेमचंद ने स्वयं यह बताया है कि रंगभूमि का बीजांकुर उन्हें एक अच्छे भिखारी से मिला जो उनके गाँव में रहता था। इसी प्रकार और कई रचनाओं के बीजांकुर के संबंध में हमें ज्ञात हुआ है। स्वयं प्रेमचंद ने उपन्यास कला पर लिखते हुए इसके कुछ उदाहरण दिये हैं कि किस प्रकार छोटी सी घटना या छोटे से व्यक्ति से उपन्यासकार की कल्पना चल निकलती है। वे

लिखते हैं : 'पिकनिक पेपर्स डिकेन्स की एक अमर हास्यरस प्रधान रचना है। पिकविक का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेन्स के कान में आया। बस नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश—सबकी रचना हो गयी। साइलस मारनर भी अँगरेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गयी थी, और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। स्कारलेट लेटर भी हाथर्न की बहुत ही सुंदर रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के सही तथा व्योरेवार जीवन-चरित्र कम लिखे गये, इसलिए भारतीय उपन्यास साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। रंगभूमि का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा सा इशारा, एक जरा सा बीज लेखक के मस्तिष्क में पहुँच कर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। जेन आयर भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। जेन आयर की लेखिका ने कहा मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी। इसका फल था जेन आयर।.........हालकेन को बाइबिल से प्लाट मिलते थे। मेटरलिंक का सोमाबीन ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था।.........स्वर्गीय बाबू देवकीनंदन खत्री ने चंद्रकांता और चंद्रकांता संतति का बीजांकुर तिलस्म होशरुबा से लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।'

वर्गसंघर्ष के चित्रण में प्रेमचंद शरत् बाबू से श्रेष्ठ

उनके उपन्यासों में हम विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंध को बखूबी देख सकते हैं। मार्क्स ने जो बात बालजाक के संबंध में कही थी कि उनके उपन्यासों से समसामयिक फ्रेंच समाज के आर्थिक संबंधों का पता लगता है, वही बात किसी भी भारतीय लेखक से अधिक सार्थकता के साथ प्रेमचंद की रचनाओं के विषय में कही जा सकती है। शरत् बाबू के बहुत से उपन्यास विशेषकर पल्ली-समाज देहाती समाज के जीवन को ले कर लिखा गया है, किंतु उनके किसी भी उपन्यास में समाज में निरंतर होने वाले वर्गयुद्ध का, शोषण का इतना अच्छा

चित्र नहीं मिलता जितना प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलता है। पल्ली-समाज में देहाती जीवन के सब कड़ुवे पहलू आते हैं, समाज के स्तंभ किस प्रकार ढकोसले की नींव पर स्थित हैं, किस प्रकार लोगों में अनैक्य तथा अत्यंत क्षुद्र स्वार्थों का द्वंद्व है, स्वार्थ संघर्ष है, बात-बात पर षड्यंत्रऔर नीचता है, ये सब बातें तो हैं, किंतु पाठक पर इनके वर्णन का यह प्रभाव नहीं पड़ता कि ये जो दुर्गुण हैं, देहातियों के लिए स्वाभाविक नहीं हैं, बल्कि प्रचलित पद्धति के कारण हैं। इसके विपरीत प्रेमचंद के उपन्यासों में एक तो देहाती जीवन के वर्गयुद्ध का अंश स्पष्ट है, दूसरे उनकी रचनाओं में इन क्षुद्रताओं का वर्णन शरत् बाबू के वर्णन के मुकाबिले में कमजोर और शिथिल होनेपर भी, वह वर्णन हमारे मन पर यह अमिट छाप छोड़ जाता है कि सामाजिक पद्धति विशेषकर समाज की प्रचलित आर्थिक पद्धति इनके लिए जिम्मेदार है।

कर्मभूमि में अमरकांत अपने घर से भाग कर जिस गाँव में टिका है, उसके वर्णन में वर्ग संघर्ष बहुत स्पष्ट है। किसानों का जब चाहे तब बेदखल किया जाना, अक्सर खेतों का इतना लगान बढ़ना कि लगान चुकाने में ही सारी उपज चली जाय, हरी बेगार और हर तरह की हंटरबाजी और लूट-खसोट का चित्र इसमें है। प्रेमाश्रम में गौस खाँ के अत्याचारों का वर्णन ग्राम-जीवन के कविकल्पित चित्र को फाड़ फेंकता है। तालुकेदारियों के मैनेजर रियाया पर क्या-क्या ऊधम जोत सकते हैं, इसका चित्र तो हमें प्रेमाश्रम में मिलता ही है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हो जाता है कि ये मैनेजर कभी-कभी—विशेष कर जब कि तालुकेदारी की मालकिन विधवा है, तो उस पर भी कुदृष्टि डालने का इरादा रखते हैं। जब मालकिन का ही यह हाल है तो आम किसानों की बहू-बेटी का क्या हाल होता होगा, यह कल्पनीय है।

गोदान में वर्गसंघर्ष का नग्न चित्र

गोदान में तो वर्गसंघर्ष का बिल्कुल नग्न चित्र दिखाई पड़ रहा है। होरी के तीन लड़के मामूली दवादारू के अभाव में मर जाते हैं, किंतु किसानों के पैसों से पुष्ट राय साहब किस प्रकार बिना कारण अपनी दवा में सैकड़ों

रुपये खर्च करते हैं, या यों कहना चाहिए कि बिना कारण डाक्टर उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं, यह देखने ही योग्य है। अवश्य इस पुस्तक में प्रेमचंद ने यह भी दिखलाया है कि ये जमींदार अपने किसानों के लिए शेर होते हुए भी हुक्कामों के सामने बिल्कुल भीगी बिल्ली बन जाते हैं। कायाकल्प में भी राजा विशालसिंह अपनी रियाया पर तो बड़े अत्याचार करते हैं, किंतु मजिस्ट्रेट उनके साथ कुत्ते का सा व्यवहार करता है। सच बात तो यह है कि गोदान का सारा कथानक ही वर्गसंघर्ष पर अवलम्बित है। होरी को सताने वालों में जमींदार के साथ-साथ पुलिस भी है। जब उसका भाई ईर्ष्यावश उसकी गाय को जहर दे कर डर के मारे घर छोड़ भाग निकलता है, उस समय पुलिसवाले खबर पा कर वहाँ आते हैं। भ्रातृस्नेहवश होरी नहीं चाहता कि भाई का अपमान हो, इसलिए वह घूस देने के लिए तैयार हो जाता है। पुलिसवाले सब कुछ जानते हुए भी होरी से घूस लेने पर तैयार हो जाते हैं।

यों ही बिना पद्धति के दो एक उदाहरण लिये जायँ। प्रेमचंद की रचनाओं में जमींदारों के—वे चाहे केवल जमींदारों के रूप में हों या महंतों के रूप में धर्म का आवरण ले कर बैठे हों, अत्याचार खूब दिखलाये गये हैं। कायाकल्प के राजा साहब या उनके आदमी जिस प्रकार घास न छीलने पर चमारों की दुर्दशा करते हैं, वह किसानों के जीवन के इस पहलू को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। इसी उपन्यास में राष्ट्र के साथ शोषकों और शोषितों का क्या-क्या संबंध है, यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब चमार अत्याचारों से उकता कर कुछ सींग-पूँछ हिलाते हैं, तो फ़ौरन जमींदार तथा राजा की ओर से पुलिस आ जाती है, और बात की बात में उन पर गोली चला देती है। इसी प्रकार मंदिर प्रवेश के मामले में मंदिर के मालिक के इशारे पर अछूतों पर जो गोली चलती है, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अछूतों की प्रगति के शत्रु केवल उच्च जाति के हिंदू नहीं हैं, बल्कि राष्ट्र भी है जो साम्पत्तिक अधिकार की रक्षा की आड़ में छुआछूत की घृणित पद्धति की रक्षा अपनी संगीनों से करता है। जमींदारों के अतिरिक्त यह पुलिस तथा वह जिसकी नौकर है, वह सरकार भी इन शोषितों की विरोधी हैं, यह बात प्रेमचंद के उपन्यासों में बार-बार स्पष्ट हो जाती है। हमें अन्य किसी समसामयिक भारतीय उपन्यासकार में इस हद तक यह बात

नहीं मिलती। साहूकार तथा अन्य परोपजीवियों, यहाँ तक कि उन अधिकारियों से जिनसे यह उम्मीद की जाती है कि वे गरीबों के नागरिक अधिकारों के रक्षक होंगे, वे अधिकारी भी दौरा करते समय किस प्रकार लूट-खसोट से काम लेते हैं, किस प्रकार एक विशेष अधिकारी यदि अच्छा भी हो तो पद्धति ऐसी है कि उसे बेईमान बन जाना पड़ता है, इन सब बातों को हम प्रेमचंद की रचनाओं में देखते हैं। किसान की एक जान है, किंतु उनके कितने खून चूसनेवाले हैं, इस बात को यदि किसी को जानना हो, तो वह इस संबंध में समाजवादी दलों की पुस्तिकाओं से जितना नहीं जानेगा, उतना प्रेमचंद के एक गोदान से जान सकता है।

प्रेमचंद में धर्म का चरित्र स्पष्टीकृत

प्रेमचंद की रचनाओं में धर्म, धर्मध्वजी, महंत, पुरोहित, ब्राह्मण यहाँ तक कि ईश्वर की धारणा के संबंध में यह बार-बार दिखलाया गया है कि किस प्रकार ये व्यक्ति अथवा शक्तियाँ जनता का खून पीती हैं। सेवासदन में ही हम देखते हैं कि भोली वेश्या के घर में ऊँचे से ऊँचे शिखा चोटीधारी धर्मध्वजी आते जाते हैं, मंदिर के किसी भी उत्सव में ठाकुर जी से कहीं अधिक भोली का जयजयकार रहता है। इस प्रकार धर्मध्वजियों के विविध कौलों का खोखलापन स्पष्टरूप में दृष्टिगोचर होता है। इसी उपन्यास में महंत रामदास साथ ही जमींदार भी हैं, और धर्म-नेता भी। वे जो कुछ जुल्म ढाते हैं, वह श्री बाँकेबिहारी जी के नाम से ढाते हैं। बाँकेबिहारी जी केवल नैतिक दबाव पर ही निर्भर नहीं रहते, बल्कि उनके अखाड़े में दंड-बैठक करनेवाले, दुधिया भाँग छाननेवाले चेलों का एक गिरोह रहता है, और ये लोग देव-गत-चित्र होने के कारण जब भी कोई बाँकेबिहारी जी के विरुद्ध जरा भी आँख निकालता है, तो उसके होश को ठिकाने लाने के लिए तन-मन से तैयार रहते हैं। सच बात तो यह है कि इस उपन्यास का सूत्रपात ही इसी प्रकार के एक विद्रोही किसान की श्री बाँकेबिहारी के चेलों के द्वारा हत्या से हुआ है।

'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर धर्म का ढोंग रच कर ही गायत्री का सतीत्व भ्रष्ट करने पर तैयार होता है। धर्म को प्रेमचंद हमेशा इसी रूप में चित्रित करते हैं। अवश्य उनकी कहानियों में एकाध स्थान पर इसके विपरीत रुख का

परिचय प्राप्त होता है, किंतु उनके उपन्यासों में धर्म का चित्र हमेशा इसी रूप में होता है।

'गवन' में सेठ करोड़ीमल धार्मिक रूप में दिखलाये जाते हैं। वे जाड़ों में कंवल बाँटते हैं, किंतु प्रेमचंद यह कहना नहीं भूलते कि ये करोड़ीमल वही हैं जिनकी जूट की मिल है, इस मिल में मजूरों के साथ जितनी निर्दयता का व्यवहार होता है इतना कहीं नहीं होता। यहाँ मजूर हंटरों से पीटे जाते हैं। सेठ करोड़ीमल घी में चर्बी मिला कर लाखों रुपया कमा चुके हैं।

कर्मभूमि में भगवान और छुआछूत का रूप स्पष्टीकृत

'कर्मभूमि' में अछूतों को सवर्ण हिंदू मंदिर में घुसने नहीं देते। इस पर प्रेमचंद जी इस बात को स्पष्ट कर देने से नहीं चूकते कि इन मंदिरों में सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं। अछूतों की इतनी मजाल कि इस भगवान के मंदिर में कदम रखना चाहते हैं। अछूतों के भगवान तो कहीं किसी झोपड़े में या पेड़ तले होंगे। सवर्ण हिंदुओं के यह भगवान राजाओं के आभूषण पहिनते हैं, मोहन भोग मलाई खाते हैं, वे चिथड़े पहिननेवालों और चबेना खानेवालों की सूरत तक नहीं देखना चाहते। प्रेमचंद केवल इतना ही दिखला कर चुप नहीं हो जाते, बल्कि वे अछूतों की मंदिर प्रवेश-संबंधी गुस्ताखी के लिए उनको सवर्ण हिंदुओं के द्वारा बुलायी हुई पुलिस की गोलियों से भुनवा डाल कर सवर्ण हिंदुओं के मन में अछूतों के प्रति कितना प्रेमभाव है, उसे बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं। प्रेमचंद गाँधीयुग के लेखक हैं, ऐसा दूसरे समालोचकों ने भी लिखा है, हमने भी लिखा है, किंतु कर्मभूमि से यह पता चलता है कि प्रेमचंद अछूतों के लिए गाँधी जी से कहीं अधिक दर्द रखते हैं। प्रेमचंद की सहानुभूति एक विद्रोही के साथ दूसरे विद्रोही की सहानुभूति है। उसमें मानवता की पुकार निबाही गयी है न कि चुनाव की जरूरतों की पुकार। प्रेमचंद अछूतों को सवर्ण हिंदुओं और सब हिंदुओं के साथ बिलकुल बराबर देखना चाहते हैं, वे केवल छुआछूत मिटाने के नाम पर अछूतों के वोट लेने के लिए उत्सुक नहीं ज्ञात होते। अमरकांत जिस गाँव में जा कर चमारों में रहता है, वहाँ वह उनके साथ बिलकुल एक होकर रहता है। अवश्य खोजने पर, वहाँ अमरकांत ने जो व्यवहार किया है, उसमें गाँधीवादी पुट मिलेगा, जैसे जिस समय अमरकांत वहाँ

चमारों को मृत गाय का मांस खाने के लिए उद्यत देखता है, तो वह इस पर आपत्ति करता है, और मुन्नी की मध्यस्थता के कारण वह अपनी बात मनवाने में समर्थ भी होता है। इस व्यवहार में अव्यावहारिक सुधारक की सुधारभावना दिखलाई पड़ती है। यों चमारों को जीवित गाय या बकरे का मांस कब मिलने लगा, उनको अपने रिवाज की बदौलत जब इलाके में कभी कोई गाय मरती है, तो उसका मांस खाने को मिल जाता है। ऐसी अवस्था में उनको मुर्दा मांस खाने से रोकना यह कहने के तुल्य है कि तुम कभी कोई स्वादिष्ट पदार्थ खाओ ही मत। अमरकांत निस्सन्देह रूप से एक गाँधीवादी चरित्र है, उसमें वे ही आदर्शवाद तथा कमजोरियाँ हैं जो गाँधीवाद की विशेषता है, इसलिए अमरकांत के चरित्र में इस प्रकार का गाँधीवादी पुट दिखलाना जरूरी था, किंतु हमें उस पुट से धोखे में नहीं आना चाहिए कि प्रेमचंद असल में क्या चीज चाहते हैं। मंदिर के भगवान के संबंध में प्रेमचंद ने जो उद्‌गार किये हैं कि वे अमीरों के भगवान हैं, हलुवा-पूड़ी खाते हैं, और चिथड़े पहननेवालों से नफरत करते हैं, प्रेमचंद को एक अछूतोद्धारक के रूप में नहीं बल्कि एक पूर्णावयव विद्रोही और सो भी मूर्तिभंजक समाजवादी विद्रोही के रूप में स्पष्ट कर देता है। मंदिर के भगवान के संबंध में इस प्रकार की उक्ति करनेवाला व्यक्ति क्या यह चाहता है कि मंदिर खोल दिये जायँ, उनके द्वार सबके लिए खोल दिये जायँ, या वह यह चाहता है कि ऐसे भगवान समेत मंदिर को, साथ ही जिस पद्धति में इस प्रकार के मंदिर और इस प्रकार के भगवान जायज हैं, उसको सातवें रसातल में पहुँचा दिया जाय? मंदिर के भगवान के संबंध में प्रेमचंद ने जो शब्द कहे हैं, वे क्लासिकल हैं, अमर हैं, कथित अछूतोद्धार के आंदोलन के झंडे को ले कर चलनेवाले लोगों को चाहिए कि इन शब्दों को अपने हृदय पर और झंडों पर सुदृढ़ रूप से अंकित कर अपने कार्य में अग्रसर हों।

सनातन धर्म और पुनर्जन्मवाद पर प्रेमचंद का कुठार

'गोदान' में भी हमें धर्म का वही प्रेमचंदी रूप मिलता है। धनी दान देते हैं, धर्म करते हैं, लेकिन क्यों? अपने बराबरवालों को नीचा दिखाने के लिए। उनका दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार। इस उपन्यास के चरित्र मातादीन में सनातन धर्म की खूब पोल खोली गयी है। मातादीन के

बाप दातादीन अपनी जवानी में बड़े रसिया थे, किंतु नेम से कभी नहीं चूके, एकादशी नागा नहीं किया। कभी बिना स्नान-पूजन किये मुँह में दाना नहीं डाला, बस क्या था, उनको तो हर एक पाप का पासपोर्ट मिला हुआ था। मातादीन भी अपने बाप के बेटे थे। उन्होंने एक चमारिन को रखा, किंतु रुपये वाले थे, फिर वे नेम से कभी नहीं चूके। इस प्रकार मातादीन और दातादीन में प्रेमचंद ने भारतीय सनातन धर्म का नग्नचित्र खींचा है। इस चित्र को देखने पर पता चलता है कि विवेकानंद, अरविंद, भगवानदास, आलकाट, ऐनीवेसेंट, राधाकृष्णन आदि प्राच्य धर्मों की प्रशंसा में शतमुख विद्वान दुनिया को कितना बड़ा धोखा देना चाहते हैं। यों तो हम यह नहीं मानते कि प्राच्य और प्रतीच्य धर्मों में कोई विशेष फर्क है, यदि फर्क है तो इस बात का है कि एक धर्म पिछड़े हुए अर्द्ध-सामंतवादी लोगों का धर्म है, और दूसरा पूँजीवादी समाज का धर्म है, इसलिए प्राच्यधर्म की जो कुछ विशेषता, खूबी या सौन्दर्य है, वह केवल इतना ही है कि वह अधिक पिछड़ा हुआ है, उसकी बोल-चाल कम अर्वाचीन है, उसमें बात-बात पर अब भी अवतारों की गुंजाइश है, किंतु यह सब तो हुई किताबी और ऊपरी बातें, असल में व्यवहार में प्राच्यधर्म क्या है, इसे हम प्रेमचंद के दातादीन, मातादीन करोड़ीमल, समरकांत आदि में देख सकते हैं। बड़ी-बड़ी बातें बना कर ह्रासशीलता के क्षीयमान बुद्धियुक्त विदेशियों को एक हद तक उल्लू बनाया जा सकता है, किंतु उसमें भी हम अधिक समर्थ रहे यह बात नहीं क्योंकि अपनी संस्कृति और धर्म की रोम्याँरोलाँ से लेकर पालब्रान्टन तक लोगों से तारीफ करवा सकने पर भी हम राजनैतिक रूप से केवल स्वतंत्र होकर रह गये।

हमने सरसरी तौर पर प्रेमचंद की रचनाओं में से धर्म-संबंधी दो-एक घटनाओं तथा पात्रों की ओर पाठक की दृष्टि आकर्षित की, सारा प्रेमचंद साहित्य ही धर्म और ईश्वर के विरुद्ध एक व्यंग, हजो या जेहाद है। जहाँ भी ईश्वर का नाम आया है हम देखते हैं कि वह ऐसे प्रसंग में आया है कि ईश्वर के प्रति भक्ति बढ़ती नहीं, घटती है, हृदय श्रद्धा से अवनत नहीं होता, बल्कि आँखों में विद्रोहाग्नि चमकने लगतीं है। कर्मभूमि में पुनर्जन्मवाद की जिस तरह व्याख्या की गयी है, उससे अधिक उग्र से उग्र सामाजिक क्रांतिकारी भी कुछ नहीं कह सकता। पुनर्जन्मवाद के विषय में यह जो कहा गया है कि यह

सब मन को समझाने की बात है, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर संतोष रहे, और अमीरों को अपने रागरंग में किसी प्रकार की बाधा न पड़े, यह कथा साहित्य में अतुलनीय है। पता नहीं पुनर्जन्मवाद के विषय में किसी समाजवादी दल की पुस्तिका में इससे पहले हिंदी में कुछ कहा गया था या नहीं, जहाँ तक हम समझते हैं, ऐसा नहीं कहा गया होगा। सच बात तो यह है कि १६३२ में जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ था उसके पहले कोई स्वीकृत समाजवादी गुट, गिरोह या दल था भी या नहीं, और यदि था, जैसा कि एक गुट के विषय में कहा जा सकता था कि वह था, तो वह ऐसे दार्शनिक प्रश्नों के संबंध में कोई दिलचस्पी रखता था इसमें संदेह है।

धर्मबोध में शरत्चंद्र भी उच्च

वर्गसंघर्ष और धर्म की समालोचना की दृष्टि से शायद ही कोई भारतीय उपन्यासकार प्रेमचंद की समकक्षता कर पावे। वर्गसंघर्ष की दृष्टि से तो जैसा कि हम बता चुके वे अतुलनीय हैं, किंतु जहाँ तक धर्म की समालोचना की बात है शरत् बाबू का 'वामुनेर मेये' अर्थात् ब्राह्मण की बेटी बहुत ही उत्कृष्ट रचना है। इस रचना में हिंदुओं के चातुर्वर्ण्य पर ऐसा भयंकर श्लेष किया गया है कि मातादीन, दातादीन आदि प्रेमचंद के पात्रों के जरिये से सनातन धर्म की ज़ो समालोचना होती है, वह बहुत फीकी पड़ जाती है। शरत् बाबू तो उस रचना में जाति भेद के मूल पर ही कुठाराघात करते हैं। अपनी कहानी के जरिये से वे जातिभेद के थोथेपन को बिल्कुल मूर्त करके रख देते हैं। केवल तथ्यों से ही नहीं वे कहानी की भावुकतामय पृष्ठभूमि को इस प्रकार हमारे सामने ला कर रख देते हैं कि जातिभेद, 'नेम' आदि का पता ही नहीं लगता कि वे किस रसातल में चले गये। फिर भी जैसा कि हमने बताया शरत् बाबू वर्गसंघर्ष को प्रेमचंद की तरह चित्रित नहीं कर पाते। उनके पात्र अधिकतर भावुकता के धरातल पर ही तैरते रहते हैं, क्वचित ही वे उस सामाजिक आर्थिक ढाँचे की गहराई तक जा पाते हैं जिसके बगैर ऊपर का ढाँचा समझ में नहीं आता। अवश्य शरत् बाबू जिन समस्याओं को ले कर चलते हैं वे न तो हवाई ही हैं, और न तो अवास्तविक, यहाँ वह बात नहीं हो रही है, यहाँ केवल यही बताया जा रहा है कि प्रेमचंद समाज के आधारगत संबंधों तक पहुँचते हैं, जब कि

शरत् बाबू अधिकतर ऊपरी ढाँचे में ही उलझ कर उसी के इर्द-गिर्द अपनी उत्कृष्टतर कला का चमत्कार दिखलाते हुए रह जाते हैं। हम यहाँ पर शरत् और प्रेमचंद की तुलना नहीं कर रहे हैं अर्थात वहीं तक तुलना कर रहे हैं, जहाँ तक प्रेमचंद को समझने में ऐसा करना सहायक हो सकता है।

शांतिप्रिय द्वारा प्रेमचंद के उपन्यासों का विभाजन

हमने यह देख लिया कि प्रेमचंद के चित्र का कैनवास बहुत विस्तृत है। थोड़े शब्दों में हमने इस विस्तृति के संबंध में पाठक को एक झलक दिखाने का प्रयत्न किया। हमें यह देख कर आश्चर्य है कि श्री शांतिप्रिय द्विवेदी प्रेमचंद के उपन्यासों को अजीब तरीके से वर्गीकृत करते हैं। पहले उनका क्या वक्तव्य है यह सुन लिया जाय। वे लिखते हैं—

'प्रेमचंद की कृतियों के दो पार्श्व हैं—(१) सामाजिक और (२) राजनैतिक। दोनों पार्श्व जाग्रति की दिशा में चले हैं। राजनैतिक जाग्रति से पूर्व जो सामाजिक जाग्रति आयी, हमारे कथा साहित्य में प्रेमचंद ही उसके प्रथम साहित्यकार हुए। राजनैतिक जाग्रति के आने पर उसके भी प्रथम साहित्यकार वे ही हुए। सामाजिक जाग्रति में प्रेमचंद आर्यसमाज के साथ चले, राजनैतिक जाग्रति में गाँधीयुग की कांग्रेस के साथ, इस तरह वे उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी, इन दो युगों के कलाकार थे—हाँ, १९वीं सदी के अंतिम चरण, बीसवीं सदी के द्वितीय चरण के।

'इन दो प्रगतियों के द्योतक उनके उपन्यासों के दो खंड इस प्रकार किये जा सकते हैं—

(१) सामाजिक—सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, कायाकल्प, निर्मला, ग़बन।

(२) राष्ट्रीय—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि।

(३) गोदान प्रेमचंद के उपन्यासों का तीसरा खंड है, अकेले अपने में ही पूर्ण। वह उनकी कला की अंतिम पूर्णिमा है।' (प्र० सा०, पृ० २९३, २९२)।

सामाजिक और राजनैतिक जीवन परस्पर अंतर्प्रविष्ट

शांतिप्रिय ने जो इस प्रकार प्रेमचंद के उपन्यासों को सामाजिक और राष्ट्रीय दो भागों में विभाजित किया है, इसके लिए वे जिम्मेदार नहीं

ठहराये जा सकते क्योंकि आमतौर से प्रकाशकों के विज्ञापन में उपन्यासों के विभाजन का यह तरीका काम में आता है। इस संबंध में सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या कथित राष्ट्रीय उपन्यास भी सामाजिक उपन्यास नहीं है? क्या समाज में होनेवाली बातों को हम राष्ट्र या राजनैतिक हलचल से अलग करके कल्पित कर सकते हैं? अवश्य ही नहीं, किंतु जैसा कि हमने बतलाया, हमारे उपन्यासकारगण कुछ तो जब्ती के डर से कुछ और कारणों से जिनमें कला संबंधी यह विकृत धारणा है कि कला को राजनीति से अलग रहना चाहिए, अपनी रचनाओं में इन दो विभागों को (जो कतई विभाग नहीं हैं) अलग करके चित्रित करते रहे हैं, याने जब इसको लिया तो उसे छोड़ दिया, और उसे लिया तो इसे छोड़ दिया। वास्तविक रूप से हमारा जीवन दूसरे ही तरीके से प्रवाहित तथा प्रधावित हो रहा है। वास्तविक जीवन में इस प्रकार के प्रकोष्ठ नहीं हैं। अछूतों की समस्या को क्या कहा जायगा? राजनैतिक या सामाजिक? अछूतों के मंदिर प्रवेश आंदोलन को लिया जाय, मान लीजिए इसके नेता ने कसम खा ली है कि वह राजनीति को चिमटों से भी न स्पर्श करेगा, तो भी जैसा कि हम कर्मभूमि में देखते हैं पुलिस जब मंदिर के मालिक के बुलाने पर आ कर गोली चलायेगी, तो वह नेता या वह आंदोलन अराजनैतिक कैसे रह पायेगा। ऐसी हालत में अछूतोद्धार आंदोलन को न तो केवल सामाजिक ही कहा जा सकता है, न केवल राजनैतिक ही। दोनों बातें अंतर्प्रविष्ट हैं।

क्या कायाकल्प सामाजिक उपन्यास मात्र है?

शांतिप्रिय के वर्गीकरण में हम कायाकल्प को सामाजिक उपन्यासों में पाते हैं, यह किस अर्थ में? प्रतिज्ञा, निर्मला, सेवासदन, वरदान यहाँ तक कि ग़बन को भी एक अस्पष्ट अर्थ में सामाजिक उपन्यास कह लिया जाय तो यह समझ में आता है क्योंकि ये उपन्यास शांतिप्रिय के दूसरे वर्ग राष्ट्रीय उपन्यास में नहीं आते, किंतु कायाकल्प क्या उतनी ही हद तक राजनैतिक उपन्यास नहीं है, जितनी हद तक प्रेमाश्रम, रंगभूमि या कर्मभूमि है? कायाकल्प का नायक चक्रधर किसानों को 'भड़काने' के कारण जेल में भेजा जाता है, बाद को अवश्य वह अपने इन कामों से हाथ खींच लेता है, किंतु फिर भी इस

पुस्तक में जिस प्रकार किसान आंदोलन के खंडचित्र आये हैं, इससे इस पुस्तक को केवल सामाजिक श्रेणी में डालना अनुचित होगा।

वर्गसंघर्ष के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण

शांतिप्रिय ने प्रेमचंद के उपन्यासों का जो वर्गीकरण किया है, उसके बजाय शायद उन्हें इस प्रकार वर्गीकृत करने से वस्तुस्थिति का बोध कराया जा सकता है—

(१) वे उपन्यास जिनमें वर्गसंघर्ष बिल्कुल खुल कर दिखलाया गया है—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प और गोदान।

(२) वे उपन्यास जिनमें वर्गसंघर्ष का कोई खुला रूप दृष्टिगोचर नहीं होता—सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, निर्मला, ग़बन।

प्रथम वर्ग के उपन्यासों में अर्थात् उनके उस अंश में जिसमें वर्ग-संघर्ष दिखलाया गया है, समसामयिक भारतीय साहित्य में प्रेमचंद का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। स्मरण रहे ऐसा कहते समय हम प्रेमचंद की मृत्यु सन् तक के भारतीय लेखक को गिन रहे हैं। इधर बहुत से भारतीय उपन्यासकारों ने इस मार्ग में कदम रखा है। द्वितीय वर्ग के उपन्यासों में प्रेमचंद मामूली भारतीय उपन्यासकारों की श्रेणी में आते हैं, अवश्य इनमें भी वे केवल कहानी के लिए कहानी कहते हुए नहीं ज्ञात होते। इनमें से प्रत्येक उपन्यास में एक न एक सामाजिक समस्या को उठाया गया है और उस पर लेखक ने अपने विचार पेश किये हैं। दूसरे शब्दों में ये सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं। जहाँ तक सामाजिक उपन्यास लिखने का संबंध है भारतीय साहित्य में कई ऊँचे दर्जे के उपन्यासकार दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें अवश्य ही रवीन्द्रनाथ और शरत्‌चंद्र का नाम प्रमुख है।

राल्फफाक्स की दृष्टि से वर्गीकरण करने पर प्रेमचंद का स्थान

शहीद राल्फफाक्स ने विश्व उपन्यास साहित्य में दो तरह के उपन्यासकारों का होना बताया है। दोनों अपनी कला में निपुण हैं, अच्छी कहानी कह लेते हैं, किंतु दोनों में फिर भी बहुत फर्क है। एक केवल वास्तविकता के पीछे किसी प्रकार दौड़ते हुए ज्ञात होते हैं, दूसरा वास्तविकता को एक स्वरूप देना चाहता है। इन दो नमूनों के आदर्शरूप में राल्फफाक्स ने एक तरफ स्काट और

डिकेन्स और दूसरी तरफ बालजाक और तालस्ताय का गिनाया है। डिकेन्स के कुछ चरित्र तो बिल्कुल कहावत की तरह हो चुके हैं। इंगलैंड के लोगों की आधुनिक लोक-गाथा के अंग हो चुके हैं, और इसमें संदेह नहीं कि ऐसा हो कर उन्होंने वह उच्चतम पद प्राप्त किया है, जिसकी सब लेखक कामना करते हैं। वे ऐसा अपनी अद्भुत प्रतिभा, मनुष्यता तथा जीवन की कविता के लिए एक भावुकता के कारण कर सके हैं। किंतु इन सब बातों के होते हुए भी डिकेन्स — जैसा कि उनके किसी भी समसामयिक के विषय में कहा जा सकता है, अपने युग के ध्वजवाहक नहीं थे। ·····वे अपने युग के थे, किंतु वे अपने युग पर अपना सिक्का कभी नहीं जमा पाये। उनके संबंध में यह कहा गया है कि वे कोई कलाकार नहीं हैं (इसका इस संबंध में चाहे कुछ भी अर्थ हो) और यह भी कहा गया है कि वे पाठक के लेखक थे, न कि लेखक के लेखक। तो यह लेखक के लिए उतना ही खराब हुआ। यही बात स्काट के संबंध में कही जाती है जो १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपनी प्रतिभा से शासन करने तथा बालजाक पर बाहर के सबसे बड़े प्रभाव डालनेवाले थे। तालस्ताय पर भी, जो १९ वीं सदी के द्वितीयार्द्ध पर शासन करते हैं, डिकेन्स ही शायद विदेशी प्रभावों में प्रबलतम थे। किंतु फिर भी क्या बात है कि न तो स्काट बालजाक की मर्यादा तक पहुँच सके, और न डिकेन्स तालस्ताय के कद को प्राप्त कर सके। हम बराबर डिकेन्स और स्काट के चरित्रों में किसी बात का अभाव क्यों पाते हैं? बात यह है कि ये लोग अपने समाज की शराफत के धरातल के नीचे आम मनुष्य की होनेवाली निरंतर दुर्गति से गाफिल रहे। वे इस प्रक्रिया को देख नहीं पाये, न व अपने समसामयिकों अर्थात् अपने युग के वीरतापूर्ण चरित्रों की वास्तविक मर्यादा को देख पाये। मल्का विक्टोरिया के युग के ये लेखक विजयशील पूँजीवादीवर्ग के मानदंडों के छिछोरेपन को देख पाये, यहाँ तक कि उसे उधेड़ कर रख देने में वे निपुण साबित हुए थे, किंतु इसके नीचे चलनेवाली मनुष्य की मानसिक दुर्गति की गंभीरतर प्रक्रिया को वे देखने में असमर्थ रहे। वे पूँजीवादी समाज की कदर्यता को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ रहे। (The Novel and the People, पृ० ४९)। प्रेमचंद और उनके समसामयिक शरत्‌चंद्र, तालस्ताय और बालजाक की श्रेणी के हैं, इनमें भी प्रेमचंद तालस्ताय से अधिक मिलते हैं, शरत्‌चंद्र बालजाक से अधिक, यद्यपि जैसा कि हम

पहले ही बता चुके हैं कि बालजाक और शरत्चंद्र में प्रभेद यह है कि बालजाक में समसामयिक वर्गसंघर्ष का पूरा चित्र आ जाता है, किंतु शरत् बाबू की 'महेश' आदि दो-तीन कहानियों के अतिरिक्त यह दिशा बिलकुल गायब है। सेवासदन, वरदान, निर्मला, गबन तथा प्रतिज्ञा में प्रेमचंद ने अपने समसामयिक समाज का चित्र बहुत सुंदरता से खींचा है। इनमें से कुछ की रचना बहुत शिथिल है (स्मरण रहे इनमें से अधिकांश प्रारम्भिक युग में ही लिखे गये थे) फिर भी निर्मला और ग़बन की रचना बहुत शक्तिशाली है।

'प्रतिज्ञा', 'वरदान' तथा 'ग़बन' की समस्यामूलकता

प्रतिज्ञा में विधवा-जीवन, विशेष कर गरीब विधवा के जीवन की समस्या का चित्रण है। लेखक अंत में विधवा को आँधी तूफानों के अन्दर से ले जा कर एक आश्रम में पहुँचा देते हैं। 'वरदान' की समस्या हिंदू विवाह की, जिसमें वर और वधू की राय के वगैर ही शादी होती है, समस्या है। ग़बन तो मध्यवित्त श्रेणी का एक जीता जागता चित्र है। असल में इस पुस्तक को कहाँ तक समस्यामूलक कहा जा सकता है, इसमें संदेह है। यह तो मध्यवित्त श्रेणी के झूठ, बेईमानी, ढुलमुलयकीनी साथ ही परंपरा, झूठ, अभिमान आदि के कारण, उसके पतन का चित्र मात्र है, किंतु फिर भी प्रेमचंद अंत में ले जा कर इस सजीव चित्र में कुछ ऐसी उलझनें पैदा कर देते हैं जैसे क्या रमानाथ एक साथ दो स्त्रियों के प्रति प्रेमभाव रख सकता है, क्या वेश्या सुधरने पर समाज में ग्रहणीया हो सकती है? इन समस्याओं का हल वे एक आकस्मिक घटना से अर्थात् जोहरा की अपघात मृत्यु से करा देते हैं, और अपने नायक को एक आश्रम में पहुँचा देते हैं। इस प्रकार यह उपन्यास भी समस्यामूलक हो जाता है। किंतु इस आकस्मिक घटना के कारण समस्या से पलायन ही सूचित होता है। हमारे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार अंतिम चालीस-पचास पृष्ठों में (पह पुस्तक ३५० पृष्ठ की है.) यदि इस प्रकार ये समस्यायें उत्पन्न न की जातीं, तो इस उपन्यास का कुछ मूल्य घट जाता।

सच बात तो यह है कि रमानाथ के रूप में शिक्षित मध्यवित्तवर्ग के जीवन के जिस इकरसपन, आदर्श की न्यूनता, उद्देश्यहीनता, कायरता, रूढ़िदासता तथा अपने और अपने परिवार के पेट पालने के अतिरिक्त किसी अन्य

दिलचस्पी न होने का जो चित्रण इस उपन्यास में हुआ है, वह स्वयं ही एक समस्या हो जाती है। यदि इस उपन्यास में जोहरा आदि की समस्यायें न भी आतीं, तो इस उपन्यास को पढ़ कर यह धारणा हुए बग़ैर नहीं रहती कि इस प्रकार का जीवन असहनीय है, व्यर्थ है, कोई माने नहीं रखता है, इसे दूर करो, इसमें आमूल परिवर्तन ला दो, अंत करो इस झूठ का, इस बेईमानी का, उद्देश्यहीनता तथा आदर्शहीनता का। इस उपन्यास के नायक रमानाथ का जीवन जिस रूप में चित्रित है, वह खुद ही एक समस्या है, वह चिल्ला-चिल्ला कर एक समाधान —मूलगत, निष्ठुर से निष्ठुर समाधान की माँग कर रहा है। अंत में इस पुस्तक में प्रेमचंद जिन समस्याओं को पैदा कर देते हैं, इसमें संदेह नहीं वे बहुत बड़ी समस्याएँ हैं, और हमें उनका हल चाहिए, किंतु उन समस्याओं से बल्कि उपन्यास की जो मूल समस्या है, उससे हमारी दृष्टि कुछ हट-सी जाती है। दुख का विषय है कि किसी भी समालोचक ने ग़बन की इस मूल समस्या को समझने का कष्ट नहीं उठाया।

निर्मला भारतीय मध्यवर्ग की नारी की समस्या

'निर्मला' हमारी राय में प्रेमचंद के द्वितीय वर्ग के उपन्यासों में सबसे अधिक सुसंगठित कथानकयुक्त है। इसमें जिस प्रकार एक घटना से दूसरी घटना निकलती चली जाती है, वैसा प्रेमचंद के किसी उपन्यास में दृष्टिगोचर नहीं होता। ग़बन यदि मध्यवित्त श्रेणी के पुरुष की समस्या है, तो 'निर्मला' में हम भारतीय नारी समस्या को मूर्त पाते हैं। इस उपन्यास को भी समालोचकगण अच्छी तरह समझ नहीं पाये। अवश्य 'ग़बन' और 'निर्मला' में बहुत घरेलू चीजें हैं, और इनको पढ़ते-पढ़ते हमें न तो देश में चलनेवाले महा आंदोलनों का और न गाँधी, नेहरू आदि इस युग के महान् नेताओं का ही स्मरण हो आता है, किंतु इनमें तो हमें मध्यवित्त श्रेणी के साधारण मानव-मानवी का दर्शन होता है। उनकी सारी कमजोरियाँ (हाय, उनमें शायद ही कोई सहजोरी या शक्ति हो) हमारे सम्मुख आ जाती हैं। 'निर्मला' बेचारी की यह समस्या है कि आर्थिक कारणों से उसका विवाह एक दुआह से होता है, और फिर वह इसी विवाह के सप्तकुंड में तब तक जलती रहती है, जब तक उसकी एक भी पसली रह जाती है। 'निर्मला' कोई खराब स्त्री नहीं है, हमारी मध्यवित्त श्रेणी की

स्त्रियाँ खराब नहीं होतीं, किंतु रूढ़ि, परम्परा, धर्म, कानून, सब उसको जकड़े हुए हैं। वह किसी भी तरह अपनी मुक्ति नहीं कर पाती। उसमें वह साहस नहीं है जैसा कि हम इबसेन के 'गुड़िया के घर' की नायिका में पाते हैं। इसके लिए हमें प्रेमचंद को कोसने की आवश्यकता नहीं है। प्रेमचंद ने जिस देश की, जिस श्रेणी की स्त्रियों का चित्रण किया है, उनमें निर्मला ही वास्तविकता है, नोरा नहीं, फिर बेचारे प्रेमचंद क्या करते।

लेखक सज्ञानरूप से जितना देता है उसकी रचना उससे अधिक हो सकती है

इस प्रकार जिस भी दृष्टि से देखा जाय, प्रेमचंद एक आदर्श को लेकर चलते हुए ज्ञात होते हैं। वे स्काट और डिकेन्स की तरह उद्देश्यहीन रूप या वास्तविकता की सृष्टि नहीं करते, उनकी रूप-सृष्टि में गंभीर कारण तथा उद्देश्य निहित है। भले ही यह उद्देश्य इन उपन्यासों में सचेतन रूप से न रखे गये हों, इससे क्या? यह जरूरी नहीं कि एक लेखक या कलाकार अपनी रचना या कला में जान बूझ कर जितना रखता है उतना ही रहे, उससे अधिक भी हो सकता है और उससे कम भी। यदि एक उपन्यासकार बिना श्रम संबंधों को समझे हुए जीवन की वास्तविकता का वर्णन मात्र कर देता है, तो उसने भले ही न चाहा हो, या भले ही न जाना हो किंतु उस उपन्यास में वे समस्याएँ, संबंध, तथा विचार रहेंगे ही। बालजाक के विषय में हम यह बता चुके हैं कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र के प्रवर्तकों को उनकी रचनाओं से समसामयिक समाज के संबंध में किसी अर्थशास्त्री से भी अधिक तथ्य मालूम हुए थे। बालजाक वैज्ञानिक समाजशास्त्र से संपूर्णरूप से अपरिचित थे। वे तो केवल विश्वस्तरूप से अपने युग को चित्रित करते गये। इसी प्रकार यदि प्रेमचंद 'निर्मला', 'ग़बन' आदि पुस्तकों में केवल वास्तविकता का विश्वस्तचित्र खींच गये और हमें उसमें बहुत अन्य बातें मिलती हैं, जो शायद वे स्वयं न सोचते थे, न समझते थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अवश्य अपने राजनैतिक उपन्यासों में प्रेमचंद सचेतनरूप से लिखते हुए ज्ञात होते हैं। 'गोदान' में जा कर तो वे बिल्कुल ही सचेतन और आत्मज्ञान संपन्न कलाकार हो गये थे, इसमें संदेह नहीं।

लेनिन की कसौटी पर प्रेमचंद — गाँधीवादी वास्तविकता भी एक वास्तविकता

कौन-सी कला कितनी अच्छी है, अच्छी है या बुरी है — इसके संबंध में लेनिन की 'पहली कसौटी यह थी कि किस हद तक यह रचना सही तौर पर युग को, सामाजिक शक्तियों की गति को, वर्गों के संघर्षों को, राजनैतिक भावनाओं को तथा जनता की आशाओं और शंकाओं को प्रतिफलित करती है। लेनिन सृजनात्मक साहित्य को जनता की सामाजिक क्रियाशीलता की, मनुष्य के बौद्धिक तथा भावमय जीवन की वह उपज समझते हैं जिसमें दृश्यगत वास्तविकता के सब जटिल संबंध आ जाते हैं। लेनिन के लिए सृजनात्मक साहित्य जनशिक्षा का एक साधन होने के अतिरिक्त वास्तविकता को जानने का तथा वास्तविक जगत की द्वन्द्वात्मकता में अन्तर्प्रविष्ट होने का एक गहन साधन है।' (Lenin on Art and Literature, पृष्ठ १३८)। लेनिन की इस कसौटी पर कसने पर प्रेमचंद के उपन्यास अपने युग के उत्कृष्टतम प्रतिफल सिद्ध होते हैं, इसमें संदेह नहीं। अवश्य यह कहना गलत होगा कि प्रेमचंद अपने उपन्यासों में सर्वदा वास्तविकता से ही परिचालित हुए हैं। अपने राजनैतिक उपन्यासों में वे जिस वास्तविकता से परिचालित होते हैं, उसे हम कई मानों में वास्तविक वास्तविकता नहीं, बल्कि गाँधीवादी वास्तविकता कह सकते हैं। गाँधीवादी वास्तविकता इस अर्थ में कि प्रेमचंद ने कई बार चीजों को गाँधीवादी चश्में के अंदर से देखा है। अवश्य एक सीमा पर पहुँच कर वे इस चश्में को उतार फेंकने के लिए बाध्य हुए; गोदान में हम उस युग का परिचय पाते हैं जब वे अपने इस चश्में को बिल्कुल उतार चुके हैं। फिर भी जैसा कि हम बता चुके हैं कि गाँधीवादी या एक विशेष प्रकार की आदर्शवादी सुधारवादी पुटयुक्त वास्तविकता उस युग में बिल्कुल काल्पनिक नहीं थी, इसलिए कथित गाँधीवादी वास्तविकता भी एक हद तक वास्तविक वास्तविकता है।

क्या प्रेमचंद आर्यसमाज के साथ चले?

हमने शांतिप्रिय द्विवेदी के लेख से जिस अंश को उद्धृत किया उसमें यह जो कहा गया है कि 'प्रेमचंद सामाजिक जागृति में आर्यसमाज के साथ चले, और राजनैतिक जागृति में गाँधीयुग की कांग्रेस के साथ' यह कुछ अजीब

है। गाँधीयुग के साथ प्रेमचंद का क्या संबंध था, और किस प्रकार वे कई मानों में अपने उपन्यासों में गाँधी जी से बहुत आगे थे, और गोदान में तो वे गाँधी जी को अपने सैकड़ों मील पीछे छोड़ आये हैं, इसका हम स्पष्टीकरण कर चुके, किंतु यह जो कहा गया है कि प्रेमचंद सामाजिक जागृति में आर्य-समाज के साथ चले, इसका क्या अर्थ है? चूँकि प्रेमचंद जी ने बहुत-सी कुरीतियों पर आक्रमण किया है, इसलिए उन्हें आर्यसमाज के प्रभाव में कहना कहाँ तक उचित होगा? सनातनधर्म की कुरीतियों पर हमला केवल आर्यसमाज की विशेषता नहीं है। विगत शताब्दी के कई साम्प्रदायों ने, व्यक्तियों ने तथा संस्थाओं ने इन कुरीतियों पर हमले किये हैं। इस हमले में आर्यसमाज के साथ-साथ ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा अन्य अनेक व्यक्तियों तथा अल्पज्ञात संस्थाओं ने भाग लिया है। हिंदी-साहित्यिकों में भी राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, हरिश्चंद्र आदि बहुत से लेखकों ने सनातन समाज पर १६ वीं सदी में ही छिपा या खुला हमला किया था। इसलिए सनातन धर्म पर चोट करने से ही कोई अनिवार्य रूप से आर्य समाज के प्रभाव में आ कर ही ऐसा कर रहा है, ऐसा कहना उचित न होगा। आर्यसमाज अपने युग में एक प्रगतिशील आंदोलन था, इसमें संदेह नहीं, किंतु वह अपने युग में चलनेवाले प्रगति-अभिमुखी आंदोलन का एक अंग मात्र था, उसकी एक उपज मात्र था, न कि उस विराट आंदोलन का कारण था। आश्चर्य की बात है कि शांतिप्रिय जी को इस क्षेत्र में केवल एक आर्यसमाज ही दृष्टिगोचर हुआ।

अवश्य किसी लेखक की रचना से यह कहना संभव हो सकता है कि वह विगत शताब्दी और इस शताब्दी के प्रथम चरण में चलनेवाले इस प्रगति-मूलक आंदोलन के किस अंग से विशेष कर प्रभावित था। रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' के विषय मे कहा जा सकता है कि वह उपन्यास ब्राह्मसमाज के प्रभाव में और लोगों का तो यहाँ तक कहना है, कि उसी सम्प्रदाय की महिमा के कीर्तन के लिए लिखा गया था। बात यह है, हिंदू सनातन समाज की रूढ़ियों तथा कुरीतियों पर हमला करने का प्रत्येक संप्रदाय या समाज का एक विशेष तरीका रहा है। आर्यसमाज ने सनातन धर्म पर एक दूसरे तरीके से हमला किया, और ब्राह्म-समाज ने एक दूसरे तरीके से किया। हम इसके ब्यौरे में यहाँ नहीं जायेंगे कि इनके हमले की ये विशेषतायें कौन-सी थीं,

किंतु अल्पज्ञ पाठक भी शायद इसे मानने से इन्कार न करेंगे कि इस प्रकार की विशेषताएँ इन सम्प्रदायों की विशेषताएँ थीं। यदि कोई समालोचक किसी लेखक के संबंध में यह कहता है कि अमुक लेखक पर अमुक संप्रदाय का प्रभाव है या अमुक लेखक सामाजिक जागृति में अमुक सम्प्रदाय के साथ चला, तो उसे यह भी प्रमाणित करना पड़ेगा कि उस संप्रदाय में अपनाये हुए दृष्टिकोण से ही लेखक ने चीजों को चित्रित किया। विधवा विवाह, दहेज के विरुद्ध विचार, ढोंग-ढकोसले के विरुद्ध बगावत, धर्म के सरलीकरण के लिए माँग — ये तो इन सब संप्रदायों की विशेषताएँ थीं, किंतु आर्यसमाज की इस संबंध में जो विशेषता थी, वह यह थी कि वेदों के नाम पर धर्म के सरलीकरण की माँग रखी गयी, वेदों के ही नाम पर विभिन्न कुरीतियों के विरुद्ध जेहाद बोला गया। आर्यसमाज हो या ब्राह्म-समाज सभी ने एक हद तक प्रचलित धर्म-पद्धति की समालोचना की, उसके बाद उन्होंने 'हाल्ट' या 'ठहरो' का नारा दे कर पहले के धर्म की जगह पर अपने विशेष मार्केवाले कई बार पहले से कट्टर धर्म को स्थापित करना चाहा। हम यहाँ पर इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे कि ये मार्के सही थे या गलत, और यदि सही थे तो कहाँ तक गलत थे।

आर्य समाज वाली बात ग़लत है

हम जब प्रेमचंद की रचनाओं की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें कुछ दूसरा ही माजरा दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचंद प्रचलित धर्म, यहाँ तक कि ईश्वर और पुनर्जन्मवाद की समालोचना कर जाते हैं, क्या इनमें कुछ आर्यसमाजीपन है? हमें तो ऐसा नहीं मालूम देता कि कोई भी आर्यसमाजी पुनर्जन्मवाद के संबंध में वे बातें कहना पसंद करेगा जो प्रेमचंद जी कह जाते हैं। अवश्य प्रेमचंद बाँकेबिहारी अथवा महंतवाद के विरुद्ध जो संग्राम छेड़ते हैं उसमें आर्यसमाज उनका साथ दे सकता है, किंतु दूसरे उसी प्रकार के सभी समाज इसमें उसी हद तक साथ दे सकते हैं। आर्यसमाज में ईश्वरवाद बहुत कट्टरता के साथ अपनाया गया है, किंतु हम तो प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य में प्रत्येक जगह ईश्वरवाद के विरुद्ध एक जबरदस्त विद्रोह देखते हैं। प्रेमचंद ने अछूतों के दुखों पर सहृदय आँसू ढरकाये हैं, एक आर्यसमाजी भी ऐसा करेगा, किंतु दूसरे समाजवाले भी तो ऐसा करेंगे, फिर यह कोई कैसे कह सकता है कि वे आर्यसमाज के साथ

चले। यदि हम भूलते नहीं हैं तो प्रेमचंद के सारे उपन्यास-साहित्य में न कहीं वेद की तारीफ की गयी है, और न स्वामी दयानंद की। आर्यसमाज का विद्रोह एक आंशिक विद्रोह मात्र था, जब कि प्रेमचंद का विद्रोह एक जबरदस्त बुद्धिवादी का समग्र विद्रोह है। अवश्य इस विद्रोह में कहीं-कहीं दरारें हैं, किंतु फिर भी वह विद्रोह एक हद तक जा कर भीरु की तरह घबड़ा कर मार्ग में बैठ नहीं जाता, और अपने लिए नवीन रूढ़ियों तथा कुसंस्कारों की सृष्टि नहीं करता। बुद्धिवादी प्रेमचंद की बुद्धि की सर्चलाइट ऊँचे से ऊँचे पहाड़ से भी टकरा कर लौट नहीं आती, भले ही वह बिलकुल रान्टजेन रश्मि की तरह प्रत्येक क्षेत्र में पारदर्शी बन कर बिल्कुल सही चित्र न ला सके, किंतु है वह निर्भीक इसमें कोई संदेह नहीं। वह एक व्रत को तोड़ कर दूसरे व्रतों की स्थापना नहीं करता। उसकी दृष्टि जीवन की ओर निबद्ध है, न कि किसी प्रागैतिहासिक स्वर्णयुग की ओर—जो शायद कभी था ही नहीं, और जिसका अस्तित्व केवल कुछ लोगों की भीरु कल्पना में ही है। ऐसी अवस्था में प्रेमचंद को किसी एक संप्रदाय के साथ नत्थी करने की चेष्टा करना एक तो उनको छोटा करना है, वे मानवता के जिस सिंहासन पर आसीन हैं, उससे उतार कर संप्रदाय के बाड़े में बंद कर देना है, दूसरे, बहुत क्षुद्र मानदंड से महासागर को नापने की चेष्टा करना है।

ज्यों-ज्यों लिखते गये त्यों-त्यों चेतना बढ़ी—
आँद्रेजिद का उदाहरण

प्रेमचंद ज्यों-ज्यों लिखते गये, त्यों-त्यों वे पहले से रूढ़िलब्ध विचारों, भावुकताओं तथा भावनाओं से अलग होते गये, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक ऐसे कलाकार के लिए जिसने अपनी आँखों को तथ्यों की ओर से बिलकुल बंद नहीं कर लिया, उसके लिए यह बिलकुल स्वाभाविक था। सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक आँद्रेजिद पहले बिलकुल सचेतन नहीं थे, और इस बात से बेखबर थे कि दुनिया में वर्गयुद्ध तथा शोषण भी है। किंतु जब उन्होंने १६२५ में फ्रेंच साम्राज्य के अंतर्गत कांगो की यात्रा की, और वहाँ की दयनीय दशा देखी, यह देखा कि फ्रांस और पेरिस में जीवन कुछ और अर्थ रखता है और कांगो में कांगोवासियों के लिए जीवन कुछ और अर्थ रखता है, जब उन्होंने निर्लज्ज साम्राज्यवादी शोषण को अपनी आँखों से

प्रत्यक्ष किया तो उनकी कला में भी इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस पर स्वाभाविक रूप से समालोचकों ने यह कहा कि कांगो यात्रा के बाद आँद्रेजिद की कला में चेतना आयी किन्तु उत्तर देते हुए जिद ने कहा—'बात ऐसी नहीं है। यदि मैंने जिन दिनों Amyntas (१८९३-९६) लिखा था, उन दिनों के अपने सारे नोटों और यात्रा विवरणियों को उसी प्रकार प्रकाशित कर दूँ जिस प्रकार कि मैंने कांगो यात्रा के संबंध में सब नोट प्रकाशित कर दिये, उस प्रकार उन नोटों को भी प्रकाशित कर देता, या यों कहिए कि उन दिनों मेरे मन में जो विचार उठ रहे थे, उन सबको प्रकाशित कर देता तो आपको गास्फा नामक स्थान के फारफेटों को प्राप्त करने के लिए जो शोषण चल रहा था, उसके संबंध में तथा सर्वोपरि सी.........बैंक के द्वारा अरब किसानों का जिस प्रकार शोषण हो रहा था, उसके विषय में मेरे उद्गार ज्ञात होते। मैं इनमें से किसी बात की ओर भी उदासीन नहीं था। किंतु जो कुछ भी हो, यह सब होते हुए भी यह मेरा काम नहीं था। मैं कलाकार के रूप में अपने को पतित समझता यदि मैं इन इतर बातों की सेवा में अपनी लेखनी को अर्पण कर देता। जो लोग इस दिशा में मुझसे अधिक योग्य थे, उन लोगों को इन बातों को उठाना चाहिए था।' (The Novel and the People, पृ० १७)।

इस प्रकार आँद्रेजिद ने प्रकारांतर से इस बात को मानने से इनकार किया कि कांगो यात्रा के बाद उनमें कुछ परिवर्तन हुआ है। यह केवल उनकी जिद् थी, इसमें कोई संदेह नहीं। राल्फफाक्स ने आँद्रे की इस जिद् पर टीका करते हुए सही तौर पर लिखा है कि बाद को ही चल कर वे वास्तविक जगत को उसके असली रूप में देखने में समर्थ हुए, पहले तो वे केवल अपने मन की बनावटी दुनिया को देखते थे। यह किसी कलाकार के लिए न तो शर्म की बात है कि ज्यों-ज्यों वह दुनिया को देखता जाता है त्यों-त्यों उसकी आँखें खुलती जायँ।

प्रथम से पूर्ण विकसित नहीं

ज्यूस के मस्तक से मिनर्वा की तरह किसी कलाकार की कला एकदम समग्र रूप में उद्भूत नहीं हो जाती, और यदि किसी कलाकार के विषय में ऐसा ज्ञात होता है कि पहले ही दिन से उसकी कला सर्वांग सुंदर रूप में भूमिष्ठ

हुई, जैसे शरत् बाबू की कला के विषय में कहा जा सकता है, तो स्मरण रहे कि इस संबंध में कला का प्रकाशन और कला का उत्पादन दो अलग-अलग वस्तुएँ तथा घटनाएँ थीं। शरत् बाबू 'बड़ी दीदी' या 'चरित्रहीन' की वदौलत भले ही एक सुपरिपक्व कलाकार के रूप में हमारे सम्मुख पहले-पहल आते हुए ज्ञात भी हों, तो भी असली बात यह है कि इन प्रथम प्रकाशित रचनाओं के पीछे वर्षों की नीरव साधना थी।

प्रेमचंद हमारे सम्मुख शरत्‌चंद्र की तरह पूर्णावयव हो कर सामने नहीं आते। अवश्य उनके प्रथम प्रकाशित उपन्यास 'सेवासदन' में ही उनकी बुतशिकनी स्पष्ट हो चुकी है और हिंदी साहित्य-गगन में एक नवीन नक्षत्र का उदय होता है, किंतु कहाँ 'गोदान' और कहाँ 'सेवासदन' ? दोनों के भाव, भाषा, शैली, चरित्र-सृष्टि, अंतर्गतवस्तु में आकाश-पाताल का प्रभेद है। शरत् बाबू के प्रथम प्रकाशित उपन्यासों मे और अंतिम उपन्यासों में कला की दृष्टि से इतना प्रभेद ज्ञात नहीं होगा।

प्रेमचंद, गाँधीवाद और स्वाप्निक समाजवाद

फिर भी जैसा कि हम बता चुके इसमें कोई दोष नहीं है कि उपन्यासकार ज्यों-ज्यों लिखता जाय, त्यों-त्यों उसकी कला निखरती जाय। आँद्रेजिद ने केवल शेखी या जिद्द के वश अपने परिवर्तन को अस्वीकार किया है। प्रेमचंद की रचनाओं में हम स्पष्ट रूप से वास्तविकता की ओर क्रमिक यात्रा देख सकते हैं। यों तो वे वस्तुवादी थे, किंतु उनके वस्तुवाद पर अपने युग का एक हल्का सा गुलाबी पर्दा पड़ा हुआ था, जिसके वशवर्ती हो कर वे अपने अधिकांश उपन्यासों को आश्रम मे ले जा कर खतम करते थे। उन दिनों युग के प्रभाव के कारण वे यह समझते थे कि जग सुधारने का तरीका अपने को सुधारना है, यह केवल एक शिक्षा-संबंधी प्रश्न है, लोगों को ढंग से शिक्षा दे दी, अधिक से अधिक कुछ आत्मत्याग कर दिया तो स्वयं सब बातें ठीक हो जायँगी। यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचंद जी ने जो इस प्रकार के विचारों को अपना कर उन दिनों अपनी कला की सृष्टि की थी, वह उस युग में गाँधीवाद के नाम से परिचित होने पर भी बहुत पुरानी विचारधारा है। समाजवाद में पारिभाषिक रूप से इस प्रकार की विचारधारा को Utopian Socialism या स्वाप्निक

समाजवाद कहते हैं। स्मरण रहे, यहाँ पर हम गाँधीवाद के सिर्फ एक पहलू पर दृष्टि रखते हुए ही उसे स्वाप्निक समाजवाद की श्रेणी में रख रहे हैं, नहीं तो उसमें बहुत से पहलू जैसे ट्रस्टीत्व आदि हैं जो समाजवाद के संपूर्ण विरुद्ध हैं, किंतु यहाँ हमें उन बातों से मतलब नहीं।

स्वाप्निक समाजवादियों में बावेफ (१७६४-९७), एतियनकाबे (जन्म १७८८), साँसिमों (जन्म १७६०), फुरियर (१७७२-१८३७) आदि हो गये हैं। इनके अतिरिक्त यूटोपिया (शाब्दिक अर्थ—कहीं नहीं) की अर्थात् एक काल्पनिक आदर्श समाज के संबंध में बहुत से विद्वान् अपनी-अपनी कल्पना कर गये हैं। किसी ने अपने आदर्श समाज का नाम यूटोपिया रखा जैसा टामस मोर (१४७८-१५३५) ने किया। वेकन ने इसी प्रकार न्यू एटलान्टिस में दक्षिण समुद्र-स्थित एक टापू में अपने स्वर्ग की कल्पना की, इत्यादि-इत्यादि। इन सब विद्वानों की विशेषता थी कि वे सामाजिक तरीके से जगत को सुधारने के बजाय उसे एक वैयक्तिक प्रश्न बना कर अपने को सुधारने के द्वारा जगत को सुधारना चाहते थे। गाँधीवाद ने यूरोप में उद्भूत इसी प्रकार के विचार तालस्ताय और रस्किन के जरिये से अपनाया। बहुत दिनों तक प्रेमचंद इसी विचार को केन्द्र बिंदु बना कर अपनी रचनाओं को तैयार करते थे, विशेष कर प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि, कायाकल्प में वे इसी विचारधारा के इर्दगिर्द अपनी कला को विचरण करने देते हैं। उनके उपन्यासों में कर्मभूमि एक तरह के समझौते में अर्थात् सरकार के हृदय-परिवर्तन में खतम होता है। प्रेमाश्रम, सेवासदन, ग़बन, प्रतिज्ञा किसी न किसी प्रकार के आश्रम या अनाथालय में समाप्त होते हैं। 'निर्मला' उपन्यास का अंत नायिका की मृत्यु से होता है, किंतु यहाँ भी पति को गृहत्यागी दिखलाया गया है। इस प्रकार 'गोदान' के अतिरिक्त जितने भी उपन्यास हैं उनमें किसी न किसी प्रकार से समझौता, हृदय-परिवर्तन, आश्रम तथा संसार-त्याग से पुस्तक का अंत किया गया है। अवश्य द्रष्टृगत रूप से प्रेमचंद इन दिनों इन मतवादों के कायल होने पर भी उनके उपन्यासों में यत्रतत्र वे इस मतवाद जिसे हम सहूलियत के लिए गाँधीवाद कह सकते हैं, उसकी चहारदीवारी से निकल गये हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

वैयक्तिक मत कुछ दूसरा होते हुए भी वस्तुवादी कला में समग्ररूप आयेगा

एक लेखक अपने वैयक्तिक जीवन में किसी भी मतवाद का पोषण करे, यदि वह वस्तुवाद के प्रति सच्चा है, तो उसकी रचनाओं में वह भले ही सज्ञान रूप से अपने मतवाद को गौरव-मंडित करना चाहे, किंतु उस रचना में यह जरूरी नहीं है कि उसी का मतवाद प्रतिफलित हो। जिस महान् लेखक बालजाक का हम उल्लेख कर चुके हैं, वे अपने वैयक्तिक जीवन में कट्टर राजतंत्रवादी थे, किंतु उनकी पुस्तकों में अपने युग का क्रांतिकारी चित्रण है। राजतंत्रवादी होने पर भी उनकी पुस्तकों में राजाओं और उनके पिछलगुओं का जो चित्र तथा चित्रण है, उन्हें पढ़ कर हमारे मन में राजतंत्रवाद के प्रति भक्ति नहीं उत्पन्न होती, बल्कि यही समझ में आता है कि इस पद्धति का ही अंत कर देना चाहिए। प्रेमचंद के क्षेत्र में भी अर्थात् गोदान के पहले के प्रेमचंद में भी हम गाँधीवाद का जबरदस्त पुट पाते हैं, किंतु यदि गहराई के साथ देखा जाय तो उनकी रचनाओं में गाँधीवाद के विरुद्ध एक धारा अन्तःसलिला फल्गु की तरह बह रही है। इस विषय का जरा विशेष स्पष्टीकरण होना चाहिए क्योंकि अन्य सब समालोचक प्रेमचंद की रचना के इस पहलू को बिलकुल पहिचान न पाये। वे तो केवल इस बात को ले कर उड़ गये कि प्रेमचंद अपनी रचना में द्रष्टृयगत रूप से क्या देना चाहते थे, किंतु जैसा कि बताया गया, किसी रचना का दृश्यगत पहलू भी कोई चीज होती है। इसे प्रेमचंद के अन्य महामान्य समालोचक बिल्कुल समझ नहीं पाये।

प्रेमचंद उन दिनों जिसे यथार्थवाद समझते थे वह किसी साहित्य का ध्येय नहीं हो सकता, इसके संबंध में एक अन्य सोवियत-लेखक 'आई० कारायेफ' के मन्तव्य यों हैं। वे कहते हैं— 'कलात्मक रचना का उद्देश्य तथा प्रकृति बराबर यह रही है कि यद्यपि वह भूतकाल तथा वर्तमान काल से अपने लिए पुष्टि का संग्रह करती है, फिर भी वह विचारधारागत गठन, उद्देश्यों, आकांक्षाओं में भविष्य में ही जीवन धारण करती है।' इस प्रकार जिसे प्रेमचंद कथित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं, वह सही माने में जिसे हम यथार्थवाद कहते हैं, वही है।

राजनैतिक मतवाद की दृष्टि से वे प्राक् गोदान-युग में जिस प्रकार गाँधीवादी थे, उसी प्रकार साहित्य दृष्टि से भी वे आदर्शवाद और यथार्थवाद के मिश्रण के कायल थे। वे साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानते, (कोई भी वस्तुवादी साहित्य को फोटोग्राफी नहीं मानता), बल्कि दीपक मानते हैं। वे कहते हैं—'भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है, हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।' इस प्रकार मतवाद के माननेवाले होने पर भी वे यथार्थवाद के इर्द-गिर्द ही रहे। हमें ऐसा ज्ञात होता है कि प्रेमचंद ने साहित्य का जो विचार किया है, उसमें कुछ पारिभाषिक गड़बड़ी के कारण भ्रम उत्पन्न होता है, उदाहरण स्वरूप वे यथार्थवादी से क्या समझते हैं, इसे सुना जाय। वे कहते हैं—'यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और अच्छाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है।' यहाँ यह स्पष्ट है कि वे यथार्थवाद से जो कुछ समझते थे वह कुछ और था। सोवियत समालोचक ई० ट्रसचन्को ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'समाजवादी कला वास्तविकता को केवल उस प्रकार से चित्रित नहीं करती, जैसी कि वह है, बल्कि यह उसे उस रूप में चित्रित करती है जैसी कि वह मानव द्वारा निर्मित हो रही है।' फोटोवाली वास्तविकता समाज-वादी यथार्थवाद का ध्येय नहीं है। आगे ट्रसचन्को और भी कहते हैं कि 'दृश्यगत जगत के चित्रण में समाजवादी कला एक ऐसी कड़ी को लेकर चलती है जो प्राचीनतर अर्थात् बुर्जुआ यथार्थवाद में अनुपस्थित थी अर्थात् वह क्रांतिकारी क्रियाशीलता को लेकर समाज का चित्रण करता है। हमारे यथार्थवाद में अचेतन सामाजिक अंतर्गत वस्तु सचेतन हो जाती है, यह एक वर्गगत दलगत रूप लेती है, इसमें एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाता है जो एक विशेष वर्ग का है जिसने इसे जान-बूझ कर ग्रहण किया है' इत्यादि। ट्रसचन्को की इस कसौटी पर प्रेमचंद जी पूरे खरे न भी उतरने पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने जिस यथार्थवाद को छोड़ दिया था, वह बुर्जुआ यथार्थवाद अर्थात् निरुद्देश्य चित्रण के लिए चित्रण था। इसके

बजाय उन्होंने मिशनयुक्त यथार्थवाद अपनाया। यही समाजवादी यथार्थवादी का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। आश्चर्य यह है कि उनके समालोचकों ने यह कष्ट नहीं उठाया कि यह देखें कि प्रेमचंद यथार्थवाद से क्या समझते थे और आदर्शवाद से क्या समझते थे, और स्वयं उनके कथनानुसार उन्हें आदर्शवादी यथार्थवादी बताना शुरू कर दिया।

प्रेमचंद के उपन्यासों में गाँधीवाद भी और उसका विरोध भी

स्मरण रहे हम यहाँ पर उपन्यासों में गोदान को तथा कहानियों में कफन आदि को छोड़ कर बाकी प्रेमचंद के संबंध में ही आलोचना कर रहे हैं। अपनी कथित गाँधीवादी प्रभावयुक्त रचनाओं में प्रेमचंद ने क्या दिखलाया? यदि इस प्रश्न पर हम विचार करें तो हम देखेंगे कि अधिक से अधिक इन पुस्तकों में उन्होंने यह दिखलाया कि गाँधीवादी तरीकों से कुछ मामूली सुधार हो सकते हैं, आमूल परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। इस संबंध में उन्होंने जिन गाँधीवादी पात्रों की सृष्टि की है, जैसे प्रेमाश्रम में प्रेमशंकर और मायाशंकर, कर्मभूमि में अमरकांत, कायाकल्प में चक्रधर, रंगभूमि का सूरदास—इनमें से सभी पेटी बुर्जुआ सुधारवादी पात्र हैं। ये लोग अजीब-अजीब तरीके से सार्वजनिक कार्य के क्षेत्र में आते हैं। चक्रधर तो बीच रास्ते में ही काम-धाम छोड़ कर अलग हो जाता है। अमरकांत की इज्जत एक समझौते से बच जाती है। वह एक कमजोर दिल का नौजवान था। एक मुसलमान लड़की के प्रेम में निराश हो कर वह भाग जाता है, और वहीं पर चमारों के कुछ सुधारवादी संग्रामों में फँस जाता है।

जिस टाइप का जीवन में अस्तित्व ही नहीं है या है तो उससे कुछ आता-जाता नहीं है, उसे सामाजिक बुराइयों की एक सार्वजनिक दवा के रूप में पेश करना उस मतवाद का आदर करना है या उसकी हँसी उड़ाना है? आखिर डान क्वीक्सटवाद की आत्मा क्या है? यही न कि जिस उद्देश्य के लिए जो साधन अनुचित है, उसके लिए उस साधन का उपयोग करना, और इस प्रकार उपयोग करना जिससे हास्य का उद्रेक हो। अवश्य मायाशंकर के क्षेत्र में हमें अनायास ही हास्योद्रेक नहीं होता, जब हम गहराई तक सोचते हैं, और यह सोचते हैं कि उद्देश्य क्या है, और उपाय क्या है, तभी हमारा हास्योद्रेक होता है।

क्या प्रेमचंद-साहित्य समय से इतना बँधा है कि बाद को उसकी कदर संभव नहीं ?

हमारे देखने में यह आया था कि कुछ समालोचकों ने प्रेमचंद की रचनाओं की यह कह कर निंदा की है कि वे अपने समय से बहुत अधिक बँधे हुए हैं, इसलिए जब यह समय निकल जायेगा, तब इस साहित्य का पठन-पाठन भी बंद हो जायगा ; किंतु ऊपर बताये हुए कारणों से हमें यह आशंका गलत मालूम देती है। यह बात सही है कि प्रेमचंद-साहित्य का पैर बहुत ही दृढ़ रूप से अपने युग में जमा हुआ है, हम उनके साहित्य में उस युग के, विचारों, आंदोलनों तथा आलोचनाओं को पढ़ सकते हैं, किंतु साथ ही साथ हम उस साहित्य में अगले युग का दुंदुभि-निनाद भी सुनते हैं। प्रेमचंद-साहित्य उस युग का साहित्य है जिसे राजनीति में गाँधी-युग कहते हैं (कल क्या कहेंगे, इस पचड़े में हम यहाँ न पड़ेंगे), किंतु जैसा कि हम प्रमाणित कर चुके उस साहित्य में गाँधीवाद की एक हद तक प्रगतिशीलता के चित्रण के साथ-साथ आमूल परिवर्तन की दृष्टि से उसकी व्यर्थता भी चित्रित है। इसलिए जिस युग में विचारधारा के रूप में गाँधीवाद का उसी प्रकार विलोप हो जायेगा, जिस प्रकार रूस में तालसतायवाद का हुआ, उस युग में भी उनका साहित्य लोगों में आदर प्राप्त करता रहेगा।

शेक्सपियर और तालस्ताय विभिन्न कारणों से विभिन्न युगों में मान्य

साहित्य के इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है कि एक ही लेखक की कदर एक युग में किसी और कारण से हुई, और दूसरे युग में दूसरे कारण से हुई। यह न समझा जाय कि ऐसा केवल कहानी कहने की कला के कारण होता है, ऐसा उस रचना के अंतर्निहित गुणों के कारण होता है। लेखक चाहे जिस उद्देश्य से लिखे, और लेखक के युग के पाठक उसकी रचनाओं को चाहे जिस उद्देश्य से पढ़ें, बाद की पुश्तें उसमें बिल्कुल दूसरी वस्तुओं का आविष्कार कर सकती हैं, और इस प्रकार उस रचना को बिल्कुल भिन्न कारण से आदर तथा जीवन का एक नया पट्टा मिल सकता है। शेक्सपियर की

रचनाओं के संबंध में ऐसा ही हुआ। शेक्सपियर दो युगों के बीच में खड़े थे, उन्होंने अपने युग की असंगतियों, संग्रामों, दुखों, विचारों को वस्तु अनुयायी रूप में चित्रित किया, इसलिए बाद की सदियों ने उसमें भिन्न-भिन्न खूबियाँ पायीं और उसका आदर हुआ। हद तो यह है कि सोवियत रूस में शेक्सपियर की बहुत जबरदस्त कदर है, सुदूर काकेशस के कस्बों तक में शेक्सपियर की कला का प्रचार हो रहा है, और उनके नाटकों के अभिनय के लिए समितियाँ बनी हुई हैं। शेक्सपियर की यह जो कदर सोवियत रूस में हो रही है, यह उनकी कला की वस्तुवादिता के लिए हो रही है।

एक और उदाहरण लिया जाय। तालस्ताय जैसा कि हम बता चुके हैं १८६१ से १६०५ के युग के अर्थात् क्रांति के पहले के युग के कलाकार हैं। तालस्ताय के अपने कुछ मतवाद थे जो उनके लिखे हुए अन्य निबंधों तथा साहित्य में स्पष्ट हो जाते हैं। उनके मत को स्वाप्निक समाजवादी श्रेणी में डाल दिया जा सकता है। तालस्ताय पर लेनिन ने जो बातें कही थीं वे कितनी अच्छी तरह गाँधीजी पर भी लागू होती हैं, यह द्रष्टव्य है। लेनिन ने तालस्ताय से कहा था—

'तालस्तायवाद अपनी वास्तविक ऐतिहासिक अंतर्गत वस्तु की दृष्टि से प्राच्य एशियाई विचारधारा है। (यहाँ पर गलतफहमी न हो इसलिए यह बता दिया जाय कि प्राच्य एशियाई शब्द से किसी प्रकार के Racialism या एशिया या यूरोप की बड़ाई की बात अभीष्ट नहीं है, बल्कि इसका अर्थ सारे समाजवादी साहित्य में सामंतवादी लिया गया है, यह इसलिए कि एशिया में सामंतवाद यूरोप के सदियों बाद मौजूद रहा और है।—ले०) इसीलिए इसमें कृच्छ्रवाद तथा बुराई के विरुद्ध हिंसापूर्ण प्रतिरोध पर रोक है, इसीलिए इसमें रग-रग में निराशावाद मानों रमा हुआ है, और साथ ही यह विचार है कि सब व्यर्थ है, और कुछ आता-जाता नहीं है, इसीलिए इसमें भगवान में वह विश्वास तथा आत्मसमर्पण है जिसकी दृष्टि से मनुष्य केवल एक ऐसा मजदूर है जिसको अपनी आत्मा के उद्धार का काम मिला हुआ है.........। निराशावाद तथा अप्रतिरोध, ईश-प्रार्थना—ये उस युग की विचारधाराएँ हैं जब पुरानी समाज-पद्धति में घुन लग चुका है, जिस समय पुरानी पद्धति के विचारों में मँजी हुई तथा मातृ-दुग्ध के साथ उसे अपनायी हुई जनता यह देखने में असमर्थ है कि यह जो नयी पद्धति आ रही है, यह जब थिरा जायेगी तो इसका रूप क्या

होगा, तथा जब यह मालूम नहीं है कि कौन-सी सामाजिक शक्तियाँ इस युग की सैकड़ों समस्याओं का समाधान करने में समर्थ होंगी।' (Lenin on Art and Literature, पृ० ३५)।

यह सब होते हुए भी तालस्ताय ने सच्चाई के साथ अपने युग का चित्रण किया, इसलिए तालस्ताय की शिक्षाओं के संबंध में लेनिन का यह मत होते हुए भी कि 'उनकी शिक्षा निःसन्देहरूप से स्वाप्निक और अंतर्गतवस्तु की दृष्टि से अत्यंत गंभीर रूप से प्रतिक्रियावादी है', उन्हें इसी वस्तुवाद की बदौलत मानना पड़ा कि 'इसका मतलब यह नहीं है कि यह शिक्षा समाजवादी थी ही नहीं, या उसमें ऐसे आलोचनात्मक तत्त्व मौजूद नहीं हैं जो प्रगतिशील वर्गों की शिक्षा के लिए उपयोगी हो सकते हैं।'

तालस्ताय प्रेमचंद से कहीं अधिक मात्रा में स्वाप्निक विचारधारा के कायल थे, किंतु अपनी कला में वस्तुवाद को अनुसरण करने के कारण उनके संबंध में लेनिन ने माना कि उसमें प्रगतिशील तत्त्व मौजूद हैं, फिर प्रेमचंद को उसी कसौटी पर कसने पर हम उन्हें अर्थात् उनके साहित्य को—स्मरण रहे यहाँ विशेष कर उस साहित्य का जिक्र है जिसके कारण वे गाँधीवादी बताये गये हैं, समाजवाद की दृष्टि से भी प्रगतिशील क्यों न मानें ? वे प्रगतिशील तो हैं ही, और जिन कारणों से हैं उन्हें भी हम बता चुके।

यहाँ पर शायद यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि १९४१-४५ की लड़ाई में तालस्ताय के 'युद्ध और शांति' का उल्लिखित कारणों से भिन्न कारण से प्रचार हुआ। इसी से वर्तमान आलोचना का सूत्रपात हुआ था कि जब गाँधीवादी विचारधारा तालस्तायवाद की तरह अतीत के गर्भ में विलीन हो चुकी होगी, उस समय प्रेमचंद-साहित्य की क्या गति होगी ? तालस्ताय के विषय में हम देखते हैं कि १९४१-४५ के युद्ध में रूस में जो 'युद्ध और शांति' का प्रचार हुआ, वह नात्सी जर्मनी के विरुद्ध रूसियों की भावुकता को अधिक से अधिक जगा कर समाजवादी पितृभूमि की रक्षा करने के उद्देश्य से हुआ। इस प्रकार एक बिल्कुल अकल्पितपूर्व कारण से रूस में इस युद्ध के युग में 'युद्ध और शांति' का प्रचार हुआ। हम इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहते कि भविष्य की पुश्तें प्रेमचंद की कदर अकल्पितपूर्व कारणों से करेंगी, हम तो बिलकुल निश्चित रूप से यह कह रहे हैं कि कथित गाँधी युग में प्रेमचंद की कदर गाँधी साहि-

त्यिक के रूप में हुई, किंतु उनके साहित्य में यह जो दिखलाया गया है कि गाँधीवाद समाज के आमूल परिवर्तन की दष्टि से थोथा है, इसी के कारण बाद के युगों में उनकी कदर होगी।

प्रेमचंद साहित्य एक और अविभाज्य, केवल चेतना की निविड़ता में प्रभेद

रहा गोदान और उस धारा की कहानियाँ, उनके विषय में हमें यहाँ केवल इतना ही बता देना है कि वह तो भविष्य सर्वहारा साहित्य के लिए भी आदरणीय साहित्य रहेगा। हमने प्रेमचंद के गोदानपूर्व साहित्य के जिस नये पहलू का उद्घाटन किया है, उसकी दृष्टि से देखने पर कलाकार प्रेमचंद के उपन्यासों को तो दो श्रेणी में अर्थात् गोदान और गोदान के पहले के साहित्य की श्रेणी में बाँटना न पड़ेगा, अर्थात् इस प्रकार का बँटवारा बहुत कुछ अवास्तविक हो जायेगा। आखिर गोदान में उन्होंने यही तो दिखलाया है कि यह प्रचलित समाज इतना सड़ागला है, यह इतना जीर्णशीर्ण हो चुका है, कि इसमें पैबंदों से — मामूली सुधारों से काम न चलेगा, इसमें आमूल परिवर्तन की तथा बिल्कुल नवनिर्माण की आवश्यकता है, और स्वाप्निक समाजवादी अथवा गाँधीवादी कार्यक्रम में यह दम नहीं है कि वह इस परिणाम को ला सके। क्या प्रकारांतर से यही बात पहले के उपन्यासों में भी नहीं साबित की गयी है? साबित की गयी है शब्द कुछ गलत है क्योंकि ऐसा लेखक की अनजान में हुआ है। अवश्य फिर भी वर्गीकरण की गुंजाइश रह जाती है। यद्यपि वर्गीकरण का रूप बदल जाता है, किंतु फिर भी नया वर्गीकरण कमोवेश उन्हीं लाइनों पर उन्हीं उपन्यासों को ले कर होता है। गोदान में प्रेमचंद सज्ञान हो चुके हैं, उनको बुद्धत्व प्राप्त हो चुका है, अब उनमें वह भटकते-टटोलते हुए चलना नहीं है। उनके पैरों में स्थिरता आ चुकी है। उनकी लेखनी का सूत्र उसी प्रकार उनके हाथों में है जिस प्रकार एक सेनापति अपनी सेना को कमांड करता है। इसके पहले भी वे प्रगति के मार्ग में थे, किंतु अपनी अनजान में। गोदान और उसके पहले की रचनाओं में यही फर्क है कि गोदान में लेखक आत्मज्ञान प्राप्त हैं, किंतु पहले की रचनाओं में अचेतन हैं। फिर भी दोनों क्षेत्र में वे हैं प्रगतिमार्ग के पथिक। धूर्जटी बाबू ने तो यहाँ तक लिख दिया कि 'प्रेमचंद की सामाजिक

कल्पना त्यों-त्यों बढ़ती गयी ज्यों-ज्यों वे लिखते गये, किंतु शरत् बाबू के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती, शरत् बाबू की सामाजिक कल्पना पिछले दिनों कुछ संकुचित ही हो गयी थी।' (Modern Indian Culture, पृ० १७३)।

चरित्र लेखक को ले चलते हैं—जीवन और चरित्र

सारे प्रेमचंद साहित्य की इस प्रकार एकता और अविभाज्यता समझ लेने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि जिस युग में प्रेमचंद संपूर्ण रूप गाँधीवाद के विचारों के प्रभाव में थे, तथा जिस युग में वे उस प्रभाव से मुक्त हो चुके, इन दोनों युगों में उन्होंने जिस साहित्य की रचना की उन सब में अंतर्निहित रूप से तथा अंततोगत्वा एक ही सही विचारधारा का प्रतिफलन है? हमने प्रेमचंद पर अब तक जो कुछ लिखा है उससे यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि चाहे लेखक जिस आदर्श को भी द्रष्टृगत रूप से अपना कर चले यदि वह वस्तुवादी है तो उसकी रचना में ऐसे तत्व आ जायेंगे जो क्रांतिकारी होने के लिए बाध्य हैं। इसी को कुछ लेखकों ने यों कहा है कि नाटककार या उन्यासकार के द्वारा सृष्ट चरित्र अपना स्वतंत्र जीवन रखते हैं। यह बात सच है कि लेखक चरित्रों की सृष्टि करता है, किंतु वह यदि वस्तुवादी है तो इन चरित्रों को जीवन के आधार पर बनाता है, बल्कि जैसा कि हम गेटे, शरत् बाबू आदि लेखकों के विषय में जानते हैं, ये लोग अपने चरित्रों को करीब-करीब संपूर्णरूप से अपने इर्दगिर्द के जीवन से लेते थे।

गेटे, शरत् तथा प्रेमचंद के चरित्र जीवन से लिये हुए

गेटे के जीवन के संबंध में यह कहा जाता है कि उनका जीवन चिर-बसन्तमय इसलिए रहा कि वे बार-बार किसी न किसी सुंदरी के प्रेमपाश में आबद्ध हो गये, और इस प्रकार उनके जीवन में कभी पतझड़ का समावेश नहीं हुआ। हम यहाँ पर इस बात पर आलोचना नहीं करेंगे कि भ्रमरवृत्ति तारुण्य की रक्षा में साधक होती है या बाधक, हम इतना ही कह कर आगे बढ़ जायेंगे कि यह समालोचना-पद्धति बुर्जुआ है क्योंकि इसमें चीजों को एक ऐसे ढंग से देखा गया है, मानों गेटे की प्रेमपात्रियों के रूप में जो स्त्रियाँ आयीं, उनका कोई निजी अस्तित्व ही नहीं था, और वे केवल गेटे के कवि-जीवन को—चाहे वह कवि-जीवन बहुत महान ही क्यों न हो, निखारने के लिए ही

थीं। जो कुछ भी हो, तथ्य यह है कि गेटे की प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि में एक या एकाधिक ऐसी स्त्रियाँ बतलायी जाती हैं जो जीवन में उनकी परिचिता थीं। इसी प्रकार शरत् बाबू की रचनाओं के संबंध में यह पता लगा है कि उनके उपन्यासों के पात्र तथा पात्रियाँ उन्हीं के इर्द-गिर्द के लोग थे, हिंदी में अभी इस प्रकार की समालोचना-पद्धति कम अपनायी गयी है, किंतु फिर भी प्रेमचंद के संबंध में भी पता लगा है कि उनके कई पात्र उनके इर्द-गिर्द के लोग थे। उदाहरणार्थ रंगभूमि का सूरदास उन्हीं के अपने गाँव का एक अंधा था।

लेखक चरित्र की सृष्टि करता है, किंतु चरित्र अपने नियम से चलते हैं

जो कुछ भी हो, यहाँ हम जिस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, वह इससे गहन है। लेखक जिस चरित्र की सृष्टि करता है, वह चाहे सोलहों आने लेखक के इर्द-गिर्द के जीवन से लिया गया हो या उसमें कल्पना का कुछ पुट हो, जब एक बार उत्पन्न हो जाता है, तो लेखक की लेखनी को घसीट कर लेता चलता है। बात यह है चरित्र की सृष्टि कोई काल्पनिक कसरत मात्र नहीं है, वस्तुवादी लेखक को अपने चरित्र की सृष्टि में चरित्र के व्यक्तित्व, उसके मनोविज्ञान का विचार करना पड़ता है। लेखक चरित्र की सृष्टि अवश्य करता है किंतु वह उस चरित्र को कुछ ऐसे नियमों के अनुसार सृष्टि करता है जो संपूर्ण रूप से सामाजिक है, और लेखक का उन नियमों को बनाने में कोई हिस्सा नहीं होता। तो क्या लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह चाहे तो एक विशेष पात्र या पात्री के जीवन को दुखांत या सुखांत बना दे? अवश्य ही उसे ऐसा करने का अधिकार है, किंतु ऐसा करते हुए उसे समाज, मनोविज्ञान तथा व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया को मान कर चलना पड़ता है। कोई भी लेखक इन नियमों की अवहेलना कर चरित्र सृष्टि नहीं कर सकता, और यदि करेगा, तो वह चरित्र ऊलजलूल होगा। अवश्य साहित्य में ऊलजलूल चरित्र भी हैं, किंतु जिन चेत्रों में ऊलजलूल चरित्रवाले उपन्यासों या नाटकों को साहित्य की मर्यादा प्राप्त हुई है, जैसे डानक्वीक्सट नामक पुस्तक को प्राप्त हुई है, वहाँ हम देखेंगे कि इस ऊलजलूलपन में भी कुछ नियम यानी

method in madness है।

उपन्यासकार एक वैज्ञानिक

उपन्यासकार या नाटककार एक वैज्ञानिक की तरह है। वैज्ञानिक प्रकृति को नियंत्रित कर सकता है, किंतु ऐसा वह जबरदस्ती नहीं, प्रकृति के नियमों को जान कर तथा उन्हें मान्यता देकर ही करस कता है। वैज्ञानिक पत्थर से पानी की सृष्टि नहीं कर सकता, किंतु वह हाइड्रोजन और आक्सिजन की एक विशेष मात्रा को मिश्रित कर पानी की सृष्टि कर सकता है। उसी प्रकार उपन्यासकार चरित्रों के नियमों को जान कर ही तथा उन्हें मान कर ही जो चाहे सो कर्तुम-कर्तुमन्यथा कर्तुम् शक्य हो सकता है। उसकी स्वतंत्रता यहीं तक है, इसके बाहर नहीं। जो उपन्यासकार जितना ही इन नियमों को अच्छी तरह समझ लेगा, और उन नियमों को मान कर चल सकेगा, वह उतना ही उत्कृष्ट तथा सफल कलाकार हो सकेगा।

थैकरे वर्णित चरित्रों की गूढ़ता किस बात में है

इस विषय पर अटकलें दौड़ाने की आवश्यकता नहीं है, थैकरे ऐसे महान उपन्यासकार ने चरित्रों की इस शक्ति को जिसके द्वारा वे लेखक को चलाते हैं Occult या गूढ़ बतलाया है। उन्होंने एक बार कहा था कि 'मैं अपने चरित्रों को नियंत्रित नहीं करता, मैं उनके हाथों का कठपुतला बन जाता हूँ, और वे जैसा चाहे मुझे चलाते हैं।' थैकरे ने जिस शक्ति को गूढ़ बतलाया है, उसकी गूढ़ता केवल इस बात में है कि लेखक को उन चरित्रों के नियमों को मान कर तथा उनके प्रति विश्वस्त हो कर लिखना पड़ता है। चरित्रों के अपने निजी जीवन ठीक उसी प्रकार से होते हैं जिस प्रकार से संतान का अपने पिता-माता से स्वतंत्र जीवन होता है। पिता-माता पुत्र या कन्या के जन्मदाता तथा जन्मदात्री हैं, किंतु वस इसके वाद सन्तानें अपना-अपना जीवन व्यतीत करती हैं। यही बात प्रेमचंद के चरित्रों के विषय में कही जा सकती है। अवश्य ही प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के चरित्रों की सृष्टि की, अवश्य ही उन्होंने आत्म प्रबुद्धता-प्राप्ति के युग तक इन चरित्रों के जरिये से उस समय प्रचलित तथा स्वीकृत गाँधीवादी विचारधारा की विजय दिखानी चाही, यही उनकी द्रष्टृगत इच्छा तथा कामना थी ; किंतु जब उन्होंने चरित्रों

की तथा घटना-परम्पराओं की सृष्टि कर दी, तो लेखक की कामना से इनका एक स्वतंत्र अस्तित्व हो गया। वे अपनी गति से गतिशील हो कर चलने लगे। प्रेमचंद उन्हें कहीं ले जाना चाहते थे, और वे यह समझे भी कि जहाँ वे उन्हें ले जाना चाहते हैं, वहीं ले जाने में सफल भी रहे, किंतु असली बात जो हुई, उसे हम दिखा चुके। जिन उपन्यासों में उन्होंने और उनके समालोचकों ने यह समझा कि उन्होंने गाँधीवाद का जयगान किया, उनमें आमूल परिवर्तन ले आने की सामर्थ्य की दृष्टि से इस मतवाद की विडम्बना भी सिद्ध हो गयी। इस शेषोक्त पहलू को लोग समझ नहीं पाये, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। लेखक स्वयं उन दिनों इस मतवाद के कायल थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से उपन्यासों के ताने-बाने, कथानक, उसके विकास और परिणति में यह प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं हो सकी, और बहुत कुछ लेखक की द्रष्टृगत कामना के पत्थर के बोझे के नीचे दब गयी। किंतु इससे क्या? जरा भी कान लगा कर यदि सुना जाय, तो उस पत्थर के नीचे जो प्रस्रवण अंतर्धारा के रूप में प्रवाहित हो रहा है, उसका पता लग जाता है। फिर हम इस बात को एक बार कह दें कि गोदान के पहले के युग के उपन्यासों में भी आमूल परिवर्तन लाने की दृष्टि से गाँधीवाद की व्यर्थता ही दीख पड़ती है, आपात-दृष्टि से उन उपन्यासों में गाँधीवाद की जो विजय दिखलाई पड़ती है, वह भ्रम मात्र है अर्थात् वह केवल ऊपरी रूप है। आखिर ऐसा क्यों हुआ कि लेखक के चाहने के बावजूद उपन्यासों से इस प्रकार का परिणाम निकलता है, इस पर हम दिखला चुके कि वस्तुवाद के कारण ही ऐसा हुआ।

कायाकल्प का एक हिस्सा प्रगति विरोधी और कला की दृष्टि से दरिद्र

हमने जैसा लिखा उससे यह ज्ञात होगा कि प्रेमचंद का वस्तुवाद भी वस्तुवादी परिणामोत्पादक हुआ, किंतु ऐसा उनके सभी अवस्तुवादी चरित्रों के क्षेत्र के संबंध में नहीं कहा जा सकता, उदाहरणार्थ कायाकल्प में उन्होंने परलोक आदि के संबंध में जो चरित्र निर्माण किये हैं, वे इतने अवस्तुवादी तथा मिथ्या हैं कि वर्णन नहीं किया जा सकता। उन चरित्रों तथा घटनाओं से हम किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँचते। सच बात तो यह है कि कायाकल्प के ये हिस्से उनके साहित्य पर एक कलंक के समान हैं। न मालूम किस प्रतिक्रियावादी

प्रभाव में आ कर उन्होंने इस प्रकार के चरित्रों तथा घटनाओं की सृष्टि की थी। उन्होंने अपने समस्त उपन्यासों में यहाँ तक कि स्वयं कायाकल्प में अन्यत्र जिस धर्मविरोधी विचारधारा को अपना कर लिखा है, उसको देखते हुए कायाकल्प की ऊलजलूल बातें प्रक्षिप्त-सी ज्ञात होती हैं। कर्मभूमि में पुनर्जन्म की जो यह व्याख्या की गयी है कि पुनर्जन्म की धारणा गरीबों की विद्रोह-भावना को दवा रखने के लिए है, उसे तथा रंगभूमि के सूरदास के उस वचन से कि 'मेरे पूर्वजन्म की कमाई ही ऐसी थी। जैसे कर्म किये हैं वैसे फल भोग रहा हूँ, यह सब भगवान की लीला है' उसका जो समर्थन होता है कि पुनर्जन्म मनुष्य को बुरी से बुरी परिस्थिति के साथ संधि करने के लिए उकसाता है — इनको यदि यह कह कर टाल दें कि ये बातें तो पात्रों की हैं, पात्र अपनी बातचीत में न मालूम क्या-क्या बातें कर जाते हैं, उन सबको लेखक के मत्थे थोपना गलत है; तो भी हमारे पास इससे भी अच्छा सबूत है कि प्रेमचंद इस संबंध में क्या सोचते थे। उन्होंने रंगभूमि में किसी पात्र के मुँह से नहीं, बल्कि यों ही मन्तव्य किया है कि 'धर्म का स्तम्भ भय है। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिए, फिर तीर्थयात्रा, पूजापाठ, स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज, किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें खाली नजर आयेंगी, और मंदिर वीरान।' कहाँ ये बातें (ऐसे बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं) और कहाँ पोंगापंथी को आत्म-समर्पण कर बिलकुल लोक-परलोक की बातें लिखने बैठना। इस भयंकर त्रुटि के बावजूद और यह त्रुटि केवल विचार संबंधी नहीं है, बल्कि यह त्रुटि प्रेमचंद की कला को भी निकृष्ट दर्जे की कर देती है, इस पुस्तक के संस्करण पर संस्करण हुए हैं, इसमें हमें आश्चर्य नहीं। एक तो कायाकल्प में इस न्यूनता के बावजूद उसमें समसामयिक समाज के संघर्षों आदि का अच्छा चित्र मिलता है, दूसरे इस प्रकार के विचारवाले लोगों की अभी भारतवर्ष में ही क्यों दुनिया मे कमी नहीं है, फिर इस पुस्तक की कदर क्यों न होती। समालोचक के लिए धृष्टता है कि वह किसी लेखक को यह सुझाव दे कि वह अपनी अमुक रचना को दबा दे, किंतु फिर भी प्रेमचंद की ख्याति के लिए यह अधिक अच्छा होता यदि इस उपन्यास को दवा दिया जाता। बड़े-बड़े आत्म-प्रबुद्ध लेखक अक्सर अपनी अपरिपक्क रचनाओं को दबा देते हैं, इसलिए यह कोई अनहोनी बात नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अपनी कुछ प्रकाशित तथा कुछ अप्रकाशित रचनाओं को बहुत

दिनों तक दबा रखा, याने ऐसी प्रकाशित रचनाओं को भी फिर से प्रकाशित नहीं होने दिया। बाद को जब लोगों ने बहुत जिद्द की और यह कहा कि कविवर! आपकी रचना की विकासधारा को समझने के लिए इन रचनाओं को प्रकाशित करना आवश्यक है तो उन्होंने बहुत अनिच्छा से लोगों के अनुरोध को मान लिया। संदेह नहीं कायाकल्प का वर्णित हिस्सा बहुत ही प्रतिक्रियावादी है, और वह प्रेमचंद की कला पर एक बोझ के रूप में है। गंगाप्रसाद पाँडे को भी कायाकल्प बहुत खटका है। वे लिखते हैं कि 'कायाकल्प में ऐसे अंधविश्वासों की ऐसी अनर्थक बहुलता है कि इसका मूल्य केवल आध्यात्मिक जगत की वस्तु बन कर आकाश में उतराता रहता है।' वे कुछ और आगे जा कर यह कहते हैं कि 'वास्तविक जीवन के कटु अनुभव के बाद इसे मानसिक जगत का विश्रामस्थल कहना ही ठीक होगा।' चाहे वास्तविक जीवन के कटु अनुभवों से या अन्य किसी कारण से प्रेमचंद ने कायाकल्प की रचना की हो, इसमें संदेह नहीं कि उसमें वे प्रचलित कुसंस्कारों के शिकार ज्ञात होते हैं।

उपन्यास रचना में मनोविज्ञान का स्थान

उपन्यास रचना में कोई लेखक कितना सफल रहा है, इसका विचार करते समय यह भी देखना बहुत जरूरी हो जाता है कि लेखक ने कहाँ तक व्यक्तियों तथा घटनाओं को मनोविज्ञान के साँचों में (साँचों में इसलिए कहा गया कि साँचे वाकई सैकड़ों हैं, एक नहीं) सफलतापूर्वक ढाला है। मनोविज्ञान कोई 'हौआ' नहीं है। मनोविज्ञान मनुष्य के मन के उन नियमों का संग्रह है जो वास्तविक रूप से कार्यशील दृष्टिगोचर होते हैं। ये नियम स्वाभाविक रूप से बहुत विस्तृत हैं, और इसलिए आश्चर्य नहीं है कि इन नियमों की छानबीन करने के लिए एक विस्तृत विज्ञान खड़ा हो गया है। फ्रायड, ऐडलर, युंग तथा उनके शिष्यों और उपशिष्यों ने इस विज्ञान में चार चाँद लगा दिये हैं। तरह-तरह के प्रयोग किये गये, आँकड़े इकट्ठे किये गये, प्रतिक्रिया देखी गयी, पागलों, अपराधियों, शिशुओं का अध्ययन किया गया; इस प्रकार तथ्यों का एक विराट स्तूप एकत्र हो गया। फिर भी इन विद्वानों के सारे परिश्रमों की जड़ में ही एक त्रुटि थी, वह त्रुटि यह थी कि इन लोगों ने एक तो मनुष्य का व्यक्ति के रूप में अध्ययन किया, समाजस्थ व्यक्ति के रूप में नहीं। नतीजा यह

हुआ कि गंभीर पांडित्य के अधिकारी तथा लाखों तथ्यों के ज्ञाता होते हुए भी इनके विज्ञान में भयंकर एकदेशीयता आ गयी। दूसरे, ये इस बात को भी नहीं समझ पाये कि मनोविज्ञान एक निरंतर परिवर्तनशील विज्ञान है क्योंकि मनुष्य स्वयं परिवर्तनशील है।

आधुनिक मनोविज्ञान की जो द्वितीय त्रुटि है, उससे हमें इस अवसर पर कोई मतलब नहीं है, क्योंकि उपन्यासकार या नाटककार का एक ही युग के मनोविज्ञान से साबका पड़ता है, इसलिए यदि कोई उपन्यासकार इस बात से संपूर्ण अनभिज्ञ भी हो कि प्रत्येक युग में मनुष्य की भावुकताएँ बिल्कुल बदल गयीं, तो भी इससे कुछ आता-जाता नहीं है। उपन्यासकार तो अपने उपन्यास में सौ-पचास वर्ष की घटनाओं को ले कर चलता है, इसलिए उसमें मनोवृत्तियों की परिवर्तनशीलता की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। जिन दिनों यौथ-समाज प्रचलित था, उन दिनों ईर्ष्या तथा प्रेम अर्थात् एक के लिए अत्यधिक पक्षपात नहीं था। जिसे हम अपत्यस्नेह कहते हैं, वह भी यौथ-समाज में इस रूप में नहीं था जिस रूप में आज हम उसे देखते हैं, क्योंकि उस युग में वैयक्तिक अपत्य तो होते ही नहीं थे। फिर भी यह स्मरण रहे कि यौथ-समाज और वर्गसमाज की भावनाओं और भावुकताओं में जितना युगांतकारी प्रभेद देखने में आता है, सौ-पचास वर्ष में उतना प्रभेद तथा उस प्रकार के क्रांतिकारी प्रभेद संभव न होने पर भी बराबर हमारी मनोवृत्तियों में पुश्तदरपुश्त छोटे-मोटे परिवर्तन होते रहते हैं, इसमें संदेह नहीं। जिन लोगों ने गैल्सवार्दी का 'फारसाइटसागा' पढ़ा है या पर्लबक का 'मिट्टी का मकान' पढ़ा है, वे जानते हैं कि इन कलाकारों ने किस प्रकार यह दिखलाया है कि प्रत्येक पुश्त की मनोवृत्ति तथा भावनाएँ बदल गयी हैं, और वे दुनिया को एक दूसरी ही दृष्टि से देखते हैं।

दो पुश्तों के मनोविज्ञान में प्रभेद का चित्रण

मनोविज्ञान की जो पहली त्रुटि है उससे हमें विशेष कर यहाँ संबंध है क्योंकि प्रेमचंद ने जितने भी उपन्यास लिखे हैं, उनमें अधिक से अधिक दो पुश्तों का चित्रण है जैसा कि सब उपन्यासों में होता है, फिर भी इन दो पुश्तों में भी दृष्टिकोण बदलने की बात एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रेमाश्रम के मनोहर

और बलराज में तथा गोदान के होरी और गोबर, रंगभूमि के जानसेवक और उसके पुत्र प्रभु सेवक, मिसेज सेवक और उसकी पुत्री सोफिया में दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इनके दृष्टिकोणों में जो प्रभेद है, वह केवल दो व्यक्तियों के दृष्टिकोणों का प्रभेद नहीं है, बल्कि पिछली और वर्तमान पुश्त के दृष्टिकोण का भेद है, यह बिल्कुल साफ हो जाता है। मनोहर कायर नहीं है, किंतु वह सब अत्याचारों को सहने का आदी है। वह जिस समाज-पद्धति में पैदा हुआ है उसे बहुत कुछ स्वाभाविक समझता है, और यही समझ कर चलता है, किंतु बलराज पग-पग पर प्रचलित पद्धति से लोहा लेने पर तैयार हो जाता है। होरी और गोबर में भी यही भेद है। होरी प्रचलित सदाचार को मानकर चलता है, चाहे ऐसा करने में उसका अंजर-पंजर ढीला हो जाय, वह कहीं का न रहे, उसे भीख माँगने की नौबत आवे, किंतु गोबर में ऐसी बात नहीं है। किसानों की नयी पुश्त पहिली पुश्त के मुकाबिले में अक्खड़, निर्भीक तथा समाज को परिवर्तनीय समझने की आदी है अर्थात् क्रांतिकारी है। इसके विपरीत हम 'ग़बन' में यह देखते हैं कि पेटी बुर्जुआ या निम्न-मध्यम श्रेणी की नयी पुश्त का प्रतिनिधि रमानाथ अपने पिता दयानाथ के बनिस्बत आत्म-विश्वासहीन, कमजोर तथा अधिक पतित है। निम्नमध्यवित्तवर्ग की आर्थिक हालत बिगड़ना ही इस पतन का कारण है। किसानों के क्षेत्र में भी बराबर गरीबी बढ़ती चली जा रही है; वे भी प्रकारांतर से निम्नमध्यमवित्त श्रेणी के हैं, किंतु बिगड़ा हुआ किसान सर्वहारा वर्ग की ओर जा रहा है जब कि बिगड़ा हुआ बाबू बेईमानियों से अपने बाबूपन को क़ायम रखने की कोशिश कर रहा है, इसलिए एक वर्ग के होते हुए भी तथा एक तरह से क्रमशः दरिद्रतर होते जाते हुए भी एक तो क्रांतिकारी होता जाता है, और दूसरा और भी प्रति-क्रियावादी हो रहा है।

रंगभूमि में एक तरफ जानसेवक के विचारों तथा उसके पुत्र प्रभुसेवक के विचारों में तथा दूसरी तरफ मिसेज सेवक और सोफिया के विचारों में जो फर्क है, वह केवल व्यक्तिगत विचारभेद मात्र नहीं है, बल्कि इस प्रकार दो पुश्तों में विचार का पार्थक्य चित्रित किया गया है। जानसेवक धर्म को केवल व्यवसाय का एक साधन मात्र समझता है, और उसी दृष्टि से गिरजे में जाता है। असल में उसमें कोई भी विश्वास नहीं है। इस क्षेत्र में हमें और भी एक

सुविधा यह प्राप्त है कि हमें एक तरफ जानसेवक के पिता ईश्वरसेवक के विचार ज्ञात हैं, दूसरी तरफ उसके पुत्र प्रभुसेवक के विचार भी ज्ञात हैं। इन तीनों पुश्तों में विचारों का पार्थक्य है। ईश्वरसेवक सचमुच ईसामसीह में तथा धर्म में विश्वास करता है। किंतु आचरण में वह एक नंबर का काइयाँ है। इसके विपरीत जानसेवक यह समझ चुका है कि धर्म कुछ नहीं है, वह जैसा कि बताया गया धर्म को इस दृष्टि से देखता है कि इसे न मानने पर बाजार में साख घटती है। प्रभुसेवक में एक बात और बदल चुकी है। वह प्रचलित धर्म में विश्वास नहीं करता, किंतु समझता है कि एक आदर्श धर्म हो सकता है।

इसी प्रकार श्रीमती सेवक और उनकी पुत्री में फर्क है। श्रीमती सेवक ईश्वरसेवक की श्रेणी में आती है। वह धर्म के हर एक पहलू पर विश्वास करती है, किंतु उसका आचरण प्रत्येक अवसर पर अत्यंत नीचतापूर्ण होता है। वह अपने पति की तरह जानबूझ कर बेईमानी नहीं करती, किंतु इससे क्या, असल में उसके रोजमर्रे का आचरण पति से कहीं खराब है। उसकी पुत्री सोफिया प्रभुसेवक की श्रेणी में है, केवल फर्क इतना है कि वह अपने नये विचारों के लिए उतनी ही असहिष्णु है, जितनी उसकी माँ पुराने विचारों के लिए असहिष्णु है।

किसी उपन्यास के मनोविज्ञान की दृष्टि से समालोचना करते हुए, लेखक ने विभिन्न पुश्तों की परिवर्तनशील धारणाओं को कहाँ तक चित्रित किया है, इस पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। दुख है कि प्रेमचंद के किसी भी समालोचक ने इस पहलू पर दृष्टि ही नहीं डाली है।

आधुनिक मनोविज्ञान की त्रुटि पर राल्फफाक्स

मनोविज्ञान की जिस अन्य त्रुटि की ओर हमने इशारा किया है उसके संबंध में राल्फफाक्स का यह कहना है: 'निस्संदेह आधुनिक मनोविज्ञान ने मानवीय चरित्र पर विशेष कर मनुष्य के उस गंभीरतर अवचेतन संबंधी उपादानों पर जिन पर उपन्यासकार को ध्यान देना ही पड़ता है महत्त्वपूर्ण तथ्य एकत्र किया। फिर भी एक मुहूर्त के लिए भी इसका अर्थ यह नहीं है कि इन मनोवैज्ञानिक तथ्यों से सभी मानवीय क्रियाओं, विचारों या भावनाओं की व्याख्या हो सकती है। फ्रायड, हैवलाकएलिस या पावलाफ की सारी रचनाओं के बावजूद इस बात की आवश्यकता

नहीं है कि उपन्यासकार अपना सब काम इन मनोवैज्ञानिकों के हवाले कर दे। निश्चय ही मानवीय मन में जो विचार उठते हैं, तथा जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनकी प्रक्रिया की एडिपस जटिलता या मनोविश्लेषण शास्त्र की सैकड़ों जटिलताओं की तरह द्रष्टृगत कारणों से व्याख्या नहीं की जा सकती। फीलिंडग ने जैसा कहा है उस प्रकार से वैयक्तिक 'क्रांतियों' में मनुष्य की तसवीर नहीं खींची जा सकती है, और जिस प्रकार से फ्रायड ने मानसिक जीवन का विशुद्ध जीववैज्ञानिक चित्र खींचना चाहा है या पावलाफ ने तथा अन्य परावर्तनवादियों (Reflexologists) ने विशुद्ध रूप से यांत्रिक चित्र खींचा है, उनसे मनुष्य के व्यक्तित्व के अंदर पैठ कर काल्पनिक रूप से फिर उस व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण नहीं किया जा सकता। अवश्य ही आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के संबंध में हमारे ज्ञान भंडार में बहुत वृद्धि की है, और वह उपन्यासकार जो आज इन मनोवैज्ञानिक रचनाओं की अवज्ञा करेगा, वह अज्ञ होने के साथ ही साथ मूर्ख भी प्रतिपन्न होगा, किंतु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ये मनोवैज्ञानिक मनुष्य को एक समग्र के रूप में, एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में कम देखते हैं। इन विद्वानों ने जीवन के विषय में उस मिथ्या दृष्टिकोण के लिए आधार का सृजन किया है जो प्रूस्ट और जायस में जा कर मानवीय व्यक्तित्व को फाड़ कर रखने का कारण स्वरूप होता है, न कि उसके निर्माण का कारण स्वरूप। मनोविश्लेषण ने व्यक्तित्व की गुप्त गहराइयों में बहुत प्रतिभाशाली तथा साहसपूर्ण तरीके से गोता अवश्य लगाया है; किंतु वह इस बात को समझने में असमर्थ रहा है कि मनुष्य समाज - शरीर का एक हिस्सा मात्र है और इस समग्र शरीर का नियम वैयक्तिक मन के जरिये उसी प्रकार से विभक्त तथा परावर्तित हो कर जिस प्रकार से आलोक की किरणें प्रिज्म के जरिये होती हुई जाती हैं, प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति को नियंत्रित करता है। मनुष्य आज दृश्यगतरूप से मौजूद उन बाहिरी भयानकताओं के साथ (जो हमारी समाज-पद्धति के बैठ जाने के साथ सम्बद्ध हैं), साम्राज्यवाद, युद्ध, बेकारी के विरुद्ध लड़ने के लिए मजबूर है, किंतु साथ ही साथ वह इस बात के लिए मजबूर है कि हम सब चीजों से अपने मन में उठनेवाले प्रतिफलनों के साथ युद्ध करें।

'इस द्वैत संग्राम में जिसमें एक हिस्सा बारी - बारी से दूसरे हिस्से पर प्रभाव डालता है, द्रष्टृगत और दृश्यगत वस्तुवाद के बीच जो कृत्रिम प्रभेद है वह दूर हो जायेगा। अब हम उस पुराने प्रकृतिवादी वस्तुवाद के कायल नहीं रहेंगे, अब

उपन्यास अन्नहीन विश्लेषण और अंतर्दृष्टि की वस्तु न होगी वल्कि अब एक नये वस्तुवाद की सृष्टि होगी, जिसमें दोनों का सही संबंध होगा।' (The Novel and the People, पृ० ८६-७)।

प्रेमचंद के मनोविज्ञान पर इलाचंद्र के मंतव्य

हमने इस संबंध में जरा दीर्घ अवतरण इसलिए दिया कि हिंदी समालोचना के क्षेत्र में फ्रायड आदि की रचनाओं को पढ़ कर कुछ लोग बिलकुल उद्भ्रांत हुए से ज्ञात होते हैं। राल्फ फाक्स ने यह जो बतलाया है कि मनोविश्लेषण विज्ञान के प्रभाव में आ कर कुछ उपन्यासकार बहक कर द्रष्टृगत भावनाओं से जगत के परिवर्तनों को अर्थात् घटनाओं को होते हुए दिखलाने के लिए चेष्टित हैं, उनकी कला दूषणीय है, तथा मनुष्य को समाज-शरीर के अंग के रूप में, समाज में चलनेवाले संघर्ष तथा संग्राम के द्वारा प्रभावित साथ ही उस पर प्रभाव डालनेवाले के रूप में दिखलाना ही उपन्यासकार का कर्त्तव्य है, यह विशेष ध्यानयोग्य है। प्रेमचंद को जब हम इस दृष्टि से देखते हैं कि कहाँ तक उन्होंने व्यक्ति को समाज के अंग के रूप में दिखलाया है, तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वे बहुत सफल कलाकार रहे हैं। आश्चर्य है कि इसी गुण के कारण अपने को मनोवैज्ञानिक समालोचना के सूत्रधार समझनेवाले श्री इलाचंद जोशी प्रेमचंद पर बरस पड़ते हैं। वे लिखते हैं—

'प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया, पर अव्यक्त में जिस स्तर के मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे, वह यों भी अत्यंत छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूनेवाला था, तिस पर वह ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाये। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव जगत के वाह्य संघर्षों से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन में इस हद तक उलझे हुए थे कि अंतः संघर्षों की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हें नहीं था। उनके समस्त उपन्यासों में अधिकतर वाह्य जीवन के आघात-प्रतिघातों के ही चित्रण मिलते हैं—अंतर्प्रवृत्तियों के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत मिशन को ले कर वह चले थे, उसे वास्तविक अर्थ में पूरा करने में वे एकदम असफल रहे क्योंकि उसी वाह्य जीवन चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अंतर्जीवन चक्र पर आधारित है। उसी प्रकार

अंतर्जीवन प्रकृति की वही प्रगति श्रेयोन्मुख हो सकती है जो बाह्य जीवन की प्रकृति से निश्चित संबंध स्थापित किये हुए हो। जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपना कर दूसरे की अवज्ञा करेगा, उसकी एकांगीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में चाहे कैसी ही सफलता क्यों न पायी हो, और किसानों और जमींदारों का संघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शित क्यों न किया हो, इस ध्रुव निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उनके सैकड़ों बल्कि हजारों स्वपक्षी आलोचक भी दबा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार प्रदर्शन में और जीवन के किसी भी मार्मिक सत्य के उद्घाटन में वे पूर्णतया असफल रहे। हिंदी में उनके समय तक उपन्यास साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होंने बहुत बड़े अंश तक उसकी पूर्ति की, इसका श्रेय उनको है, और इसके लिए वे आदरणीय हैं, रहे हैं और रहेंगे। पर आज भी जबकि हिंदी का उपन्यास साहित्य लम्बी छलाँगें भर कर बहुत आगे बढ़ चुका है, यदि हम लोग कुछ व्यस्त स्वार्थवाले गुटों तथा व्यक्तियों का अनुकरण करते हुए उन्हें महान् कलाकार तथा उपन्यास-सम्राट् के विशेषणों से विभूषित करते हुए उनमें उन गुणों का आरोप करते चले जायँ, जो उनमें नहीं थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी, जैसी द्विवेदी-युग के उन आलोचकों की नासमझी छायावादी युग में सबसे आगे उपहास योग्य प्रमाणित हो गयी जिन्होंने गुप्त जी की 'भारत-भारती' को काव्य कला की अत्यंत महान् कृति घोषित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी।' (साहित्य संदेश, अक्टूबर, १९४४)।

इलाचंद्र के मंतव्य अर्थहीन

जोशी जी ने यह तो मान ही लिया कि प्रेमचंद जी ने जिस प्रकार उपन्यास रचना की है, उसमें व्यक्ति और समाज का संबंध बहुत अच्छी तरह आ गया है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रुस्ट और जायस पर जो दोष राल्फफाक्स ने लागू किये हैं, वे उन पर लागू नहीं हो सकते। रहा जोशी जी ने नये मनोविज्ञान के मद में यह जो कह डाला कि प्रेमचंद के उपन्यासों में मनोविज्ञान से कोई वास्ता नहीं रखा गया है, यह बिलकुल निराधार है। जोशी जी ने यह कहा है कि जो लोग 'प्रेमचंद जी को महान सिद्ध करने पर तुले हैं, और उनकी आड़ में उन नये उपन्यासकारों की निंदा और उपहास करना अपना परम कर्त्तव्य समझ बैठे

हैं जिन्होंने प्रेमचंद जी की तरह अंतर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा नहीं की है,' इसके उत्तर में यह भी तो कहा जा सकता है कि प्रेमचंद को मामूली कलाकार सिद्ध करने की आड़ में जोशी जी इस बात के लिए चेष्टित हैं कि कुछ नये उपन्यासकारों को अधिक महत्त्व दिया जाय। हम यह नहीं कहते कि प्रेमचंद मनोविज्ञान के नियमों को अपने उपन्यासों में संपूर्ण रूप से सर्वत्र निभा पाये हैं, बल्कि हमारा तो यह कहना है कि इसी क्षेत्र में वे सबसे अधिक कमजोर पड़ते हैं, किंतु ऐसा मानना दूसरी बात है और यह कहना कि उनके उपन्यासों के पात्र तथा पात्रियाँ संपूर्ण रूप से मनोविज्ञान के विरुद्ध चलती हैं, यह दूसरी बात है। स्वयं जोशी जी यह मानते हैं, और ऐसा करते हुए उन्होंने मानों राल्फफाक्स के कुछ वाक्यों की पुनरावृत्ति भर की है कि 'बाह्य और अन्तर दोनों जीवनों की प्रगतियाँ एक दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध रखती हैं,' यह सुपरिचित है कि हिंदी के नये उपन्यासकारगण समाज के साथ व्यक्ति के संबंध को दिखाने में प्रेमचंद के बहुत पीछे रहे, फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि ये नये उपन्यासकार अंतर्द्वन्द्व को खूब दिखा सके हैं, तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि वे प्रेमचंद के मुकाबिले में महान् कलाकार हुए। जोशी जी के अनुसार भी प्रेमचंद में अंतर्द्वन्द्ववाले पहलू की कमी है तो नये लेखकों में दूसरी बातों की कमी है, फिर इनमें से प्रेमचंद को ही क्यों घटिया समझा जाय। मालूम होता है कोई बीस वर्ष पहले माधुरी में प्रेमाश्रम की समालोचना करते समय जोशी जी ने जिस प्रेमचंद विद्वेष का परिचय दिया था, उसके उपादान अभी उनमें बाकी रह गये, और वे जब-तब किसी न किसी बहाने सिर उठाया करते हैं।

इस संबंध में श्री अंचल जी के ये मंतव्य विशेष द्रष्टव्य हैं—'अपने व्यक्तित्व के नाम से दुनिया को देखनेवाले आज के बड़े से बड़े प्रगतिशील हिंदी लेखक और कवि में भी यह organic समन्वय नहीं हो पाया। लगता है जैसे साहित्य के नये रचनात्मक युग को प्रेमचंद जिस मंजिल पर छोड़ गये, वह अब भी वहीं पड़ा है।' (समाज और साहित्य, पृ० ६०)। स्मरण रहे ये बातें १६४५ में अर्थात् जोशी जी के मंतव्यों के बाद लिखी गयी हैं। इसी प्रकार हिंदी के अन्यतम प्रधान समालोचक श्री प्रकाशचंद्र गुप्त का भी यह कहना है कि 'आज हमें उपन्यास की भूमि में प्रेमचंद की समता करनेवाला कोई उन्नत कलाकार

नहीं दीख रहा है, किंतु प्रेमचंद अपने युग में अलग एकाकी थे, और आज मानो बाँध तोड़ कर उपन्यास की धारा बह रही हो।' अवश्य वे यह मानते हैं कि संभव है कि आगे प्रेमचंद से अधिक शक्तिशाली उपन्यासकार उत्पन्न हों, किंतु उनके लिखने के समय तक ऐसा नहीं हुआ था। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जोशी जी बहुत कुछ कल्पना-जगत में विचरण करते हैं।

पाश्चात्य में अत्यंत मनोविज्ञान के विरुद्ध प्रतिक्रिया

जोशी जी यह जो समझ कर चले हैं कि समालोचना की कथित मनोवैज्ञानिक प्रणाली ही सब कुछ है और बहुत आधुनिक है, यह गलत है। सच है कि प्रुस्ट और जायस ने केवल आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ही अपनी पुस्तकों की रचना की है, किंतु विश्व साहित्य में उनका क्या स्थान है। जोशी जी की तरह के लोगों को यह ज्ञात होना चाहिए कि समसामयिक पाठकों में वैयक्तिक अनुभूतियों के बंद कारागार से छुटकारा प्राप्त करने की मनोवृत्ति बहुत जबरदस्त है। हर्बटरीड ने अपनी पुस्तक Reason and Romanticism में आधुनिक पाठक की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट कर दिया है।

मिशन और लेखक

अवश्य ही प्रेमचंद ने कथित निरुद्देश्य रूप का सृजन नहीं किया। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना में किसी न किसी समस्या को उठाया, और अपने विचार के अनुसार उसके समाधान देने की या समाधान की ओर इशारा करने की चेष्टा की, किंतु केवल इतने ही से अर्थात् एक मिशन के होने से ही कोई लेखक कलाकार दृष्टि से निकृष्ट हो जायगा, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। सोवियत रूस के लेखक और कलाकारों को यदि छोड़ भी दिया जाय तो बिना आयास के तालस्ताय, बर्नर्डशा, आप्टन-सिन्कलेयर, अनातोल फ्रांस, पर्लबक, रवीन्द्रनाथ, शरत्चंद्र आदि कई विश्वसाहित्यिकों के नाम स्मरण हो आते हैं जिन्होंने मिशन ले कर लिखा है। इसलिए यदि किसी लेखक में मिशन है, तो वह निकृष्ट दर्जे का कलाकार होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सही दृष्टि से देखने पर तो मिशनहीन कला का कोई अर्थ ही नहीं होता, और सच बात तो यह है कि कोई भी कला मिशनहीन है ही नहीं। यह दूसरी बात है कि किसी कला का मिशन छिपा हुआ हो, या लेखक को यह न मालूम हो कि वह

किस मिशन का वाहन हो कर लेखनी का प्रयोग कर रहा है, किंतु फिर भी प्रत्येक कला का एक मिशन है, इसमें संदेह नहीं। त्रसचन्को ने लिखा है कि 'ऐसी कला जो राजनीति या दल से मुक्त हो, ऐसी कविता जो वर्ग स्वार्थों से परे हो भूतकाल की कल्पनाएँ हैं जिनका बहुत दिन पहले ही वर्ग संघर्ष के जीवित इतिहास ने पर्दाफाश कर दिया। ये ऐसे धोखे हैं जिनमें पढ़े-लिखे लोग अक्सर पड़ जाते हैं, और यद्यपि यह बहुत पहले ही संपूर्णरूप से स्पष्ट हो चुका है कि ये कथित वर्गहीन कला तथा साहित्य शासकवर्ग से संबद्ध हैं, फिर भी बराबर पढ़े-लिखे वर्ग के लोग इसके धोखे में फँस जाते थे।' त्रसचन्को ने यह भी दिखलाया है कि सोवियत साहित्यिकों में भी इस प्रकार के विचार बार-बार उठे, और सचेतन आलोचकों को इनके साथ संग्राम करना पड़ा। इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि नार्वे के सुप्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने यह कहा था कि लिखने में उनका उद्देश्य केवल आनंद दान नहीं बल्कि निर्दिष्ट सामाजिक विचारों का स्पष्टीकरण है।

प्रसिद्ध यूरोपीय लेखकों में मोपासाँ के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी हैं, वह मिशनहीन कला का उदाहरण है। मोपासाँ ने बहुत ही योग्यता के साथ धनिकवर्ग के स्त्री-पुरुषों की पतित अवस्था का चित्रण किया है। इसमें उन्होंने कमाल कर दिया। रेनाल्ड्स ने जिस प्रकार लंदन रहस्य में बहुत जोरदार तरीके से ब्रिटिश राजघराने तथा शासकवर्ग के पातित्य का चित्रण किया, मोपासाँ ने उससे कहीं जोरदार तरीके से तथा अधिक सौन्दर्य के साथ फ्रेंच शासकवर्ग के गुप्त जीवन का चित्रण किया। मोपासाँ ने ऐसा किसी उद्देश्य को सामने रख कर नहीं किया, उन्होंने जो कुछ अपने इर्दगिर्द देखा उसी का अक्स अपनी कला के प्लेट पर खींच कर रख दिया। तालस्ताय ने मोपासाँ पर लिखते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि उनमें चित्रित विषयों के साथ कोई नैतिक संबंध नहीं था। (What is Art? Tolstoy, पृ० २१)।

फिर भी उन्होंने यह जो चित्रण किया उससे उनकी अनजान में यह तो साफ हो ही गया कि यह जो शासकवर्ग तथा उसके पिछलगुये हैं, वे अपनी बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद शासन करने के संपूर्ण अयोग्य हैं, और उन्हें निकाल बाहर करना चाहिए। कदाचित् यह कहा जाय कि इस प्रकार मिशन

निकाला जाय, तो सभी साहित्य और कला में कोई न कोई मिशन निकल ही आयेगा ; यह तो है ही। हम तो यह साफ कह रहे हैं कि प्रत्येक कला तथा साहित्य में कोई न कोई मिशन निहित है, वह मिशन प्रगतिशील भी हो सकता है, और प्रगतिविरोधी भी। इस प्रकार हमने यह देख लिया कि मिशन का होना ही कोई दोष नहीं है, बल्कि उसके संबंध में एक लेखक या कलाकार जितना ही सज्ञान हो, उतना ही अच्छा है। प्रेमचंद अपने मिशन के संबंध में सज्ञान थे, किंतु जैसा कि हम दिखा चुके, उनकी सज्ञानता गोदान के पूर्वकाल तक द्रष्टृगत थी। उन्होंने गोदान के पहले के उपन्यासों में भी सज्ञानता से लिखा है, किंतु उन्होंने इन रचनाओं में सज्ञानता से जितना रखा है, उनमें उससे कहीं अधिक मौजूद है। हम यह ही बतला चुके हैं कि उनकी इन रचनाओं में वह उपादान जो उनकी बहुत कुछ विरोधी द्रष्टृगत सज्ञानता के बावजूद मौजूद है, वही उन्हें भविष्य में भी हिंदी साहित्य में अमर रखेगा। इसी बात को समझ न पाने के कारण जोशी ऐसे अहंमन्य समालोचक यह भविष्यवाणी करते हैं कि भविष्य सन्तानें प्रेमचंद की कोई कदर नहीं करेंगी। हम इसके विपरीत इस बात को डंके की चोट पर कहते हैं और इस बात की सत्यता आगामी बीस वर्ष में प्रमाणित हो जायगी कि प्रेमचंद की जनप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी, जब कि जिन आधुनिक हिंदी लेखकों को जोशी जी ने प्रेमचंद जी से श्रेष्ठतर बताया है, उनका भाग्य संदिग्ध है।

मिशन जितना ही परोक्ष रूप से रहता है, कलाकार उतना ही श्रेष्ठ

केवल मिशन होने से ही, चाहे वह अच्छे से अच्छा मिशन हो कोई महान् कलाकार नहीं हो जाता। जार्ज डिमित्राफ ने सोवियत लेखकों में बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि 'वह लेखक क्रांतिकारी लेखक नहीं है जो अपनी कृतियों में बार-बार इन्कलाब जिंदाबाद कहता रहता है।' हम यह पहले ही बता चुके हैं कि लेखक, कलाकार, उपन्यासकार या नाटककार एक वैज्ञानिक की तरह है, तथा वह उपलब्ध उपादानों से और उपादानों के नियमों को मान कर ही सफलतापूर्वक लिख सकता है। कुछ लेखकों में जिस छिछोरेपन से क्रांति की या प्रगतिशील शक्तियों की जय दिखलाने की परिपाटी दृष्टिगोचर होती है, उससे न तो क्रांति या प्रगतिशील शक्तियों का कोई लाभ होता है, और न वह कला है। जो

कलाकार जितने छिपे रूप से, आहिस्तगी से, बिल्कुल नेपथ्य में रह कर अपने मिशन को चित्रित कर सकता है, वह कलाकार उतना ही श्रेष्ठ है।

प्रेमचंद पर अंचल

श्री अंचल जी ने प्रेमचंद के संबंध में लिखा है:

'जीवन की वे बुनियादी शक्तियाँ जो पूँजीवाद को नष्ट करने और समाजवाद को स्थापित करने के लिए काम कर रही हैं, मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रांति की अनिवार्यता की जड़ें जमानेवाली कोई संगठित योजना वे नहीं दे सके।'

अन्यत्र वे इसी की मानो पुनरावृत्ति करते हुए लिखते हैं :

'उस निश्चित परिणाम की ओर कूच करती हुई जनता के लिबास की सक्रिय, युद्ध और खून के कीचड़ से सनी आदर्श रेखाएँ हमें प्रेमचंद के साहित्य में नहीं मिलतीं।'

अंचल के मंतव्यों की जाँच

हम इस पर अधिक नहीं कहेंगे। केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी भी कलाकार का यह काम नहीं है कि वह कोई संगठित योजना दे, यदि उसकी कला में यह योजना अंतर्निहित है तो इतना ही यथेष्ट है।

हम अंचल जी की इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि प्रेमचंद के साहित्य में हमें आदर्श रेखाएँ नहीं मिलतीं। सच बात तो यह है कि प्रेमचंद के राजनैतिक उपन्यासों का मूलमंत्र संग्राम है तथा अन्याय, ढोंग, ढकोसले के विरुद्ध विद्रोह है। गोदान में तो वे भावी संग्राम की ओर इशारा करते हुए कम से कम दो बातें तो कहते ही हैं, एक यह कि प्रचलित गाँधीवादी तरीके से समाज में मौलिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता और दूसरा यह कि संग्राम से ही उद्धार होगा। अवश्य उन्होंने मजदूर सभा और दल बनाने की बात नहीं कही है, न मजदूरों की संगठित शक्ति को ही दिखाया है, किंतु जिस युग और समाज में वे थे उसको देखते हुए ही उन पर राय कायम की जा सकती है। जिस समय १६३५ में कथित वामपक्षी तथा समाजवादी पार्टियाँ किसी न किसी रूप में गाँधीवाद के ही इर्द-गिर्द चक्कर काट रही थीं, उस युग में अंतिम रूप से गाँधीवाद को दिवालिया घोषित करने में कितना बड़ा तथा कितना विराट

क्रांतिकारित्व है, इसे श्री अंचल को समझना चाहिए था। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त भी यह मानते हैं कि प्रेमचंद चित्रित समाज में 'दैन्य, निराशा, दारिद्र्य का चित्र है, किंतु नवजीवन का संदेश भी इस समाज की रग-रग और कपोलों में पहुँच चुका है।' यही क्रांतिकारी कला का सार भाग है।

प्रेमचंद में अंचल जो नहीं पाते प्रकाशचंद्र उसे पाते हैं

केवल इतना ही नहीं, जहाँ अंचल प्रेमचंद की रचनाओं में 'कोई संगठित योजना' नहीं पाते और इस पर दुखी हैं, वहाँ प्रकाशचंद्र गुप्त उनकी रचना में 'संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है' इस बात को निरंतर पाते हैं। वे कहते हैं : 'हमारे दलितवर्ग जरा से नेतृत्व की आड़ पाकर संगठित हो विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम प्रेमाश्रम, रंगभूमि और कायाकल्प आदि कथाओं में देखते हैं।' (नया हिंदी साहित्य : एक दृष्टि, पृ० ७७)। यह बात सही है कि प्रेमचंद और क्रांतिकारी हो सकते थे। सच बात तो यह है कि वे बराबर अधिक क्रांतिकारी होते जा रहे थे। मौत ने उन्हें उठा लिया, नहीं तो न मालूम वे कहाँ पहुँचते।

प्रेमचंद की दृष्टि समसामयिक क्रांतिकारियों से स्पष्टतर

आगामी क्रांति के संबंध में प्रेमचंद के विचार बहुत से क्रांतिकारी नाम से परिचित व्यक्तियों तथा दलों से स्पष्टतर हैं। कर्मभूमि में वह इस क्रांति का चित्र देते हुए कहते हैं : 'ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धांतों का, परिपाटियों का अंत कर दे, जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि को खड़ी कर दे।' अवश्य इसमें वर्गसंघर्ष का पुट दे कर यह साफ-साफ नहीं कहा गया कि समाजवाद स्थापित होने पर ही मिथ्या आदर्शों का अंत होगा, किंतु उनकी रचना में गरीबों, किसानों, मजदूरों के साथ सहानुभूति दृष्टिगोचर होती है, उसमें यह समाधान अंतर्निहित है, यह मानना पड़ेगा। वे कहीं-कहीं स्पष्ट कहते भी हैं, जैसे कायाकल्प में—'भोजन ऐसा मिलता था जिसे शायद कुत्ते भी सूँघ कर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा दे, और परिश्रम इतना करना पड़ता जितना बैल भी नहीं कर सकता।'

यद्यपि ये बातें जेल के संबंध में कही गयी हैं फिर भी ये बातें हमारे सारे समाज पर लागू हैं, इसे प्रेमचंद बराबर कह रहे हैं।

साहित्य पर बाल्शेविक पार्टी का प्रस्ताव

प्रेमचंद के अधीर कथित क्रांतिकारी समालोचकों को यह ज्ञात होना चाहिए कि क्रांतिकारी साहित्य का सृजन रातोरात नहीं हो सकता, इसलिए साहित्य और कला में क्या क्रांतिकारी है और क्या नहीं, इस पर विचार करते समय बहुत धैर्य और ठंडे दिमाग से काम लेना चाहिए। इतिहास की सबसे बड़ी क्रांतिकारी पार्टी रूस की बाल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इस संबंध में क्रांति के आठ वर्ष बाद अर्थात् १ जुलाई १९२५ को जो प्रस्ताव पास किया था वह द्रष्टव्य है। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि 'प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर तथा प्राचीन कलाकार के विरुद्ध छिछोरेपन तथा अवज्ञापूर्ण रुख के विरुद्ध पार्टी को बराबर लोहा लेना चाहिए।' इसी प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि पार्टी का नारा यह होना चाहिए कि 'एक तरफ तो समझौते का विरोध करे, दूसरी तरफ बाल्शेविक शेखी के विरुद्ध लड़े।' साहित्य केवल आर्डर पर तैयार नहीं हो सकता, इसलिए जो साहित्य तैयार हो उसके संबंध में हमें खूब समझ-बूझ कर अपना रुख कायम करना चाहिए। हम प्रेमचंद के कायाकल्प में गृहीत परलोक-संबंधी रुख के साथ न तो समझौता कर सकते हैं, न करेंगे, क्रांतिकारी समालोचना किसी भी प्रकार इसकी सराहना नहीं करेगी, किंतु साथ ही उनके साहित्य का, यहाँ तक कि कायाकल्प में ही कुछ हिस्से का जो क्रांतिकारी रुख है, उसका हम अभिनंदन किये बग़ैर नहीं रह सकते। न सही संगठित योजना, न सही एक स्पष्ट thesis, किंतु उनकी रचना में जो अन्याय, ढकोसला, शोषण के विरुद्ध विद्रोह है, उसकी हम अवज्ञा कैसे कर सकते हैं। फिर इस संबंध में प्रेमचंद को दोष देते समय इसे हमें नहीं भूलना चाहिए कि जिन दिनों प्रेमचंद लिख रहे थे, उन दिनों कितने ऐसे व्यक्ति और कौन ऐसा दल भारतवर्ष में था जो दावा कर सकता है कि उसने आगामी क्रांति के संबंध में एक स्पष्ट, साफ, निखरी हुई, संगठित योजना रखी। जब राजनीति में यह परिस्थिति थी, उस समय यह कैसे आशा की जा सकती थी कि एक कलाकार बिलकुल एक संगठित योजना देगा, और सो भी उपन्यास में। फिर जैसा कि

हम अन्यत्र दिखाते हैं, एक मामले में तो वे अपने युग के बहुत आगे निकल गये थे, वह यह कि वर्षों तक गाँधीवाद के साथ प्रयोग करने के बाद उन्होंने गोदान में यह फैसला सुना दिया था कि जहाँ तक समाज के आमूल परिवर्तन का संबंध है गाँधीवादी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। स्वराज्य के बाद इतने साल निकल गये, अब गाँधीवाद की पोल और बुरी तरह खुल चुकी है।

गोर्की के अतिरिक्त रोलाँ भी सोवियत लेखकों के आदर्श

प्रेमचंद के मूल्य को कूतने के संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सोवियत रूस में रोमारोलाँ ऐसे अध्यात्मवादी लेखक को भी बहुत जोरों के साथ अपनाया गया। इस संबंध में स्मरण रहे कि रोमारोलाँ ने रामकृष्ण को Homme dieu मानव देवता कहा है तथा वे जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करते थे। फिर भी रोमारोलाँ को विशेष रूप से सोवियत रूस में क्यों अपनाया गया इसे हम आइकातायेफ के मुँह से सुन लें। कातायेफ का कहना है कि 'यूरोप के आधुनिक साहित्यिकों में दो व्यक्तियों को विशेष करके सोवियत रूस को अपनाना चाहिए, एक मैक्सिम गोर्की को, और दूसरे रोमारोलाँ को। मैक्सिम गोर्की के साथ रोमारोलाँ का नाम अनुकरणीयों में समझा जाना बहुतों को आश्चर्य में डाल देगा। तो क्या सोवियत रूस बुर्जुआ मूल्यों को फिर से अपना रहा है? क्या यह प्रत्यावर्तन का सूचक है? इसका उत्तर कातायेफ के शब्दों में यों है—

'प्रथम नाम को अर्थात् गोर्की के नाम को हमने समुचित सम्मान तथा मर्यादा से समन्वित कर दिया है.....। रहा रोलाँ का नाम, सो हमारी सार्वजनिक चेतना में यह अपनी राजनैतिक दिव्य छटा के ही कारण मुख्यतः मौजूद है। वे सोवियत रूस के मित्र थे, इसके विश्व सत्य और सम्मान के संरक्षक थे, साम्राज्यवाद के सब तरह के अपराधों के जोशीले पर्दाफाश करनेवाले थे।.....रोलाँ की रचनाएँ जिन सामाजिक और दार्शनिक उत्पत्ति स्थलों से अपनी अनुप्रेरणा लेती थीं, उनके कारण उनमें कुछ संशोधन कर पढ़ना पड़ेगा, किंतु फिर भी निःसंदेह बूढ़ा यूरोप हमारी साम्यवादी पुश्त के लिए विगत युगों की कला-संबंधी जो कुछ भी धरोहर में लाया है, उनमें वे हमारे सबसे नजदीकी और सबसे अधिक सम्बद्ध हैं। क्या इस सीमित स्थान में 'जाँ खिस्टोफ' के विषय में समुचित रूप से वर्णन करना संभव है जो मेरी समझ में २०वीं

सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है ? सोवियत कलाकारों को चाहिए कि वे यदि सचमुच कला की सेवा करना चाहते हैं तो वे इन रचनाओं का खूब अच्छी तरह पारायण करें, और सन् १९१४-१८ के युद्ध के बाद पेरिस के शब्द-विलासी लेखकों के फेर में न पड़ें। अवश्य रोलाँ में बहुत-सी बातें हैं और उन्हें अलग करना बहुत कठिन काम है। यह पूछा जा सकता है कि यदि वे बातें निकाल दी गयीं, तो फिर उनकी रचना में रह ही क्या जाता है ? इन बातों को निकाल देने पर भी उनकी रचना में क्रांतिकारी युग के तूफ़ानी तथा परिचालक उपादानों के विषय में बहुत सुंदर तथा स्पष्ट वर्णन रह ही जायेंगे। उनमें फिर भी इतिहास में चलनेवाले अगणित स्तरों की गति का सजीव वर्णन, ऐतिहासिक व्यक्तियों के साहसपूर्ण चित्रण, प्रतिभा के स्पर्श से गढ़े हुए चरित्र, सार्वजनिक तरह-तरह के आन्दोलनों का खुरदरी, जलती हुई, सुंदर भाषा में वर्णन — तो रह ही जायेंगे। और शायद, सबसे जो महत्त्वपूर्ण वस्तु रह जायगी, वह यह है कि एक नवीन वर्ग की सत्यता तथा मर्यादा जो न केवल पवित्र और उच्च नैतिक प्रकृतियों की भाषा में बल्कि अपने को प्यार करनेवाले संकीर्ण ईर्ष्यापूर्ण गोश्त बेचनेवाले तथा पाशविक सैनिकों की चित्र परंपराओं में व्यक्त है।.....हमारे लेखकों में कला के इन हिमालयों के साथ एक समाजवादी प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। गोर्की और रोलाँ यही हमारे मूलमंत्र हों।'

रोलाँ और प्रेमचंद

हम यहीं पर कातायेफ़ के उद्धरण को समाप्त कर सकते हैं, किंतु उपसंहार में उन्होंने सोवियत लेखकों के लिए जो सूत्र पेश किया है, उसे पेश करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। उन्होंने कहा है कि 'क्रांतिकारी लेखक को चाहिए कि वह भूतकाल को जाने, वर्तमान को प्यार करे, तथा भविष्य के विषय में सोचे।' इस सूत्र से यह बात फिर एक बार स्पष्ट हो जाती है कि जिसे प्रेमचंद यथार्थवाद कहते हैं और जिससे वे भागते हैं, वह असल में यथार्थवाद नहीं है, और जिसे वह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद बताते हैं, वह समाजवादी यथार्थवाद से मिलता-जुलता है। हमें इस प्रसंग में एक और बात कहनी है। वह यह कि जब सोवियत के क्रांतिकारी और समालोचक अध्यात्मवादी व्यक्तिवादी रोमारोलाँ को आदर्शरूप में ग्रहण कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम प्रेमचंद में

कथित संगठित योजना के अभाव के कारण उनकी रचनाओं को देख कर नाक-भौं सिकोड़ें। प्रेमचंद ने तो हमेशा अन्याय, शोषण, ढोंग-ढकोसले का विरोध ही किया है। अवश्य उनमें भी कुछ ऐसी चीजें हैं जैसे कायाकल्प में पुनर्जन्मवाद की ओर झुकाव, किसी-किसी कहानी में सांप्रदायिकता का पुट आदि जिन्हें हमें छाँट कर ही प्रेमचंद को हिंदी लेखकों के सामने आदर्श के रूप में रखना पड़ेगा, किंतु जैसा कि हम इस आलोचना में दिखलाते रहे हैं उनकी ये त्रुटियाँ उनके गुणों के सामने नगण्य हैं। ज्यों-ज्यों दिन जायेंगे हमें प्रेमचंद में और भी नये गुण दृष्टिगोचर होंगे। उनके साहित्य को कूतना तथा उस ढाँचे को बहुत कुछ अपना कर आगे बढ़ना यह भविष्य तथा वर्तमान के हिंदी लेखकों का कर्त्तव्य होगा। अवश्य इसका मतलब यह न लिया जाय कि हम कलादृष्टि से रोलाँ और प्रेमचंद को एक श्रेणी में रख रहे हैं। हम यहाँ पर केवल इस बात पर विचार कर रहे हैं कि प्रेमचंद कहाँ तक क्रांतिकारी रहे हैं।

कलाकार और उस युग का मनोविज्ञान

स्वाभाविक रूप से कलाकार को चित्रित युग के मनोविज्ञान के प्रति सच्चा रहना चाहिए, अवश्य जैसा कि हम बता चुके हैं, ऐसा करते समय वह यह न भूल जावे कि व्यक्ति समाज का एक अंग मात्र है, और समाज वर्गों में विभक्त है। फिर हम यह साफ कर दें कि इस प्रकार से इस विचार को सज्ञान रूप से हृदयंगम करना जरूरी नहीं है। शेक्सपियर का मनोविज्ञान मोटे तौर पर त्रुटिहीन बतलाया गया है, उनकी रचनाओं में समसामयिक वर्गों का अच्छा चित्रण भी मिलता है, किंतु वे इन सब बातों से सज्ञान रूप से अभिज्ञ थे, ऐसा कोई नहीं कह सकता। फ्रायड आदि ने १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में तथा इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मनोविज्ञान के नियमों का बहुत कुछ पता लगाया है, किंतु उनके बहुत पहले बहुत से कलाकार इन शक्तियों तथा नियमों को मोटे तौर पर व्यावहारिक रूप में समझते थे, इसमें संदेह नहीं। एक उदाहरण लिया जाय। गुस्तावल बाँ, डाक्टर सर्ज चाकोटिन आदि ने अज्ञ जनता के मनोविज्ञान का गत पचास वर्षों में उद्घाटन किया है, किंतु प्राचीन युग के बड़े-बड़े नेता जैसे मुहम्मद, सेंटपाल आदि इन नियमों को न जानते हुए भी उनके व्यावहारिक रूप से परिचित थे, इसमें संदेह नहीं। इसी प्रकार प्राचीन युग के बड़े-बड़े कवि

मनोविज्ञान के बहुत से नियमों को अच्छी तरह समझते थे। कम से कम उनकी रचनाओं से तो यही ज्ञात होता है। इसलिए यह जरूरी नहीं है कि किसी लेखक या कवि ने फ्रायड की एडिपस जटिलता की या ऐडलर की शासन की भूख को अच्छी तरह समझा हो, तभी वह अपनी रचनाओं में अच्छा मानसिक घात-प्रतिघात चित्रित कर सकेगा। अच्छा कलाकार बहुत पैनी दृष्टि का अधिकारी होता है। जहाँ लोग खड़े-खड़े केवल ऊपरी चीजों को देख रहे हैं, और अपने मन में कोई कार्यकारण संबंधयुक्त चित्र बनाने में असमर्थ हैं, वहाँ पैनी दृष्टिवाला व्यक्ति घटनाओं की पृष्ठ-भूमि तक पहुँच कर गूढ़ कार्यकारण परंपरा तथा घात-प्रतिघातों को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होगा। इसलिए यदि किसी लेखक ने फ्रायड आदि का साहित्य नहीं पढ़ा है, तो वह बिल्कुल गावदी होगा, और उसकी रचनाओं में मनोविज्ञान छिछला, और ऊपरी सतह को छूनेवाला होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचंद के चरित्र अक्सर टाइप न कि व्यक्ति

हमने प्रेमचंद के लिए यह कभी दावा नहीं किया कि उनमें कुछ त्रुटि नहीं है, बल्कि हम तो बराबर इस बात को कहते रहे हैं कि उनके उपन्यासों के चरित्र इस प्रकार चित्रित होते हैं कि अनेक क्षेत्रों में वे उनको व्यक्ति से कहीं अधिक टाइप बना कर छोड़ देते हैं। ऐसी हालत में उनके उपन्यासों में उतनी सजीवता नहीं आ पाती जितनी उदाहरणार्थ शरत् बाबू के चरित्रों में आ पाती है। यह त्रुटि वाकई अक्सर खटक जाती है। अँगरेजी के लेखकों में स्टर्न के संबंध में यह कहा गया है कि उनमें बड़े से बड़े उपन्यासकारों के सभी गुण थे। 'उनमें कल्पना थी, व्यंग था, अश्लीलता में आनंद लेने की सामर्थ्य थी, मानवता के प्रति प्रेम था—वे सब बातें थीं जो जन्मना प्रतिभा की दैवी देन बतलायी जाती थीं, किंतु वास्तविक जगत में चरित्रों को सजीव बनाने की सामर्थ्य नहीं थी।' (The Novel and the People, पृ० ४३)। स्टर्न इस कारण उच्चकोटि के उपन्यासकार न हो पाये। प्रश्न यह है कि क्या प्रेमचंद की रचनाओं का मनोविज्ञान इतना कमजोर है कि उन्हें स्टर्न की श्रेणी में डाला जाय? इसका उत्तर संपूर्ण रूप से ना में है।

आकस्मिक चरित्र - परिवर्तन का कारण दिखाना आवश्यक

अवश्य प्रेमचंद अक्सर अपने उपन्यासों में किसी व्यक्ति के चरित्र को बहुत आकस्मिक रूप से बदल देते हैं। यह नहीं कि वास्तविक जीवन में ऐसी घटनाएँ विरल हैं। रोज हमारी आँखों के सामने लोग साव से चोर और चोर से साव, संयमी से शराबी, और शराबी से संयमी इत्यादि हुआ करते हैं, किंतु अक्सर क्षेत्रों में ये परिवर्तन आकस्मिक ज्ञात होने पर भी आकस्मिक नहीं होते। हमें ये परिवर्तन इसलिए आकस्मिक ज्ञात होते हैं कि इस बीच में इन व्यक्तियों पर जो प्रभाव पड़ा है, उसके संबंध में हम अनभिज्ञ हैं। कई बार इस प्रकार के प्रभाव यदि वे बहुत ही शक्तिशाली धमक या वार के रूप में हुए, तो एक ही चोट में अपना काम कर जाते हैं। किंतु कई बार यह प्रभाव धीरे-धीरे संचित होता रहता है, और एक हद पर पहुँच कर व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन कर देता है। इसलिए जो बात जीवन में होती है, वह यदि उपन्यास में दिखलायी जाय, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उपन्यास में चरित्र-परिवर्तन दिखलाया जा सकता है। किन-किन सामाजिक तथा वैयक्तिक प्रभावों के कारण एक व्यक्ति चोर से साव होता है या साव से चोर, इसे चित्रित करना एक अच्छे उपन्यासकार का विषय हो सकता है। ऐसे चित्रण में उपन्यासकार की कला में कोई आँच नहीं आती, न उस पर कोई बट्टा लगता है, बल्कि यदि किसी उपन्यासकार ने ऐसा सफलतापूर्वक दिखलाया, तो इससे उसकी कला खिल ही उठेगी। किंतु उपन्यासकार उस हालत में कलाकार की मर्यादा से च्युत हो जाता है जब वह अपने किसी पात्र या पात्री के चरित्र-परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट बिना किये ही उन्हें एकदम चोर से साधु बना कर या साधु से चोर बना कर हमारे सम्मुख उपस्थित करता हैं। ऐसी हालत में चरित्र रक्षा नहीं हो पाती।

इस संबंध में प्रेमचंद पर आरोपों का स्पष्टीकरण

इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद की परिस्थिति क्या होती है, यह विचारणीय है। पहले यह देख लिया जाय कि इस संबंध में उनके विरुद्ध क्या आरोप हैं। अध्यापक सत्येंद्र ने अपने एक लेख में इस संबंध में प्रेमचंद पर जो

आरोप लगाये जाते हैं उनको एकत्र कर रख दिया है। कहीं गलतफहमी न हो इसलिए बता दिया जाय कि ये आरोप उनके लगाये हुए नहीं हैं, उन्होंने उनका केवल संकलन किया है, और उसके बाद उनका उत्तर दिया है।

ये आरोप इस रूप में हैं—'उनके (प्रेमचंद के) उपन्यास घटनाओं के बोझ से दब जाते हैं, चरित्र बौने हो जाते हैं। वे यथार्थवाद से चल कर आदर्शवाद में परिणति पाते हैं। फलतः उपन्यासों का अंत अकलात्मक हो जाता है। एक विशेष आदर्श के अनुकूल पहुँचाने के लिए अनेकों पात्रों की हत्याएँ करानी पड़ती हैं, इससे एक रक्ताक्त वातावरण बन जाता है, जो कला के सौंदर्य को नष्ट कर देता है। अपने किसी प्रिय विषय की ओर कभी लेखक अधिक झुक जाता है, और कथा के संतुलन को बिगाड़ देता है।.....प्रेमचंद समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़ कर आते हैं, चरित्र-चित्रण समस्या के नीचे दब जाता है। प्रेमाश्रम को प्रेमचंद यथार्थ से शुरू करते हैं, और आदर्श से उसका अंत करते हैं, इसलिए उन्हें कई हत्याएँ करानी पड़ती हैं। वे अपने आदर्श के विरोधी पात्रों को या तो रहने ही नहीं देते, या उनका हृदय-परिवर्तन करा देते हैं। रंगभूमि में सूरदास का चित्रण अतिशयोक्ति के सहारे प्रेमचंद की अपनी लेखनी के बल पर खड़ा हुआ है।.....गबन में आदर्श की वेदी पर यथार्थ का बलिदान किया गया है.....।' (साहित्य संदेश, अगस्त, सन् १९४४)।

हमने अध्यापक सत्येंद्र द्वारा संकलित आरोपों को उद्धृत कर दिया, हम यह भी देख लें कि वे किस प्रकार प्रेमचंद को आरोप मुक्त करते हैं। एक तो वे यह कहते हैं कि 'यथार्थ में ऊपर जो दोष बताये गये हैं, उनसे ही यदि कोई असफल उपन्यासकार हो जाता, तो संसार के श्रेष्ठतम लेखक की रचनाओं में इनसे भी अधिक दोष दिखाये जा सकते हैं।' कहना न होगा कि यह प्रकारांतर से दोष स्वीकार है, अवश्य साथ ही साथ दोष लाघवकारी परिस्थिति के रूप में यह बतलाया गया है कि श्रेष्ठतम लेखक की रचना में भी इस प्रकार के दोष मिलते हैं। हमें ज्ञात है कि अदालत में इस प्रकार की सफाई का कोई मूल्य नहीं है। अधिक उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है, उनकी सफाई कुछ तो इसी ढर्रे पर है, और कुछ उच्छ्वास मात्र हैं।

इस संबंध में प्रेमचंद पर लगाये हुए आरोपों पर एक अन्य समालोचक श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने क्या कहा है, इसे देखेंगे क्योंकि उन्होंने जोशी जी की तरह स्पष्ट आरोप नहीं लगाये हैं बल्कि अपने आरोपों का उदाहरणों के द्वारा

स्पष्टीकरण किया है । वे लिखते हैं : 'एक आरोप हमारा यह है कि कहीं-कहीं प्रेमचंद अस्वाभाविक हो जाते हैं । किसी घटना को तूल देते-देते वे उचित-अनुचित भूल जाते हैं । अंधा सूरदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दौड़ता है ? सोफिया मिस्टर क्लार्क के साथ अकेली राजस्थान में कैसे घूमी, यहाँ तक कि महाराज और दीवान भी उसे मिसेज क्लार्क समझते रहे ? यह किस समाज की प्रथा में संभव है ? कायाकल्प में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को ले कर चारों ओर दौड़ने लगी । क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं ? कर्मभूमि में भद्र महिला सकीना अमरकांत से दूसरी ही भेंट में घुल-मिल कर प्रेम की बातें करने लगी ।' (नया हिंदी साहित्य : एक दृष्टि, पृ० ८४) ।

मुन्नी-चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन

एक अन्य समालोचक श्री जनार्दन झा द्विज ने इसी प्रकार कर्मभूमि के मुन्नी-चरित्र के विषय में लिखा है –"उत्थान और पतन तो लगा ही रहता है । खेद तो इस बात का है कि मुन्नी आदर्शच्युत क्यों हुई, यह बात इशारे से भी नहीं बतायी गयी है । आश्चर्य होता है जब हम कुछ ही दिनों बाद सहसा देखते हैं कि विधवा मुन्नी अमरकांत (एक परपुरुष) के प्रति केवल अपना प्रेम ही नहीं प्रदर्शित करती प्रत्युत उसे रिझाने के विचार से 'कछनी काछे हुए, चौड़ी छातीवाले गठीले जवान के साथ (सार्वजनिक मंच पर) हाथ में हाथ मिला कर कूल्हों को ताल से मटका कर नाचने में उन्मत्त हो रही है ।' उसकी 'यह बेशर्मी' स्वयं अमरकांत से भी 'नहीं सही जाती' । पाठकों और आलोचकों से तो भला क्या सही जायगी । मुन्नी के इस शील परिवर्तन का कोई भी संतोषजनक कारण उपन्यास में कहीं उपस्थित नहीं किया गया है । जो आदर्श ले कर मुन्नी चलती है, वह बीच ही में क्यों टूट जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में प्रेमचंद जी अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि 'भई, इस प्रकार की बातें जीवन में कभी-कभी अकारण ही हो जाया करती हैं ।' किंतु यह उत्तर उपन्यास कला के नाते उपयुक्त समझा जायगा या नहीं, इसमें संदेह है ।"

प्रेमचंद पर लगाये गये आरोपों की छानबीन

हम अपनी तरफ से कुछ कहने के पहले यह बता दें कि उक्त आरोपों में से कुछ तो बिलकुल सही नहीं है । यह सही है कि वे कहीं-कहीं उपन्यास की

एक घटना को इतना तूल दे देते हैं कि वह गौण न हो कर मुख्य कथा भाग का प्रतिद्वंद्वी-सा हो जाता है। सेवासदन में इसी प्रकार उन्होंने म्युनिसिपैलिटी से वेश्याओं के निकाले जाने तथा म्युनिसिपैलिटी की अन्य बुराइयों के वर्णन को अंग के अनुपात से अधिक महत्त्व दिया है। शरत् बाबू को श्रीकांत के अतिरिक्त ऐसी गलती हम करते नहीं पाते, और श्रीकांत में यह गलती इसलिए नहीं खटकती कि वह मुख्यत: एक व्यक्ति के जर्नल के रूप में है, इसलिए उसकी खामख्याली के अनुसार कहीं किसी घटना को अधिक महत्त्व मिला है, कहीं कम, फिर भी इसका रस फीका नहीं पड़ता। श्रीकांत सही दृष्टि से कई उपन्यासों का समूह है न कि उपन्यास, इसलिए इस प्रकार का दोष उसमें खटकता नहीं है। प्रेमचंद में कहीं-कहीं इस त्रुटि के बावजूद वे कभी अपने उपन्यास की दिलचस्पी को घटने नहीं देते, इस प्रकार त्रुटि के होते हुए भी वे कला का निर्वाह कर ले जाते हैं। हम यह मानते हैं कि यह त्रुटि न होती तो अच्छा रहता, किंतु जब वह है तो इस रूप में है जिससे हम यह नहीं अनुभव कर पाते कि वे इस प्रकार रास्ते में ही किसी वस्तु पर मचल गये हैं।

रहा अंधा सूरदास का गाड़ियों के पीछे मील-मील भर दौड़ना, यह कोई ऐसी असंभव बात नहीं है। यदि अंधा गाड़ी के पीछे एक फर्लांग दौड़ सकता है, तो उसका स्वास्थ्य इसे गवारा कर सकने पर वह मील भर क्यों नहीं दौड़ सकेगा, यह समझना कठिन है। सोफिया जिन परिस्थितियों में मिस्टर क्लार्क के साथ अकेली राजस्थान में घूमी वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समालोचक शायद यह भूल गये हैं कि सोफिया एक ईसाइन है, यही नहीं, ईसाइनों में भी आधुनिका है, और वह जो घूम रही है उसमें उसके पिता-माता को कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि सच बात तो यह है कि सोफिया की माता इसे पसंद करती है क्योंकि वह समझती है कि लड़की इस प्रकार क्लार्क से फँस जायगी और उसे क्लार्क से विवाह करना पड़ेगा। कायाकल्प में मरणासन्न मनोरमा के उठ जाने की बात इसलिए अस्वाभाविक नहीं है कि वह चक्रधर के वियोग में ही मरणासन्न हुई थी, इसलिए उसके आने पर ऐसा करना बिलकुल स्वाभाविक है।

मुन्नी में जो परिवर्तन हुआ है, उसके निगूढ़ कारणों को यदि लेखक दर्शा देते तो अच्छा होता, यह हम भी मानते हैं, किंतु सब परिस्थितियों को

देखने पर इस बात को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि मुन्नी में प्रकृति ने आत्मप्रकाश किया। इस Sexy साहित्य के युग में क्या यह समझना कठिन है कि क्यों एक व्यक्ति जो पहले बहुत कृच्छ्र-परायण और यति किस्म का व्यक्ति रहता है, बाद को एकदम व्यभिचारी हो सकता है। एक ऊँचे तथा स्थायी आदर्श के बग़ैर कोई भी पुरुष या स्त्री स्थायी रूप से ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी नहीं रह सकती। अवश्य ही मुन्नी के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई आदर्श नहीं था। मुन्नी के चरित्र में अस्वाभाविकता है, किंतु दूसरी जगह पर है। जब मुन्नी गोरों को मारने के मुकदमे से बरी हो जाती है, उस समय उसका पति उसे घर ले जाना चाहता है फिर भी मुन्नी भावुकता में आ कर घर जाने से इनकार करती है, यह मुन्नी की तरह एक देहाती लड़की के लिए अस्वाभाविक है। अवश्य मुन्नी कोई मामूली लड़की नहीं है क्योंकि बलात्कृता होने के बाद से वह बराबर गोरों के खून की प्यासी होकर फिरती रहती है। फिर भी वह जो बार-बार घर जाने से इनकार करती है, यह कुछ खटकता है, किंतु इतना नहीं खटकता है कि यह कहा जाय कि प्रेमचंद का मनोविज्ञान छिछला और ऊपरी सतह को छूता हुआ है। झा जी ने मुन्नी के परिवर्तन पर जो आपत्ति की है, वह अजीब है। सच बात तो यह है कि परिवर्तन न होता, तभी आश्चर्य होता। इस संबंध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मुन्नी का कथित शील कितनी जबर्दस्त धमक या असर से टूटा है, इसे भी तो हम याद रखें। मुन्नी ने किसी मामूली चमार को तो रिझाने की चेष्टा नहीं की। यहाँ चमारों के प्रति कोई घृणा अभीष्ट नहीं है, बल्कि यहाँ केवल इस तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित की जा रही है कि रूप, गुण, संस्कृति, सभी दृष्टियों से जैसे चमार कर्मभूमि में दिखलाये गये हैं, उनसे अमरकांत कहीं श्रेष्ठ था।

यदि उपन्यासकार सभी बातों को आँखों में उँगुली डाल कर दिखलाता रहे तो वह क्या उपन्यास होगा। सभी अच्छे लेख में कुछ बातें पाठक के लिए छोड़ दी जाती हैं कि वह उनकी पूर्ति कर ले। श्री झा जो यह कहते हैं कि मुन्नी के शील-परिवर्तन का कोई संतोषजनक कारण नहीं दर्शाया गया है, इसके उत्तर में हमारा नम्र निवेदन यह है कि मुन्नी के परिवर्तन में दो जबर्दस्त कारण इस उपन्यास में दिखलाये गये हैं :

(१) मुन्नी का यौवन और उसकी बढ़ती हुई भूख। भावुकतावश उसने

अपने पति-पुत्र को त्याग दिया, किंतु भूख तो बढ़ती गयी।

(२) अमरकांत ऐसे पुरुष का सान्निध्य, जो स्वाभाविक रूप से मुन्नी की आँखों में एकाधिक कारणों से नररत्न है। प्रेमचंद में मनोवैज्ञानिक नुक्स निकालने के पहले मनोविज्ञान के इस प्राथमिक तथ्य को याद रखना चाहिए था कि किसके शील पर कितना दबाव पड़ता है, यह शील के टूटने और न टूटने में बहुत बड़ी बात है। जो व्यक्ति दस रुपये पा कर चोरी नहीं करेगा, वह संभव है कि दस लाख पा कर चोरी कर बैठे। फिर इस क्षेत्र में एक तत्त्व तथा तथ्य यह भी तो है कि एक संतुष्ट व्यक्ति जो हजार तक चोरी नहीं करेगा, वह सात दिन भूखा रहने पर यदि नगद एक लाख पाता हो तो शायद चोरी कर बैठे, इसलिए हम यह नहीं मानते कि चूँकि प्रेमचंद जी ने खोल कर इस प्रकार से नहीं कहा है, इसलिए वे घटिया दर्जे के मनोवैज्ञानिक हैं, इसके विपरीत हमारा यह विचार है कि कुछ हद तक पाठक पर यह छोड़ देना चाहिए था कि वह तथ्यों को अनुमान कर ले। अवश्य यदि एकाध पत्र या अन्य परोक्ष उपाय से बात थोड़ी और साफ कर दी जाती, तो कदाचित् अच्छा रहता।

रचना की कुछ त्रुटियाँ

अब हम अपनी तरफ से कुछ ऐसे उदाहरण देंगे जिनमें प्रेमचंद जी ने चीजों को कम साफ किया है। कर्मभूमि का सलीम हमारे सम्मुख एक तितली प्रकृति सुखान्वेषी के रूप में आता है, वह जैसे-तैसे इम्तहान पास करते-करते हाकिम बन जाता है, हाकिमों में भी वह बहुत कड़ा हाकिम रहता है, किंतु बाद को वह जेल जानेवाले देश भक्तों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन कोई असंभव बात नहीं है, किंतु जो कारण दिखलाये गये हैं वे यथेष्ट नहीं प्रतीत होते। उसे न तो कोई गहरा धक्का लगा है, न उस पर कोई क्रमिक असर ही ऐसा पड़ते हुए दिखाया गया है जिसके कारण इस परिवर्तन को सही समझा जा सके। इसी उपन्यास में सकीना पहले अमरकांत पर आसक्त दिखलायी जाती है, फिर वह स्वेच्छा से सलीम की बीबी हो जाती है। यह कहा जा सकता है कि उसमें समाज के साथ संग्राम करने की शक्ति इतनी ही थी, और उसने जब देखा कि समाज किसी भी तरह अमरकांत से मिलन नहीं होने देगा, साथ ही उसने यह अनुभव किया कि अमरकांत पीछे हट गया है,

तब उसने गतानुगतिक समाज के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार की सफाई कोई बहुत अयुक्तिसंगत न होगी, किंतु इसे कुछ साफ कर देने की आवश्यकता थी कि सकीना ने ऐसा समाज के उत्पीड़न से किया या यह सकीना का आत्म-समर्पण था, तो कहीं अधिक अच्छा रहता। जिस रूप में यह दिखलाया गया है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि प्रेमचंद ने अपने उपन्यास के अन्य पात्रों की जरूरत की बलिवेदी पर सकीना को बल्कि मनोविज्ञान को चढ़ा दिया।

प्रेमाश्रम में जिस समय ज्ञानशंकर रायसाहब को विष दे कर अपने मार्ग को निष्कंटक करना चाहता है, उसमें हम यह देखते हैं कि जानते-बूझते हुए भी राय साहब विषवाली मिठाई के कई कौर उठा कर जल्द-जल्द खाने लगे। एक तो यह अस्वाभाविक बात है, अवश्य इस अस्वाभाविकता को ढकने के लिए प्रेमचंद यह दिखलाते हैं कि रायसाहब ऐसे योगी हैं कि वे विष को पचा सकते हैं, तभी वे ऐसा कर रहे हैं। जो कुछ भी हो दूसरी अस्वाभाविकता यह है कि जब रायसाहब इस प्रकार जल्द-जल्द कई कौर खा गये तो ज्ञान-शंकर तेजी से लपके और थाल उठा कर जमीन पर पटक दिया और बिलख-बिलख कर रोने लगे। आखिर यह क्यों ? ऐसा प्रेमचंद क्यों दिखलाते हैं वे इस बात से साफ कर देते हैं कि रायसाहब की योगसिद्धि ने उसे परास्त कर दिया। स्वाभाविकरूप से योग के बल को दिखाने के लिए ही मनोविज्ञान की यह हत्या करनी पड़ी।

'प्रतिज्ञा' में प्रेमचंद शुरू से पूर्णा को जिस प्रकार से चित्रित करते हैं, उससे यह बात समझ में नहीं आती कि वह अंत में कमलाप्रसाद के चंगुल से बच कैसे जाती है। वह स्वयं रात को उठ कर कमला प्रसाद के यहाँ जाती है, उससे कई बार हाथ पकड़वाती है, कमलाप्रसाद के कहने पर रेशमी साड़ी का अंचल सिर पर रख कर आइने में मुँह देख कर हँसती है, फिर भी वह फँसती कैसे नहीं है, यह समझ में नहीं आता। 'वरदान' में बिरजन के पत्रों को पढ़ कर ज्ञात होता है कि कमलाचरण की हो चुकी, किंतु दूसरे ही क्षण हमें बिलकुल दूसरी ही बात दृष्टिगोचर होती है। इसी उपन्यास में प्रताप का चरित्र भी बहुत कुछ अस्वाभाविक है। कर्मभूमि की जोहरा का सारा चरित्र बहुत कुछ यांत्रिक ज्ञात होता है, और लेखक उसमें जीवन का संचार नहीं कर

पाता। कैसे वह एकाएक एक बाजारू वेश्या से आदर्शचरित्र स्त्री हो गयी, इसका ठीक - ठीक स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।

गोदान प्रेमचंद का सबसे विकसित उपन्यास है, किंतु इसमें भी हम देखते हैं कि मालती पहले एक तितलीनुमा स्त्री के रूप में दिखायी जाती है, वह इस उपन्यास के कई पात्रों को उँगलियों पर नचाती फिरती है। बाद को चल कर प्रेमचंद इसी स्त्री को बहुत ही बदले हुए रूप में दिखलाते हैं; अब उसमें वह तितलीपना नहीं है, वह सेवा-मार्ग को अपनाती है। अवश्य मेहता नामक एक व्यक्ति के संस्पर्श में आ कर उसका चरित्र इस प्रकार बदलता है, ऐसा प्रेमचंद दिखाने की चेष्टा करते हैं, किंतु इसमें वह सफलता प्राप्त नहीं करते।

श्री जनार्दन झा ने प्रेमचंद की रचनाओं में पूर्वापर विरोध दिखलाये हैं जो इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। सेवासदन में सुमन को एक बार इस रूप में चित्रित किया जाता है कि उसने भोली बाई का कमरा देखा ही नहीं, और फिर इसके विपरीत वर्णन आता है। कर्मभूमिवाली बुढ़िया पठानिन पहले तो अपने को गायघाट की रहनेवाली बताती है, फिर वह कहती है कि 'गोवर्धन-सराय' में ही उसके दो बेटे, दो बहुएँ, उनके दो बच्चे रहे, और अब वही अपने अंतिम दिन गिन रही है। इस प्रकार और भी बहुत सी छोटी-मोटी त्रुटियाँ प्रेमचंद के विराट साहित्य में दिखलायी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उनका यह पहलू अपेक्षाकृत कमजोर है।

प्रेमचंद में मानव-मन के द्वंद्ववाद का चित्रण

प्रेमचंद किसी को, यहाँ तक कि बड़े से बड़े को विशुद्ध भला या विशुद्ध बुरा करके चित्रित नहीं करते। आधुनिक मनोविज्ञान का यह कहना है कि मनुष्य प्रकृति ambivalent होती है याने उसमें 'सु' और 'कु' एक साथ रहता है। जो लोग निरवच्छिन्न 'कु' या 'सु' में विश्वास नहीं करते वे इसको शायद यों कहना पसंद करें कि व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों में तथा समाज के स्वार्थ में किसको अपनावे, इसके द्वंद्व में पड़ा रहता है। इसीको अंतर्द्वंद्व कहते हैं। To be or not to be यह केवल हैमलेट की समस्या नहीं है, बल्कि व्यक्ति-मात्र की समस्या है। आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि अत्यंत मित्र भी

कभी-कभी इस प्रकार सोचता है जिसके सामने शत्रु भी शर्मा जावे। इसी प्रकार शत्रु भी कभी-कभी मित्र की तरह सोचता है। इन दो परस्पर-विरोधी भावनाओं के बीच में मनुष्य का चरित्र बनता जाता है, अवश्य कहीं गलत-फहमी न हो इसलिए यह बता दिया जाय कि यह जो अंतर्द्वंद्व होता है वह विशुद्ध रूप से व्यक्ति के मन की समस्या नहीं है, समाज तथा वातावरण के घात प्रतिघात से ही व्यक्ति इस प्रकार की ढुलमुलयकीनी में पड़ा रहता है।

प्रेमचंद ने अत्यंत प्रशंसनीय वस्तुवाद से परिचालित हो कर प्रत्येक व्यक्ति की द्विधाविभक्तता को खूब चित्रित किया है। प्रेमचंद का कोई भी पात्र शायद देवता नहीं है। अवश्य इसमें हम मायाशंकर को अपवाद रूप में गिन सकते हैं, किंतु उसके विषय में हम यह बता चुके कि किन परिस्थितियों में तथा किन प्रभावों के वशवर्ती हो कर इस पात्र की कल्पना की गयी थी। सच बात तो यह है कि मायाशंकर बहुत थोड़े क्षण के लिए हमारे सम्मुख आता है, इसलिए हम उसमें कोई बुराई नहीं पाते, किंतु यदि इसके विपरीत मायाशंकर का समग्र जीवन हमारे सम्मुख आता तो हम अवश्य ही देखते कि इस पात्र में भी चारित्रिक द्वंद्ववाद निभाया गया है। होरी के चरित्र में तो यह द्वंद्ववाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। जिस भाई के द्वारा बहुत भारी अपराध हो जाने पर भी वह अपनी स्त्री से लड़ कर उसकी तलाशी रुकवाने के लिए पुलिसवालों को घूस देने के लिए तैयार हो जाता है, उसी भाई से वह बाँसवाले से मिल कर दो-चार रुपये के लिए ठगना चाहता हैं। सेवासदन में पद्मसिंह सुमन की मदद करना चाहता है, किंतु वही उसके चरम पतन का कारण स्वरूप होता है। गबन के रमानाथ के चरित्र में तो इस प्रकार हर पग पर अंतर्द्वंद्व है। वह अपनी स्त्री से प्रेम रखता भी है, और नहीं भी रखता है। मनोरमा का चरित्र भी इसी प्रकार की ढुलमुलयक़ीनी से भरा हुआ है। चक्रधर गाँधीवाद का प्रतिनिधि और किसान-आंदोलन का नेता है, किंतु वही एक किसान को एक मामूली अपराध पर इतना मारता है कि वह मर जाता है। स्मरण रहे, हम ऐसे चरित्रों में ढोंगियों को नहीं गिन रहे हैं, इन लोगों के व्यक्तित्वों में ही इस प्रकार के द्वंद्व अंतर्निहित ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार रंगभूमि का विनयसिंह एक तरफ तो इतना घोर अहिंसावादी है कि अन्यायपूर्वक कैद किये जाने पर भी जब वीरपालसिंह उसे जेल से भगाने आते हैं, तो वह

भागने से इन्कार कर देता है कि जो कुछ होगा कानूनी रूप से हो, किंतु दूसरी तरफ वह जिस समय मोटर में दीवान साहब के मकान की ओर जाता है तो शोफर को इस बात के लिए उत्साहित कर देता है कि वह मौका लगा कर अन्यायी दीवान को मोटर से गिरा दे। अवश्य बाद को वह पछताता है, यह दूसरी बात है।

कर्मभूमि का कालेखाँ भी इसी प्रकार एक चोर डाकू है जो दो पैसे के लिए किसी का गला काट सकता है, किंतु दूसरी ओर जब वह जेल में जाता है, और अमर से उसकी भेंट होती है तो वह उसे चक्की पीसने नहीं देता, स्वयं ही उसके लिए भी चक्की पीसता है। इस प्रकार अमर की चक्की पीसने के पीछे परोक्षरूप से शायद यह विचार रहा हो कि अमर उसी रईस का लड़का है जिसके यहाँ वह वर्षों से चुराये हुये सोने-चाँदी के गहने आदि बेचा करता था, किंतु बाद को चल कर कालेखाँ का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। वह नमाज पढ़ता हुआ जेल अफसरों के द्वारा मार डाला जाता है। इस प्रकार इस व्यक्ति के चरित्र में हम शोहदा और शहीद दोनों पहलू को बहुत स्पष्टता के साथ देख सकते हैं।

प्रेमचंद ने अपने चरित्रों का इस प्रकार द्वंद्वात्मक तरीके से जो चित्रण किया है वह सज्ञानकृत है, इसका परिचय हम उन्हीं के एक लेख से प्राप्त करते हैं। वे लिखते हैं: 'चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा, और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।' (कुछ विचार, भाग एक, पृ० ७७)।

कथित अंतर्द्वंद्व वैयक्तिक या सामाजिक

हम और अधिक व्यौरे में नहीं जायेंगे, किंतु हम इस अवसर पर पाठक की दृष्टि इस ओर बिना आकर्षित किये नहीं रह सकते कि इन अंतर्द्वंद्वों का स्वरूप क्या है। क्या ये केवल व्यक्ति तक सीमित अंतर्द्वंद्व हैं, या समाज तथा वाह्य जगत के घात-प्रतिघात के कारण इन दृश्यमान अंतर्द्वंद्वों का उदय होता

है। होरी जिस समय दो-चार रुपयों के लिए अपने भाई को ठगना चाहता है, उस समय क्या वह गरीबी के शिकार होने के कारण ही ऐसा नहीं करता? क्या कोई भाई और होरी-सा भाई अपने भाई को भीषण गरीबी के अलावा किसी और हालत में इस प्रकार धोखा देने की चेष्टा कर सकता था? हमने अंतर्द्वंद्व की स्वाभाविकता पर जो कुछ कहा है, उसमें यह गलतफहमी हो जाना बहुत स्वाभाविक है कि हमारे अनुसार बुनचुक पर होरी की कमजोरियाँ और सहजोरियाँ दोनों चिरंतन हैं, ऐसी ही सदा से चली आयी हैं, और ऐसी ही सदा रहेंगी, यहाँ तक कि सोवियत रूस में भी ऐसा ही है। यदि वह गलतफहमी हुई हो, तो वाकई बहुत गलत धारणा उत्पन्न हुई, इसमें संदेह नहीं। होरी के उल्लिखित अंतर्द्वंद्व के इतिहास में हम यह देख सकते हैं कि होरी स्वाभाविक रूप से अच्छा है, भ्रातृवत्सल है, किंतु समाज ने उसे भी गरीबी की चक्की में पीस कर धोखेबाज बनने के लिए विवश किया है। हम यह नहीं कहते कि जिस समय समाजवादी समाज की स्थापना के द्वारा इस प्रकार के असत् दबावों का अंत हो जायगा, उस समय किसी प्रकार का अंतर्द्वंद्व नहीं रहेगा। उस समय अवश्य ही अंतर्द्वंद्व वर्तमान रूप में न होगा, इतना ही हम कह सकते हैं, तथा वे समाज के दमनकारी प्रभाव के कारण न होंगे।

रमानाथ के अंतर्द्वंद्व में बाह्य परिस्थितियाँ जो हिस्सा अदा करती हैं, वे बिलकुल स्पष्ट हैं। उसके दिमाग में शराफत तथा मर्यादा की जो धारणा है जिसके कारण वह पग-पग पर झूठ बोलता है, और अपनी स्त्री को भी वस्तुस्थिति के संबंध में अँधेरे में रखता है, जिसके कारण वह अंत में गबन करता है, और उसके परिणाम से बचने के लिए भाग निकलता है, अवश्य ही वे धारणाएँ उसके मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हुई थीं। उसने इन धारणाओं को अपने निम्नमध्यवित्त समाज में प्राप्त किया था। उसके पिता दयानाथ को भी लिया जाय तो वह घूसखोरी से नफरत करता, किंतु वही विवेक-बुद्धि-सम्पन्न दयानाथ परिस्थितियों में पड़ कर अपने लड़के को पतोहू के गहनों को चुराने के लिए प्ररोचित करता है। क्या यह सब केवल अंतर्द्वंद्व है? स्पष्ट ही हम यहाँ समाज तथा बाह्य परिस्थितियों को देखते हैं। मनोरमा और चक्रधर में भी हम ये ही बातें देखते हैं। मनोरमा इच्छानुरूप व्यक्ति से विवाह नहीं कर पाती, भावुकतावश दूसरे से विवाह करती है, इसीके कारण उसका सारा

अंतर्द्वंद्व है, इसके लिए कौन जिम्मेदार है? समाज या मनोरमा का विशेष व्यक्तित्व? चक्रधर जो किसान को मार डालता है उसमें क्या हम उसके वर्ग चरित्र को ही नहीं देखते? इस प्रकार सभी अंतर्द्वंद्व समाज से अभिन्न हैं। एक स्थान पर जा कर यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि जिसे हम अंतर्द्वंद्व समझ रहे हैं, वह कहाँ तक उस व्यक्ति की मानसिक विशेषता के कारण है, और कहाँ तक सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण है। इस पहलू को अच्छी तरह चित्रित करने के कारण प्रेमचंद अभिनंदनीय हो जाते हैं।

प्रेमचंद-साहित्य में कथोपकथन

किसी उपन्यासकार की शैली साथ ही साथ मनोविज्ञान संबंधी सफलता अथवा विफलता को कूतने के लिए यह भी देखना आवश्यक हो जाता है कि उस लेखक ने कथोपकथन का कितना सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है। अच्छे कथोपकथन से उपन्यास की रोचकता बढ़ती है। कथोपकथन जितना ही स्वाभाविक, दिलचस्प तथा प्रतिभामंडित होगा, उतना ही उपन्यास सफल होगा। उपन्यास में कथोपकथन केवल निष्क्रिय विचार-विनिमय मात्र नहीं है, अक्सर कथोपकथन के जरिये से कथानक का विकास होता है, और ऐसे नये-नये पर्दे खुल जाते हैं जो अब तक दृष्टि के अंतराल में थे। भाषा के प्रयोग या कथोपकथन के संबंध में आमतौर से यह बतलाया जाता है कि ऐसा विचार विनिमय के लिए होता है, किंतु जैसा कि तालेराँ ने कहा था भाषा का प्रयोग अपने मनोभावों को छिपाने के लिए भी हो सकता है। हम अपने मामूली जीवन में भी अक्सर कथोपकथन के इस पहलू को प्रत्यक्ष करते हैं। कथोपकथन चाहे मनोभावों को व्यक्त करने के लिए हों, अथवा मनोभावों को छिपाने के लिए होते हों, उपन्यासकार दोनों तरह के कथोपकथन को अपनी कला के लिए इस्तेमाल कर सकता है। हम प्रेमचंद की रचना में दोनों तरह के कथोपकथन के नमूने पाते हैं। मनोभावों को छिपाने के लिए कथोपकथन का व्यवहार ढोंगी, धर्मात्मा और पुलिसवाले करते हैं। इसका हम चाहें तो प्रेमचंद के साहित्य से गाड़ियों उदाहरण दे सकते हैं। जिस समय कायाकल्प के मुंशी जी लौंगी से अपनी बात मनवाने के लिए एक नकली ज्योतिषी को बुला

लाते हैं, उस समय मुंशी जी की बातचीत अपने मनोभावों को छिपाने के लिए अर्थात् गलत प्रभाव डालने के लिए होती है। गोदान में होरी भोला से चिकनी-चुपड़ी बात कर जब उसकी शादी करवाने की उम्मीद दिलाता है, और सोचता है कि इसे किसी प्रकार शादी नहीं करनी चाहिए उस समय वह भाषा का तालेराँवाला प्रयोग कर रहा है। इसी उपन्यास में होरी जिस समय सहुआइन से अपने मतलब के लिए यह कहता है कि तुम अभी बुढ़िया कैसे हो गयीं, भाभी, तब फिर यह बातचीत उसी श्रेणी में आती है। अन्यत्र इसी उपन्यास में यही होरी भोला की वह बीबी जो नोखेराम से फँसी हुई है, उसके साथ भी 'ठकुरसुहाती' से काम लेता है।

कथोपकथन के दौरान में कथानक में मौलिक परिवर्तन

प्रेमचंद-साहित्य में कई बार तो बातचीत के दौरान में ऐसी कहा-सुनी हो जाती है कि बातचीत करनेवालों के जीवन का काया-पलट हो जाता है। सेवासदन में सुमन और उसके पति गजाधर में जो बातचीत में गरमागर्मी हो जाती है, और जिसके फलस्वरूप सुमन घर छोड़ कर चल देती है, वह बातचीत कितनी महत्त्वपूर्ण है? इसी बातचीत के फलस्वरूप सुमन अंत में वेश्या हो जाती है, और गजाधर साधु हो गया। इसी प्रकार निर्मला में बाबू उदयभानुलाल और उनकी स्त्री में इस बात पर वादविवाद होता है कि कन्या का विवाह धूमधाम से किया जाय या नहीं। यह वादविवाद इतना तूल पकड़ता है कि उदयभानुलाल ने यह तय किया कि वे अपना कुर्ता घाट के किनारे रख कर मिर्जापुर चले जायेंगे। उन्होंने ऐसा ही करना चाहा किंतु रास्ते में ही चोरों ने उनको मार डाला। निर्मला का लगा-लगाया विवाह टूट गया। यहीं से निर्मला के जीवन की भयंकर ट्रेजडी का सूत्रपात होता है। प्रेमाश्रम में जब जमींदार के लोगों के हाथों से पिट कर बलराज की माँ आती है, और अपने पति तथा पुत्र को बताती है कि किस प्रकार उसका अपमान हुआ, तो इसी पर मनोहर रात को उठ कर कारिंदे की हत्या कर डालता है। इसके फलस्वरूप गाँववाले जिस प्रकार बरबाद हो जाते हैं, और मुश्किल से सम्हलते हैं, प्रेमाश्रम मुख्यतः उसीकी कहानी है।

उपन्यास या नाटक में कथोपकथन के स्वरूप की आलोचना करते हुए

हडसन ने यह बतलाया है कि कथोपकथन का पहला गुण तो यह होना चाहिए कि वह कथानक से संबद्ध हो तथा कथानक को विकसित करने में मदद देता हो। यदि ऐसा न हुआ तो वह कथोपकथन बहुत कुछ बोझ सा हो जाता है। जहाँ कथोपकथन केवल इसलिए कराया जाता है कि किसी विषय पर पाठक के सामने लेखक अपने विचारों का स्पष्टीकरण करे, किंतु उस कथोपकथन का कथानक से कोई अंगांगी या आवयविक संबंध न हो, तब तो वह रस के परिपाक में सहायक न होगा। शरत् बाबू ने पात्रों के द्वारा बहुत स्थानों पर दीर्घ कथोपकथन कराया है, किंतु अक्सर वे कथोपकथन को कथानक के दायरे में रखने में समर्थ रहते हैं। कथोपकथन उन पर या उनके कथानक पर हावी नहीं हो पाता। चरित्रहीन में किरणमयी और दिवाकर में नारी के रूप पर जो अत्यंत कवित्वपूर्ण साथ ही दार्शनिक बातचीत हुई है, वह स्वयं विश्व-साहित्य का एक हिस्सा है, किंतु यह कथोपकथन दीर्घ होते हुए भी किसी भी प्रकार लेखक के हाथ से निकल कर नहीं जा पाता। वह कथोपकथन कथावस्तु को विकसित होने में सहायता देता है। प्रेमचंद भी अक्सर क्षेत्रों में कथोपकथन और कथावस्तु में इस तारतम्य को निभा पाते हैं, किंतु कहीं-कहीं ऐसा भी है, जैसे सेवासदन में जब वेश्याओं को शहर से निकालने पर वादविवाद इतना तूल पकड़ जाता है कि यह ज्ञात होता है कि कोई तारतम्य नहीं रह जाता। श्री धूर्जटीप्रसाद ने यह ठीक ही लिखा है कि 'प्रेमचंद कथोपकथन का प्रयोग करते हैं, किंतु वे नाटकीय नहीं हो पाते। फिर भी प्रेमचंद की ताकत इस बात में है कि वे वास्तविक जीवन को मूर्त कर पाते हैं। इसीमें उनकी कला है।' (Modern Indian Culture, पृ० १६८)।

नारी के रूप पर प्रेमचंद

शरत् के चरित्रहीन में किरणमयी और दिवाकर में जो बातचीत होती है, उसके विषय से मिलते हुए विषय पर प्रेमचंद गोदान में कुछ कहते हैं। मेहता और मालती के प्रेम को दिखलाते हुए वे कहते हैं कि 'ज्यों-ज्यों वह मालती को निकट से देखते थे, उनके मन में आकर्षण बढ़ता जाता था। रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर नहीं कर सकता था। यह गुण का आकर्षण था।' फिर वे आगे कहते हैं: 'यह मेहता जानते थे कि जिसे सच्चा प्रेम कह सकते हैं, केवल एक

बंधन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है।.....इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्ति मात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं, मगर इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थर साहचर्य के खराद पर चढ़ेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या नहीं।'

आत्म-दोष-स्वीकृति के लिए कथोपकथन का उपयोग

प्रेमचंद अक्सर कथोपकथन को आत्मदोष-स्वीकृति के लिए व्यवहार करते हैं। उनके पूरे साहित्य में कई व्यक्ति ऐसे हैं जो इस प्रकार अपने दोषों को स्वीकार करते हैं। सच बात तो यह है कि इन क्षेत्रों में आत्मदोष-स्वीकृति एक व्यक्ति के दोष की स्वीकृति नहीं बल्कि एक वर्ग के दोष की स्वीकृति होती है, इसलिए ये कथोपकथन बहुत ही दिलचस्प हो जाते हैं। गोदान का पूँजीपति खन्ना कहता है—'मैंने अपने सिद्धांतों की कितनी हत्या की है, कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाँट रखे.........' इत्यादि। इसी उपन्यास के रायसाहब सिद्धांतहीन लेखक ओंकार-नाथ से बात करते हुए कहते हैं—'आखिर मैं आपके पत्र का पँचगुना चंदा क्यों देता हूँ, केवल इसलिए कि वह मेरा गुलाम बना रहे। मुझे परमात्मा ने रईस बनाया है। आपके बनाने से नहीं बना हूँ। साधारण चन्दा पन्द्रह रुपया है, आपको ७५ रु० देता हूँ, इसलिए कि आपका मुँह बन्द रहे।.....हर मौके पर आपकी कुछ न कुछ मदद करता हूँ। दीपावली, दशहरा, होली में आपके यहाँ बैना भेजता हूँ, और साल में पचीस बार आपकी दावत करता हूँ, सो किस लिए? आप रिश्वत और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते।' इसी प्रकार रंगभूमि में उदीयमान ईसाई पूँजीपति जानसेवक अपने धर्म विश्वासों की पोल खोलते हुए पुत्र प्रभुसेवक से कहता है—'मुझे अब तक तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि पर विश्वास था, पर अब विश्वास उठ गया। मुझे निश्चय था कि तुम जीवन और धर्म के संबंध को भली-भाँति समझते हो, पर अब ज्ञात हुआ कि सोफी और अपनी माता की भाँति तुम भी भ्रम में पड़े हुए हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे हजारों आदमी जो नित्य गिर्जे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बंद करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है, तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है। संभव है, तुम्हें ईसा पर विश्वास हो,

शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है.....। गिर्जे में न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा, फिर अपने ही घर में अशांति फैल जायगी।' जानसेवक के इस कथन में गिर्जे पर न जाने से व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा, पूँजीवादी के मन को किस सुंदर तरीके से निकाल कर रख देता है। जिस युग में आदमी कुछ भी करे, साख घटना सबसे बड़ी दुर्घटना है, उस युग में प्रत्येक बात को व्यवसाय की भलाई-बुराई अर्थात् मुनाफे की दृष्टि से देखा जायगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

इसी उपन्यास में देशी रियासत जसवंतनगर के दीवान साहब विनय से बातचीत करते हुए कहते हैं—'मुझमें वह सत्साहस, वह सदुत्साह नहीं है जिसके उपहार स्वरूप ये सब चीजें (बेड़ियाँ आदि) मिलती हैं।.........व्यक्तिगत रूप से मैं आपकी सेवाओं को स्वीकार करता हूँ, और इस थोड़े से समय में आपने रियासत का जो कल्याण किया है, उसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे खूब मालूम है कि आप निरपराध हैं, और डाकुओं से आपका कोई संबन्ध नहीं हो सकता। उसका मुझे गुमान तक नहीं है।.........रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिए, जहाँ सूर्य के प्रकाश का भी गुजर नहीं हो सकता। हम सब इस हरमसरा के हब्शी ख्वाजासरा हैं। हम किसी की प्रेमरसपूर्ण दृष्टि को इधर उठाने न देंगे।.........आपने इस हरमसरा में घुस आने का दुःसाहस किया है।.........नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्द हो सके, यह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाय।.........आपका कथन है कि प्राणीमात्र को खाने-पहनने और शांति से जीवन व्यतीत करने का समान स्वत्व है। इस हरमसरा में इन सिद्धांतों और विचारों का प्रचार करके आप हमारी सरकार को बदगुमान कर देंगे।.........रेजिडेंट साहब की इच्छा के विरुद्ध हम तिनका तक नहीं हिला सकते।.........सरकार की रक्षा में हम मनमाने कर वसूल करते हैं, मनमाने कानून बनाते हैं, मनमाने दंड देते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता। यही हमारी कारगुजारी समझी जाती है, इसी के उपलक्ष में हमको बड़ी-बड़ी उपाधियाँ मिलती हैं, पद की उन्नति होती है, ऐसी दशा में हम रेजिडेंट के विरुद्ध क्यों चलें?'

इस प्रकार दीवान साहब ने अपनी स्वीकारोक्ति में रियासतों का सारा कच्चा चिट्ठा मानो खोल कर रख दिया है। इससे यह साफ हो जाता है कि जैसा

आमतौर से समझा जाता है कि केवल रियासत के राजगण ही रियासतों के पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार थे, ऐसी बात नहीं, बल्कि स्वयं ब्रिटिश सरकार रेजिडेन्टों के जरिये से उनके इस पिछड़ेपन को कायम रखती थी। पूँजीवाद स्वाभाविकरूप से सामंतवाद का दुश्मन है, किन्तु ह्रासशील पूँजीवाद ने किस प्रकार अपनी रक्षा के लिए इस स्वाभाविक शत्रु सामंतवाद से मित्रता कर और सामंतवाद को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न कर अपनी आयु को बढ़ाने की चेष्टा की है, यह इस छोटे से कथोपकथन में स्पष्ट हो जाता है।

प्रेमचंद-साहित्य में इस प्रकार के और भी कथोपकथन हैं, किंतु विस्तार-भय से उनको उद्धृत करना उचित न होगा।

जैसा व्यक्ति वैसा कथोपकथन

कथोपकथन का जो दूसरा गुण है कि वह बातचीत करनेवालों की मानसिक सतह के अनुसार हो, तथा उसकी भाषा उसके उपयुक्त हो, प्रेमचंद जी इसे इतना अच्छा निभा ले जाते हैं कि इस पर कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। अक्सर उनकी करायी हुई बातचीत इसी गुण के कारण बहुत दिलचस्प होती है और पाठक का जी नहीं ऊबता है। यों तो उन्होंने भाषा अपने पूर्ववर्ती हिंदी और उर्दू के सब लेखकों से ला, किंतु करायी हुई बातचीत में विशेषकर फिसाने आजाद के लेखक का प्रभाव ज्ञात होता है। उनके उपन्यासों में किसान किसान की तरह, मजदूर मजदूर की तरह — संक्षेप में हिंदू, मुसलमान, कारिन्दा, अफसर सब अपनी-अपनी भाषा में बातचीत करते हैं। बातचीत स्वयं ही इतनी दिलचस्प रहती है कि उसमें जी लग जाता है।

कथोपकथन में संयम-कला का गुण

हम रोजमर्रे की बातचीत में कितनी ही फालतू बातें कहते हैं जिनका उपन्यास में कोई स्थान नहीं हो सकता। मिस्टर आर्थर जोन्स ने ठीक ही कहा है कि रोज होनेवाले वस्तुवादी झगड़े में कितनी ही फालतू बातें कही तथा सुनी जाती हैं, किंतु नाटक या उपन्यास में इस प्रकार फालतू बातों के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जीवन का कैनवास सौ वर्ष तक फैला हुआ हो सकता है, किंतु उपन्यासकार को तो बहुत हुआ पाँच सौ पृष्ठ के अंदर कई जीवनों

को चित्रित करना पड़ता है। इसलिए स्वाभाविक रूप से इन फालतू बातों के लिए वस्तुवादी-कला में भी कोई गुंजाइश नहीं है। एक उपन्यास में बातचीत इतनी ही हद तक हो सकती है जितनी हद तक वह आवश्यक हो, अर्थात् कथानक के विकास में मदद देती हो या यों कहा जाय कि कथानक पर आवश्यक रोशनी अधिक मात्रा में डालती हो। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद-साहित्य के कथोपकथन कहीं-कहीं अधिक दीर्घ हो गये हैं! फिर भी वे इस संबंध में कोई बहुत बड़ी गलती कभी नहीं करते। हम श्री जनार्दन झा की इस बात से सहमत हैं कि कथोपकथन ही प्रेमचंद जी के उपन्यासों के प्राण हैं।

प्रेमचंद की भाषा

प्रेमचंद की भाषा के संबंध में भी दो शब्द। यों तो वे भाषा के परम आदर्श के रूप में हैं। यदि उनके पूर्ववर्तियों या समसामयिकों के साथ उनकी तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि हिंदी-साहित्य को उन्होंने इस संबंध में क्या प्रदान किया है। शांतिप्रिय ने ठीक ही लिखा है कि 'उर्दू से प्रेमचंद ने सिर्फ एक ही सिफत ली, व्यावहारिक जीवन में मँजी हुई उनकी भाषा। उसी भाषा को उन्होंने हिन्दी की संस्कृतिजन्य स्निग्धता दे दी है। यों कहें कि उर्दू के मुख पर हिंदी का आलेप कर उन्होंने भाषा को एक नवीन शोभा दे दी है।' फिर भी जिस प्रकार शरत् और रवीन्द्र के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि कोई भी छिद्रान्वेषी पाठक ऐसा एक भी शब्द नहीं पायेगा जिसके संबंध में वह यह कह सके कि इसे बदल कर अमुक शब्द लगा दिया जाता तो अच्छा होता, मालूम होता है उन्होंने प्रत्येक शब्द को बखूबी रेत कर इस प्रकार फिट कर दिया है कि उसे वहाँ से उठाया ही नहीं जा सकता, किंतु प्रेमचंद के विषय में ऐसा कहना मुश्किल है। कहीं-कहीं तो ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी चीजों को दोबारा बिना पढ़े ही छापेखाने में भेज दिया। भाषा के संबंध में प्रेमचंद और शरत्चंद्र में एक फर्क यह भी है कि प्रेमचंद ज्यों-ज्यों लिखते गये, त्यों-त्यों उनकी भाषा निखरती गयी, किंतु शरत् बाबू तो मानो पूर्ण विकसित हो कर ही साहित्य के सिंहद्वार के अंदर दाखिल हुए थे। यह तो तुलना की बात हुई, किंतु यों प्रेमचंद जी की भाषा बहुत ही अच्छी होती है। गोदान की भाषा तो बहुत दिनों तक हिंदी

लेखकों के लिए एक स्टैन्डर्ड सा रहेगी। कहते हैं 'उर्दू साहित्य के दिग्गज पंडित मौलाना शिवली ने एक बार अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि सात करोड़ मुसलमानों में एक भी आदमी प्रेमचंद की तरह सुंदर, कोमल और सँवारा हुआ गद्य नहीं लिखता।' (हं० प्रे०, पृ० ८८८)।

समस्या को न सुलझा पा कर पात्र की मृत्यु अथवा आत्महत्या कराना

हम पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि प्रेमचंद पर यह आरोप रहा है कि वे समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रह कर पात्रों की मृत्यु करवा देते हैं या उनके द्वारा आत्महत्या करवा देते हैं। सूरदास और विनय की मृत्यु इस प्रकार के आरोप के लिए सबसे बड़ा आधार समझा गया है। गबन में जोहरा जो डूब कर मर जाती है, उसमें तो यह साफ दृष्टिगोचर होता है कि लेखक एक उलझन से बचने के लिए ऐसा करते हैं। निःसंदेह यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है। झा जी ने फिर भी प्रकारांतर से इस संबंध में प्रेमचंद की कुछ सफाई देने की कोशिश की है। वे कहते हैं: 'लेकिन प्रश्न तो यह है कि आखिर उस स्थल पर उस परिस्थिति में और किया ही क्या जा सकता था। यह तो ठीक है कि जितनी ही कम मृत्यु करायी जाय उतनी ही अच्छी बात है क्योंकि पात्रों की मृत्यु कराना अधिकतर क्षेत्र में लेखक की कलात्मक असमर्थता ही प्रकट करता है, उद्भावना शक्ति की प्रौढ़ता नहीं। किन्तु जहाँ इसीसे कला के उद्देश्य की पूर्ति होती हो, वहाँ क्या किया जाय? शेक्सपियर ने भी तो अपने सर्वोत्तम कहे जानेवाले पात्रों में कुछ कम हत्याएँ नहीं करायी हैं।' (प्रेमचंद की उपन्यास कला, पृ० १८५-६)। इसमें संदेह नहीं कि सफाई बहुत अच्छी है, किंतु इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि किसी कलाकार के लिए यह अच्छी बात नहीं हो सकती कि वह ऐसी समस्या की सृष्टि करे जिसे वह सुलझा नहीं सकता, और इसलिए आत्महत्या या मृत्यु करा दे। हमारा यह कहना कदापि नहीं है कि सभी मृत्यु उपन्यास-कला के लिए घातक हैं, उदाहरणार्थ निर्मला में उदयभानुलाल की मृत्यु से ही समस्या का सूत्रपात होता है। ऐसी मृत्यु आपत्तिजनक नहीं हो सकती। वे ही मृत्युएँ तथा आत्महत्याएँ कला की दृष्टि से त्याज्य हैं जिनके होने के कारण लेखक ने अब तक जिस उलझन की सृष्टि की है, उसका एकाएक आकस्मिकता के साथ

को हीं, बल्कि अंत हो जाता है। इस दृष्टि से जोहरा की मृत्यु बहुत ही
लि, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रेमचंद-साहित्य में आत्महत्याओं की भरमार है, इतनी भरमार कि बाबू
काश ने इसी कारण उनका साहित्य पढ़ना ही छोड़ दिया था, और प्रेमचंद
शिकायत की थी कि यह उचित नहीं है। (हंस, प्रेमचंद अंक, मई १९३७,
पृ० ७९७)। शायद ही उनकी कोई रचना हो जिसमें आत्महत्या या आत्महत्या की
चेष्टा नहीं है। सेवासदन में कृष्णचंद ने ग्लानि से गंगा में डूब कर आत्महत्या कर
ली। प्रेमाश्रम में मनोहर ने जब देखा कि उसके कारण गाँववालों को कष्ट हुआ,
तो वह जेल में आत्महत्या कर लेता है। इसी उपन्यास में ज्ञानशंकर जब देखता
है कि विद्या भी उसे कुछ नहीं समझती तो डूबने जाता है, किंतु डूब नहीं पाता
है। वरदान में प्रताप ग्लानि के मारे रेल से कूद कर जान दे देता है। रंगभूमि में
विनय आत्महत्या कर लेता है, इसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।
कायाकल्प में सोलह वर्ष की तेजस्विनी रोहिणी आत्महत्या कर लेती है। प्रतिज्ञा
की पूर्णा जब कमलाप्रसाद के द्वारा बलात्कृता होने से बच कर निकल जाती
है, तो वह गंगा में डूबने के लिए तैयार होती है।

विश्व-साहित्य में प्रेमचंद का स्थान

इन छोटी-मोटी त्रुटियों के बावजूद प्रेमचंद के उपन्यास हिंदी साहित्य
को केवल भारतीय साहित्य में नहीं, बल्कि विश्वसाहित्य में स्थान दिला सका
है, इसमें संदेह नहीं।

प्रेमचंद की प्रतिभा का सबसे बड़ा दान यह है कि उनके पहले जो
तबका हिंदी उपन्यासों की ओर मुँह उठा कर देखता भी नहीं था, वह भी हिंदी
उपन्यासों को पढ़ने के लिए बाध्य हुआ है तथा उसमें आनन्द प्राप्त करता है।
साहित्य के दायरे का यह विस्तार कितनी बड़ी बात है, यह लेनिन ने सुप्रसिद्ध
जर्मन क्रान्तिकारिणी क्लारा जेटकीन से बात करते हुए बताया था। उन्होंने
कहा था कि 'कला जनता की है। कला को चाहिए कि वह अपनी शाखाओं को
अधिक से अधिक जनता में प्रसारित कर दे। इसे चाहिए कि यह जनता की भावुक-
ताओं, विचारों तथा इच्छाओं को संयुक्त करे, और इन्हें ऊपर उठाये।' यों तो
जन क्रांति होने पर ही कला सच्चे मानों में जनता की हो सकेगी, इसके पहले

तो कला केवल कुछ रियायत प्राप्त वर्गों तथा उनके पिछलगुओं की [illegible]
रहेगी, किंतु फिर भी जहाँ तक विषयवस्तु को जनता के नज़दीक [illegible] मुसले
जनता में प्रवेश करने की बात है, प्रेमचंद-साहित्य ने हिंदी में एक गद्य नई
उपस्थित किया, इसमें संदेह नहीं। प्रेमचंद-साहित्य प्राक्प्रेमचंद-साहित्
मुकाबिले में कहीं अधिक जन-साहित्य है, इसमें किसी को संदेह नहीं
सकता। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास के मानदंड को ऊँचा उठा कर हिंदी उपन्यास साहित्य से जो मर्यादा प्राप्त की, वह भी इस संबंध में द्रष्टव्य है। यों तो पढ़े-लिखे वर्ग में चंद्रकांता संतति आदि खूब पढ़ी जाती थी, किंतु लोग इसे उसी प्रकार से पढ़ते थे (और अब भी पढ़ते हैं) जैसे लंदन-रहस्य या इस प्रकार के साहित्य पढ़े जाते हैं, किंतु प्रेमचंद-साहित्य की बदौलत ही यह संभव हुआ कि उच्च संस्कृतिवाले लोगों में भी बेधड़क यह स्वीकार किया जाने लगा, या यों कहिए कि स्वीकार किया जाना संभव हुआ कि मैं प्रेमचंद की अमुक पुस्तक पढ़ रहा हूँ। इस प्रकार प्रेमचंद ने हिंदी साहित्य को अपनी रचनाओं से अभूतपूर्व मर्यादा प्रदान की और वे साहित्य को जनता में ले गये।

यह स्वाभाविक है कि उनकी कला की उत्कृष्टता के संबंध में एक तबके की ओर से बहुत संदेह प्रकट किया जायेगा। प्रेमचंद आगामी समाज पर अपनी दृष्टि निबद्ध रख कर लिखते थे, स्वाभाविक रूप से ऐसे लोग जिनका शासन समाप्त हो रहा है, जो अपने पैरों के नीचे से जमीन को खिसकती हुई पा रहे हैं, वे तथा उनके पिछलगुए उनको उच्चकोटि का लेखक नहीं मानेंगे। उन्हें तो वही सड़ा-गला पाश्चात्य का जूठन (यहाँ पाश्चात्य से मतलब जाति विशेष की नहीं बल्कि पाश्चात्य की पूँजीवादी संस्कृति से है) मनोवैज्ञानिक उपन्यास के नाम से पसंद आयेगा।

श्री 'अंचल' जी ने प्रेमचंद की लोकप्रियता का कारण बतलाते हुए कहा है कि 'प्रेमचंद की लोकप्रियता का एक रहस्य मेरी समझ में उनकी 'ह्यूमनिज्म' है।' फिर 'ह्यूमनिज्म' की शायद व्याख्या करते हुए वे कहते हैं: 'जहाँ भी उन्हें अन्याय और उत्पीड़न दिखा, वहीं उनकी लेखनी में कशाघातों का प्रवाह उमड़ आया। जमींदार ने किसान पर, महाजन ने ऋणी, पटवारी, राज्यकर्मचारियों ने निरीह, अशिक्षित और अंधविश्वासी जनता पर, पुरोहित, पंडों और धर्मगुरुओं ने भोले-भाले, परंपरागत संस्कारों में पले और संशय, तर्क और बौद्धिक चेतना से

कारी ईश्वरत्व पर, नर ने नारी पर, निरीह पशुओं पर जहाँ कहीं भी अन्याय किया, उनका विद्रोह जाग उठा।' यह सब तो ठीक है, किंतु इसे अंचल जी ह्यूमनिज्म ऐसा निरामिष नाम क्यों दिया, यह समझ में नहीं आता। ह्यूमनिज्म एक युग में प्रगतिशील अवश्य था, किंतु अब किसी क्रांतिकारी लेखक को ह्यूमनिष्ट कहना गलत इसलिए होगा कि एक क्रांतिकारी लेखक मानवतावादी होने के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। आई० कातायेफ नामक सोवियत लेखक ने ह्यूमनिज्म और सच्ची क्रांतिकारिणी शैली को अलग करते हुए लिखा है कि 'वे हमें ह्यूमनिष्ट बता कर हमारा नाम साहित्य से काट ही देना चाहते थे।' आई० कातायेफ ने क्रांतिकारिणी कला के संबंध में लिखा है कि 'मुझे इस बात पर खास जोर दे कर कहना है कि हमारी कला जंगजू होगी। क्रांति के मार्ग में जो रोड़े हैं — अकर्मण्यता, कायरता, शांतिवाद, थकावट, उदासीनता, जो हमारे रथचक्र में कीचड़ की तरह लग कर उसकी अग्रगति में बाधा पहुँचाते हैं, इन सबके विरुद्ध हमारी कला संग्राम करेगी।' कातायेफ ने जो बातें जन कला की परिभाषा करते हुए लिखी हैं, उनमें और अंचल ने ह्यूमनिज्म की व्याख्या-सी करते हुए जो बातें लिखी हैं उनमें फर्क कहाँ है? इसलिए यहाँ अंचल जी शब्दों की गड़बड़ी में पड़ गये हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है वह ठीक है, किंतु जिस नाम से उन्होंने प्रेमचंद को अभिहित करना चाहा है, उसमें अव्याप्ति दोष है। प्रेमचंद मानवतावादी थे जैसा कि प्रत्येक क्रांतिकारी तथा समाजवादी होने के लिए बाध्य है, किंतु वे मानवतावादी से कुछ अधिक भी इस अर्थ में थे कि उन्होंने अपने साहित्य में केवल भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया, जगत् की विषमताओं पर आँसू बहा कर चुप नहीं हो गये, बल्कि उन्होंने अपने साहित्य में संग्राम का संदेश दिया है। इस कारण वे कातायेफ-वर्णित अर्थ में क्रांतिकारी हैं।